श्री सहजानन्द शास्त्रमाला

पञ्चाध्यायी प्रवचन

त्रयोदश, चतुर्दश व पंचदश भाग

प्रवक्ता:
अध्यात्मयोगी सिद्धान्तन्यायसाहित्य शास्त्री, न्यायतीर्थ
पूज्य श्री गुरुवर्य्य मनोहर जी वर्णी
"श्रीमत्सहजानन्द महाराज"

खेमचन्द जैन सर्राफ,
मंत्री, श्री सहजानन्द शास्त्रमाला
१८५ ए, रणजीतपुरी, सदर मेरठ (उत्तर प्रदेश)

स्वाध्यायार्थी बन्धु, मन्दिर एवं लाइब्रेरियोंको
भारतवर्षीय वर्णी जैनसाहित्य मन्दिरकी ओरसे अर्धमूल्यमें।

प्रथम संस्करण १०००] सन १९७५ लागत [१५) रु०

श्री सहजानन्द शास्त्रमालाके संरक्षक

(१) श्रीमान् ला० महावीरप्रसाद जी जैन, बैंकर्स, संरक्षक, अध्यक्ष एवं प्रधान ट्रस्टी, सदर मेरठ
(२) श्रीमती सौ० फूलमाला देवी, धर्मपत्नी श्री ला० महावीरप्रसाद जी जैन, बैंकर्स, सदर मेरठ
(३) श्रीमान् लाला लालचन्द विजयकुमार जी जैन सर्राफ, सहारनपुर

श्री सहजानन्द शास्त्रमालाके प्रवर्तक महानुभावों की नामावली—

१	श्रीमान् सेठ भवरीलाल जैन पाण्ड्या,	झूमरीतिलैया
२	,, वर्णीसघ ज्ञानप्रभावना समिति, कार्यालय,	कानपुर
३	,, कृष्णचन्द जी जैन रईस,	देहरादून
४	,, सेठ जगन्नाथ जी जैन पाण्ड्या,	झूमरीतिलैया
५	श्रीमती सोवती देवी जी जैन,	गिरिडीह
६	,, मित्रसैन नाहरसिहजी जैन,	मुजफ्फरनगर
७	,, प्रेमचन्द ओमप्रकाश, प्रेमपुरी,	मेरठ
८	,, सलेखचन्द लालचन्द जी जैन,	मुजफ्फरनगर
९	,, दीपचन्द जी जैन रईस,	देहरादून
१०	,, बारूमल प्रेमचन्द जी जैन,	मसूरी
११	,, बाबूराम मुरारीलाल जी जैन,	ज्वालापुर
१२	,, केवलराम उग्रसैन जी जैन,	जगाधरी
१३	,, सेठ गैदामल दगडूशाह जी जैन,	सनावद
१४	,, मुकुन्दलाल गुलशनराय जी, नई मडी,	मुजफ्फरनगर
१५	श्रीमती धर्मपत्नी बा० कैलाशचन्द जी जैन,	देहरादून
१६	श्रीमान् जयकुमार वीरसैन जी जैन,	सदर मेरठ
१७	,, मंत्री, जैन समाज,	खण्डवा
१८	,, बाबूराम अकलकप्रसाद जी जैन,	तिस्सा
१९	,, विशालचन्द जी जैन रईस,	सहारनपुर
२०	,, बा० हरीचन्दजी ज्योतिप्रसाद जी जैन, ओवरसियर,	इटावा
२१	श्रीमती सौ० प्रेमदेवी शाह सुपुत्री बा० फतेलाल जी जनसघी,	जयपुर
२२	,, मत्राणी, दिगम्बर जैन महिला समाज,	गया
२३	श्रीमान् सेठ सागरमल जी पाण्ड्या,	गिरिडीह
२४	,, बा० गिरनारीलाल चिरजीलाल जी जैन,	,,
२५	,, बा० राधेलाल कालूराम जी मोदी,	,,

२६	श्रीमान् सेठ फूलचन्द बैजनाथ जी जैन, नई मण्डी,	मुजफ्फरनगर
२७	,, सुखवीरसिंह हेमचन्द जी सर्राफ,	बड़ौत
२८	,, गोकुलचंद हरकचद जी गोधा,	लालगोला
२९	,, दीपचंद जी जैन रिटायर्ड सुप्रिन्टेन्डेन्ट इन्जीनियर,	कानपुर
३०	,, मंत्री, दि० जैनसमाज, नाई की मंडी,	आगरा
३१	श्रीमती मचालिका, दि० जैन महिलामंडल, नमककी मंडी,	,,
३२	श्रीमान् नेमिचन्द जी जैन, रुड़की प्रेस,	रुड़की
३३	,, झब्बनलाल शिवप्रसाद जी जैन, चिलकाना वाले,	सहारनपुर
३४	,, रोशनलाल के० सी० जैन,	,,
३५	,, मोल्हड़मल श्रीपाल जी, जैन, जैन वेस्ट	,,
३६	,, बनवारीलाल निरंजनलाल जी जैन,	शिमला
३७	,, सेठ शीतलप्रसाद जी जैन,	सदर मेरठ
३८	दिगम्बर जैनसमाज	गोटे गाँव
३९	श्रीमती माता जी धनवंती देवी जैन, राजागंज,	इटावा
४०	श्रीमान् ब्र० मुख्त्यारसिंह जी जैन, "नित्यानन्द"	रुड़की
४१	,, लाला महेन्द्रकुमार जी जैन,	चिलकाना
४२	,, लाला आदीश्वरप्रसाद राकेशकुमार जैन,	,,
४३	,, हुकमचद मोतीचद जैन,	सुलतानपुर
४४	,, ला० मुन्नालाल यादवराय जी जैन,	सदर मेरठ
४५	,, इन्द्रजीत जी जैन, वकील, स्वरूपनगर,	कानपुर
४६	श्रीमती कैलाशवती जैन, ध० प० ला० जयप्रसाद जी	सुलतानपुर
४७	श्रीमान् * गजानन्द गुलाबचन्द जी जैन, बजाज	गया
४८	,, * बा० शीतमल इन्द्रकुमार जी जैन छाबड़ा,	झूमरीतिलैया
४९	,, * सेठ मोहनलाल ताराचन्द जी जैन बड़जात्या,	जयपुर
५०	,, * बा० दयाराम जी जैन आर. एस. डी. ओ.	सदर मेरठ
५१	,, × जिनेश्वरप्रसाद अभिनन्दनकुमार जी जैन,	सहारनपुर
५२	,, × जिनेश्वरलाल श्रीपाल जी जैन,	शिमला

नोट:—जिन नामोंके पहले * ऐसा चिन्ह लगा है उन महानुभावोंकी स्वीकृत सदस्यताके कुछ रुपये आ गये हैं, शेष आने हैं तथा जिन नामोंके पहले × ऐसा चिन्ह लगा है उनकी स्वीकृत सदस्यताका रुपया अभी तक कुछ नहीं आया, सभी बाकी है।

आत्म-कीर्तन

अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ सिद्धान्तन्यायसाहित्यशास्त्री शान्तमूर्ति पूज्य श्री मनोहरजी वर्णी
"सहजानन्द" महाराज द्वारा रचित

हूँ स्वतन्त्र निश्चल निष्काम। ज्ञाता द्रष्टा आतमराम ॥टेक॥

अन्तर यही ऊपरी जान, वे विराग यहं रागवितान।
मैं वह हूँ जो हैं भगवान, जो मैं हूँ वह है भगवान ॥१॥

मम स्वरूप है सिद्ध समान, अमित शक्ति सुख ज्ञान निधान।
किन्तु आशवश खोया ज्ञान, बना भिखारी निपट अजान ॥२॥

सुख दुःख दाता कोइ न आन, मोह राग दुःख की खान।
निजको निज परको पर जान, फिर दुःखका नहिं लेश निदान ॥३॥

जिन शिव ब्रह्मा राम, विष्णु बुद्ध हरि जिसके नाम।
राग त्यागि पहुंचू निज धाम, आकुलताका फिर क्या काम ॥४॥

होता स्वयं जगत परिणाम, मैं जगका करता क्या काम।
दूर हटो परकृत परिणाम, 'सहजानन्द' रहूं अभिराम ॥५॥

•••○○•••

[धर्मप्रेमी बंधुओ ! इस आत्मकीर्तनका निम्नांकित अवसरों पर निम्नांकित पद्धतियों में भारतमें अनेक स्थानोंपर पाठ किया जाता है। आप भी इसी प्रकार पाठ कीजिए]

१—शास्त्रसभाके अनन्तर या दो शास्त्रोंके बीचमे श्रोतावों द्वारा सामूहिक रूपमे।
२—जाप, सामायिक, प्रतिक्रमणके अवसरपर।
३—पाठशाला, शिक्षासदन, विद्यालय लगनेके समय छात्रो द्वारा।
४—सूर्योदयसे एक घंटा पूर्व परिवारमें एकत्रित बालक, बालिका, महिला तथा पुरुषों द्वारा।
५—किसी भी आपत्तिके समय या अन्य समय शान्तिके अर्थ स्वरुचिके अनुसार किसी अर्थ, चौपाई या पूर्ण छंदका पाठ शान्तिप्रेमी बन्धुओ द्वारा।

पंचाध्यायी प्रवचन त्रयोदश भाग

प्रवक्ता—अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्री १०५ क्षु० मनोहर जी वर्णी
"सहजानन्द" महाराज

प्रकृतं तद्यथास्ति स्वं स्वरूपं चेतनात्मनः ।
सा त्रिधात्राप्युपादेया सद्दृष्टेर्ज्ञानचेतना ।।८२३।।

सम्यग्दृष्टिका प्रधान गुण ज्ञानचेतना—सम्यग्दृष्टिके अविनाभावी सहयोगी आदिक अनेक प्रकारके गुण बताये गए है । उन सब गुणोंको समन्वित कर सकने वाली यदि कोई संक्षेपरूपसे एक बात कही जाय तो कहना चाहिए कि सम्यग्दृष्टिके वह सब ज्ञानचेतना है । चेतना आत्माका स्वरूप है और वह चेतना ३ प्रकारकी कही गई है—(१) कर्मचेतना, (२) कर्मफलचेतना और (३) ज्ञानचेतना । कोई जीव क्रियानोमे मै ठीक कर रहा हूं, इस प्रकारकी क्रियावोमे अपना सर्वस्व सौपता हुआ चेत रहा हो तो उसे कर्मचेतना कहते है और कोई जीव कर्मचेतनाके फलमे इसे मै भोग रहा हू, इस प्रकारसे यदि कोई चेतता है तो उसे कर्मफल-चेतना कहते है । किन्तु सम्यग्दृष्टि ज्ञानी पुरुष ज्ञानस्वरूपमे इसे ही मैं चेतता हू, यही करता हू, इसीको भोगता हू, इस प्रकार ज्ञानके ही सचेतनका काम करता है उसे ज्ञानचेतना कहते है । इन तीनोमे ज्ञानचेतना सम्यग्दृष्टिको उपादेय है और शेषकी दो चेतनाये त्याज्य है । कर्मचेतना, कर्मफलचेतना मिथ्यादृष्टिके होती है और ज्ञानचेतना सम्यग्दृष्टिके होती है । इस तरह उन सब गुणोसे सक्षिप्त करके यदि कहा जाय तो एक ज्ञानचेतना सम्यग्दृष्टिका अविना-भावी गुण है ।

श्रद्धानादिगुणाश्चैते बाह्योल्लेखच्छलादिह ।
अर्थात्सद्दर्शनस्यैकं लक्षणं ज्ञानचेतना ।।८२४।।

ज्ञानचेतनामें श्रद्धानादि सर्व गुणोका पूरकत्व—श्रद्धान आदिक जो सम्यग्दृष्टिके गुण कहे गए है वे सब बाह्य पदार्थका उल्लेख करके कहे गए है । वस्तुतः तो सम्यग्दृष्टिका एक ज्ञानचेतना ही लक्षण है । ज्ञानचेतनामे सर्वगुण गर्भित हो जाते है । अङ्गोमे जो कुछ बताया गया है उनमे ज्ञानीके ज्ञानरूपसे चेतना ही चल रही है, यह बात दिखाई गयी है । इस तरह

सम्यग्दृष्टिका कोई प्रधान गुण यदि कहा जाता है तो जैसे पहिले स्वानुभूति कहा था, इसी तरह समझना चाहिए कि यह ज्ञानचेतना है, क्योंकि ज्ञानचेतना तो सम्यग्दृष्टि जीवके निरन्तर रहती है अर्थात् अपने आपको ज्ञानरूप हूं, इस प्रकारकी प्रतीति और इसका ही कर्तृत्व भोक्तृत्व सब इसीके लिए रहता है। ज्ञानचेतना ज्ञानीके निरन्तर रहती है, और स्वानुभूति इस ज्ञानचेतनाका एक अनुभव वाला रूप है।

ननु रूढिरिहाप्यस्ति योगाद्वा लोकतोऽथवा।
तत्सम्यक्त्वं द्विधाप्यर्थनिश्चयाद्व्यवहारतः ॥८२५॥
व्यावहारिकं सम्यक्त्वं सरागं सविकल्पकम्।
निश्चयं वीतरागं तु सम्यक्त्वं निर्विकल्पकम् ॥८२६॥
इत्यस्ति वासनोन्मेषः केषाञ्चिन्मोहशालिनाम्।
तन्मते वीतरागस्य सद्दृष्टेर्ज्ञानचेतना ॥८२७॥
तैः सम्यक्त्वं द्विधा कृत्वा स्वामिभेदो द्विधा कृतः।
एकः कश्चित् सरागोऽस्ति वीतरागश्च कश्चन ॥८२८॥
तत्रास्ति वीतरागस्य कस्यचिज्ज्ञानचेतना।
सद्दृष्टेर्निर्विकल्पस्य नेतरस्य कदाचन ॥८२९॥
व्यावहारिकसद्दृष्टेः सविकल्पस्य रागिणः।
प्रतीतिमात्रमेवास्ति कुतः स्यात् ज्ञानचेतना ॥८३०॥

सरागसम्यग्दृष्टिके ज्ञानचेतना न हो सकनेकी शङ्काकारकी आशंका—अब किसी जिज्ञासुका यह मंतव्य है कि ऐसी लोकरूढि है अथवा लोकदृष्टिसे बात प्रमाणित है और लोकरूढ़िसे भी प्रमाणता है कि सम्यग्दर्शन दो प्रकारका होता है—(१) निश्चयसम्यक्त्व और (२) व्यवहारसम्यक्त्व। इनमेसे व्यवहार सम्यक्त्व तो सराग और सविकल्प है, किन्तु निश्चयसम्यग्दर्शन वीतराग तथा निर्विकल्प है। तो सम्यक्त्वमे सराग सम्यक्त्व और वीतराग सम्यक्त्व ऐसे दो भेद किए गए है। उनमेंसे वीतराग सम्यग्दृष्टिके तो ज्ञानचेतना होती है और सराग सम्यग्दृष्टिके ज्ञानचेतना नही होती, ऐसा किसी शङ्काकारका अभिमत है। तो इस शङ्काकारने सम्यग्दर्शनके दो भेद कर डाले। ये भेद स्वामीके भेदसे भेद है। उनका यह मतव्य है कि सराग सम्यक्त्व, वीतराग सम्यक्त्व, ऐसे दो सम्यग्दर्शन होते हैं। उनमे वीतराग निर्विकल्प सम्यग्ज्ञान तो वीतराग सम्यग्दृष्टिके होता है और जिसके वीतराग निर्विकल्प सम्यग्दर्शन है ज्ञानचेतना उसीके होती है, पर जो सराग सम्यग्दृष्टि है उसके सराग सम्यक्त्व होता है, वहाँ ज्ञानचेतना नही हो सकती। केवल एक ज्ञानकी प्रतीतिमात्र है तो ज्ञानचेतनाके अधिकारी सभी सम्यग्दृष्टि पुरुष नही होते, ऐसा यहाँ इस जिज्ञासुका अभिमत है।

इति प्रज्ञापराधेन ये बदन्ति दुराशयाः ।
तेषां यावच्छ्रुताभ्यासः कायक्लेशाय केवलम् ॥८३१॥

उक्त शङ्काके समाधानका प्रारम्भ—अब उक्त शङ्काके समाधानमें कहते है कि बुद्धि के दोषसे जिन विपरीत अभिप्राय वालोने कहा है कि सराग सम्यग्दृष्टिके ज्ञानचेतना नहीं होती है उनका जितना भी शास्त्राभ्यास है वह केवल शरीरको कष्ट पहुचानेके लिए है। वस्तुत उनका यह आशय सही नही है। क्योकि सही नही है, यह बात आगेके कथनमें बतावेंगे, परन्तु मूल भूल यह कर रहे है कि वे तो सम्यग्दृष्टिके स्वामीके भेद है। सम्यग्दर्शनमे तो जो कुछ हो सकता है वह सभीके समान रूपसे हुआ करता है। अब कोई सम्यग्दृष्टि रागवान है तो वह सराग सम्यग्दृष्टि कहलाता है। यही सराग सम्यग्दृष्टिका सम्यक्त्व नामक गुण सविकल्प न हो जायगा। सम्यक्त्व तो सभी निर्विकल्प हुआ करते है। सम्यक्त्वका जो स्वरूप है उस स्वरूपमें किसी भी प्रकारका विकल्प नही हुआ करता।

अत्रोच्यते समाधान सामवेदेन सूरिभिः ।
उच्चैरुत्फणिते दुग्धे योज्यं जलमनाविलम् ॥८३२॥

उक्त शङ्काका शान्तिपूर्वक समाधानका उद्यम—उक्त शङ्काके समाधानका स्पष्टीकरण कर रहे है। पहिले आचार्य यह समाधान करनेके लिए बतला रहे है कि देखिये—यदि कही दूधमे उफान आ जाय तो उसमे स्वच्छ जल डालना ही ठीक है, इसी प्रकार खोटे अभिप्रायवश जो जिज्ञासुका यह दुराशय हुआ है वह केवल शरीरको कष्ट पहुंचानेके लिए ही है। उसमे कोई तत्त्वकी बात नही प्राप्त होती। तब ऐसे दुराशयसे जो प्रश्न किया गया है उसका समाधान अब शान्तिपूर्वक किया जा रहा है।

सतृणाभ्यवहारित्वं करीव कुरुते कुदृक् ।
तज्जीहीहि जहीहि त्व कुरु प्राज्ञ विवेकिताम् ॥८३३॥

उक्त शङ्काके समाधानके लिये विवेक करनेका अनुरोध—समाधानमे कहते है कि जिस तरह हाथीको विवेक नही होता, उसके सामने हलुवा और घास रखें तो वह घासको छोडकर हलुवाका स्वाद ले ले, ऐसा उसके सम्भव नहीं होता, वह तो तृणसहित सब खा जाता है, इसी प्रकार जो अज्ञानी जीव है वह अज्ञानमें इस प्रकार बोल रहा कि सराग सम्यग्दृष्टिके सविकल्प सम्यक्त्व होता है और वहाँ विकल्प है, ज्ञानचेतना नही है, इस प्रकारका कहना उसका केवल अज्ञानवश हुआ है। उस अविवेकपनेको छोड़कर विवेकसे काम लो। आत्मामे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र गुण होते है। जिसमे सम्यग्दर्शनका कार्य यह है कि आत्माका जो सहज स्वरूप है सबसे निराला केवल ज्ञानमात्र उस सहज स्वरूपका संचेतन करना मैं यह ही हूं, जब कि मिथ्यादृष्टि जीव अपनेको मनुष्य मानता, पशु मानता,

कुल जाति वाला मानता, परिवार जन वाला मानता है। लेकिन सम्यग्दृष्टि जीव अपनेको देहसे निराला केवल ज्ञानस्वरूप ही समझता है। तो यही विवेक है जो देहमे और जीवमे भेद करके देहको छोडकर अपने आपके आत्माको ग्रहण करना।

वन्हेरौष्ण्यमिवात्मज्ञ पृथक्कर्त्तुं त्वमर्हसि।
मा विभ्रमस्व दृष्ट्वापि चक्षुषाऽचाक्षुषाशया ॥८३४॥

सम्यग्दृष्टिसे ज्ञानचेतनाको पृथक् किये जानेकी अशक्यता—आचार्य समाधान करते हुए कहते है कि जैसे अग्निको उष्णतासे अलग नही किया जा सकता है इस तरहसे सम्यग्दृष्टि से ज्ञानचेतना अलग नही की जा सकती, लेकिन शङ्काकार सम्यग्दृष्टि जीवसे ज्ञानचेतनाको अलग करके यह दिखा रहा है कि जैसे मानो वह अग्निसे गर्मीको अलग करना चाह रहा है। जैसे आगसे गर्मी कोई निकालकर अलग धर दे और आग बिना गर्मीके रहे, ऐसा नही होता। अग्निका स्वरूप ही गर्म रहना है। इसी प्रकार जो ज्ञानी पुरुष है उसके ज्ञानचेतना अभिन्न रूपसे है। यदि ज्ञानचेतना न रहेगी तो वह ज्ञान ही न रहेगा। तो ज्ञानचेतना ज्ञानीसे कभी पृथक् नही होती। जैसे कोई पुरुष आँखसे किसी पदार्थको देखता है और देख करके यह कहे कि हमको तो ऐसा पदार्थ दिख जाना चाहिए जो कि आँखसे तो नही दिखता, पर दिख जाय। तो इस आशासे देखने वाले पदार्थमे भ्रम मत करो। ऐसा भ्रम न करना चाहिए कि हमको यदि परमाणु नही दिखता है तो ये दिखने वाली चीजें भी भ्रम है, ये भी कुछ नही है। प्रयोजन यह है कि सम्यग्दृष्टिके ज्ञानचेतना सदाकाल रहा करती है। उसे पृथक् नही किया जा सकता।

विकल्पो योगसङ्क्रान्तिरर्थाऽज्ज्ञानस्य पर्ययः।
ज्ञेयाकार. स ज्ञेयार्थात् ज्ञेयार्थान्तिरसङ्गतः ॥८३५॥

ज्ञेयार्थान्तरसङ्गरूप ज्ञानविकल्पकी सम्यग्दर्शनमें असंयोज्यता—आत्मामें ज्ञान गुण है जो अन्य किसी पदार्थमे सम्भव नही है। ज्ञानमे उपयोग रहा करता। जैसे कोई पुरुष जानकारी तो बहुत पदार्थोंकी रखता है, मगर जो पदार्थ सामने आया हो उस पदार्थकी जानकारी मे उपयोग लगाता है। जहाँ उपयोग लगा है वहाँ ही इसका सारा श्रम चल रहा है। उपयोग बदलनेको विकल्प कहते है। तो इस विकल्पको छोडकर शंकाकार यह समझ रहा है कि सम्यग्दर्शनमे विकल्प होता है। अरे वह तो ज्ञानका स्वरूप है। पदार्थाकार ज्ञानस्वरूपमे ज्ञेयरूप पदार्थसे हटकर दूसरे पदार्थके आकारको धारण करता है। तो जब उपयोग एक पदार्थसे हटकर दूसरे पदार्थकी तरफ लगता है तो इसका नाम है उपयोगसंक्रान्ति। इसी उपयोगका नाम विकल्प है। इस विकल्पकी बात सम्यग्दर्शनमे न लगानी चाहिए।

क्षायोपशमिकं तत्स्यादर्थादक्षार्थसम्भवम् ।
क्षायिकात्यक्षज्ञानस्य सक्रान्तेरप्यसभवात् ।।८३६।।

क्षायिकज्ञानमें संक्रान्तिकी भी असंभवता—यह जो उपयोगका बदलना है, जैसे अभी इस पुस्तकको पढ़ रहे है, यहाँसे उपयोग हटाया और किसी लौकिक काममें उपयोग लगा दिया तो यह सक्रान्तिरूप विकल्प तो क्षायोपशमिक है और इन्द्रिय पदार्थके सम्बन्धसे होने वाला ज्ञान है ऐसा यह संक्रमण अतीन्द्रियज्ञानमे नही हुआ करता । अतीन्द्रियज्ञान क्षायिक-ज्ञान होता है । जब तक ज्ञानमे अल्पज्ञता है अर्थात् यह जीव थोड़ा जान पाता है तब तक यह सब पदार्थोंको एक साथ नही जान सकता । जैसे हम आप जो आँखोंके सामने हो उसे ही जान रहे है, पीठ पीछे की चीज नही जान रहे । है सब चीजें एक साथ, मगर हम आप अल्पज्ञ है तो उन सब पदार्थोंको एक साथ नही जान सकते, क्रम-क्रमसे जानते है और किसी-किसी पदार्थको जानते है तो हमारी जो यह अवस्था ज्ञानकी कमजोर हो रही है वह इन्द्रियके सम्बन्धसे हो रही है । इन्द्रियसे जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह थोड़ा होता है, और क्रम-क्रमसे होता है, पर जो ज्ञान क्षायिक है, अतीन्द्रिय है उसमे समस्त पदार्थ एक साथ प्रतिबिम्बित होते हैं । जिस ज्ञानमें विकार परिणति न हो उस ज्ञानको सविकल्पज्ञान कहते है ।

अस्ति क्षायिकज्ञानस्य विकल्पत्वं स्वलक्षणात् ।
नार्थादर्थान्तराकारयोगसंकान्तिलक्षणात् ।।८३७।।

जाननमात्र रूप विकल्पकी ज्ञानस्वरूपता—सिद्धान्तग्रन्थोसे लोग यह जान सकते हैं कि क्षायिकज्ञानमे भी तो विकल्पपना है, सो विकल्प दो प्रकारके कहलाते है—एक तो पदार्थ को ज्ञानमे झलकाना । इस झलकका ही नाम विकल्प है । तो यह विकल्प तो ज्ञानका स्वरूप है उस विकल्पको सविकल्प नहीं कहते । सविकल्पमे तो एक पदार्थको जानकर दूसरे पदार्थमे मे लगना यह हुआ करता है, परन्तु ज्ञान सभी पदार्थोंका प्रतिक्षण झलक बनाये रहे, यह तो ज्ञानका स्वरूप है । हाँ ज्ञान एक पदार्थको छोडकर, बदलकर दूसरेको जानता है तो उसमे अवश्य रागकी प्रेरणा पडी हुई है । इस कारण वह विकल्प रागजन्य है, किन्तु ज्ञानमे होने वाला प्रतिभास मात्र विकल्प तो ज्ञानका स्वरूप है ।

तल्लक्षणं स्वापूर्वार्थविशेषग्रहणात्मकम् ।
एकाऽर्थो ग्रहणं तत्स्यादाकारः सविकल्पता ।।८३८।।

स्वपूर्वार्थग्रहणकी ज्ञानलक्षणता—क्षायिक ज्ञानका लक्षण यह कहा गया है कि अपने आत्माको और अन्य अपूर्व पदार्थोंको विशेष रीतिसे ग्रहण करना सो क्षायिकज्ञान है । अर्थ मायने पदार्थका और विकल्प मायने जानना, सो पदार्थको ग्रहण करना यही आकार बन

गया। ज्ञानका आकार क्या है ? तो जिस पदार्थको जान रहा है वही जानन ज्ञानका रूप है, ज्ञानकी मूर्ति है। तो स्व और पदार्थके ज्ञानका ज्ञेयाकार होना ही ज्ञानमे विकल्प कहलाता है। ज्ञान अपनेको भी जानता है और परपदार्थको भी जानता है, किन्तु जो ज्ञान उपयोगसे उपयोगान्तर नही होता उसको क्षायिकज्ञान कहते है। यद्यपि क्षायिकज्ञानमे भी प्रतिसमय जानन तो बना ही रहता है। भगवान जानते है, तीनो कालोके पदार्थोको जानते है, लोकालोकको जान रहे है और प्रतिक्षण ऐसा जानते रहते हैं। तो क्षायिकज्ञानमे भी पदार्थका प्रतिक्षण जानन चलता रहता है, इस कारण होता है परिवर्तन, पर छद्मस्थकी तरह सक्रमण रूप नही कि कभी किसी पदार्थको जाने, कभी किसीको। भगवानका ज्ञान इतना निर्मल है कि एक साथ ही सब पदार्थोको जान लेते है। ऐसा जाननेकी सामर्थ्य हम आपमे भी है, लेकिन किसीमें रागद्वेष किया, किसीमे मोह बसाया, इस कारणसे हमारा ज्ञान सर्वज्ञ नही हो पा रहा है। यदि हम रागद्वेष मोहको त्याग दें, केवल ज्ञानस्वरूप निज तत्त्वको ही परखते रहे तो हम आपका ज्ञान भी निर्मल और सर्वज्ञ हो सकता है।

विकल्पः सोधिकारस्मिन्नाधिकारी मनागपि।
योगसक्रान्तिरूपो यो विकल्पोऽधिकृतोऽधुना ॥८३९॥

क्षायिकज्ञानमें संक्रान्तिरूप विकल्पकी असम्भवता—विकल्पका यह लक्षण किया गया है। तो ज्ञानका स्वरूपमात्र जो विकल्प है उस विकल्पको विकल्प नही कहा करते, किन्तु जो उपयोग बदल गया उसका नाम विकल्प कहा गया है। जैसे हम आप इस समय पुस्तक देख रहे, जान रहे और थोडी देर बाद पुस्तकको छोडकर टेबुल जानने लगें तो हमारा उपयोग बदल गया, पर भगवानका उपयोग नही बदलता। लोकमे जितने अनन्त पदार्थ हैं सभी पदार्थोंको पहिले भी जान रहे थे और दूसरे क्षणमे भी उन्ही सब पदार्थोंको जान रहे हैं। भगवान चूंकि सबको एक साथ जानता है, इस कारण वहाँ यह सम्भव नही है कि अभी अमुक पदार्थको जानते थे, अब अमुक पदार्थको जानने लगे हैं तो ऐसा संक्रमण रूप विकल्प क्षायिकज्ञानमे नही होता।

ऐन्द्रियं तु पुनर्ज्ञानं न सक्रान्तिमृते क्वचित्।
यतोप्यस्य क्षण यावदर्थादर्थान्तरे गति ॥८४०॥

ऐन्द्रिय ज्ञानमे ही विकल्पकी संभवता—यह इन्द्रियजन्य ज्ञानका अधिकार है अर्थात् नाक, आँख आदिक इन्द्रियसे जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह ज्ञान थोडा ज्ञान होता है और पदार्थको बदल-बदलकर जानता रहता है, ऐसा ज्ञान अल्पज्ञ जीवके है, सो उस ज्ञानका यहाँ अधिकार चल रहा है। इन्द्रियजन्य ज्ञान बदलनेके बिना नही होता, क्योंकि प्रतिक्षण एक पदार्थको छोड़कर अन्य पदार्थमे गति मिथ्यात्व रागवश हुआ करती है। यहाँ प्रकृतमे विचार

यह चल रहा है कि सराग सम्यक्त्व सविकल्प है, उसमे ज्ञानचेतना नही है। ऐसा किसी जिज्ञासुने कहा था तो आचार्यदेव कहते है कि यह कथन सगत नही है। सविकल्प सम्यक्त्व हो वहाँ भी ज्ञानचेतना होती है। सराग सम्यग्दृष्टिके विकल्प है। भले ही हो, पर वह विकल्प ज्ञानोपयोगके पलटने वाला है। जो ज्ञानके साथ है, मगर सम्यग्दर्शन होनेमें किसी भी प्रकारका विकल्प नही आता, और ऐसा विकल्प आता रहे ज्ञानी जीवके तो वह रागवश आता रहता है, परन्तु वहाँ ज्ञानचेतनामे बाधा नही आ सकती। सम्यग्दृष्टिके ज्ञानोपयोगका पलटन होता है, वह इन्द्रियजन्य ज्ञान होनेके कारण होता है। तो इन्द्रियजन्य ज्ञान सराग सम्यग्दृष्टिके है और वह ज्ञान जिस पदार्थको जाननेकी चेष्टा करता है उसीको जानता है। भले ही जान लिया। सम्यग्दृष्टिके सम्यक्त्वमे किसी भी प्रकारका विकल्प नही माना गया है। तो ज्ञानचेतना सम्यग्दृष्टिका प्रधान गुण है। वह अपनेको ज्ञानरूपमे अनुभव करता है। मै किसी अन्य रूप नही, मैं ज्ञानमात्र ही हू। ज्ञान ही मेरा सर्वस्व है। ज्ञानका ही करना, ज्ञानका ही भोगना हुआ करता है। ऐसी श्रद्धामे ज्ञानचैतन्यगुण उल्लिसित रहता है।

इद तु क्रमवर्त्यस्ति न स्यादक्रमवर्ति यद्।
एका व्यक्ति परित्यज्य पुनर्व्यक्ति समाश्रयेत् ॥८४१॥

इन्द्रियज्ञानमे क्रमवर्तिताका नियम—इन्द्रियज ज्ञानके विषयमें विवरण चल रहा है कि इन्द्रियज्ञानमे प्रतिसमय अर्थसे अर्थान्तर रूप परिवर्तन होता है, इसी कारण इन्द्रियज्ञान सक्रान्तिसहित है याने इन्द्रिय द्वारा अभी कुछ जाना, थोडी देर बाद कुछ जाना, इस तरह भिन्न-भिन्न पदार्थोका बोध इन्द्रियज्ञानमें चलता है। उसी सम्बन्धमे यहाँ बता रहे है कि यह इन्द्रियज्ञान क्रमवर्ती है, अक्रमवर्ती नही है याने पदार्थोको क्रम-क्रमसे जानने वाला है। इन्द्रियज्ञानकी यह ही पद्धति है कि एक व्यक्तिको पहिले जाना, फिर उस विवक्षित अर्थको छोड़कर अन्य व्यक्तिको जानने लगा। इन्द्रियज्ञान इसी तरह तो चलता है। एक ही इन्द्रियसे बहुत काल तक बोध किया जाय तो वहाँ भी अर्थ बदलता रहता है। फिर भिन्न-भिन्न इन्द्रियाँ है तब अन्य-अन्य इन्द्रियके द्वारा पदार्थोको जाना जाय तो वहाँ विषय बदलेगा ही। इन्द्रियजन्य ज्ञान एक समयमे एक विषयको विषय करता है और उसे जानता है। दूसरे समयमे दूसरे विषयको जानेगा। एक साथ भिन्न समयोमें रहने वाले विषयोको विषय नही कर सकता और एक ही साथ रहने वाले पदार्थोको भी सबको विषय नही कर सकता। इस कारण इन्द्रियजन्य ज्ञान क्रमवर्ती है, अक्रमवर्ती नही है और क्रमवर्ती होनेके कारण अर्थसे अर्थान्तरका परिवर्तन होता रहता है याने अभी कुछ जाना, थोड़ी देर बाद अन्य कुछ जाना। इस तरहसे इन्द्रियज्ञानमे ज्ञेय पदार्थ बदलते रहते है।

इदं त्वावश्यकीः वृत्तिः समव्याप्तेरिवाद्वया ।
इय तत्रैव नान्यत्र तत्रैवेय न चेतराः ॥८४२॥

इन्द्रियजज्ञान और संक्रान्तिमें समव्याप्ति—यह प्रकरण चल रहा है ध्यानका । और ध्यानोमे कौन ध्यान ? इन्द्रियजज्ञानियोका ध्यान । जब तक कि वीतराग अवस्था नही होती है तब तक सभी ध्यान, सभी ज्ञान, अर्थसे अर्थान्तरको विषय करते रहते है, क्योकि समस्त अर्थोंको तो वहाँ इन्द्रियज ज्ञान जानता नही, और इन्द्रियज ज्ञान बहुत देर तक एक प्रकार रह सकता नही, इसलिए वहाँ सक्रमण होना आवश्यक है । इस छन्दमे यह बतला रहे है कि इन्द्रियजन्य ज्ञान और पदार्थोंका सक्रमण अर्थात् ज्ञेय पदार्थ बदलते रहे, इन दोनोमे समव्याप्ति है । वह किस प्रकार है सो सुनो—यहाँ दो बातोका परस्परमे सम्बन्ध बतला रहे है—योगसक्रान्ति और इन्द्रियजन्य ज्ञान । इन्द्रियजन्य ज्ञान जहाँ होता हो वहाँ योगसक्रान्ति अवश्य है । जहाँ योगसक्रान्ति हो रही हो वहाँ इन्द्रियज्ञान अवश्य है । इन दोनोमे व्याप्ति पायी जा रही है । गुणस्थानकी विधिसे भी देखा जाय तो जितने गुणस्थान तक इन्द्रियजन्य ज्ञान है वहाँ तक योगका सक्रमण है । जहाँ-जहाँ योगका सक्रमण है वहाँ इन्द्रियजन्य ज्ञान है । ज्ञानके अतीन्द्रिय होनेपर योगसंक्रान्ति नही होती ।

योगसंक्रान्ति व अर्थसंक्रान्तिमे समव्याप्ति—और भी देखिये कि योगसक्रान्तिके होने पर ही अर्थसे अर्थान्तर परिणमन होता है याने मन, वचन, काय इन तीन योगोमे से किसी के भी अवलम्बन द्वारा पदार्थका ज्ञान किया जा रहा हो और फिर दूसरे योगके अवलम्बनसे ज्ञान करे तो उसका नाम है योगसंक्रान्ति । और अभी किसी पदार्थको जाना जा रहा हो और कुछ समय बाद उस ही के अनन्तर दूसरे पदार्थको जाना जाय तो इसे कहते है अर्थान्तरसक्रमण । तो योगसंक्रान्ति हो तबसे अर्थान्तरका ज्ञान होता है, याने योगसक्रान्ति तो हो रही हो और वहाँ अर्थसे अर्थान्तरका सक्रमण न हो, यह न हो सकेगा । यहाँ समव्याप्ति जो बतायी गई है उसका भाव यह है कि व्याप्ति दोनो तरफसे लग रही है ।

जैसे रूप और रसमे समव्याप्ति है । जहाँ रूप है वहाँ रस अवश्य है । जहाँ रस है वहाँ रूप अवश्य है । इस तरह रूप और रसमे दोनो ओरसे व्याप्ति बनती है और इस व्याप्तिका पोषण इस तरहसे करेंगे । इन दोनोमे से यदि कोई एक न हो तो दूसरा भी नही रह सकता । जहाँ रस नही है वहाँ रूप नही है, जहाँ रूप नही है वहाँ रस नही है । तो दोनो तरफसे जो व्याप्ति लगे उसका नाम है समव्याप्ति और जहाँ एक तरफसे व्याप्ति हो उसे कहते है विसमव्याप्ति । जैसे अग्निका परिज्ञान करनेमे धूम साधन बनाया जाता । तो यहाँ व्याप्ति एक ओरसे है । जहाँ जहाँ धुवाँ होता है वहाँ-वहाँ अग्नि होती है । यह बात तो निभा सकेंगे, पर यह न निभा सकेंगे कि जहाँ-जहाँ अग्नि होती है वहाँ-वहाँ धूम होता है । जैसे

तेज शुद्ध कोयलेकी आँच हो वहाँ अग्नि तो है, पर धुआँ नही अथवा तपे हुए तेज लाल लोहे का गोला हो तो अग्नि तो है, उसपर कुछ भी चीज रखें तो वह जल जायगी, लेकिन धुवाँ नही हो रहा है। कदाचित् इतने तेज लाल गोलेपर घास डाल दी जाय और धुवां होने लगे तो वह घास वाली अग्निसे धुआँ होता है। तो कोई अग्नि ऐसी होती है कि जिससे धुवां प्रकट है, किसी अग्निसे धुवाँ प्रकट नही है, तो यहाँ दोनो ओरसे व्याप्ति न लग सकी। जहाँ-धूम है वहाँ-वहाँ अग्नि है, यह व्याप्ति तो बन गई, पर जहाँ-जहाँ अग्नि हो वहां-वहां धूम है यह व्याप्ति नही बनती, इस कारण इसे विसमव्याप्ति बोलते है। अब समव्याप्ति और विसम-व्याप्तिका भेद समझनेके बाद प्रकृत बातपर आयें। यह योगसक्रान्ति और इन्द्रियज्ञान अथवा कहो अर्थसे अर्थान्तर गमन, इन दोनोमे व्याप्ति बतायी जा रही है। जहाँ-जहाँ योगसंक्रान्ति होती है वहाँ-वहाँ ज्ञानसम्बंधी अर्थान्तर गति होती है, याने एक अर्थको छोड़कर दूसरे अर्थका ज्ञान करना, ऐसा सक्रमण होता रहता है। यह एक तरफसे व्याप्ति हुई, अब दूसरी तरफसे भी व्याप्ति देखिये—जहाँ-जहाँ इन्द्रियज्ञान सम्बधी अर्थान्तर गति होती है अर्थात् ऐसा इन्द्रिय-जन्य ज्ञान जिसमे सभीमे अर्थसे अर्थान्तर गमन चलता रहता है, ऐसी अर्थान्तरगति जहाँ हो वहाँ योगसक्रान्ति भी अवश्य होती है। साथ ही इस समव्याप्तिका पोषण व्यतिरेक पद्धतिसे भी कर लीजिए। ये दोनो परस्परमे एक दूसरेके अभावमे नही रह सकते। जहाँ योगसक्रान्ति नही वहाँ अर्थान्तर गति नही, जहाँ अर्थान्तर गति नही वहाँ योगसंक्रान्ति नही। तो इन दोनोमे समव्याप्ति है। तब जिन ध्यानोमे सक्रमण होता है उन ध्यानोमें यह समव्याप्ति ठीक घटित हो रही है।

यत्पुनर्ज्ञानमेकत्र नैरन्तर्येण कुत्रचित् ।
अस्ति तद्ध्यानमत्रापि क्रमो नाप्यक्रमोऽर्थत. ।।८४३।।

ध्यानमे भी क्रम और संक्रम—अब यहाँ उसी प्रकृत सम्बन्धमे और विचार किया जा रहा है कि जो किसी एक विषयमे निरन्तर रूपसे ज्ञान रहता है ध्यान उसीको ही तो कहते है। तो यहाँ यद्यपि ध्यान निरन्तर रह रहा है, फिर भी इस ध्यानमें वास्तवमें क्रम ही है, अक्रम नही है। ध्यानका अर्थ हो यह है कि अन्य समस्त विषयोसे चित्तको हटाकर किसी एक विषयमे चित्त लगाना। जिसे परिभाषामें कहा है एकाग्र चिन्तानिरोधो ध्यान, तो एक विषयमे चित्त लगनेका नाम ध्यान है और यह ध्यान श्रुतज्ञानकी पर्याय है। तो यहाँ जो चित्तकी एकाग्रता होती है तो है तो एकाग्रता, लेकिन इसे सर्वथा यो नही कह सकते कि चित्तकी चंचलता नही है, चित्त अचचल है, यह बात यहाँ भी नही है। हाँ इतनी बात अवश्य होती है कि अन्य समस्त विषयोमे चित्तको हटाया है और किसी एक विषयमे चित्तको बार-बार लगाया जा रहा है। बस ध्यान इसीका नाम है कि एक विषयमें उपयोगको बार-

बार लगाये रहना । तो एक ओर ध्यान लगा है । कहनेमे एक ओर है, किन्तु इस ध्यानमें भी बराबर ज्ञानकी प्रवृत्ति चल रही है, उपयोग चल रहा है । इस कारणसे क्रमवर्तीपना यहाँ भी सिद्ध होता है ।

एकरूपमिवाभाति ज्ञानं ध्यानैकतानतः ।
तत्स्यात्पुनः पुनर्वृत्तरूपं स्यात्क्रमवर्ति च ॥८४४॥

एकरूप प्रतीत होने वाले ध्यानमे भी पुनः पुनर्वृत्तिरूप क्रमवर्तिता—ध्यानकी एकाग्रता के कारण यह ज्ञान अथवा ध्यान एक रूपकी तरह लग रहा है याने इस ध्यानमे यह समझमे आ रहा है कि यह तो अक्रमवर्ती एक साथ ही एक विषयको बहुत देर तक पकडे हुए है, परन्तु वह ध्यानरूप ज्ञान चूंकि बार-बार वृत्ति कर रहा है, कर रहा हो उसके विषयमे वृत्ति होनेके कारण यह ध्यानरूप ज्ञान क्रमवर्ती ही है । यहाँ यह बात बताई गई है कि ध्यानमे क्रमवर्तिता मौजूद है । इस कारणसे कोई यह शका न करे कि योगसंक्रान्ति और क्रमवर्तित्व की व्याप्ति न होगी, वह व्याप्ति बराबर है । ज्ञान एक विषयमे बार-बार प्रवृत्त हो रहा है, इसीका नाम ध्यान है, लेकिन बार-बार जो ज्ञानकी परिणति चल रही है सो भिन्न-भिन्न समयोमें उन भिन्न-भिन्न वृत्तियोके समय विषय भिन्न-भिन्न ही हो रहा है । तो यो अर्थ-सक्रान्ति और क्रमवर्तीपना—ये दोनो बातें इन्द्रियज्ञानमे सिद्ध होती है और इसमे समव्याप्ति सिद्ध होती है ।

नात्र हेतुः पर साध्ये क्रमत्वेऽर्थान्तराकृतिः ।
किन्तु तत्रैव चैकार्थे पुनर्वृत्तरपि क्रमात् ॥८४५॥

ध्यानमें क्रमवर्तिताका कारण पुनःपुनर्वृत्ति—इस प्रकरणमे यह बताया जा रहा है कि इन्द्रियज ज्ञान क्रमवर्ती होता है तो इन्द्रियज ज्ञानका क्रमवर्तीपना सिद्ध करते समय हेतु यह न देना चाहिए कि चूकि वह अर्थान्तर आकार होता है, इस कारण क्रमवर्ती है, किन्तु उस ही एक अर्थमे क्रमसे इन्द्रियज्ञानकी वृत्ति चल रही है उसकी अशक्तिसे, उसकी योग्यता से । इन्द्रियज ज्ञानकी पद्धति ही यह है, इसलिए वह क्रमवर्ती है, अपने आपकी ओरसे और वहाँ अर्थको अर्थान्तरका विषय परिवर्तित होता रहता है । और भी देखिये—जैसे एक पदार्थ से हटकर दूसरे पदार्थका ज्ञान बना तो क्या हुआ वहाँ ? अर्थान्तराकार हुआ । तो ऐसा अर्था-न्तराकार होनेसे इन्द्रियजन्य ज्ञानमे क्रमवर्तीपना सिद्ध होता है । यह मानकर चलें तो इस ही तरह यह भी सिद्ध कर लीजिए कि किसी एक विषयमे बार-बार जो इन्द्रियज ज्ञानकी वृत्ति चल रही है उससे यह क्रमवर्ती है, यह भी सिद्ध होता है । तो लो यो भले प्रकारसे यह बात सिद्ध हो गयी कि ध्यानमे भी यह ज्ञान क्रमवर्ती हो रहा है और क्रमवर्ती ध्यानके सतानको भी ध्यान रहा करते है ।

नोह्य तत्राप्यतिव्याप्तिः क्षायिकात्यक्षसविदि ।
स्यात्परीणामवत्त्वेऽपि पुनर्वृत्तेरसम्भवात् ॥८४६॥

क्षायिक ज्ञानमें परिणामवत्त्व होनेपर भी पुनर्वृत्तिकी असंभवतासे अतिव्याप्ति दोषका अभाव—यहाँ कोई शङ्काकार ऐसी तर्क कर रहा है कि अर्थसे अर्थान्तर गतिकी जो विधि कही है उस विधिके अनुसार तो क्षायिक ज्ञानमे याने अतीन्द्रिय सकल प्रत्यक्ष केवलज्ञानमे भी यह व्याप्ति पहुंच जायगी तो अतिव्याप्तिका दोष आ जायगा। ऐसी शंका करने वालोके प्रति समाधान दिया जा रहा है कि देखिये—केवलज्ञानमे स्वाभाविक रूपसे परिणमन हो रहा है। यद्यपि यह बात कही है कि इन्द्रियज्ञानमे बार-बार जाननेकी वृत्ति हो रही है तो भी बार-बार वृत्तिकी बात, ऐसे केवलज्ञानमे न बतायी जा सकेगी। केवलज्ञानमे हो रहा है स्वाभाविकरूप से परिणमन निरन्तर प्रतिसमय चलता हुआ होनेपर भी पुनर्वृत्तिकी बात नही कह सकते। पुनर्वृत्तिकी बात तो रागवश हुआ करती है। जहाँ रागादिक दोष रच भी नही रहे वहाँ ज्ञान की पुनर्वृत्तिका अर्थ ही क्या? शकाकार अतिव्याप्ति दोषका प्रसङ्ग बतला रहा था। अति-व्याप्तिका अर्थ है कि लक्षण अलक्षमें भी चला जाय। अतिव्याप्ति शब्दका अर्थ है—अति मायने अधिक, व्याप्ति मायने रहना, याने जिसका लक्षण किया जा रहा है उस लक्ष्यमें तो लक्षणका रहना होता ही है। अगर लक्ष्यके अतिरिक्त अलक्षमे भी पहुंच जाय तो उसे अति-व्याप्ति कहते है। ऐसी अतिव्याप्तिको ध्यानमे रखकर शंकाकारका यह कहना था कि यदि कदाचित् यह कहे कि ध्यानमे क्रमवर्तिता माननेसे केवलीके ध्यानमे भी क्रमवर्तिता आ-जायगी। यहाँ साधारणतया यह कहा जा रहा है कि ध्यानमें क्रमवर्तिता होती है तो ध्यान तो केवलीके भी बताया गया है तो ध्यानमें क्रमवर्तिता है, ऐसा कहनेपर वहाँ भी क्रमवर्तिता-का प्रसङ्ग आयगा। उस शकाके समाधानमे बतला रहे है कि यहाँ अतिव्याप्ति प्रसंग यो नहीं आता कि केवली भगवानके अतीन्द्रिय क्षायिक ज्ञानमे पुनर्वृत्ति नही होती, अतएव वह क्रम-वर्ती नही है, किन्तु अक्रमवर्ती है अर्थात् केवलज्ञान एक साथ अनन्त पदार्थोका जाननहार होता है। तो ऐसे निरन्तर विशुद्ध ज्ञातादृष्टा सर्वज्ञदेवमे जो ध्यान शब्दकी वृत्ति है याने उस स्थितिको जो ध्यान शब्दसे कहा है वह तो एक उपचार कथन है, क्योकि वास्तवमे ध्यान तो श्रुतज्ञानकी पर्याय है। जहाँ वीतराग हुआ, सर्वज्ञ हुआ उस प्रभुके श्रुतज्ञान कहाँ? केवल ज्ञान ही है। इस कारण वास्तवमे ध्यान १२वे गुणस्थानके उपान्त समय तक ही होता याने अतिम समयसे पहिले तक ही होता है और १२वे गुणस्थानसे १३वें गुणस्थानमे निर्जरा पायी जा रही है। इस कारणसे कर्मकी निर्जरा देखकर चूकि यह निर्जरा अब तक ध्यानके कारण हो रही है तो ध्यानका कार्य निर्जरा है, इस तरहकी बुद्धि रखकर वहाँ भी ध्यानका उपचार किया गया है। वस्तुतः ध्यान वही तक है जहाँ तक इन्द्रियजन्य ज्ञान हो।

यावच्छद्मस्थजीवानामस्तिज्ञानचतुष्टयम् ।
नियतक्रमवर्तित्वात्सर्वं सक्रमणात्मकम् ॥८४७॥

चतुर्विध क्षायोपशमिक ज्ञानोंमें संक्रमणात्मकता—उक्त श्लोकमे यह बात कही गई है कि क्रमवर्तीपना इन्द्रियजन्य ज्ञानमे ही है, केवलज्ञानमे नही है । इस ही का कारण इस श्लोकमे बताया जा रहा है । छद्मस्थ जीवोमे जो चार ज्ञान पाये जाते है वे सब नियमसे क्रमवर्ती है, इसी कारण सब सक्रमणरूप होते है । मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्यय-ज्ञान—ये चार ज्ञान क्षायोपशमिक ज्ञान है और होते है ये छद्मस्थ जीवके । तो ये चारो ही क्षायोपशमिक ज्ञान सक्रमणात्मक होते है और केवलीका क्षायिक ज्ञान असंक्रमणात्मक होता है याने केवलज्ञानमे अर्थसे अर्थान्तर, योगसे योगान्तर रूप सक्रमण नही पाया जाता है, अतएव यह बात अयुक्तिक सिद्ध हुई कि इन्द्रियजन्य ज्ञानमे क्रमवर्तिता होनी है ।

नाल दोपाय तच्छक्तिः सूक्त सक्रातिलक्षणा ।
हेतोर्वैभाविकत्वेऽपि शक्तित्वाज्ज्ञानशक्तिवत् ॥८४८॥

क्षायोपशमिक ज्ञानके विकल्पोंमे सम्यक्त्वदोष करनेकी अशक्ति—यद्यपि मति, श्रुत, अवधि और मनःपर्यय—ये चार क्षायोपशमिक ज्ञान वैभाविक ज्ञान है, फिर भी शक्तिपने रूप हेतुसे ज्ञानशक्तिकी तरह सक्रान्तिरूप जो शक्ति है वह सम्यक्त्वके दोषके लिए समर्थ नही है । यद्यपि इन सभी क्षायोपशमिक ज्ञानोमे सक्रमण है और वैभाविकपना है, फिर भी सम्यक्त्व का घात कर दे, ऐसे दोषकी बात इन ज्ञानोमे नही कही जा सकती याने यह ज्ञान अपनी शक्तिसे सम्यग्दर्शनमे बाधा नही डाल सकता । इस कारण ये चारो ज्ञान वैभाविक है और इनसे विकल्पकी उपपत्ति है तो जैसे परमे विकल्पात्मकताके कारण सम्यक्त्वमे दोष उत्पन्न नही होता, इसी कारण जो सम्यक्त्व है वह सब निर्विकल्प है । जब किसी भी क्षायोपशमिक ज्ञानके द्वारा जो कि विकल्पात्मक है सम्यक्त्वमे दोष न किया जा सका तो सम्यक्त्वको विकल्पात्मक कैसे कहा जायगा ? सम्यग्दर्शन चाहे सराग जीवके हो, चाहे वीतराग जीवके हो, पर सम्यग्दर्शनका जो स्वरूप है वह तो एक-एक प्रकार निर्विकल्प सहज स्वच्छ प्रकाशरूप है । उस सम्यक्त्वमे किसी भी प्रकार इन ज्ञानोके विकल्पके कारण बाधा नही आ सकती ।

ज्ञानसचेतनायास्तु न स्यात्तद्विघ्नकारणम् ।
तत्पर्यायस्तदेवेति तद्विकल्पो न तद्रिपुः ॥८४९॥

क्षायोपशमिक ज्ञानके विकल्पोंसे ज्ञानचेतनामें बाधाका अभाव—उक्त श्लोकमे यह बताया गया था कि क्षायोपशमिक ज्ञानके विकल्पके कारण सम्यक्त्वमे दोष नही आता । उसी प्रकार इस श्लोकमे यह समझ लेना चाहिए कि क्षायोपशमिक ज्ञानके विकल्पसे ज्ञानचेतनामे भी बाधा नही आती, और इसी कारण स्पष्ट है कि जिस गुणकी जो पर्याय होती है वह पर्याय

कथञ्चित तद्रूप हुआ करती है। तो क्षायोपशमिक ज्ञानमे जो विकल्प आया, पर्यायार्थिक नय की दृष्टिसे विकल्पात्मकताका स्वभाव बना उस क्षायोपशमिक ज्ञानमे तो बना, वह विकल्प ज्ञान का परिणमन है, तो विकल्पसे जो बात बनी अच्छी बुरी, उसका प्रभाव ज्ञानपर होगा। जिस ज्ञानका जो परिणमन है उस परिणमनका प्रभाव उस ही ज्ञानमे सम्भव है। ज्ञानचेतनारूप शुद्ध ज्ञानका वह बाधक नही हो सकता। ज्ञानचेतना यद्यपि शब्ददृष्टिसे लग रहा है कि ज्ञान का चेतना ज्ञानका परिणमन, लेकिन ज्ञानचेतना सम्यक्त्वके साथ उत्पन्न होती है। उस ज्ञानचेतनाका अधिक सम्बध सम्यक्त्वके साथ है। तो ज्ञानचेतनाके लिए भी चारो ही ज्ञानोंका सक्रमण होना बाधक नही है। यह ज्ञान यदि बदलता रहता है तो बदलने पर उससे ज्ञानचेतनामे बाधा नही आती। हाँ ज्ञानचेतनाका बाधक विवक्षित ज्ञानावरणका उदय ही हो सकेगा याने ज्ञानचेतना वर्णका उदय ज्ञानचेतनाका बाधक होगा, पर ज्ञानावरणका क्षायोपशमिक ज्ञानचेतनाका बाधक न होगा। जैसे कि ज्ञानावरणका क्षय क्या ज्ञानचेतनाका बाधक है ? वह बाधक नही है। तो क्षायोपशमिक भी कुछ-कुछ क्षय जैसी ही तो चीज है। ज्ञानावरणका क्षयोपशम भी ज्ञानचेतनाका बाधक कैसे हो सकता ? अब यहाँ क्षायोपशमिक ज्ञानकी पर्यायको देखिये—यह पर्याय ज्ञानावरणके क्षयोपशमसे हुई है, अतएव वैभाविक है, लेकिन यह सम्यक्त्वकी सहभाविनी, ज्ञानचेतनाका बाधक नही हो सकती। इसका कारण स्पष्ट बताया है कि ज्ञानकी पर्यायें है ये क्षायोपशमिक रूप। यह ज्ञानगुण रूप ही पडता है। तो क्षायोपशमिक ज्ञान अथवा उसका विकल्पज्ञान चेतनामे बाधा देनेमे कैसे समर्थ हो सकेगा ? गुणका विकास कही गुणका बाधक हुआ करता है ? क्षायोपशमिक ज्ञानके विकल्पमे भी हुआ तो ज्ञान का ही विकास है। वह विकास ज्ञानका कैसे बाधक है ? इस युक्तिसे भी ये चारो क्षायोपशमिक ज्ञानके विकल्प ज्ञानचेतनाके बाधक नही हो सकते।

ननु चेति प्रतिज्ञा स्यादर्थादर्थान्तिरे गतिः।
आत्मनोऽन्यत्र तत्रास्ति ज्ञानसचेतनान्तरम् ॥८५०॥

ज्ञानचेतनारूप मतिज्ञानमे अर्थसंक्रान्ति होनेकी शंकाकार द्वारा आशंका—उक्त श्लोक मे यह बताया था कि इन्द्रियज ज्ञानका सक्रमण होता रहता है तिसपर भी सम्यग्दृष्टिके ज्ञानचेतनामे किसी भी प्रकारकी बाधा नही आती। इसपर शंकाकार यह कहता है कि यदि ज्ञानका सक्रमण होनेपर भी ज्ञानचेतनामे किसी भी प्रकारकी बाधा नही आ सकती तो ज्ञानचेतना मे मतिज्ञानपनेके कारण अर्थसे अर्थान्तिररूप सक्रमण होता है, यह प्रतिज्ञा यहाँ रख लीजिए। इन्द्रियज ज्ञानका सक्रमण होता है तिसपर भी ज्ञानचेतनामें बाधा और संक्रान्ति नही होती। तो इस विषयमे शंकाकार कुछ दखल न देकर वह ज्ञानचेतनामे ही कह रहा है कि ज्ञानचेतना भी तो मतिज्ञान है तो मतिज्ञानपनेके कारण ज्ञानचेतनामें स्वयं संक्रमण होता है, यह बात

मान लीजिये। और ऐसा मान लेनेपर आत्माके सिवाय अन्य विषयोमें भी ज्ञानचेतनाका उपयोग होता है, यह मानना पडेगा अर्थात् जब ज्ञानचेतनामे सक्रमण सिद्ध हो गया तो सक्रमणका अर्थ यह होगा कि ज्ञानचेतनामे पहिले आत्मा विषय होता था, अब अन्य पदार्थ विषय होने लगा, सो ज्ञानचेतनाका विषय आत्माके सिवाय अन्य पदार्थ भी मानना पड़ेगा। ज्ञानचेतनाका निरुक्ति अर्थ तो यह है कि जिस चेतना परिणतिके द्वारा शुद्ध आत्मा जाना जाय उसे ज्ञानचेतना कहते हैं, परन्तु इस प्रकरणमे जैसे सम्यग्दृष्टिके क्षायोपशमिक ज्ञानमे सक्रमण माना है कि सम्यग्दृष्टिके अन्य क्षायोपशमिक ज्ञान इन्द्रियज ज्ञान हैं, उनका विषय बदलता रहता है याने अर्थसे अर्थान्तर होता रहता है, ऐसे ही ज्ञानचेतना भी तो है, क्षायोपशमिक है, तो क्षायोपशमिकपनेके कारण ज्ञानचेतनामे भी संक्रमण मान लेना पडेगा। ऐसा यहाँ शङ्काकारका मंतव्य है और यह भी मतव्य है कि जब ज्ञानचेतनामे सक्रमण सिद्ध हो गया तो उसका अर्थ यह रहा कि ज्ञानचेतनाका विषय शुद्ध आत्मा न होकर अन्य भी विषय होते है, यह मानना होगा। इस शङ्काके उत्तरमे कहते है कि—

स य हेतोर्विपक्षत्वे वृत्तित्वाव्यभिचारिता।
यतोऽत्रान्यात्मनोऽन्यत्र स्वात्मनि ज्ञानचेतना ॥८५१॥

ज्ञानचेतनाका एक स्वात्मा विषय बताते हुए उक्त शंकाका समाधान—शकाकारका कहना उसकी दृष्टिमे ठीक है। उसका मंतव्य था कि हेतुमे अगर विपक्ष वृत्ति पायी जाय अर्थात् हेतु विपक्षमे रहने लगे तो हेतु व्यभिचारी कहला सकता है, परन्तु यहाँ तो यह बात है कि ज्ञानचेतनामे जो आत्माकी प्रवृत्ति होती है सो वह किस प्रकार होती है? उसके विषयपर जरा ध्यान दें तो शंका न रह सकेगी। ज्ञानचेतनामे आत्मप्रवृत्ति होती है तो वह परपदार्थोंसे आत्माको हटाकर बार-बार निज आत्मामे स्थापित करता है तो विषय तो एक आत्मा ही रहा। अब ज्ञानचेतनामें सक्रान्ति या क्रमवर्तिता नही हुई, अतएव क्रमवर्तीपनेसे जब विपक्ष वृत्ति सम्भव ही नही हो सकती तो हेतुको व्यभिचारी नहीं कहा जा सकतो। पर स्वरूप पर पदार्थसे भिन्न इस निज आत्मामें ही ज्ञानचेतना होती है और अन्य प्रकारके जो ज्ञान हैं उन क्षायोपशमिक ज्ञानोमे अर्थसे अर्थान्तरका सक्रमण होता रहता है। इस कारण अन्य क्षायोपशमिक ज्ञानोमे अर्थसे अर्थान्तरका परिवर्तन निरखकर ज्ञानचेतनामे भी अनात्मतत्त्वको विषय बनानेका प्रयत्न करना निष्फल है।

किञ्च सर्वस्य सद्दृष्टेर्नित्यं स्याज्ज्ञानचेतना।
अव्युच्छिन्नप्रवाहेण यद्वाऽखण्डैकधारया ॥८५२॥

ज्ञानचेतनामे अर्थसंक्रान्तिके अभावका समर्थन—ज्ञानचेतनाके सम्बंधमे और भी विशेष निर्णय कीजिए। देखिये समस्त सम्यग्दृष्टियोंके ज्ञानचेतना नित्य रहा करती है और

ज्ञानचेतना अविच्छिन्न धारासे अथवा अखण्ड एक धारासे निरन्तर रहा करती है। सम्यग्दृष्टि जीवके याने जिसके सम्यक्त्व है जब तक सम्यक्त्व है तब तक अवश्य ही एक प्रवाहरूपसे अथवा अखण्ड धारा रूपसे उसमें ज्ञानचेतना निरन्तर रहा करती है। यहाँ अविच्छिन्न धारा से या अखण्ड रूपसे जो ज्ञानचेतना रहनेकी बात कही जाय, सो वह लब्धिकी अपेक्षासे सदा रहनेके कारण कहा है। जब तक सम्यक्त्व रहता है तब तक लब्धिरूप ज्ञानचेतना अवश्य रहती है। ज्ञानचेतनाकी अनन्तर धारामे अन्त पवेशमे किसी भी प्रकारकी बाधा सम्भव नहीं है। तब क्षायोपशमिक ज्ञानमे अर्थान्तर संक्रमण होना भी ठीक है, किन्तु ज्ञानचेतनामे अर्थान्तर सक्रमण नही होता।

हेतुस्तत्रास्ति सध्रीची सम्यक्त्वेनान्वयादिह।
ज्ञानसचेतनालब्धिर्नित्या स्वावरणव्ययात् ॥८५३॥

ज्ञानचेतनामें अर्थसंक्रान्ति न होनेका कारण—उक्त श्लोकमें यह बताया गया है कि सम्यग्दृष्टि जीवके ज्ञानचेतनाकी सदा उपलब्धि है। इस छन्दमे यह बतला रहे है कि इसका क्या कारण है कि सम्यग्दृष्टि जीवके ज्ञानचेतना सदा पायी जाती है? इसका कारण यह है कि सम्यक्त्वके साथ अविनाभाव रूपसे होने वाली समीचीन ज्ञानचेतना सदा पायी जाती है। ज्ञानचेतना होनेका कारण है स्वानुभूत्यावरणका क्षयोपशम। तो यह आत्मा सहज जिस स्वरूपमें है उस स्वरूपमे ज्ञान होना, क्षयोपशम होना उसका नाम है ज्ञानचेतना। लब्धिमे सहज परमात्मतत्त्व भी पदार्थ है। इसका आवरण करने वाले कर्मका क्षयोपशम हुआ तो इस सहज आत्मस्वरूपको जाननेकी लब्धि सदा रही। अब उपयोगकी बात है कि जब उपयोग हुआ स्वात्मतत्त्वपर तो वहां सद्भूत होता है, उपयोग न हो तो परका परिचय होता है, लेकिन ज्ञानचेतनाकी लब्धि सम्यग्दृष्टिके सदा रहती है। यद्यपि सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान उत्पत्ति की दृष्टिसे एक ही काल है, जिस ही कालमें सम्यग्दर्शन होता है, उस ही कालमें सम्यग्ज्ञान है, फिर भी इन दोनोका कार्यकारण भाव है याने सम्यग्दर्शनके होनेपर ज्ञानमे सम्यक्पना आता है तो सम्यग्ज्ञान हुआ कार्य और सम्यग्दर्शन हुआ कारण। तो सम्यग्दर्शनके होनेपर ही ज्ञानमें सम्यक्पना आया। इसका कारण यह है कि जिस समय मिथ्यात्वकर्मका उपशम, क्षय अथवा क्षयोपशम होता है उसी समय याने मिथ्यात्वके अभावके साथ ही स्वानुभूत्यावरण साथक मतिज्ञानावरणका क्षयोपशम हो ही जाता है। यही कारण है कि जिस कालमे सम्यक्त्व उत्पन्न होता है उस ही कालमे सम्यग्ज्ञान हो जाता है। सम्यक्त्व और सम्यग्ज्ञानके बाधक क्या हैं? सम्यक्त्वके बाधक तो है मिथ्यात्वकर्म अथवा कहो अनन्तानुबंधी चारों कषायें—मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व, सम्यक्प्रकृति और सम्यग्ज्ञानका बाधक है स्वानुभूत्यावरण। तो दोनों ही कर्मोंका एक साथ व्यय होता है, इस कारण सम्यक्त्व और सम्यग्ज्ञान

की एक साथ उत्पत्ति होती है । सो जब तक सम्यक्त्व रहता है तब तक यह लब्धिरूप ज्ञान-चेतना भी अखण्ड धारासे प्रवाह रूपसे निरन्तर अवश्य ही रहती है । इस कारण सम्यक्त्वके साथ ज्ञानचेतनाका नित्य सम्बव सिद्ध होता है तभी ज्ञानचेतनाको नित्य कहा गया है । जब स्वानुभूत्यावरणका क्षयोपशम हुआ है तब ही सम्यग्दर्शन हो गया है। तो जब तक सम्यग्दर्शन रहेगा तब तक ज्ञानचेतना भी निरन्तर रहेगी और क्षायिक सम्यक्त्व होनेपर तो सन्देह ही नही कि ज्ञानचेतनाका कभी अभाव हो ।

कादाचित्काऽस्ति ज्ञानस्य चेतना स्वोपयोगिनी ।
नाल लब्धेर्विनाशाय समव्याप्तेरसम्भवात् ।।८५४।।

उपयोगमयी ज्ञानचेतनाके विनाशकी सिद्धिका अनियम—स्वानुभूत्यावरण कर्मका क्षयोपशम होनेसे ज्ञानचेतनामे लब्धि प्रकट हुई है तो पहिली बार तो यह नियम है कि जब ज्ञानचेतनाकी लब्धि होती है तो उपयोग भी होता है याने स्वानुभूतिके साथ सम्यग्दर्शन होता है । तो प्रथम क्षणमे उत्पन्न समयमे तो स्वानुभूत्यावरण कर्मका क्षयोपशम है, ज्ञानचेतनाकी लब्धि है और स्वानुभूति है, लेकिन बादमे स्वानुभूति रहे और न भी रहे, दोनो स्थितियाँ हो सकती है, पर सम्यक्त्वके होनेके कारण ज्ञानचेतना निरन्तर बनी रहती है । लब्धि और उपयोगमे समव्याप्ति नही है कि लब्धि हो तो नियमसे हो ही वह । यदा कभी आत्मउपयोग मे तत्पर रहने वाली उपयोगमयी ज्ञानचेतना रहो अथवा न रहो, उपयोगमयी ज्ञानचेतना न रहनेके कारण लब्धिरूप ज्ञानचेतनाका विनाश हो जाय, ऐसा नही होता । भावेन्द्रिय और भावमन—ये दोनो लब्धि तथा उपयोगरूप होता है तो जैसे ये दोनो प्रकारके है उसी प्रकार ज्ञानचेतना भी लब्धिरूप और उपयोगरूप होता है । स्वानुभूत्यावरण कर्मके क्षयोपशमसे ज्ञान-चेतना उत्पन्न हुई, सो यह लब्धिरूप तो सदा रहेगा और उपयोगरूप जब कभी भी हो । यद्यपि ज्ञानकी लब्धि एक साथ रह सकती, कितने ज्ञानोकी योग्यता है ? कितने पदार्थोंके जाननेका इसमे सामर्थ्य है ? जितना जाननेकी सामर्थ्य है उतनीकी लब्धि निरन्तर है, किन्तु उपयोग तो एक समयमे एक जातिको ही होता है । जिस समय सम्यग्दृष्टि जीवके कोई इन्द्रिय उपयोग हो या अन्य किसी प्रकारका श्रुतज्ञानोपयोग हो उस समय उस सम्यग्दृष्टि जीवके उप-योगमयी ज्ञानचेतना नही है, फिर भी लब्धिरूप ज्ञानचेतना तो बराबर है। इसी कारण जिस समय उस सम्यग्दृष्टि जीवके उपयोगरूप ज्ञानचेतना नही है उस समय भी उसकी लब्धिरूप ज्ञानचेतना होती है । कही ऐसा न हो सकेगा कि उपयोगमयी ज्ञानचेतना न हो तो लब्धिरूप ज्ञानचेतनाका भी नाश हो । ऐसा क्यो नही हो सकता ? उसका कारण यह है कि लब्धि और उपयोग—इन दोनोमे समव्याप्ति नही है । लब्धि रहे, उपयोग न रहे । अतएव उप-योगात्मक ज्ञानचेतनाका अभाव भी हो तो वह लब्धिरूप ज्ञानचेतनाका बाधक नही हो

सकता। इस प्रकार यह सिद्ध हो जाता है कि सम्यग्दृष्टिके ज्ञानचेतनामे तो बाधा नही आती, लेकिन क्षायोपशमिक ज्ञानमे, अन्य इन्द्रियज ज्ञानादिकमे अर्थान्तरका संक्रमण होता रहता है।

अस्त्यत्र विषमव्याप्तिर्यावल्लब्ध्युपयोगयो: ।
लब्धि क्षतेरवश्य स्यादुपयोगक्षतिर्यत: ॥८५५॥
अभावात्तूपयोगस्य क्षतिलब्धेश्च वा न वा ।
यत्तदावरणस्यामा दृशा व्याप्तिर्नचामुना ॥८५६॥
अवश्य सति सम्यक्त्वे तल्लब्ध्यावरण क्षति ।
न तत्क्षतिरसत्यत्र सिद्धमेतज्जिनागमात् ॥८५७॥

लब्धिरूप ज्ञानचेतना व उपयोगमयी ज्ञानचेतनामें विषमव्याप्ति—ममस्त लब्धियोंमें और उपयोगमें विसमव्याप्ति रहती है, क्योंकि लब्धिके नाशसे क्लेश विकारका नाश होता है। यहाँ इस तरहकी व्याप्ति समझना कि लब्धि जब उपयोग हो अथवा न हो, किन्तु जब उपयोग हो रहा है तो उनकी लब्धि अवश्य है। लब्धिका नाश होनेसे उपयोगका नाश होता है, किन्तु उपयोग न हो तो उससे कही लब्धिका नाश नही होता। तो जहाँ-जहां आप उपयोग पायेंगे वहा यह निर्णय पायेंगे कि इमकी लब्धि याने जाननेकी शक्ति अवश्य है, पर जहाँ जाननेकी शक्ति है वहाँ उसका उपयोग हो अथवा न भी हो। जैसे दर्शनमोहमे क्षयोपशम आदिक होनेके साथ स्वानुभूत्यावरणके क्षयोपशमकी लब्धि होती है, सम्यक्त्व है वहां ज्ञान-चेतना अवश्य है। जिस ही कालमे दर्शनमोहका प्रक्षय है उस ही कालमे स्वानुभूत्यावरण कर्मका भी प्रक्षय है। यो सम्यक्त्व और लब्धि रूप ज्ञानचेतनामे समव्याप्ति है। तो जिस तरह यहां समव्याप्ति है उसी प्रकार ज्ञानचेतनाके उपयोगके साथ समव्याप्ति सम्यक्त्वकी नही है याने सम्यक्त्वके होते हुए भी उपयोगरूप ज्ञानचेतना हो भी सकती, नही भी हो सकतो। सम्यक्त्वके होते ही ज्ञानचेतनावरणकर्मका विनाश अवश्य ही हो जाता है, अतएव सम्यक्त्वके साथ ज्ञानचेतनाकी लब्धिकी समव्याप्ति है और सम्यक्त्वके न होनेपर ज्ञानचेतना-वरण कर्मका क्षयोपशम भी नही होता अर्थात् उदय ही रहता। इससे भी सिद्ध है कि सम्य-क्त्वके साथ ज्ञानचेतनाकी समव्याप्ति है। स्पष्ट अर्थ यह है कि स्वानुभूतिकी लब्धि न हो तो स्वानुभूतिका उपयोग नही हो सकता, किन्तु स्वानुभूतिकी लब्धि होने के बाद जो उपयोग भी न रहे तो भी लब्धि तो है ही। उसके अभावका नियम न बनेगा, यही कारण है कि स्वानुभूतिकी लब्धि और स्वानुभूतिका। उपयोग इन दोनोमे विसमव्याप्ति है। इस प्रकरण से यह सिद्ध हो जाता है कि सम्यग्दृष्टि जीवके अन्य क्षायोपशमिक ज्ञानकोका विषय बदलता। रहता है। अर्थसे अर्थान्तरका सक्रमण हो जाता है, लेकिन ज्ञानचेतनाका विषय नही बदलता

गले हो उसका उपयोग चाहे न हो यह स्थिति आ जाय, लेकिन लब्धिमे भी ज्ञानचेतनाका विषय स्वात्मा है और उपयोगमे भी ज्ञानचेतनाका विपय स्वात्मा है।

नून कर्मफले सद्यश्चेतना वाऽथ कर्मणि।
स्यात् सर्वतः प्रमाणाद्धं प्रत्यक्षं बलवद्यतः ॥८५८॥

ज्ञानचेतना होनेपर सम्यग्दृष्टिके रागद्वेषकी संभवताके कारणका प्रकाश—सम्यग्दृष्टि जीवके ज्ञानचेतना तो निरन्तर है ही, पर साथ ही कर्मचेतना और कर्मफलचेतना भी है। इस कारणसे जिसके कर्मचेतना और कर्मफलचेतना है उसका जघन्य पद बताया गया है, और उस जघन्य पदका कारण है चारित्रमोहका उदय। एक यह प्रश्न जब सामने आता है कि सम्यग्दृष्टि जीवको जब सम्यक्त्व हो गया है तब फिर विपयोमे राग और कपायोकी उत्पत्ति क्यो होती है ? इसका समाधान इस श्लोकमे मिल रहा है। चूकि सम्यक्त्व होने पर भी जब तक उसका जघन्य पद है, चारित्रमोहका उदय चल रहा है तब तक उसके उस अश मे कर्मचेतना और कर्मफलचेतना भी होती है। यह बात यहा कही जा रही है। इसका कारण यह है कि उसको सदा उपयोगमयी ज्ञानचेतना नही रहती। वहाँ भी निरखा जाय तो जब ज्ञानचेतना उपयोगात्मक जिस सम्यग्दृष्टिके सदा नही रह सकती तो कहना होगा कि उसके अन्य प्रकारका उपयोग रह जाता है तो वह अन्य प्रकारका उपयोग क्या है ? यह ही परपदार्थविषयक और वहा कुछ अशोमे इष्ट अनिष्ट बुद्धि है, रागद्वेष है तो वहां कर्म-चेतना और कर्मफलचेतनाका भी प्रसग है। जैसे अविरत सम्यग्दृष्टिके नाना प्रकारकी सम्भावना है और इसी कारण ज्ञानचेतनाकी लब्धि और उपयोगमे समव्याप्ति दोष है कि अविरत सम्यग्दृष्टि जीवके जैसे ज्ञानचेतना सदा रहती है वैसे ही उपयोगमयी ज्ञानचेतना भी सदा रहे, ऐसा नही है। इसी प्रकार यहां भी यह जानना कि सम्यक्त्व और ज्ञानचेतना के साथ भी समव्याप्ति नही है याने लब्धिरूप ज्ञानचेतना तो सम्यक्त्वके साथ सदा है। किन्तु सम्यक्त्वके साथ उपयोगमयी ज्ञानचेतना रहनेका नियम नही है। यहां तक यह वर्णन हुआ कि सम्यग्दृष्टि जीवके अन्य क्षायोपशमिक ज्ञानोमे तो अर्थान्तर सक्रमण है, पर ज्ञान चेतनामे अर्थान्तर सक्रमण नही है। ज्ञानचेतनाका विषय एक स्वात्मा ही है। इस वर्णनके बाद अब एक समस्या विचारके लिए रह जाती है कि योग सक्रान्ति रूप विकल्प जिस छद्मस्थ के ज्ञानमें रहता है और इस कारणसे उस ज्ञानको सविकल्प कहा जाता है उसी प्रकार ज्ञान-चेतनामे चाहे लब्धिरूप हो या उपयोगरूप हो उसमे सविकल्पपना रहता है या नही ? इस विषयमे विचार करते है।

सिद्धमेतावतोक्तेन लब्धिर्या प्रोक्तलक्षणा।
निरुपयोगरूपत्वान्निर्विकल्पा स्वतोऽस्ति सा ॥८५९॥

ज्ञानचेतनाकी निर्विकल्पता—उक्त कथनसे यह सिद्ध होता है कि लब्धि जिसका कि लक्षण है, बताया ही गया है वह स्वत उपयोगरूप नही है, इसलिए सविकल्प है । प्रश्न यह हो रहा था कि जिस सम्यग्दृष्टि जीवके अन्य क्षायोपशमिक ज्ञान सविकल्प है और उनमे योग-सक्रान्ति होती है, ऐसी सविकल्पता ज्ञानचेतनामे भी है । समाधानमे यह कहा जा रहा है कि ज्ञानचेतना चूँकि लब्धिरूप है और उसका प्रधानसे वर्णन हो रहा है तो उसमे उपयोगरूपता की बात ही नही है । हो तो हो, न हो तो मत हो । तो स्वतः उपयोग रूप न होनेसे ज्ञान-चेतना निर्विकल्प है । छद्मस्थ जीवोके उपयोग हो ज्ञानमे योगसक्रान्ति होनेके कारण विकल्प होता है, पर लब्ध्यात्मकमे नही । ऐसी बात क्षायोपशमिक ज्ञानकी लब्धिमे भी घटाई जा सकती है याने समस्त लब्धियोमे निर्विकल्पता है, पर उपयोगरूप बनता है तो उसमे विकल्प होता है, पर यहाँ ज्ञानचेतनाकी लब्धिमे चूंकि लब्धिरूप है, इसलिए सविकल्प ज्ञान नही कहा जा सकता । ज्ञानचेतना निर्विकल्प है उसे क्षायोपशमिक ज्ञानकी तरह सक्रान्तिरूप नही कह सकते । और जब ज्ञानचेतना अनुभवरूप होता है तो अनुभवके सम्बधमें तो एक स्वात्मा ही विषय होता है, इसलिए वहाँ भी अर्थसे अर्थान्तरका सक्रमण नही कहा जा सकता । इस तरह यह बात भलो-भाँति सिद्ध हो गई कि सम्यग्दृष्टि जीवके अन्य ज्ञानोमे अर्थान्तर सक्रमण तो होता, लेकिन ज्ञानचेतनामे अर्थान्तर सक्रमणकी सम्भावना नही है । जब लब्धिरूपसे देखा तो निर्विकल्प है, सक्रमणरहित है, यह बात तो स्पष्ट सिद्ध है । तो सभी लब्धियाँ इस प्रकार की होती है और जब उपयोगरूपसे देखा तो ज्ञानचेतनाका जब उपयोग हो रहा हो उस समय भी स्वात्माको छोडकर अन्य विषय नही है, इस कारण वहाँ भी अर्थान्तरसक्रमण नही कहा जा सकता ।

शुद्धस्यात्मोपयोगो यः स्वय स्यात् ज्ञानचेतना ।
निर्विकल्प. स एवार्थादसक्रान्तत्वसंगते ।।८६०।।

लब्धि व उपयोग दोनो अपेक्षाओसे ज्ञानचेतनाकी निर्विकल्पता—उक्त समाधानका साराश यह है कि ज्ञानचेतना स्वय शुद्ध स्वकीय आत्माका उपयोग है । वह सक्रान्तिकी सगति से रहित है, उसमे सक्रान्ति नही होती अर्थात् ज्ञानचेतनाका विषय तो आत्मा है, अन्य कुछ विषय तो है नही, इस कारण ज्ञानचेतनामे सक्रमण नही कहा गया है, और जितनी देर ज्ञानचेतना उपयोगमयी भी हो उस वक्त भी वह उपयोग निर्विकल्प ही है अर्थात् उसका विषय आत्मा है । सहज ज्ञानस्वरूपका अनुभव हो तो उपयोगमयी ज्ञानचेतनाका विषय है, अन्य कुछ विषय है ही नही । अगर अन्य कुछ विषय ज्ञानमे बन जाता है तो उपयोगमयी ज्ञान-चेतना नही रहती है । तो जितने समय उपयोगमयी ज्ञानचेतना है उतने समय तो यह ज्ञान-चेतना निर्विकल्प ही है । लब्धिरूप ज्ञानचेतनाकी दृष्टिसे देखें तो भी निर्विकल्प है और उप-योगमयी चेतनाकी दृष्टिसे देखें तो भी यह ज्ञानचेतना निर्विकल्प है ।

अस्ति प्रश्नावकाशस्य लेशमात्रोऽत्र केवलम् ।
यत्कश्चित् बहिरर्थे स्यादुपयोगोऽन्यत्रात्मनः ॥८६१॥

ज्ञानचेतनाकी निर्विकल्पताका प्रकरण सुनकर कोई यहाँ यह प्रश्न कर सकता है और प्रसंग ही ऐसा है कि उसे कुछ प्रश्न करनेका अवकाश भी मिल जाता है कि बतलाइये कि आत्माके सिवाय बाह्य अर्थमे कोई उपयोग होता है या नही सम्यग्दृष्टि जीवके ? उक्त प्रकरण मे भिन्न-भिन्न अपेक्षाओसे ज्ञानचेतनाको निर्विकल्प सिद्ध किया है । ज्ञानचेतना अविरत सम्यक्त्व गुणस्थानसे हो जाती है, पर उस जीवके सदा उपयोगमयो ज्ञानचेतना कैसे सम्भव है ? तो अविरत सम्यग्दृष्टि जीवके लब्धिरूप ज्ञानचेतना निरन्तर है और वह निर्विकल्प है । तथा जिस सपय उपयोगरूप ज्ञानचेतना हो रही है उस समय भी ज्ञानचेतना निर्विकल्प है । इस प्रकरणको सुनकर प्रश्नके लिए यहाँ इतना अवसर मिल जाता है कि जब वह अविरत सम्यग्दृष्टि चौथे आदि गुणस्थानोमे है तो वह तो जघन्य पद है । क्या जघन्य पदमे स्थित आत्माका आत्माके सिवाय अन्य अर्थोमे उपयोग होता है या नही ? शकाकारके अभिप्रायमे यह है कि ऐसा तो देखा नही गया कि जघन्य पदमे सम्यग्दृष्टिका केवल आत्मापर ही उपयोग रहता हो। और बाहरमे उपयोग गया तो यहाँ संक्रमण आगे आ जाता है कि अर्थसे अर्थान्तिरका सक्रमण हो गया, ऐसा कुछ मनमे भाव रखकर प्रश्नकार यहाँ प्रश्न कर रहा है कि बतलावो सम्यग्दृष्टि जीवके जब तक वह जघन्य पदमे है तब तक उसका बाह्य अर्थमे उपयोग जाता है या नही ?

अस्ति ज्ञानोपयोगस्य स्वभावमहिमोदयः ।
आत्मपरोभयाकारभासकश्च प्रदीपवत् ॥८६२॥

उक्त शंकाके समाधानके प्रारम्भमें ज्ञानोपयोगके स्वपरावभासवत्वका प्रतिपादन— उक्त शङ्काके उत्तरमे कहा जा रहा है कि ज्ञानोपयोगके स्वभावकी ऐसी महिमा है कि वह ज्ञानोपयोग प्रदीपकी तरह अपने और परका तथा दोनोके आकारका एक सत्य प्रकाश करने वाला होता है । प्रश्नमे यह पूछा गया था कि सम्यग्दृष्टिका ज्ञानोपयोग आत्माको छोडकर अन्य पदार्थका भी विषय करता है या नही ? उसके समाधानमे यह कहा जा रहा है कि हाँ हा अन्य पदार्थको भी सम्यग्दृष्टिका ज्ञान विषय करता है । क्या किया जाय ? ज्ञानका स्वभाव ही ऐसा है और स्व और परपदार्थको विषय कर लेनेसे कोई दोषकी भी बात नही होती। ज्ञानोपयोगका स्वरूप ही ऐसा कुछ है कि वह केवल न तो स्वका ही प्रकाश करने वाला है और न परका ही प्रकाश करने वाला है, किन्तु दोनोका प्रकाश करता है याने सम्यग्दृष्टिका ज्ञान भी अपनेको जानता है और पदार्थोको भी जानता है । इस कारण सम्यग्दृष्टिका कभी-कभी बाह्य पदार्थोमे उपयोग तो जाता है, लेकिन उस समय भी उसे अपने आत्माको भी

प्रतीति रहती है। यही कारण है कि बाह्य पदार्थको जानते हुए भी सम्यग्दृष्टिकी बाह्य पदार्थों मे आसक्ति नही होती है। सम्यग्दृष्टि जीवके चूंकि सम्यक्त्व प्रकट हुआ है, अतएव उसके ज्ञानमे समीचीनता उत्पन्न हुई है, सो ज्ञान सम्यक् है, श्रद्धा सम्यक् है, फिर भी जब तक सम्यग्दृष्टि जीव जघन्य पदमे स्थित रहता है अर्थात् वीतराग अवस्थाको प्राप्त नही कर पाता है तब तक चारित्रमोहके कारण बाह्य पदार्थोमे रागद्वेष मोह होता है, तो होता है रागद्वेष, किन्तु अनन्तानुबधी और मिथ्यात्वका वहाँ अभाव है, अतएव मिथ्यात्व और अनन्तानुबधी कषाय विपरीत सम्यग्दृष्टिके नही रहती है। भले ही वह अभी कुछ समय तक ससार-अवस्था में है, लेकिन उसके भ्रम नही रहा है। सम्यक्त्व होनेके कारण, पदार्थके स्वरूप पदार्थके कारण और पदार्थोके भेद आदिकका यथार्थ बोध रहा करता है। इसी कारण ज्ञानमे उस प्रकारकी विशुद्धता रहा करती है और उस जीवके न तो स्व पदार्थके सम्बधमे विपरीत बुद्धि होती है और न परपदार्थके सम्बधमे विपरीत बुद्धि होती है। भले ही कभी कोई सम्यग्दृष्टि सीपको चाँदी समझ रहा हो तो वह लौकिक ज्ञानकी दिशामे तो विपरीतपना है। तो इस ज्ञानीने यद्यपि सीपको चाँदी जाना है, पर जाननेमे जो पदार्थ आया वह सामान्यतया जान ही तो रहा है कि यह पुद्गल है और यह परमाणुओसे रचा हुआ है। परमाणु अपनी स्वतत्र-स्वतंत्र सत्ता रखता है, फिर भी यह एक सघात अवस्था है। स्वरूपके सम्बधमे विपरीत बुद्धि नही है। तो बाह्य विषयमे भी वह यथार्थ ज्ञानी है और जघन्य पदमे रहकर भी अपने आत्माकी प्रतीतिसे च्युत नही होता, इसलिए अन्तः सावधानी है।

निर्विशेषाद्यथाऽऽत्मानमिव ज्ञेयमवैति च।
तथा मूर्तानमूर्ताश्च धर्मादीनवगच्छति ॥८६३॥

आत्मज्ञानमें ज्ञानकी स्वपरप्रकाशकताकी तरह अन्य पदार्थोके ज्ञानमें भी ज्ञानकी स्वपरप्रकाशकता—उक्त समाधानका सारांश यह है कि जैसे वह ज्ञान सामान्य रीतिसे याने किसी प्रकारका भेद न करके अपनेको जानता है उसी तरह अन्य ज्ञेय पदार्थोको भी जानता है और मूर्त पदार्थ, अमूर्त पदार्थ सभी द्रव्योको वह जानता है। जिस समय आत्मा अपने आपके स्वरूपपर उपयोग करता है उस समय तो वह आत्मज्ञान कहलाता है। तो आत्मज्ञान भी तो ज्ञान ही है और वही विषयभूत निज आत्माकी दृष्टिसे ज्ञेय हो गया है। तो आत्मा ही ज्ञानी है और आत्मा ही ज्ञेय बना। इसी प्रकार जब वह मूर्त अमूर्त अन्य पदार्थोको जानता है तब ही वह एक ही साथ स्व और परको भी जानता है, याने ज्ञान स्वपर प्रकाशक है। इसका स्पष्टीकरण करते हुए कहा जा रहा है कि जिस समय आत्मा अपने आत्माको जानता है तो ज्ञान भी हुआ और आत्मा जाना गया तो वह ज्ञेय भी हुआ याने आत्मज्ञानके सम्बधमें भी ज्ञानज्ञेय भाव है और उसी सीमामे स्वपरप्रकाशक स्वभाव भी बना है। इसी तरह जब वह

मूर्त अमूर्त पदार्थोको जानता है तब भी स्व और परको एक साथ जानता है। इस समाधानमे एक ध्वनि यह भी निकलती है कि निश्चयसे आत्मा तो आत्माको ही जानता है और व्यवहारसे विषयभूत पदार्थको जानता है। तो जब निश्चयसे आत्मा आत्माका जाननहार है तो जब परम शुद्ध आत्मा अपने शुद्ध केवलज्ञानके द्वारा अपने आत्माको सम्पूर्णतया जानता है उस समय उसके स्वका भी पूर्ण ज्ञान है याने ज्ञानका भी पूर्ण ज्ञान है और परका भी पूर्ण ज्ञान है तो ज्ञानके विषयभूत शुद्ध आत्मतत्त्वका भी ज्ञान है। और भी समझियेगा कि जब आत्मा निर्विकल्प रूपसे सहज ज्ञायकभावका अनुभव कर रहा है उस समयमे भी विषयभूत तो सहज अन्तस्तत्त्व है और उसका ज्ञान चल रहा है वह ज्ञान स्वको भी जान रहा, मायने ज्ञानको भी समझ रहा और उस ज्ञानके विपयभूत शुद्ध अतस्तत्त्वको भी समझ रहा है। तो देखिये—स्वपरप्रकाशकताकी पद्धति किसी भी स्थितिमे न मिट सकी। तो जैसे आत्मा आत्माको जाननेके सम्बधमे जो ज्ञान हो रहा उसका वह ज्ञान स्वपरप्रकाशक है याने ज्ञान स्वको याने ज्ञानको भी समझ रहा और अपने विषयभूत अंतस्तत्त्वको भी समझ रहा, ऐसी ही स्वपर प्रकाशक पद्धति सर्वत्र है। जब वह बाह्य पदार्थोको जान रहा है तो जो ज्ञान हो रहा है वह अपने आपको भी जान रहा है और विषयभूत पदार्थको भी जान रहा है। यहाँ स्वका अर्थ लगाना है ज्ञान और परका अर्थ लगाना है विपयभूत पदार्थ। इस तरह ज्ञान सर्वत्र स्वपर प्रकाशक है। तो ज्ञानमे ऐसा स्वपरप्रकाशकपनेका स्वभाव पडा हुआ है कि वह अपने इस निर्मल प्रतिभास करने वाली शक्तिसे सम्पूर्ण द्रव्यको भी वह जानता रहता है। और जो शुद्ध ज्ञानोपयोग है, प्रभुका केवलज्ञान है उसमे तो ऐसी ही अचिन्त्य शक्ति है कि वह एक साथ स्वका प्रतिभासक होता है और जब शुद्ध ज्ञानके उपयोगमे हो वहाँ भी ऐसा अचिन्त्य माहात्म्य है कि वह स्वके विषयमे उपयुक्त होता हुआ भी स्वतत्त्व अन्य सब पदार्थोका यथार्थ जाननहार होता है।

स्वस्मिन्नेवोपयुक्तो वा नोपयुक्तः स एव हि।
परस्मिन्नुपयुक्तो वा नोपयुक्तः स एव हि ॥८६४॥
स्वस्तिनवोपयुक्तोऽपि मोत्कर्पाय स वस्तुतः।
उपयुक्तः परत्रापि नोपकर्षाय तत्त्वत ॥८६५॥

ज्ञानकी स्वपरप्रकाशकताका पोषण—जो निज आत्मामे उपयुक्त है उसे ही उपयुक्त कहा जाय, ऐसी बात तो नहीं है। याने उपयोगका कोई यह अर्थ करे कि अपने आत्माको ही जानें, उसे ही कहेगे उपयोगी, सो ऐसी बात नही है अथवा कोई बाह्य परपदार्थको जाने उसको कहेगे उपयोगी, ऐसी भी बात नही है। किन्तु दोनो ही विपयोको विषय करने वाला ही यथार्थमे उपयोग करने वाला होता है। उपयोगका स्वभाव ही ऐसा है कि वह स्वपरप्रका-

शक होता है याने ज्ञान स्वयं ज्ञानको भी जानता है और परको भी जानता है। एक मोटा दृष्टान्त लीजिए। जैसे किसी पुरुषने जाना कि यह चौकी है। खूब निश्चयसे भली प्रकार यही जान रहा है कि यह चौकी है। अब इस प्रकारके ज्ञानमे दोनो ही बातें समाविष्ट है, याने ज्ञानमे यह भी समझ रहती है कि यह मैं ज्ञान बन रहा हू कि यह ज्ञान हो रहा है कि वह सही है और वहाँ यह भी विकल्प है कि जो चौकी जान रहा है वह वास्तवमे चौकी ही तो है याने निर्णय दोनो जगह पडा हुआ है। ज्ञान भी सही है और वह पदार्थ भी ऐसा ही है, इसीको ही तो कहते है स्वपरप्रकाशकता। तो ऐसी स्वपरप्रकाशनकी कला उपयोगमे स्वभावत. ही पड़ी हुई है।

मोह कषायके प्रक्षयसे ही कृतार्थता—इस प्रसगमे जो मूल प्रश्न चल रहा था उसके समाधानमे यह भी समझ लेना चाहिए कि बधका कारण अज्ञान नही होता याने ज्ञान कम हो किसीके उससे बन्ध नही हुआ करता और किसीके स्वका ज्ञान हो रहा है उससे कही उत्कर्ष नही हो जाता अथवा परका ज्ञान होनेसे पतन नही हो जाता, किन्तु मिथ्यात्व और कषायका उदय हो, मिथ्यात्वभाव और कषायभाव हो तो वह बन्धका निमित्त है, और यदि मिथ्यात्व कषायभाव न रहा तो वह मोक्षका निमित्त है। तब ऐसा निर्णय रखना चाहिए कि कोई जीव स्व आत्माका उपयोगी हो, इससे वह कृतार्थ नही कहलाता या कोई जीव परपदार्थका उपयोगी हो इससे भी कृतार्थ नही कहलाता। किन्तु कृतार्थता प्रकट होती है मोह और कषायभावके नाश होनेसे। जब मिथ्यात्व अनन्तानुबधी आदिक कषाये उपशम, क्षय, क्षयोपशमको प्राप्त होती है उसके अनुसार कर्मनिर्जरा होती है और जितने अशोमे कषायभाव रह गया हो उतने अशोमे आस्रव भी होता रहता है। अब उस जीवका उपयोग चाहे स्वात्मा मे हो, चाहे परपदार्थमे हो, उस विषयके कारण वहाँ कृतार्थताका कोई सम्बध नही है। कृतार्थता प्रकट तो होती है मोह रागद्वेषके क्षय हो जानेसे। तो प्रश्नकारका यह प्रश्न था कि सम्यग्दृष्टि जीव क्या निज आत्माका ही उपयोगी रहता है या परपदार्थका भी उपयोग करता है? उसके समाधानमे यह बात बतायी गई है कि हाँ परका भी उपयोग करता है, लेकिन इससे प्रश्नकार कोई दुरुपयोग न कर सकेगा। भले ही सम्यग्दृष्टि परका उपयोग करे, लेकिन उस उपयोगके कारण बध नही है। बन्ध होता है मोह रागद्वेषसे। केवल स्वविषयका उपयोग करे कोई या परविषयका ही उपयोग करे कोई तो उसे कृतार्थ या पतित न कहेगे? किन्तु स्व और पर विषयको जो उपयोग कर रहा उस आत्माको स्वपरप्रकाशक आत्माको उपयोगी कहेगे। उपयोगका स्वरूप ही ऐसा है। वहाँ यह सम्भव ही नही है कि ज्ञान केवल ज्ञानको विषय कर रहा हो, स्व या पर याने आत्मा व अनात्मा कोई भी पदार्थ विषयमें न आ रहा हो, यह कैसे हो सकता है? यह तो साधारण वृत्त है। अब ज्ञानचेतनाकी बात

देखिये। ज्ञानचेतना लब्धिरूप व उपयोगरूप होती है। लब्धिरूप ज्ञानचेतना सम्यग्दृष्टिके सदैव रहती है। उपयोगरूप ज्ञानचेतना सहज अतस्तत्त्वके उपयोगके समय होती है। जब स्वोपयुक्त ज्ञानचेतना नही है तब परोपयुक्त उपयोग है। तो यहाँ यह निर्णय रखना कि वह सम्यग्दृष्टि आत्मा ज्ञानचेतनाके कारण जैसा निर्बन्ध है वैसा ही निर्बन्ध है। कही वह स्वोपयुक्त हो जाय तो वह उत्कर्षके लिये हो, गुणके लिये हो व कभी परोपयुक्त हो तो वह अपकर्षके लिये हो, दोषके लिये हो, ऐसा नही है। इस प्रसङ्गमे उत्कर्ष अपकर्षका अथवा दोष गुणका क्या भाव है ? ग्रन्थकार स्वय ही आगे कुछ श्लोकोमे बतावेंगे।

तस्मात्स्वस्थितयेऽन्यस्मादेकाकारचिकीर्षया।
मा सीदसि महाप्राज्ञ सार्थमर्थमवैहि भोः ॥८६६॥

ज्ञानचेतनाके सम्बंधमे स्फुट प्रकाश—यह प्रकरण ज्ञानचेतनाका चल रहा है। ज्ञानचेतनाका लक्षण प्रसिद्धतया यह है कि ज्ञानस्वरूपमे ही अपने आपके स्वरूपका चेतन होना ज्ञानचेतना है। यह ज्ञानचेतना लब्धिरूप है और उपयोगरूप है। लब्धिरूप ज्ञानचेतनाका अर्थ यह है कि ज्ञानचेतनावरणका, स्वानुभूत्यावरण कर्मका क्षयोपशम होना और उस क्षयोपशमसे प्राप्त हुई जो लब्धि योग्यता है वह है लब्धिरूप ज्ञानचेतना और स्वानुभूतिमे उपयुक्त भावनाके उपयोगमे ही रत जो उपयोगकी स्थिति है उसे कहते है उपयोगरूप ज्ञानचेतना। यहाँ लब्धिरूप ज्ञानचेतना तो सम्यग्दृष्टिके सदा रहती है और उपयोगरूप ज्ञानचेतना कभी होती है, कभी नही भी होती है, ऐसे प्रसगमे यह भी एक समस्या सामने की गई थी कि जब उपयोग मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधि, मन पर्ययज्ञानरूप उपयोग जब सक्रमण करता ही रहता है, अर्थसे अर्थान्तरका बोध करता ही रहता है। तो ज्ञानचेतना भी तो मतिज्ञानका प्रकार है। मतिज्ञान जब सक्रणात्मक है तो ज्ञानचेतना सक्रमणरूप होना चाहिए। वहाँ भी स्वसे बदलकर परक अर्थमे उपयोग जाना चाहिए। उसका समाधान यो दिया गया है कि ज्ञानचेतना जो वास्तविक है, जो सम्यग्दृष्टिके सदा रहती है, जिसके कारण सम्वर निर्जरा होती है वह ज्ञानचेतना सक्रमणरूप नही है। हाँ, उपयोगरूप ज्ञानचेतना हो तो वह भी ज्ञानचेतना जितने काल तक उपयुक्त रहती है उतने काल तक वहाँ भी सक्रमण नही है, ऐसी कुछ समस्यावोकी चर्चाके बाद बात यह आयी, जिज्ञासा यह बनी कि जब उपयोग स्वमे लगा हुआ हो तो उसमे है आत्माका लाभ और जब उपयोग परपदार्थोंमे लगा हो तो उसमे आत्माकी हानि है। उस प्रश्नको लेकर अभी यह समाधान दिया गया था कि सम्यग्दृष्टि जीव चाहे अपने आपमे उपयुक्त हो, चाहे परमे उपयुक्त हो, उपयोगके स्थलसे कही उसका उत्कर्ष और अपकर्ष निश्चित न किया जा सकेगा।

उपयोगमे उत्कर्षसाधकता व अपकर्षकारता न होनेका संक्षिप्त विवरण—यहाँ दो

बातोपर ध्यान दीजिये। एक तो यह कि उपयोग (ज्ञानकी दशा) दोष और गुणको उत्पन्न करने वाली नही होती, किन्तु चारित्रकी दशा उत्कर्ष और अपकर्षके लिए होती है। रागद्वेष मोहसे तो उसमें जीवकी हानि है। रागद्वेष मोह न हो, शुद्धता हो तो जीवका उसमे लाभ है। केवल उपयोग हानि या लाभके लिए नही है। दूमरी बात यहाँ यह जाननी चाहिए कि हानि और लाभ शब्दसे या दोष, गुण इन शब्दोसे या उत्कर्ष, अपकर्ष इन शब्दोसे किस हानि-लाभ का मतलब लेना है, यह भी जानना चाहिए, यह बात स्वय ग्रन्थकार आगेके श्लोकमे कहेगे, जिसका अभिप्राय यह है कि हानिसे मतलब है सम्वर निर्जरा न होना आदि, लाभसे मतलब है सम्वर निर्जरा होना आदि। देखिये—जिस जीवके ज्ञानचेतना है, उसका उपयोग परमे लग रहा हो, तब भी सम्वर निर्जरा चल रही है और स्वमे लग रहा है तब भी ज्ञानचेतनाके कारण सम्वर निर्जरा चल रही है। उपयोगकी कोई वहाँ विशेषता या गुणकी बात नही आयी है। थोडा बहुत अन्तर तो हो जायगा। जब उपयोग अपने आपमे उपयुक्त है तो अन्तर होगा, मगर वह अन्तर सीमा तोड अन्तर नही होता, क्योकि उस जीवके जैसा कषाय सस्कार मौजूद है अप्रत्याख्यानावरण हो, प्रत्याख्यानावरण हो उन वासनाओके कारण उसमे यह अन्तर नही आता कि जब सम्यग्दृष्टि चतुर्थ, पचम, छठवाँ, ७वाँ गुणस्थान वाला कोई स्वमे उपयुक्त हो तो वह श्रेणीमे रहने वाले साधुजनोकी तरह या क्षीणमोह साधुजनोकी तरह लाभ पा रहा हो तो इन बातोंके कथनके बाद यहाँ साराशरूपमे कह रहे है कि हे भाई जब यह बात है कि जैसी योग्यता है, पात्रता है, लब्धि मिली है, अतः उपयोग है उसके अनुसार जब समस्त बात चलती है तो अपने स्वरूपमे स्थित रहनेके लिए दूसरे पदार्थोंसे हटकर आत्माको स्वरूपस्थ करनेकी वाञ्छासे तू खेद मत कर। यद्यपि यह भला है कि परपदार्थसे हटकर हम स्वमे उपयुक्त रहे और ध्यानमे प्रयत्न भी यही किया जाता है, किन्तु यहाँ यह बात बतायी गई है कि तत्त्वज्ञानके बलसे जो पौरुष बनेगा, आत्मविशुद्धि बनेगी वह आत्मविशुद्धि तेरे लिए काम कर ही रही है। अब उसकी प्रतीतिसे तो हट जाये कोई और अपने स्वरूपमे स्थित रहनेके लिए यह घबड़ाहट लाये कि परपदार्थमे उपयोग क्यो जाय ? अरे विशुद्ध होकर सहज जैसा जहाँ उपयोग जाता हो, जाय, मगर भीतरी विशुद्धि तो कषायोके अभावसे होती है। कही बाह्य पदार्थसे उपयोग हटकर स्वमें उपयुक्त हो जाय, उससे कही विशुद्धि बढ़ जाती हो, ऐसा नियम नही है। जैसे प्रकट ही है—चतुर्थगुणस्थानमे जो विशुद्धि हो, कोई स्वानुभवमे लगा हो उसके भी जो विशुद्धि है उससे अधिक विशुद्धि परका भी उपयोग कर रहा हो, ऐसे ५वे, छठे, ७वें गुणस्थानमे है तो यहाँ तत्त्वबोधकी बात करायी जा रही है। जब बोधिके लिए कहा जाय तो पौरुष तो यही ठीक है, मगर तत्त्वज्ञानका अभाव होनेसे जो एक ऐसा बड़ा खेद पैदा किया

जाता है कि क्यो नही यहाँ उपयोग रमता है ? क्यो नही बाहरसे उपयोग हटता है ? कहते है कि अज्ञानमे रहकर ऐसा खेद मत करो । पौरुषकी बात अलग है, पर यहाँ अज्ञानकी दिशा जागृत हो जाती है ।

लब्धिरूप ज्ञानचेतनाका महत्त्व जाननेपर प्रकृत जिज्ञासाका समाधान—शकाकार केवल अपने आत्मामे उपयोग रमानेको ही ज्ञानचेतना समझता था, तिसपर ही ये सब प्रश्नोत्तर हो रहे है । तो उसके चित्तमे यह था कि जब आत्मा स्वमे उपयुक्त न हो, वह परपदार्थ को जानता हो तो उसके ज्ञानचेतना नही है । ऐसी स्थितिमे ही तो एक घबडाहट जैसी बात हुई । ज्ञानचेतनाका न होना यह तो आत्माके लिए गाली है, क्योकि इस ही मे बरबादी है । तो वह समझता था कि परपदार्थमे उपयोग जाय तो वहाँ ज्ञानचेतना नही है । उसको सम्वेदन करके कहा जा रहा है । अरे ज्ञानचेतना जिसके है उसके सतत है, तू इस तरहकी घबडाहट मत कर कि लो परमे उपयोग गया कि ज्ञानचेतना नही रहती । ज्ञानोपयोग तो अपनी ऐसी स्वाभाविक लीला ही करता रहता है । वह स्वको भी जानता और परको भी जानता । देखिये—उपयोग स्वपरप्रकाशक है । ज्ञानको स्वपरव्यवसायी कहा है । इसका भाव तो यह है कि जो ज्ञान हो रहा वह स्वको भी जानता, परको भी जानता, मायने जो ज्ञान है वह स्व है और जो ज्ञेय है वह पर है । उनकी ऐसी स्वपरव्यवसायिता तो उपयोगमे निरन्तर रहती है । कोई भी उपयोग ऐसा नही है कि वह स्वको ही जानता है, परको नही जानता, या परको जानता है, स्वको नही जानता । ज्ञानके लक्षणकी दृष्टिसे तो स्वपरव्यवसायित्व एक साथ है और सब जीवोके निरन्तर है, चाहे वह कोई भी प्राणी हो, लेकिन यहाँ ज्ञेयकी भाँतिसे याने परमे ही स्व और परका विभाग लगाकर प्रश्न किया जा रहा है । जिस समय ज्ञानी पुरुष अपने आत्माको जान रहा है उस समय ज्ञानके लक्षणकी दृष्टिसे आत्मा तो है पर और आत्माका जो ज्ञान हो रहा है वह है स्व । तो वह ज्ञान जाननको भी जान रहा है और जाननेमे जो आत्मतत्त्व आया है उसे भी जान रहा है याने ज्ञेय कहलाता है, पर और ज्ञान कहलाता है स्व । यह तो ज्ञानके लक्षणकी बात है, और जहाँ विषयकी बात है सो ज्ञानमे आत्मा ज्ञेय हुआ उसे कहेगे स्वोपयोगी । और ज्ञानमे आत्मातिरिक्त अन्य पदार्थ ज्ञेय हो तो उसे कहेगे परोपयोगी । तो दूसरे स्व परकी यह चर्चा है, ज्ञानके लक्षणभूत स्वकी चर्चा नही है । तो जब यह आत्मा परको जान रहा है तो शकाकार यह समझता है कि ज्ञानचेतना न रही, स्वोपयोग न रहा तो निर्जरा आदिक सब बातें मिट जायेंगी । जब यह आत्मा स्वको जानता है तो शंकाकार यह समझता है कि हमने अब स्वको जाना, सम्वर निर्जरा आदिक समस्त गुण आ गए । उस शंकाके निवारणके लिए यह कहा जा रहा कि यह स्वात्माका उपयोग न गुणका उत्पादक है

और न दोषका उत्पादक है। ज्ञानका स्वभाव ही ऐसा है कि वह स्वको जाने, परको जाने, सबको जाने। गुण और दोषका निर्माण जो है वह सम्यक्त्व चारित्रके सद्भाव और अभाव मे है।

चर्यया पर्यटन्नेव ज्ञानमर्थेषु लीलया।
न दोषाय गुणायाऽथ नित्य प्रत्यर्थमर्थसात् ॥८६७॥

ज्ञानकी लीलामें स्वपरप्रकाशकता—ज्ञानके स्वभावका यहाँ चित्रण किया गया है। ज्ञान सम्पूर्ण पदार्थोमे लीला मात्रमें भ्रमता फिरता है, इसका अदाज यही कर लीजिए। जो लोग कहते है कि मेरा मन बडा चचल है, क्षणमे यहाँ क्षणमे वहाँ भ्रमता रहता है तो वह मन क्या है ? भावमन। भावमन क्या है ? ज्ञानकी एक दशा। उससे ही निर्णय कर लीजिए कि ज्ञान लीला मात्रमे कैसे भ्रमता रहता है ? यह बात तो है उनकी जिनके ज्ञानमें बोझ लदा है और जिनके ज्ञानमे बोझ नही लदा, रागद्वेषका सम्पर्क नही है, एकदम स्वतंत्र ज्ञान हो गया है उस ज्ञानकी लीला तो उससे भी और अधिक तेज है। वह तो तीन लोक तीन कालके पदार्थोको प्रतिक्षण जानता रहता है। तो यो सर्व पदार्थोमे इसका प्रवेश होता रहता है। ज्ञानका यह स्वभाव है कि वह सम्पूर्ण पदार्थोमें लीला मात्रसे भ्रमता फिरता है, अतएव यह ज्ञान किसी भी पदार्थको जान रहा हो वह न तो दोष उत्पन्न करता और न गुण उत्पन्न करता, किन्तु ज्ञानका तो यह धर्म है कि प्रत्येक पदार्थको वह जान जाय। जरा ज्ञानस्वरूपपर दृष्टि कीजिये, यह विषय स्पष्ट समझमे आयगा। देखिये—हम लोगोके ज्ञानके साथ लगे हुए है रागद्वेष। जब कभी कुछ विशेष धर्मपथमे आते है, कुछ जानकारी करते हैं तो हम इस ज्ञानके उपयोगपर जो परमे उपयोग लग रहा है, उसपर तो हम रोष करते हैं और जो दोषाधायक है ऐसे रागद्वेष विभावपर हम रोष नही करते, तो यह यों हुआ जैसे खोटे पुरुषकी सगतिसे सज्जनको ऐब लगाया और सज्जनपर चिढ गये, इसी तरह समझिये कि रागद्वेषकी सगति होनेसे तो ज्ञानपर चिढ हो रही है। क्यो यह परपदार्थमे भटक रहा है और रागद्वेषकी ओर आंख भी तिरछी नही करते ? इस प्रकरणमे जो दोष गुण की बात कही गई है, वह दोष क्या और गुण क्या ? उसका स्पष्टीकरण अब किया जा रहा है।

दोषः सम्यग्दृशो हानिः सर्वतोशांसतोऽथवा।
संवराग्रेसरायाश्च निर्जरयाः क्षतिर्मनाक् ॥८६८॥
व्यस्तेनाथ समस्तेन तद्द्वयस्योपमूलनम्।
हानिर्वा पुण्यबन्धस्याहेयस्याप्यपकर्षणात् ॥८६९॥

उत्पत्तिः पापबन्धस्य स्यादुत्कर्षोऽथवास्य च ।
तद्द्वयस्याथवा किञ्चिद्यावदुद्वेलनादिकम् ॥८७०॥

सम्यक्त्वक्षति, संवरक्षति व निर्जराक्षतिकी दोषरूपता—उक्त प्रकरणमे यह चर्चा की गई है कि उपयोग चाहे स्वात्मामे लगे तो उससे कही गुण नही बढ़ते, आत्मा चाहे परमे उपयुक्त हो, उससे कही दोप नही पैदा होता । तो वह दोप क्या है कि परपदार्थको जानकर भी दोष न आये उन दोषोंकी चर्चा इन तीन श्लोकोमे की गई है । सम्यक्त्वकी हानि हो जाना या सम्यक्त्वकी आशिक क्षति हो जाना, यह दोष है । सम्यग्दृष्टि पुरुषका उपयोग किसी परपदार्थको विषय कर रहा हो, किसी परपदार्थको जान रहा हो तो क्या इस परोपयोगके कारण उसका सम्यक्त्व नष्ट हो जाता है ? अरे सम्यक्त्व नष्ट होनेके कारण और है । परोपयोगके कारण सम्यक्त्व नष्ट नही होता । तब यही कौनसा दोप उत्पन्न नही होता वही ये बताये जा रहे है । सम्यक्त्वकी बिलकुल हानि हो जाना, नाश हो जाना अथवा सम्यक्त्वका एक देश हानि हो जाना, यह दोष है । यह दोप परोपयोगके कारण नही होता, किन्तु प्रकृतियोका हो जाय सद्भाव तो सम्यक्त्वकी हानि हुई, सम्यक्त्वमे दोप हुआ, सम्यक्त्वकी क्षति हुई । तीसरा दोप कह रहे है कि संवरपूर्वक होने वाली निर्जरामे क्षति होना, साथ ही यह भी समझ लेना कि संवरकी क्षति हो, सम्वर मिट जाय और सम्वरपूर्वक होने वाली निर्जरा मिट जाय तो वह दोप है, पर सम्यग्दृष्टि पुरुषके परोपयोग भी हो तो उससे न सम्वर मिटता है, न निर्जरा । वह परोपयोग दोपाधायक नही होता । करणानुयोगमे बताया ही गया है कि सम्यग्दृष्टि जीवके ४१ प्रकृतियोका संवर सम्यग्दृष्टिकी प्रत्येक स्थितिमे पाया जाता है । वह घर हो, दूकान हो, व्यापार करता हो, पूजा करता हो, खा रहा हो, पी रहा हो, कुछ स्थितियाँ हो, चूकि मिथ्यात्व और अनतानुबधी जब नही है तो उन दोनोके कारण होने वाला आस्रव इसके कैसे हो सकता है ? तो परोपयोग भी हो तब भी सम्वर और निर्जरामे क्षति नही होती । इस कारण यह कहना ठीक है कि परोपयोग दोषाधायक नही होता । ५वी बात यह कह रहे है कि सम्वर और निर्जरा दोनो ही न रहे, ऐसी भी स्थिति नही है । सम्वर रहे निर्जरा मिट जाय, निर्जरा रहे संवर मिट जाय या दोनो न रहे, यह दोष है । यह दोष सम्यग्दृष्टिके नही है । निरन्तर सम्वर है, निरन्तर निर्जरा है, और जिस सम्यग्दृष्टि जीवके जैसी सम्वर निर्जरा नही है, उस सम्यग्दृष्टि जीवके स्वोपयोग भी हो, तो भी उसके वह सम्वर निर्जरा नही है, जैसी कि ऊँचे गुणस्थानमे जिनके सम्वर निर्जरा है । चौथे गुणस्थानमे स्वानुभूतिकी स्थितिमे भी वैसी सम्वर निर्जरा नही है ।

अहेय पुण्यबन्धकी हानि और पापबन्धकी दोषरूपता—देखिये—यह तपश्चरण है कि अपने आपकी ओर लगना, स्वकी अनुभूतिमे लगना, परसे हटना एक आन्तरिक तपश्चरण है, करना चाहिए, पौरुषकी बात है, लेकिन यहाँ एक यथार्थता यह बतायी जा रही है कि

जहाँ जितने रागद्वेषका प्रक्षय होता है वहाँ उसको उस प्रकारका अनुभवन है, उस प्रकारका वहाँ लाभ है। तो यह हमारी स्वानुभूति, यह हमारा आन्तरिक तपश्चरण उन रागद्वेषादिक भावोंके समूल क्षयका कारण है, इसलिए पौरुष करना चाहिए उनका, परन्तु यहाँ एक भेद-दृष्टिसे स्थिति बतायी जा रही है कि दोष और गुण उत्पन्न होते है सम्यक्त्व और चारित्र गुणोंकी अवस्थावोंके कारण। उपयोग तो उपयोगमात्र है, उसका काम मात्र जानना है। तब ही तो दर्शनशास्त्रमे जब एक जगह यह शङ्का की कि ज्ञानको स्वपरव्यवसायी कह रहे हो तो जिस समय सशय ज्ञान हो रहा, विपर्यय ज्ञान हो रहा वहाँपर भी ज्ञान क्या स्वपरव्यवसायी है ? तो ज्ञानकी साधारणताकी दृष्टिसे तो स्वपरव्यवसायिता जितने अशमे है उतने अशमे है, पर जो सामने पदार्थ मौजूद है उसके अनुसार यदि यह निर्णय नही बन रहा है तो वहाँ अप्रमाणताकी बात कही गई है अथवा साधारणतया सीपको चाँदी जाना तो जाना तो कुछ परको, इसलिए परका जानन चल रहा है। निर्णयकी बात नही कह रहे है, और स्वको भी जान रहा है जैसा कुछ भी है। तो ज्ञानमे ऐसी करामात है कि वह स्वका भी सम्वेदन करता है, हर स्थितियोमे ज्ञानके ज्ञानत्व मात्रकी दृष्टिसे देखें तो उसमे एक लीला चल रही है। वहाँ दोष गुणकी बात नही कही जा सकती। अब और भी दोष बतला रहे है। दोष यह है कि अहेय पुण्यबन्धकी हानि होना। पुण्यबन्ध वहाँ हेय नहीं बन रहा अथवा व्यावहारिक दृष्टिसे देखो तो पुण्य कथञ्चित् उपादेय है। स्थितिकी दृष्टिसे देखें तो सम्यग्दृष्टिके पुण्य अहेय है। कहाँ छूटे ? उसे तो बँधना ही पडेगा। ऐसी अहेय पुण्यकी हानि होना, यह दोष है। जब सम्यक्त्व और चारित्र गुण विपरीत परिणमते हो, जहाँ क्रम रागद्वेषका उदय चल रहा हो वहाँ ही तो पुण्यकी हानि होती है, यह दोष है। यह दोष परोपयोग होनेसे नही हो रहा है, किन्तु सम्यक्त्व व चारित्रकी क्षतिसे हो रहा है। ज्ञानी जीव परपदार्थको भी जान रहा हो तो चूकि उसका आशय निर्मल है, इस कारण उसे पुण्यबन्धकी हानिका प्रसङ्ग नही आता। तो परोपयोग दोषाधायक न रहा, अथवा पुण्यबन्धका कम रह जाना, यह दोष है, ऐसा दोष भी परोपयोग नही कर पा रहा। हाँ, थोडा कम हो गया उसकी बात नही है, मगर सीमा तोड कभी हो जाय, ऐसी बात नही आ पाती। और भी देखिये दोष क्या है ? पापबन्धकी उत्पत्ति होना, पापका उत्कर्ष होना, पाप बँधे, पाप बढ़े, यह दोष है। सम्यग्दृष्टिके यह दोष नही है, इसलिए परोपयोग दोषका उत्पन्न करने वाला नही है अथवा ऐसा उद्वेलन हो जाय कि जिसमे पुण्यप्रकृति तो नष्ट हो और पापप्रकृतिका उत्कर्ष आये, ऐसा उद्वेलन होता है कुछ प्रकृतियोमे कि उद्वेलन होकर अच्छी प्रकृति तो मिट गई और बुरी प्रकृति बन गई, यह भी एक दोष है। यह दोष भी सम्यग्दृष्टिके नही होता। अतः सिद्ध किया गया है कि परोपयोग दोषका उत्पन्न करने वाला नही है।

सम्यग्ज्ञानमें निर्भयता व निरपराधता—भैया ! इस वातकी घवडाहट न करें कि मेरे ज्ञानचेतना न रही, अब कैसे परसे हटकर स्वमे लगूं ? कैसे अपने भावको सम्हालू, और सही तत्त्वज्ञान करूँ ? वस्तुका जो यथार्थ स्वरूप है वैसा ही जानता रहू । सम्यग्दृष्टि जीव कदाचित् रस्सीको सांप भी जान ले तो भी उसके मिथ्या ज्ञान नही वताया गया । लोकव्यवहार की दृष्टिके मिथ्या जान रहा है कि है तो रस्सी और समझ रहा है साप, लेकिन भले ही साप समझ रहा, मगर जो समझ रहा उसमे समझ तो यह वनी है कि ये दृश्यमान पौद्गलिक हैं, अनेक परमाणुवोके पुञ्ज है और मेरे उपादान कारण वे ही परमाणु द्रव्य हैं आदिक जो कुछ भी वस्तुस्वरूपके बारेमे भेदाभेद, कारण, स्वरूप होता है उनके विपयमे वह उल्टा ज्ञान नही कर रहा, इस कारणसे उसे मिथ्या नही कहा और मिथ्यादृष्टि जीव रस्सीको रस्सी समझ रहा है, इसपर भी लोकदृष्टिमे तो उसे सच्चा ज्ञान है, मगर उसे यह पता नही है कि रस्सी क्या द्रव्य है, यह किस तरह बनती है ? यह माया है, पर्यायरूप है । द्रव्य और है आदिक नही समझता और अज्ञानके कारण इनमे वह इष्ट अनिष्ट बुद्धि करता, उन्हे अपनाता है । ये मेरे है आदिक अनेक ऐब उठते है, लेकिन उसका ऐसा ज्ञान भी सम्यक् नही हो सकता । सम्यग्ज्ञान वह है जो वास्तविक हितमे ले जाय और अहितसे दूर कर दे, ऐसा ज्ञान सम्यग्दृष्टिके जगा है । ज्ञानचेतना उत्पन्न हुई है जिसके कारण उस ज्ञानी पुरुषके स्वोपलब्धि हो तो, परोपलब्धि हो तो, उस ज्ञानचेतना सूर्यके उदित हो जानेके कारण उसके सम्वर और निर्जरा सदाकाल होती है ।

गुणा॰ सम्यक्त्वसभूतिरुत्कर्षो वा सतोऽशकैः ।
निर्जराऽभिनवा यद्वा सवरोऽभिनवो मनाक् ॥८७१॥
उत्कर्षो वाऽनयोरशैर्द्वयोरन्यतरस्य वा ।
श्रेयोबन्धोऽथवोत्कर्पो यद्वा नह्यपकर्षणम् ॥८७२॥

स्वोपयोग होनेपर उपयोगके कारण जिनका उत्कर्ष नहीं व परोपयोग होनेके कारण जिन गुणोंका अपकर्ष नही उन गुणोका निर्देश—प्रकरण यह चल रहा था कि उपयोग चाहे आत्माकी ओर लगा हो अथवा परकी ओर लगा हो सम्यग्दृष्टि जीवके जो सम्वर निर्जरा होनी है वह उसकी लब्धिरूप ज्ञानचेतनाके अथवा सम्यक्त्वके कारण होती है । उस उपयोगके आत्मा मे लगनेसे कोई उत्कर्ष नही होता, उस जीवके और परकी ओर लगनेसे कोई अपकर्ष नहीं होता, तो अपकर्षका वर्णन तो कल हो चुका कि वह क्या अपकर्ष है, वह क्या दोष है जो परोपयोग होनेपर भी न हो । आज गुणका वर्णन चल रहा है । वह क्या गुण है जो रहता ही रहता है । स्वोपयोग होनेपर भी उन गुणोमे स्वोपयोगके कारण वृद्धि नही है, किन्तु वह है ही और उनके होनेके कारण गुणोकी हानि नही । उन गुणोका वर्णन कर रहे हैं । गुण ये हैं—

कहा जा सकता । कारण दो प्रकारके होते है—उत्पादक और साधक । यहाँ कारण शब्दसे उत्पादकका अर्थ लगाना और जिसे साधक कारण कहा जाय उसका नाम यहाँ हेतु रखा गया है । उपयोग गुण दोषका हेतु नही है याने गुण दोषका साधक नही है, ज्ञायक नही है । जैसे धूम देखनेसे अग्निका ज्ञान होता है तो धूम साधक है और अग्नि साध्य है । धूम ज्ञायक है और अग्नि वहाँ जानी जा रही है तो ज्ञायक भी हेतु कहलाता है, उपयोग ज्ञायक भी नही है, परका उपयोग है इससे दोष सिद्ध हो और स्वका उपयोग है, इसलिए गुणका उत्कर्ष सिद्ध हो ऐसा साधक भी नही है, अतएव उपयोग गुण और दोषका हेतु भी नही है । सहकारी उसे कहते है कि जो कुछ कार्यमे सहयोग दे, जो साथ रहता हो उसे कहते हैं सहकारी । तो उपयोग गुणका सहकारी भी नही है । जैसे घडा बनाते समय कुम्हारके दड, चक्र आदिक सब सहकारी है तो इस तरह उपयोग गुण दोषका सहकारी भी नही है । तब उपयोगकी ओरसे गुण दोषका निर्णय न करें कि परमे उपयोग है तो दोष हो रहा, स्वमे उपयोग है तो गुण हो रहा । जो रागभरा उपयोग है, जिसके साथ अनेक रागद्वेपकी कल्पनायें भी लगी है उस उपयोग वालेको तो यह उपदेश दिया जाता । वहाँसे चित्त हटावो, परसे अलग हटाकर अपनेमे उपयोग लगाओ । वहाँ भी सूक्ष्मतया अर्थ यह है कि रागद्वेप हटावो । पर चूंकि उपयोग ऐसे साथ-साथ रह रहे है तो जैसे कल बताया था कि रागद्वेषके सम्बधके कारण इस उपयोगको भी गालियाँ सहनी पडती है, जो बेचारा निरपराध है, जिसका काम प्रतिभासमात्र है उसपर भी दोष मढा जाता है । तो जब-जब उपयोगको स्वोपयोगी करनेके लिए उपदेश किया गया हो वहाँ भाव और प्रयोजन यह लेना कि रागद्वेष विकल्प मिटावो, इससे आत्माका लाभ होगा ।

सम्यक्त्वं जीवभाव. स्यादस्तादृदृङ्मोहकर्मणः ।
अस्ति तेनाविनाभूत व्याप्ते· सद्भावततस्तयो· ॥८७४॥

सम्यक्त्वकी उत्पत्तिके कारणका प्रकाश—ये गुण दोष सम्यक्त्वके सद्भाव और अभावसे हुए है । तो यह जिज्ञासा होती है कि सम्यक्त्व उत्पन्न होना किस तरह है ? तो सम्यक्त्वकी उत्पत्तिका कारण यहाँ बताते है । दर्शनमोहनीय कर्मके अस्त होनेसे सम्यक्त्वभाव प्रकट होता है जो जीवका निज भाव है, उसकी उत्पत्ति दर्शनमोहकर्मके उपशमसे, क्षयसे, विनाशसे, अभावसे है, क्योकि सम्यक्त्वका अविनाभाव दर्शनमोहकर्मके उपशम, क्षय, क्षायोपशमादिकमे साथ है । दर्शनमोहके उपशमादि हुए बिना सम्यक्त्व नही होता, अतएव सम्यक्त्व की उत्पत्तिका कारण दर्शनमोहका उपशम आदिक है । इन दोनोमे व्याप्ति घटित होती है । जहाँ सम्यक्त्व है वहा दर्शनमोहका उपशम आदिक है, इन दोनोमे व्याप्ति घटित होती है । जहाँ सम्यक्त्व है वहा वहा दर्शनमोहका उपशम, क्षय, क्षयोपशम है । जहा दर्शनमोहका उपशम, क्षय, क्षयोपशम है वहा सम्यक्त्व है । ऐसी व्याप्ति होनेके कारण यहा सम्यक्त्वकी उत्पत्ति का कारण दर्शनमोहका क्षय आदिक बताया है । कोई यहा सम्यक्त्वकी उत्पत्तिकी जिज्ञासा कर

सकता है कि जब दोनोका अविनाभाव है और समय भी एक है तो सम्यक्त्वका कारण दर्शन-मोहका अभाव क्यो कहा जा रहा है ? यो कह दीजिए कि दर्शनमोहके अभावका कारण सम्यक्त्व है । जैसे कि करीब-करीब आज चर्चा उठ रही है, उसका समाधान यह है कि दर्शन मोहका बन्ध होता है, सत्त्व होता है, उदय होता है और दर्शनमोहका उदय होनेपर यहाँ सम्यक्त्वका अभाव है । यह बात अब तक चली आयी है । तो जिसका सद्भाव सम्यक्त्वके अभावका कारण है उसका अभाव सम्यक्त्वकी उत्पत्तिका कारण है । तो सम्यक्त्वका जो प्रारम्भ है वह नैमित्तिक है । सम्यक्त्व उत्पन्न होनेके बाद फिर दर्शनमोहका अभाव ही है, क्षय हो चुका है । अब तो उसका वह स्वभाव ही है कि जैसे अन्य शुद्ध द्रव्योमे उस स्वभाव-परिणमनकी बात बनी रहती है उस तरह बना रहता है । जैसे केवलज्ञानकी उत्पत्तिका तो कारण है ज्ञानावरणका क्षय, लेकिन अनन्तकाल तक जो केवलज्ञान बना रहता है उसका कारण क्या बताया जाय ? वह तो उनकी स्वभावपरिणति है । तो सम्यक्त्व तो निरन्तर चल रहा है, तो अब अपने स्वभावसे है, मगर सम्यक्त्व प्रारम्भमे जो उत्पन्न हुआ है वह न था और हुआ । तो जो कोई भी नवीन बात होती है, पहिली पर्यायसे विलक्षण बात होती है उसका कोई कारण अवश्य होता है । उसका कारण यहाँ बताया गया है दर्शनमोहका उपशम, क्षय अथवा क्षयोपशम ।

दैवादस्त गते तत्र सम्यक्त्व स्यादनन्तरम् ।
दैवान्नास्तगते तत्र न स्यात्सम्यक्त्वमञ्जसा ॥८७५॥

काललब्धि आदिक वश या योग्य द्रव्य या क्षेत्र, काल, भाव आदिक मिलनेपर या जो समय आये वह प्राप्त होनेपर, उपादान और जैसा जो निमित्त हो उनकी उपलब्धि होनेपर, उस दर्शनमोह कर्ममे उपशम, क्षय, क्षयोपशम होनेपर आत्मामे सम्यक्त्व प्रकट होता है और दैववश याने दर्शनमोहका उदय आदिक होनेपर, दर्शनमोहके अस्त न होनेपर सम्यक्त्व नही होता । दर्शनमोह कर्म सम्यग्दर्शनकी उत्पत्तिमे बाधक है । ऐसे ही निमित्तनैमित्तिक योग है । जब वस्तुकी ओरसे निरखते है तो वहाँ यही निर्णय है कि अन्य पदार्थ किसी अन्य पदार्थकी परिणतिको नही करता । तब वहाँ होता क्या है ? निमित्तको पाकर उपादान स्वय अपनेमे अपना प्रभाव उत्पन्न कर लेता है । स्थिति यह है । निमित्तनैमित्तिक योगका स्पष्ट अर्थ यह है कि निमित्तके सन्निधानमे उपादान अपनी परिणतिसे अपनेमे प्रभाव उत्पन्न करता है, यह प्रभाव निमित्तका नही है । उस प्रभावको निमित्तने नही किया है । हाँ, निमित्तके असन्निधान मे वह प्रभाव नही होता । तब यह प्रक्रिया बनी कि निमित्तके सन्निधानमे उपादान अपने प्रभाव वाला होता है । ऐसे ही सर्वत्र घटा लेना चाहिए । अजीव अजीवमें घटा लो, जीव जीवमे घटा लो, सर्वत्र यही उपदेश है । तो दर्शनमोहका अस्तमन होना सम्यक्त्वकी उत्पत्तिका

निमित्त है व दर्शनमोहका उदय एक ऐसा निमित्त है कि उस उदय सन्निधानके होनेपर सम्यग्दर्शन उत्पन्न नही होता। यह छन्द सम्यग्दर्शनकी उत्पत्तिका कारण दर्शनमोहका उपशम आदिक है, इसका समर्थन करने वाला है।

सार्धं तेनोपयोगेन न स्याद् व्याप्तिर्द्वयोरपि।
विना तेनापि सम्यक्त्व तदस्ते सति स्यायत ॥८७६॥

उपयोगके साथ सम्यक्त्व व दर्शनमोहास्तमन दोनोकी व्याप्तिका अभाव—उस उपयोगके साथ दर्शनमोहके अनुदय और सम्यक्त्वके सद्भाव दोनोकी व्याप्ति नही है अर्थात् स्व उपयोग होनेपर ही सम्यक्त्व और दर्शनमोहका अनुदय हो, ऐसा कोई नियम नही है। स्वका उपयोग न भी हो तो भी जीवके दर्शनमोहका अनुदय और सम्यक्त्व पाया जा रहा है। तो स्वोपयोगके साथ इसकी व्याप्ति तो न रही। दर्शनमोहका अभाव और सम्यक्त्वकी तो व्याप्ति है, लेकिन उपयोगके साथ इन दोनोकी व्याप्ति नही है। उपयोगके होनेपर सम्यक्त्व हो ही हो, दर्शनमोहका अनुदय हो ही हो। यहा ३ बातें बतायी जा रही है—दर्शनमोहका अभाव, सम्यक्त्व और उपयोग, ये तीनो बातें अपना-अपना जुदा-जुदा अर्थ रखती है। इससे दर्शनमोहका अभाव और सम्यक्त्वका सद्भाव इसकी तो परस्पर व्याप्ति है। यहाँ यह है, यहाँ दूसरा है, पर उपयोगके साथ इन दोनोकी व्याप्ति नही है। यह बात इसका समर्थन कर रही है कि उपयोग चाहे स्वकी ओर हो, चाहे परकी ओर हो, उस उपयोगके ऐसे विषयके कारण दोष और गुण नही हुआ करते।

सम्यक्त्वेनाविनाभूता येपि ते निर्जरादय.।
सम तेनोपयोगेन न व्याप्तास्ते मनागपि ॥८७७॥

उपयोगके साथ संवर और निर्जराकी भी व्याप्तिका अभाव—जिस प्रकार उपयोगविशेषके साथ सम्यग्दर्शन और मोहके अनुदयकी व्याप्ति नही है उसी प्रकार निर्जरा और सवर आदिक गुणोकी भी उपयोगके साथ व्याप्ति नही है। सम्वर और निर्जरा तो सम्यग्दर्शनकी अविनाभावी है, उपयोगकी अविनाभावी नही है। इस तरह यह बात समझना चाहिए कि उपयोग निर्जरा और सम्वरमे भी कारण नही है। यहाँ यह बात न भूलना चाहिए कि जिसके रागद्वेष विशेष लगा है और रागद्वेषकी प्रेरणासे उपयोग चलित होता रहता है उनको तो यह उपदेश देना भला है कि देखो विकारोमें, बाहरी बातोमे मत लगो। प्रयत्न करें, बाहरसे उपयोग हटे और स्व आत्मामे उपयोग लगे। जैसे दृष्टान्त बताया गया है कि नई बहूको तो यह उपदेश किया जाता है कि तुम परघर मत जाया करो, मगर बुढ़ियोको कोई नही कहता कि तुम परघर न जाया करो। तुम परघर जावो कितना ही, वहाँ कोई नही रोकता। तो जाने की रोक किसीको नही है, जहाँ चाहे रहे, पर योग्यताके अनुसार वहाँ बात की गई है। इसी

तरह जिसका उपयोग रागद्वेप मलिन है वह नई बहूकी तरह है। उसे तो रोकका उपदेश है। तुम बाहरी पदार्थोंमे उपयोग न देकर आत्मामे उपयोग लगावो। मगर जो उपयोग वृद्ध हो गया है याने शुद्ध है, साफ है, अनुभव है उस उपयोगके लिए यहाँ मना नही किया जा रहा, चाहे स्वमे लगे, चाहे परमे लगे। स्वोपयोग होनेसे कोई गुण न बनेगा, परोपयोग होनेसे कोई हानि न हो जायगी।

सत्यत्र निर्जरादीनामवश्यम्भावलक्षणम्।
सद्भावोस्ति नासद्भावो यत्स्याद्वा नोपयोगि तत् ॥८७८॥

सम्यक्त्व होनेपर संवर निर्जरादिकी अवश्यंभाविता—इस छन्दमे यह बताया जा रहा है कि सम्यग्दर्शनके होनेपर निर्जरा सम्वर अवश्य ही होता है। सम्यग्दर्शन हो और सम्वर निर्जरा न हो, ऐसा नही हो सकता। यह बात तो हो सकती है कि उस समय ज्ञान स्वोपयोगी न हो। सम्वर निर्जराकी व्याप्ति सम्यक्त्वके साथ है, उनमें उपयोग कारण नही है। जब अभेददृष्टिसे बात करते है अध्यात्मशास्त्रमे तब तो यह ही कहा जाता है कि जो कुछ है सो उपयोग है और कुछ दिखता ही नही। और उपयोग नाम है किसका ? उपयोग नाम है प्रयोग करनेका। आत्मामे एक स्वभाव है, एक पर्याय है। है आत्मा एक द्रव्य, और उसका जो कुछ परिणमन है सो वह है एक। वहाँ नाना परिणाम नही पडे है। प्रतिबोधके लिए जैसे नाना गुण बताये जाते है, ऐसे ही प्रतिबोधके लिए नाना पर्यायें बतायी जाती है अथवा नाना पर्यायोके प्रतिबोधके लिए बहुत ज्ञान कराये जाते और उन नाना पर्यायोका ज्ञान कराकर नाना गुणोका ज्ञान कराया जाता और नाना गुणोका ज्ञान कराकर, फिर उस बाहुल्यसे हटाकर अभेद आत्मस्वरूपका ज्ञान कराया जाता है। प्रतिबोधकी यहाँ ये पद्धतियाँ बतायी है। वहाँ विकारका अर्थ यह नही, जो इस प्रकरणमे चल रहा है वह है उपयोग। सबका प्रतिनिधि, और यहाँ उपयोगको भेददृष्टिसे निरख करके चर्चित किया जा रहा है, उपयोग मायने ज्ञानगुणका कार्य। जानन प्रतिभास होना। उस जाननमे क्या ऐब आया ? वह जानन सामान्य क्या है ? वह इस तरहसे है जैसे कुछ जान लिया। सीपको चाँदी जान लिया, इसमे शुद्ध जाननेका अश कितना है और फिर विशिष्टताका अश क्या है, वहाँ निर्णय तो करो। प्रतिभासमे आया वह गलत थोड़े ही आया। वह सही है। अब इसमे एक विशिष्टताकी बात लगाई जाती है कि यह अमुक पदार्थ है, यह अमुक पदार्थ है, तो यहाँ जाननेका अर्थ प्रतिभास लेना है, विशिष्टता नही लेना है। यहाँ उपयोगको गुण दोषका कारण नही कहा जा रहा, किन्तु सम्यक्त्व और चारित्रकी अवस्थाओको गुण दोषका कारण बताया गया है।

आत्मन्येवोपयोग्यस्तु ज्ञान वा स्यात्परात्मनि।
सत्सु सम्यक्त्वभावेषु सन्ति ते निर्जरादयः ॥८७९॥

सम्यक्त्व भाव होनेपर स्वोपयोग हो या परोपयोग हो संवर निर्जराकी अवश्यंभाविता—उक्त कथनका स्पष्टीकरण इस गाथामे किया जा रहा है। ज्ञान चाहे स्वभावमे उपयोगी हो, चाहे परपदार्थमे उपयोगी हो, सम्यग्दर्शन आदिक भावोके होनेपर ही निर्जरा होती है। वात तो यहाँ सिद्धान्त रूपमे स्पष्ट कर दी है। सम्यग्दर्शन हो तो सम्वर निर्जरा हो। अव सम्यग्दर्शन कैसे हो, इसके लिए क्या उपाय करना ? इसका जो कारण वताया है दर्शनमोहका उपशम आदिक उसे हम क्या करें ? वह तो परद्रव्य है। उसे हम देखते नही। उसे टालनेका क्या उपाय है ? अभ्यास। तत्त्वज्ञानका अभ्यास होनेपर भी किसीके दर्शनमोह टलता है, किसीके नही टलता है। सो क्या कारण है ? जिस रूपमे, जिस विधिमे, जिस मार्गमे तत्त्वज्ञानका अभ्यास अथवा जिस स्थितिका तत्त्वज्ञानका अभ्यास उन कर्मोके टालनेका हेतु हो सकता है वह न हुआ, इसलिए उनका कल्पित तत्त्वज्ञानाभ्यास सम्यक्त्वकी उत्पत्तिका कारण न बन सका अर्थात् दर्शनमोहके अलग करनेका कारण न बन सका। लेकिन बुद्धिपूर्वक उपाय हम आपका यदि कहा जाय तो यह ही कहा जा सकेगा कि हम यथार्थ तत्त्वका अभ्यास करें।

अहितको अहित जानकर उससे हटनेका भाव होनेपर हितकी ओर आनेकी सहजता—अव कोई कहने लगें कि उपयोग हमारा इस तरहका कैसे बने कि हम दर्शनमोह आदिककी नाकमे भी नकेल डाल दें ? उसका उपाय है वस्तुस्वरूपका अभ्यास। हम वस्तुस्वरूप जानें, आत्मतत्त्व, अनात्मतत्त्व इनका वोध वढायें और ये सब वोध बढें, इसका उपाय क्या कि अपना ऐसा सकल्प बने, ऐसा अभिप्राय बने कि मुझे तो अपना हित करना है, मूल बात यह है। जिनके अपने हितका भीतरमे भावना नही जगी है उनके ढगसे तत्त्वज्ञान और वस्तुस्वरूपके अभ्यासकी बात नही बनती है। आत्माका मुझे हित करना है, ऐसा भाव तब बनेगा जब यह मालूम पडे कि अहित हो क्या रहा है ? जब हम उस अहितसे कुछ घबडाये, उस अहितसे दूर होनेकी बात मनमे लायें तब ही तो हमारेमे हितकी भावना जगेगी। भैया ! अहितको अहित समझनेके लिए बड़ी सुगमता है। अहितसे भरा ससार है। ढगसे समझना चाहे तो सब समझ लें। ससार दुःखमय है, मायारूप है। क्या मतलब पडा है मेरा किसीसे, ये सब स्वतत्र पदार्थ है, बाहरी चीज है, सबके अपने-अपने कर्म हैं, सब अपने उदयसे जन्म मरण करते है, फल भोगते है, कर्मके बन्धसे फसे हुए है, जन्ममरण कर रहे है। आज मनुष्य है, कुछ पुण्यका साधन है, खाने-पीनेकी सुविधा है। कब तक ऐसी सुविधा रखेंगे, कब तक ये आपका काम देंगे, ये मकान देहादिक आपके पास कब तक रहेगे ? ये छूटेंगे, फिर क्या होगा ? जन्ममरण। न जाने कहांसे कहाँ जन्म होगा ? मान लो यहासे मरकर कीट पतिंगा आदिकमे जन्म हो गया, वृक्ष आदिकमे जन्म हो गया तो फिर कहा शान रहेगी, क्या बात बनेगी ? तो दुःखोसे भरा हुआ यह ससार है। हमे किसीसे क्या बिगाड ? हमे किसीसे

क्या झंझट करना, बाहरमे जो हो सो हो, बाहरमे जो जैसा करता हो, मानता हो, बोलता हो, जो कुछ हो सो हो, मेरेको तो अपनी विपत्ति मिटाना है, और प्रयोजन नही है। यह भावना भीतरमे जगी हो तो उस पुरुषका हितकी ओर लगाव लग सकता है। कहनेकी बात और होती है, भीतरकी धुन बननेकी बात और होती है। यहाँ धुनकी ही तो बात कह रहे है कि ऐसी बात चित्तमे समा जाय तो उसके लिए हित होना, धर्म होना कौनसी कठिन बात है ? आत्मा तो धर्मस्वरूप है। कठिनता तो वहाँ होती कि जहाँ गाँठमे कुछ न हो और चाहे उस चीजको ? हमारी गाँठमे धर्म है, विशुद्धि है, गुप्ति है। अनन्तज्ञान, अनन्तआनन्द, अनन्तशक्ति सब भीतर पडी है, शक्तिरूपमे स्वभावरूपमे सब चीजें हैं। कठिनाईकी क्या बात है ? बस एक विशुद्ध हमारा उद्देश्य बन जाय, अहितको हम अहित जान लें तो हमारा सब काम बन सकता है, परन्तु जीवोपर मोहकी धूली ऐसी पडी है कि वे अहितको अहित नही जान पाते। सबसे बडा भारी सकट है तो यह सकट है जीवोको।

यत्पुनः श्रेयसो बन्धो बन्धश्चाऽश्रेयसोपि वा।
रागाद्वा द्वेषतो मोहात् स स्यात् स्यान्नोपयोगसात् ॥८८०॥

उपयोगसे पाप पुण्य बन्धका भी अभाव तथा रागद्वेष मोहसे पुण्य पापका बन्ध—उक्त स्थलमे यह बताया गया था कि सवर, निर्जरा, सम्यग्दर्शन, मोहका अस्तवन—इन सबकी व्याप्ति उपयोगके साथ नही है। उसी प्रकार यहाँ यह बतला रहे है कि निर्जरा आदिक गुणो मे जैसे उपयोग कारण नही इसी तरह पुण्यबध और पापबन्धमे भी उपयोग कारण नही है। उपयोगका अर्थ पदार्थोका जानना है। जितनी योग्यता है उस योग्यताके अनुसार पदार्थोके प्रतिभासनका नाम है उपयोग। तो पदार्थ प्रतिभास हो इसमे न सवर निर्जरा है न पापपुण्य की बात है। पुण्यबध और पापबध रागद्वेष मोहसे हुआ करते है, वे उपयोगसे नही होते है। अब चूकि रागद्वेषको व्यक्त करने वाली चीजें तो उपयोग है। जैसे कल्पना करे कोई कि उपयोग तो न बने, उपयोग तो न हो और रागद्वेष मोह हो जाय, ऐसा भी कोई जीव है क्या कि उपयोग तो हो न और रागद्वेष मोह हो। रागद्वेष मोहको व्यक्त करने वाला, रागद्वेष मोहको आत्मसात् करने वाला, उनकी मुद्रा बनाने वाला तो यह उपयोग ही तो है। इसलिए उपदेशमे यह कहा जाना युक्त है कि ऐसा उपयोग हो तो वहाँ पुण्य बँधता है, पाप बँधता है। तो यह इस कारणसे कहा जाता है, पर स्वरूप दृष्टि दे तो उपयोगका जो स्वरूप है उतने मात्रको दृष्टिमे ले, रागद्वेषका जो स्वरूप है उसको भी समझें तो वहाँ एक पार्थक्य होता है कि उपयोगसे पुण्य-पापबंध नही बँधता, किन्तु रागद्वेष मोह भावसे पुण्यबंध पापबध होता है।

व्याप्तिर्बन्धस्य रागाद्यैर्नाऽव्याप्तिर्विकल्पैरिव।
विकल्पैरस्य चाऽव्याप्तिर्न व्याप्तिः किल तैरिव ॥८८१॥

रागादिकके साथ बन्धकी व्याप्तिका कथन—बन्धकी व्याप्ति रागादिकके साथ है। जैसे रागादिक है तिस प्रकारका बन्ध है। रागादिकके साथ उपयोगकी व्याप्ति न होनेकी तरह बन्धकी भी उपयोगके साथ व्याप्ति नही है। जैसे उपयोगकी रागादिकके साथ व्याप्ति नही है कि स्व या परका उपयोग हो तो राग हो ही हो, ऐसे रागकी उपयोगके साथ व्याप्ति नही है उसी प्रकार उपयोगकी बंधके साथ भी व्याप्ति नही है। उपयोगका अर्थ है प्रतिभासन। साराश यह है कि बन्धके होनेमे रागद्वेष कारण है। शुभ बन्धमे क्या कारण है ? शुभभावकी तीव्रता होना और अशुभ कर्मोदयकी मंदता होना तो वहां शुभ बन्ध होता है, दोनो ओरसे बात समझ लीजिए। शुभबन्धमे आत्माकी ओरसे किया हुआ शुभ भाव हो विशेष तो शुभबन्ध होता है और कर्मकी ओरसे अशुभ कर्मोदयकी मन्दता होती है। यह परम्परया विचार करके बात समझ लीजिए। अशुभ कर्मोदय तीव्र हो रहे हो तो ऐसी स्थितिमे शुभभावकी तीव्रता प्रायः नही होती। यद्यपि हम इसे सर्वत्र व्याप्तिको न लगा सकेंगे। कोई साधु है, तीव्र उपसर्ग आ रहा तो एक जातिका अशुभ कर्म तीव्र आया है। मगर उसकी स्थिति ऐसी नही है कि अशुभ कर्मोदय ही तीव्र चल रहे है और कुछ नही होता। जैसे कि अज्ञानी जनोमे, साधारण जनोमे अशुभ कर्मोदयकी तीव्रता है तो अनेक अशुभ कर्मोंकी तीव्रता है, किन्तु वहां तो अशुभ कर्मकी तीव्रता है, तो शुभ कर्मका भी वहा कुछ अधिकार है। भला ज्ञानावरणका इतना क्षयोपशम तत्त्वज्ञान जहा जबरदस्त हो रहा है, कैसे कहा जाय कि वहां शुभकर्मकी तीव्रता ही मात्र है उपसर्गमे आये हुए उन साधुवोके। जिस कामको लेकर सोचा जा रहा है उसकी दृष्टि से कहा जाता है कि तीव्र अशुभोदय है। गजकुमार मुनि महाराजके सिरपर अंगीठी रख दी तो कितना बडा उनके तीव्र अशुभ कर्मका उदय कहा जाय, और है उस कार्यको देखकर यह सत्य बात, मगर साथ ही कितनी अशुभकर्मकी मदता भी वहा है अन्यथा यह क्षयोपशम काम कैसे करता, तत्त्वज्ञान बाधक कैसे रहता, उच्च विचार कैसे बनता, उत्तम ध्यान कैसे बनता ? तो शुभ बन्धमे कारण शुभकर्मकी मन्दता बतायी गई, वह ठीक है और अशुभ बन्धमे अशुभ रागकी तीव्रता और शुभ कर्मोदयकी मन्दता कारण है।

रागका कठिनकषायपना—अच्छा, बताओ रागद्वेष इन दो कषायोमे, इन दो विभावो में कठिन विभाव कौन है ? राग, क्योकि उसके अनेक कारण आपको विदित होंगे। एक तो यह कि सिद्धान्तके अनुसार राग मिटनेसे पहिले द्वेष समाप्त हो जाता है, द्वेष समाप्त होता है ९वें गुणस्थानमे और राग समाप्त होता है १०वे गुणस्थानके अन्तमे। अब व्यवहारदृष्टिसे देखिये—द्वेषमे कोई उतना अध नही हो सकता जितना अध रागमे होता है। द्वेषमे जीव उतना विवेकको नही खोता जितना कि रागमे विवेकको खो देता है। इस रागके कारण बडी कठिन-कठिन स्थितिया होती है। इसलिए अशुभ रागकी तीव्रता यहां समझना है। यह अशुभ

रागकी तीव्रता एक विकट विपदा है और साथ ही हुई शुभ कर्मोदयकी मदता, तो इस स्थिति मे अशुभबध बन्ध होता है, परबन्ध मात्रमे उपयोग कारण नही। अशुभ हो तो उपयोगके कारण अशुभबन्ध नही, शुभबन्ध हुआ तो उपयोगके कारण शुभबन्ध नही। तो बन्धका अविनाभाव रागद्वेषके साथ रहा, किन्तु उपयोगके साथ न रहा, यह बात कही जा रही है। इस बातको पुष्ट करनेके लिए जो प्रकृतमे कहा गया था कि उपयोगके कारण गुणका उत्कर्ष अपकर्ष नही है। गुणके उत्कर्ष अपकर्षका कारण तो सम्यक्त्व और चारित्र गुणकी अवस्था है, उसका ही यह सब समर्थन है।

नानेकत्वमसिद्ध स्यान्नस्याद्व्याप्तिर्मिथोऽनयोः।
रागादेश्चोपयोगस्य किन्तूपेक्षास्ति तद्द्वयो॰ ॥८८२॥

रागादिमें व उपयोगमें परस्पर अव्याप्ति व अनेकता—राग जुदा स्वरूप रखने वाला तत्त्व है, उपयोग जुदा स्वरूप रखने वाला तत्त्व है अथवा उनमे अनेकता है। ये दोनो एक नही है। राग भिन्न बात है और उपयोग भिन्न बात है। इन दोनोमे परस्पर व्याप्ति नही है। राग और उपयोग दोनोमे अपेक्षा नही है कि राग अपने स्वरूपनिर्माण उपयोगकी कृपा पर करे, उपयोगके सकेतके अनुसार करे, उपयोगकी स्थितिके अनुसार करे सो नही है, और उपयोग रागद्वेषके अनुसार हो सो नही है। उपयोगका निर्माण अपने आपसे है। राग का निर्माण अपने आपसे है। देखिये—जब एक शुद्ध दृष्टि करके याने एकको एकमे ही देख करके जब बात समझेगे तो उस समय जीवके राग भी चल रहा, ज्ञान भी चल रहा, मगर ज्ञानका परिणमन ज्ञानके करणसे हो रहा है और रागद्वेष रूप परिणमन रागद्वेषके करणसे हो रहा है। जीवके जब राग उत्पन्न होता है तो उसकी मुद्रा, उपयोगके साहचर्य बिना बन नही सकती, तो भी वहाँ रागके कारणसे ज्ञान नही होता। ज्ञान ज्ञानके कारणसे होता है, राग रागके कारणसे होता है। राग वहाँ ज्ञेय हो जाता है, ऐसी भिन्नताका विवेक जिसके जगा है वही तो ज्ञानी है। जैसे यहाँ ये भीत, चौकी आदिक पदार्थोको जान रहे है तो यहाँ तो यह बात झट समझमे आ जायगी कि हम भीत चौकीके करणसे नही जान रहे है, हम अपने आपमे अपने ही उपमा साधनसे जान रहे है। और ये भीत चौकी आदिक मेरे ज्ञानके करणसे नही बन रहे है। यह तो अपने स्वरूपमे अपनी विधिसे बन रहे है। यह बात जैसे स्पष्ट समझमे आती है इसी प्रकार यहा भी स्पष्ट समझना होगा कि यहा जो राग और ज्ञान ये दो चल रहे है तो उसमे भी रागके करणसे ज्ञान नही चल रहा, ज्ञानके करणसे राग नही चल रहा। राग तो ज्ञानमे ज्ञेय हो रहा और इस तरह किसी स्थितिमे रागकी मुद्रा भी बन जाती है। तो राग भिन्न तत्त्व है, ज्ञान भिन्न तत्त्व है, इन दोनोमे सम्बन्ध नही है। दोनो स्वतंत्र स्वतत्र है, इसमे व्याप्ति नही है। इससे यह सिद्ध किया गया कि उपयोगके

कारणसे बध नही, उपयोगके कारणसे सवर निर्जरा नही। इन सबका कारण तो सम्यक्त्व और चारित्र गुणकी अवस्थायें है।

कालुष्य तत्र रागादिर्भावश्चौदयिको यतः।
पाकाच्चारित्रमोहस्य दृङ्मोहस्याथ नान्यथा ॥८८३॥

रागादिकभावका स्वरूप—रागादिक पदार्थ क्या कहलाते है, इसका वर्णन इस श्लोक मे किया गया है। आत्माकी कलुषताका नाम रागादिक भाव है। जो सकषाय परिणाम होते हैं उन्हे रागादिक कहते है। ये रागादिक आत्माके अविनाभाव है, आत्माका परिणमन है, इस कारण जीवका स्वतत्त्व कही है। जीवका जीवके ही कारण अपने ही सहज स्वभावमे राग होता हो, ऐसा यह जीवका स्वतत्त्व नही है। यह तो औदयिक भाव है। जैसे सामने आये हुए हाथका प्रतिबिम्ब दर्पणपर आया और दर्पणमे जो प्रतिबिम्ब हुआ उस प्रतिबिम्बको क्या कहेगे? दर्पणका स्वतत्त्व। हां दर्पणका परिणमन है वह। भले ही हाथका सन्निधान पाकर हुआ है, नैमित्तिक भाव है, किन्तु वह प्रतिबिम्ब हाथका परिणमन नही। अतएव कहेगे कि वह दर्पणका स्वतत्त्व है, किन्तु दर्पणमे दर्पणकी ओरसे दर्पणके ही कारणसे क्या वह प्रतिबिम्ब हुआ है? तो स्पष्ट समझने आ गया कि नही? अतएव प्रतिबिम्ब दर्पणका स्वतत्त्व नही है, किन्तु दर्पणमे निरन्तर दर्पणके कारण रहने वाली जो स्वच्छता है वह दर्पणका स्वतत्त्व है। वे रागादिक भाव आत्माके स्वतत्त्व नही है। स्वयके भाव, सहजभाव नही हैं, किन्तु ये औदयिक भाव है। ये चारित्र मोहनीय, दर्शन, मोहनीयके विपाकका निमित्त पाकर हुए है, इस कारण इन्हे नैमित्तिक भाव कहते है। सम्यक्त्वके घातने वाली प्रकृति है दर्शनमोह। दर्शनमोहके उदयसे होता है मोहभाव और चारित्रको घातने वाली प्रकृति है चारित्रमोह। चारित्रमोहके उदयसे हुए रागद्वेष।

मोह व रागमें अन्तर—मोह और रागद्वेषमे बहुत अन्तर है। मोह विकट विपदा व विडम्बना है। रागद्वेष एक संकट है। रागद्वेषका मूल अर्थात् जिस जडसे रागद्वेष पुष्ट होते है वह जड है मोह। जैसे वृक्ष खडा है तो उसकी डाली-डाली, उसके पत्ते-पत्ते सब हरे-भरे चल रहे हैं। तो उन पत्तोका हरा-भरा होनेका मूल क्या है? वृक्षकी वह जड। जब तक वृक्ष जडसे खडा है तब तक खूब हरा-भरा रहेगा। हरे-भरेका उत्कर्ष होगा, हरे-भरेकी परम्परा रहेगी और जड काट दी जाय, वृक्ष नीचे गिर जाय तो गिर जानेपर भी वृक्ष तो अभी भी हरा-भरा है, लेकिन उसका यह हरा-भरापन सूखनेकी ओर है। उसका उत्कर्ष करने वाली, उसका पालन-पोषण करने वाली जड अब न रही। इसी प्रकार मोह रागद्वेषको उत्पन्न करने वाली, हरा भरा रखने वाली जो उसकी जड है उसे काट दिया जाय तो भी कुछ काल तक रागद्वेष मोह रहते है, लेकिन उनकी प्रकृति मुरझानेकी ओर रहती है, बढनेकी ओर नही

रहती और कुछ काल पाकर वह पूर्ण मुरझा जाता है, नष्ट हो जाता है। तो रागद्वेष और मोह इनमे बडा अन्तर है। यो सहसा तो लोग कह देते है कि मोह राग तो एक ही बात है, इसका उसमे मोह है, इसका उसमे राग है और बल्कि किसी किसी घटनामे तो ऐसा सोच डालते है कि राग तारीफके लायक नही रहता, मोह तारीफके लायक रहता है। यह सासारिक बात कह रहे है। जैसे कोई कहे कि आपका भैया अपने भतीजेपर या किसीके बच्चेपर बडा मोह करता है तो लोग इसमे तारीफ समझते है। पर यह मोह तो अज्ञानकी चीज है। रागद्वेष तो ज्ञानके साथ रह सकता है, पर मोह ज्ञानके साथ नही रह सकता। मोह एक तेज शराब जैसी है। "मोह महामद पियो अनादि।" ऐसा कहा भी तो है। जैसे तेज शराब पिया हुआ पुरुष अपनी कुछ सुध-बुध नही रखता, इसी तरह मोहमे मग्न हुआ जीव भी अपनी सुध-बुध नही रख सकता। और जो साधारण मादक चीजें है जैसे लोग बीडी सिगरेट वगैरा पीते है, तो उनके पीनेसे सुध-बुध तो रहती है, लेकिन उनके पीनेमे भी संकट है। कलेजा जले, हाथ काला हो, मुख काला हो, दांत खराब हो जायें, मुखसे दुर्गन्ध आने लगे, कुछ इसमे भी विपत्ति है, मगर लोकमे उसे पागल नही माना जाता। तो ऐसे ही समझिये कि इस राग मे भी जीवको सकट आता है, कुछ बेहोश, मुग्ध दशा रहती है, पर मोहमे तो वह पूर्ण बेहोश, व्यामुग्ध, पागल हो जाता है। तो इन सब ऐबोंका कारण उपयोग नही है, यह बात यहाँ प्रकृतमे चल रही है।

क्षायोपशमिक ज्ञानमुपयोगः स उच्यते ।
एतदावरणस्योच्चै. क्षयाद्वोपशमाद्यतः ॥८८४॥

उपयोगका परिचय—उक्त श्लोकमे बताया था कि रागका क्या परिचय है? जिसके साथ उपयोगकी व्याप्ति नही लगा रहे। अब इस छन्दमे पूछा जा रहा है कि उपयोग क्या पदार्थ है जिसके साथ रागादिककी व कर्मबन्धकी व्याप्ति नही लगा रहे है। इस सम्बधमें कह रहे है कि जो क्षायोपशमिक ज्ञान है, उसका काम उपयोग है याने जिस ज्ञानको लगाना है, जोडना है वही तो उपयोग है, ऐसी स्थिति इस क्षायोपशमिक ज्ञानमे हो रही है तो जो ज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशमसे उपयोगवृत्ति जगती है उसका नाम है उपयोग। तो इससे यह बात जाहिर हुई कि उपयोगका काम प्रतिभासपना है। लगन लगनेकी बातमे भी कुछ कारण तो है। वही रागद्वेष। उपयोग लगाता कौन है? जिसके रागद्वेष चलता है। ज्ञानमे चचलता किसकी है? इन रागद्वेषोकी ही। जहाँ ऐसी कलुषता है वहाँ उपयोग यो भ्रमण करता है, लेकिन उपयोगका जो स्वरूप है उसमे जो ज्ञप्ति है, जो कुछ है उस ज्ञप्तिसे रागका स्वरूप भिन्न है। जानना ज्ञप्ति है वही उपयोग है। तो ऐसा उपयोग रागके साथ व्याप्त नही और बधके साथ व्याप्त नही, सम्वर निर्जराके साथ व्याप्त नही। उप-

योग तो अपने उपयोगकी योग्यतामें। अपनेमे बात उसकी बनती है, उसकी व्याप्ति इन सबके साथ नही है। प्रकरण मूलमे यह चल रहा था कि सम्यग्दृष्टि जीवके ज्ञानचेतना है। तो जैसे अन्य ज्ञानोमे सक्रान्ति होती है, अर्थसे अर्थान्तर रूप सक्रमण करते है उसी प्रकार ज्ञानचेतनामे भी सक्रमण होगा, क्योकि यह भी तो एक मतिज्ञानका प्रकार वन रहा है। उसके उत्तरमे बात कहते-कहते यहाँ तक समझाना पडा कि देखो उपयोगकी बात अलग है, ज्ञानचेतनाकी बात अलग है, लब्धिरूप ज्ञानचेतनासे यह सारी व्यवस्था बनती रहती है उत्कर्षकी। उपयोग तो उसके होता है और उपयोग कारण है, एक साधन है, उपाय है कि स्वोपयोगी रहेगे तो उसमे हम ज्ञानचेतनामे ही और उत्कर्ष पा लेंगे, लेकिन स्वरूपत: देखा जाय तो जो योग्यता है उससे काम वन रहा। उसी प्रकरणमे प्रश्नोत्तर होते-होते यहाँ यह बताया गया कि रागादिक तो भिन्न पदार्थ है और उपयोग-उपयोग एक ज्ञान द्वारा प्रतिभासन करना, उपयोग करना यह स्वरूप है, सो वह रागादिकसे भिन्न है।

अस्ति स्वहेतुको रागो ज्ञान चास्ति स्वहेतुकम्।
दूरे स्वरूपभेदत्वादेकार्थत्व कुतोऽनयोः ॥८८५॥

राग और ज्ञानमे एकार्थता न होनेका कारण—रागका कारण भिन्न है, उपयोगका कारण भिन्न है तब राग और उपयोगकी समव्याप्ति कैसे बनायी जाय? राग अपने कारणसे होता है, उपयोग अपने कारणसे होता है। राग और ज्ञान इन दोनोमे स्वरूप भेद है। दोनोका एक अर्थ है। जैसे मीठा, रूखा, अनेक प्रकारका भोजन आपके सामने है, पर विवेक करके उसका अलग-अलग स्वाद ले लेंगे, विवेककी बात कह रहे है। वहाँ जुदा-जुदा स्वाद ले लें लोग, किन्तु हाथीका एक दृष्टान्त देते हैं। जैसे हाथीके सामने घास डाल दो, हलुवा डाल दो या और कोई मिठाई डाल दो, रोटी डाल दो तो वह उन सभी चीजोको एकमे ही लपेटकर एक साथ खा जायगा, वह उनका अलग-अलग स्वाद न ले सकेगा। यो ही समझिये कि आत्माके आहारके लिए, अनुभवनके लिए दो चीजे है—राग और ज्ञान। अब ज्ञानी पुरुष तो रागका रागरूप और ज्ञानका ज्ञानरूप परख कर लेते हैं। वह दोनोमे हित अहितका निर्णय कर लेगा। एक साथ दोनो धाराये चलनेपर भी उनके स्वरूपभेदको समझ लेगा, पर ज्ञानी जीव उपयोग और रागके स्वरूपका ज्ञान न कर सकेगा, उसके लिए क्या राग और क्या ज्ञान? जो भी एक पर्याय गुजर रही है उसमे ही अपने स्वरूपकी बुद्धि रख रहा है। भेदविज्ञानमे यह बहुत उपयोगी बात है समझनेके लिए। आत्मामे जो रागधारा, ज्ञानधारा चल रही है और चल रही है दोनो एक साथ। राग भी काम कर रहा और ज्ञान भी काम कर रहा, मगर ज्ञानका काम कितना है? प्रतिभासना और रागका काम कितना है? वही रज्यमाणता। एक बल्बके ऊपर हरा कागज लगा दिया, अब उसमे जो प्रकाश चल रहा वह बात

तो एक चल रही है, वहाँ मगर उस प्रकाशको देखकर विवेकी क्या यह ज्ञान नही कर सकता कि उस बिजलीके बल्बका, उस प्रकाशनका काम तो प्रकाशन मात्र है जिसमे कि कुछ देखा जाय, पर जो यह हरा-हरा हो रहा वह बल्बका, बिजलीका प्रकाशनका कार्य नही है। यह तो किसी हरी-भरी चीजकी उपाधिका काम है। चलो यह तो कागज लगेकी बात है। बल्ब भी आप रगीन ले आये और उसमे भी जो प्रकाश होगा उसमें भी तो यह भेद पडा है कि दोनोका काम तो प्रकाशना है, यह हरापन नही है। ऐसे ही समझिये कि जीवमे जो कुछ बात इस समय चल रही है उसमे जो प्रतिभासन है वह तो उपयोगका काम है और विकार, आकुलता, वासना आदिक जो कुछ भी बातें साथमे लग रही है, यह उपयोगका कार्य नही है। यह रागद्वेषादिक भावोंका कार्य है। ऐमे दो भेद ध्यानमे आये। उन्हे अपने आपके विषयमे घटित करें। जो बात चल रही है उसमे जो विकल्पाश है, ज्ञेयाश है, सुख-दुःख, आकुलता, व्यग्रता आदिक जो कुछ कार्य है वह सब रागद्वेषादिक भावोका विकार है। ज्ञानका कार्य तो प्रतिभासना है। ज्ञान तो मेरे गुणमे है। राग मेरे गुणमें नही है। तो प्रतिभासन तो मेरा कार्य है, पर आकुलता सुख दुःख रागद्वेष ये मेरे कार्य नही है। वह प्रतिभासन तो मेरी करतूत है, मेरी चीज है। ये रागद्वेष मेरी चीज नही है। प्रतिभासन मेरे अनर्थके लिए हो ही नही सकता, क्योकि वह मेरा तत्त्व है, मेरा कर्तव्य है। लेकिन रागादिक भाव तो अनर्थके लिए ही होगा, क्योकि यह परभाव है, औपाधिक भाव है, मेरे स्वरूपकी चीज नही। ये तो मैल कहलायेंगे ही। परभाव, परद्रव्यका सम्बध होनेका नाम मैल है। चाहे वह सफेद चिकनी बढिया चीज दूसरेमे लगी हो तो वह दूसरे पदार्थके लिए मैल ही है। जैसे यहाँ मनुष्य इन गाय, भैंस, घोडा आदिको देखकर ऐसा समझते है कि ये कुछ नही है, उनमे कुछ ऐसी खास बुद्धि नही जगती, ये मेरे लिए कोई खास रागके लायक उपयोगी नही है, इन्द्रिय विषयोके उपयोगी नही है, ऐसे ही गाय-बैल आदिक इन आदमियोंको देखकर समझते होगे कि ये कैसी अटपट चीजे है. कैसा ये दो टाँगोसे खडे है, कैसा सीधे चल रहे है, ये तो सब बडे अटपटसे लग रहे है. ऐसा अटपट क्या उन गाय, भैंस आदिक पशुओको न लगता होगा? तो अपने लिए परका सम्पर्क मैल ही है। चाहे वह बढिया हो, घटिया हो उस वस्तुके लिए ये समस्त पर मैल हैं। इसी तरह मुझ आत्मवस्तुके लिए ये समस्त रागादिक भाव मैल है और उपयोग यह ज्ञान प्रतिभास, यह जानन यह मेरा गुण है, मेरी चीज है। सूक्ष्मदृष्टिसे वहाँपर भी भेद आयगा। यह इन्द्रियज ज्ञान मेरे लिए मैल है, मेरा स्वरूप नही है। पर थोडा एक स्वके विकाससे हुआ है, इस दृष्टिमे कहा जाता है। तो रागके भिन्न कारण है, ज्ञानके भिन्न कारण है। स्वरूपभेद है, विधिभेद है। ज्ञान परचीजके हटनेसे हुआ, ज्ञान परचीजके आनेसे हुआ। तो जहाँ ये सारे भेद प्रतिपक्ष रूपसे चलते हो वहाँ राग और ज्ञानको एक कैसे कहा जा

सकता है ?

किञ्च ज्ञान भवद्देव भवतीद न चापरम् ।
रागादयो भवन्तश्च भवन्त्येते न चिद्यथा ॥८८६॥

ज्ञानमें ज्ञानरूपताकी व रागादिमें रागादिरूपताकी ही उद्भूति—होता हुआ ज्ञान ही होता है, अन्य कुछ नही होता । होते हुए रागादिक रागादिक ही होते है, वह ज्ञान नही होता । ज्ञान और रागके स्वरूपका प्रकर्ष भेदविज्ञानका संकेत कराने वाला यह श्लोक है । जैसे क्रोधमे क्या होता है ? तो कहेंगे गुस्सा । उसका नाम क्रोधन रखा है । क्रोधमे क्रोधन होता है, क्रोधमे जानन नही होता है । जाननका स्वरूप और है, गुस्साका स्वरूप और है । यहाँ यह मोटी बात नही कह रहे है कि गुस्सामे ज्ञान सही नही रहता और इसी कारण नही कह रहे है कि गुस्सामे जाननस्वरूप नही है । स्वरूपकी बात कह रहे हैं । चाहे वह अल्प भी क्रोध हो, जहाँ ज्ञानका बिगाड नही मालूम होता वहाँ भी क्रोधमे ज्ञान नही, क्रोधमे क्रोधन है, ज्ञान मे ज्ञान है । जैसे मिला हुआ दूध और पानी एक गिलासमे रखा हो तो भी वहाँ कहा जायगा कि दूधमे दूध है, पानीमे पानी है । इस बातको कुछ लोग समझेंगे नही और कुछ लोग समझ जायेंगे तिसपर भी यह मोटा दृष्टान्त है । यहा तो दूधके अणु-अणु अलग है, समझदार लोग यहा खूब जान सकते है, लेकिन यहा आत्मामे जो एक अमूर्त आत्माका भावस्वरूप है उसमे जब देखा तब एक परिणमन है । मिले हुए दूध पानीमे तो दो-दो परिणमन अब भी चल रहे है । दूधमे दूध है, पानीमे पानी है, लेकिन जहा एक परिणमन हुआ आत्माका एक समयमे उस एक परिणमनमे ही छटनी की जा रही है । जैसे कि आजकल वैज्ञानिक लोग एक ही पदार्थमे इनर्जियोकी छटनी करते है । और इनर्जीसे भिन्न-भिन्न रूपमे पृथक् करके प्रयोग करते है । और उनकी दृष्टिमे वहा इनर्जी एक अलग तत्त्व या पदार्थ होता है तथा वहां वे उसे पदार्थ ही कह देते है । जैसे एक पदार्थमे आजके वैज्ञानिक लोग इनर्जीके इतने भेद बनाते है, इसी तरह आत्माका वह एक परिणमन है । जो भी एम समयमे, उस एक परिणमनमे भी भेदविज्ञानके बलसे यहा-वहा भेद चल रहा है कि वह जो एक परिणमन है, मिश्र परिणमन है, वहा जो क्रोधभाव है उसमे क्रोध ही है । जानन भाव है उसमे जानन ही है ।

कुछ उदाहरणोको बताकर रागमें जाननके अभावकी व ज्ञानमे रञ्ज्यताके अभावकी सिद्धि—कल या परसो एक दृष्टान्त दिया था कि हरा बल्ब लगानेसे हरा प्रकाश हुआ तिसपर भी प्रकाशमे हरापन नही है और हरे रगमे प्रकाश नही है, प्रकाशमे प्रकाशन है, हरेमे हरा ही है । यह बात जैसे कुछ कठिनाईसे समझी जाती है उससे भी अधिक कठिनाई हो रही होगी इस बातके समझनेमे कि होते हुए ज्ञानमे ज्ञान ही हो रहा है और होते हुए रागमे रागादिक ही हो रहे है, और स्वरूपका परिचय करने वाले इसको इस तरह स्पष्ट समझ रहे

होगे कि जैसे किसी कार्डमे दो वृक्ष बनाये गए हों और उनकी बनावटमे बीचमे आदमी दिख जाय, चिडिया दिख जाय, है नही चिडिया, है नही आदमी, मगर वृक्षकी बनावट ऐसी की जाती है कि जिससे वहाँ पता कर लेते है। जिसको परिचय हो गया वह कार्य देखकर सीधा देख लेता है कि यह है वह चिडिया। इसी तरह स्वरूपभेदके परिचयके लिए ज्ञानी सत पुरुष स्पष्ट समझता है, रागसे तो रञ्जन है और ज्ञानमे जानन है और युक्तियोसे समझना चाहे तो युक्तिया ये है कि रागादिक अपने कारणसे होते है, ज्ञान अपने कारणसे होता है। इसे भी अगर उपादानसे देखें तो सूक्ष्म बात यह आयी कि राग रञ्जनपरिणतिसे होता है और ज्ञान जाननपरिणतिसे होता है, पर इसके अन्य कारण देखो, भिन्न कारण देखो—जिसके साथ अन्वयव्यतिरेक बनता है तो कारण बताया जायगा कि रागादिक होते है मोहके उदयका निमित्त पाकर, ज्ञान हो रहा यहा ज्ञानावरणके क्षयोपशमका निमित्त पाकर, तो कारणभेद है तो वहा स्वरूपभेद भी है। ज्ञान आत्माके स्वयके स्वरूपका विकास है, चाहे वह कितना ही विकास हो और राग औपाधिक भाव है, स्वरूपका विकास नही, बल्कि स्वरूपका बाधक है, घातक है। तो यो रागमे और ज्ञानमे ऐसा भेद पाया जाता है।

अभिज्ञान च तत्रास्ति वर्द्धमाने चिति स्फुटम्।
रागादीनामभिवृद्धिर्न स्याद् व्याप्तेरसभवात् ॥८८७॥

ज्ञानवृद्धि व रागवृद्धिमे परस्पर व्याप्ति न होनेसे स्वरूपभेदकी स्पष्टता—यहां प्रकरण यह चल रहा है कि ज्ञान और रागकी व्याप्ति नही है। उपयोगकी और रागादिककी व्याप्ति नही है, क्योकि ज्ञानकी वृद्धि होनेपर रागादिक बढ जाये, ऐसी बात नही बनती, इससे व्याप्ति न कहेगे। ज्ञानकी वृद्धिसे रागकी वृद्धिका सम्बंध नही है। तो ज्ञानमे और उपयोगमे कैसे एकत्व कहा जाय और कैसे फिर रागका कारण ज्ञानको कहा जाय? ज्ञानका कारण रागको कहा जाय, यह कैसे सम्भव हो सकता? स्वतत्र है वह परिणमन। अब भेददृष्टिसे देखो और अन्तर्दृष्टि करके देखो तो रागका परिणमन रागके कारणसे होता, ज्ञानका परिणमन ज्ञानके कारणसे होता। यहा बाह्य कारणकी बात नही कह रहे, अभिन्न साधकताकी बात कही जा रही है।

स्याद्वादके अनाश्रयणसे वस्तुस्वरूपप्रतिपादनकी अयुक्तता—स्याद्वादका सहारा छोड दे तो यह कथन युक्त न बन पायगा। हुआ तो यही ना, स्याद्वादका सहारा छोडें तब ही तो क्षणिकवादियोका स्वलक्षण स्वरूप हो गया। क्षणिकवादके सिद्धान्तमे केवल कालकी ही बात नही है कि क्षण-क्षणमे पर्याय जो नई-नई होती है उनको ही मात्र पूर्ण द्रव्य माना, किन्तु द्रव्यसे विभिन्न अविभागी तत्त्वको स्वलक्षण कहा है, क्षेत्रसे विभक्त अविभागी तत्त्वको स्वलक्षण कहा है, भावसे विभक्त अविभागी तत्त्वको स्वलक्षण कहा है, मगर कालके स्वलक्षणकी प्रसिद्धि

अधिक है। एक-एक अणु द्रव्य है इतना तक भी रखते चित्तमे बात, स्कध कुछ नही, समुदाय कुछ नही। एक-एक अणु ही वास्तविक है, तो बात निभ जाती, लेकिन उस एक अणुमे भी रूप, रस, गंध, स्पर्श पाये जाते है सो उनका अणु रूपाणु है, रमाणु है, वह है पूरा द्रव्य। लो यो द्रव्यमे भी विभक्त करके कल्पित अविभागीको द्रव्य मानते है। कोई अणु रूप, रस, गंध, स्पर्श वाला नही है क्षणिक सिद्धान्तमे, किन्तु रूपाणु, नीलक्षण, रसपरमाणु, गधपरमाणु इत्यादि ये है स्वतत्र-स्वतत्र वस्तु। द्रव्यमे तो वह इतना वढ गया और क्षेत्रमे प्रत्येक क्षेत्र, प्रत्येक पदार्थ, प्रत्येक वस्तु, वस एकप्रदेशात्मक ही है यहा अवयवी कुछ नही, ज्यादा प्रदेश किसीमे हो ही नही सकता। एक समयमे ही है, दूसरे समयमे वह है ही नही, कालने यह ज्ञात किया और भावमे बस वह तो स्वलक्षणमात्र है। जो उसका लक्षण है सो है। अरे तो वताओ तो कुछ, अरे वताओ तो स्वलक्षण। अरे वताऊँगा तो वह स्वलक्षण न कहा जा सकेगा, उसमे बहुत बातें आ जायेंगी। देखा ना, यह भी तो एक प्रकारका परिचय है जिसकी झाकी आपको कई जगह मिलेगी जैनशासनमे। सम्यक्त्वका क्या लक्षण है? आप कह सकते है कि वह तो स्वलक्षणमात्र है। श्रद्धा करना सम्यक्त्व नही, श्रद्धा तो ज्ञानका परिणमन हुआ, प्रतीति करना? नही। प्रशम होना?…नही, वह तो मिथ्यादृष्टिमे भी हो सकता है। वहा तो सम्यक्त्वके वर्णनके लोभसे कह देते हैं, वह प्रशमाभास है। उससे क्या प्रतिभासमे आया? तो क्या है सम्यक्त्वका लक्षण? मुलक्षणमात्र। इसकी खेंच की गई है क्षणिकवादमे कि प्रत्येक पदार्थ स्वलक्षणमात्र है। नव पदार्थ रसाणु है, रूपाणु आदि है, एक समयवर्ती है, तब उसमे और कहनेको क्या गुजाइश है? वह तो स्वलक्षण मात्र है। तो ऐसे ही यह समझिये कि स्याद्वादका सहारा अगर छोड दें—आत्मा एक अखण्ड पदार्थ है, आत्माका वह एक परिणमन है—यह भी तो एक दृष्टि है, उसे अगर छोड दें तो यह भी गीत गाते रहे—राग अपने परिणमनसे होता, ज्ञान अपने परिणमनसे होता तो यह क्या है? जुदे-जुदे पदार्थ वन गए और इसमे स्वतत्रतया उत्पादव्ययध्रौव्य आ गया फिर।

प्रत्येक नयोमे शिक्षकता—देखो नयचक्रके जाने बिना बोधमे यथार्थता न आ सकी। तो नयचक्रका पार पाना यद्यपि कठिन है, लेकिन जो पार पा जाते है उनके लिए तत्त्वज्ञान करना कौतूहल मात्र हो जाता है। जो लोग विवाद करते हैं वे व्यर्थ करते है। बहुत विवाद का तो वहा कोई काम नही, प्रत्येक नयसे आप स्वरूपदृष्टिकी शिक्षा ले सकते है—निश्चयनय से ले, व्यवहारनयसे लें, उपचारनयसे ले, एक कडम नय बताया गया है उपचरितोपचरित-असद्भूतव्यवहारनय, और उसका विषय बताया गया कि यह कहना कि धन वैभव, मकान आदिक मेरे है। यह किस नयसे कहा? उपचरितोपचरित असद्भूत व्यवहारनयसे तो नयको तो समझ लो पहिले, शिक्षा मिल जायगी। वह नय यह कहता है कि जहा कोई सम्बन्ध ही

नही है, अत्यन्त अभाव वाली बात है, बल्कि असत् बात है और उसमे सम्बध बनाये तो कहते है कि यह उपचरित असद्भूतव्यवहारनय है। लो शिक्षा मिल गई। नयका स्वरूप जानते ही तत्त्वज्ञान बन गया। तो हम ऐसे विषयोसे भी शिक्षा ले सकते है। तो निश्चय व्यवहार सद्भूत व्यवहार आदिक। इनसे क्या शिक्षा मिलती है ? निश्चयनय एक द्रव्यस्व-भावपर पहुचाता है और यो स्वभावदृष्टिमे मददगार बनता रहता है। तो व्यवहारनय निषेध का सकेत देकर आपको स्वभावदृष्टिपर पहुचा रहा है। ये रागादिक भाव कर्मके है, यह कथन कोई तो व्यवहारसे बताते और कोई निश्चयसे भी बता देते है। व्यवहारसे बताया, उसका तो प्रयोजन यह है कि एक द्रव्यका दूसरे द्रव्यसे वास्ता बताया और निश्चयसे बताया कि पौद्गलिक है ये रागादिक तो उनकी दृष्टि यह मिली कि देखो इस ज्ञानने स्वभावको सुरक्षित बना लिया, स्वभावपर आच नही आने दिया। तो जब कुछ शिक्षा न ले सके, और कषाय-भाव है सो वहाँ विसम्वाद बन जाता है। तो स्याद्वादका सहारा छोड़कर चित्त समाधानरूप नही रह सकता। तो जो भी उसे शरण हुआ उस शरणको उस दृष्टिके अनुसार समझना चाहिए। यहा प्रकरण यह चल रहा है कि उपयोगकी और रागादिककी व्याप्ति नही है, इस-लिए उपयोग न तो भलेका कारण है, न बुरेका कारण है। उपयोगका जाननस्वरूप है प्रतिभासन मात्र, इतनी दृष्टिमे लेकर बात समझें तो यह बात सुयुक्त होती है।

वर्द्धमानेषु चैतेषु वृद्धिर्ज्ञानस्य न क्वचित्।
अस्ति यद्वा स्वसामग्र्या सत्यां वृद्धि. समा द्वयोः ॥८८८॥

रागवृद्धिसे ज्ञानवृद्धिका असम्बन्ध— उक्त छन्दमे बताया था कि ज्ञानकी वृद्धिमे राग की वृद्धि नही होती, इसलिए परस्पर व्याप्ति नही है। इस छन्दमे बतला रहे है कि रागादिक की वृद्धिमे ज्ञानकी वृद्धि नही होती, इसलिए व्याप्ति नही है। राग बढे तो ज्ञान बढ़े, ऐसी व्याप्ति नही है। अपनी-अपनी सामग्री मिलनेपर अपनी-अपनी वृद्धि होती है। एक साथ भी बढ जाय, किसी पुरुषमे राग भी बढ गया, ज्ञान भी बढ़ गया। यद्यपि यह सीमातोड बात न निभेगी कि पूरा राग हो जाय और पूरा केवल ज्ञान हो जाय, मगर जैसे प्रायः देखते है कि कोई विद्यावान है, बडा जानकार है और बडा कषायवान भी है, राग भी बहुत बडा है और ज्ञान भी बहुत बडा है जितनेको यहाँ लोग समझते है। तो देखो बन तो गया कि राग भी बढा, और ज्ञान भी बढ़ा। अलकारसे कहो कि किसी विद्वानमे राग और ज्ञान इन दोनोकी होड लग रही है। तो ऐसी स्थिति जहा होती उसे निरख करके आप देखें तो यह कहेंगे कि हाँ बढ़ तो गए दोनो, मगर वे व्याप्तिके कारण नही बढे। राग बढ़े तो ज्ञान बढे, ऐसी व्याप्ति के कारण नही बढे। राग बढनेके कारण और हैं, ज्ञान बढ़नेके कारण और है। रागादिककी वृद्धिमे ज्ञानकी वृद्धि नही है। तो यहा भी ज्ञानमे और रागमे व्याप्ति नही है।

ज्ञानेऽथ वर्धमानेपि हेतोः प्रतिपक्षक्षयात् ।
रागादीना न हानि स्याद्धेतोर्मोहोदयात्सत ॥८८६॥

ज्ञानवृद्धि व रागादिवृद्धिके कारणोंकी भिन्नताका विवेचन—ज्ञान कही वढ रहा है, क्यो बढ रहा है ? ज्ञानका आवरक जो कर्म है उसका अभाव हो रहा है, तो ज्ञान वढ रहा हो, इतनेपर भी अगर मोहका उदय है तो रागकी हानि नही देखी जाती । पूर्व छन्दके वर्णन का इसमे समर्थन किया जा रहा है । किसी जीवके मोहका उदय है तो राग कैसे कम होगा ? राग भी बढ़ रहा और ज्ञानावरणका अभाव भी चल रहा है, क्षयोपशम विशेप चल रहा है तो ज्ञान भी बढ़ रहा, तो कारण इसके अलग-अलग है, ज्ञानावरणके क्षयोपशमसे ज्ञानकी वृद्धि है और मोहके उदयसे रागादिककी वृद्धि कह लो अथवा हानिका अभाव कह लो तो ऐसा राग और ज्ञान ये भिन्न-भिन्न चीजें है, इनमे व्याप्ति नही बनती । इस प्रकरणसे हमे शिक्षा क्या मिलती है कि हम यहाँ यह अनुभव करें कि जिससे ये रागद्वेप भाव इन भावोमे ही रह रहे है, इनका मेरे ज्ञानसे सम्बंध नही है । ज्ञानमे तो जानन ही है, मैं तो ज्ञानस्वरूप हू । मै तो जाननरूप ही रहता हुआ रहू, ऐसा रागमे और ज्ञानमे भेद समझ करके रागसे हटकर ज्ञानमे लगनेका पौरुप बनना है ।

यद्वा दैवात्तत्सामग्रचा सत्या हानि सम द्वयोः ।
आत्मीयाऽऽत्मीयहेतोर्या ज्ञेया नान्योन्यहेतुत ॥८९०॥

किसीमे रागहानि व ज्ञानहानि एकसमयमे होनेपर भी उन दोनोके कारणोंका पार्थक्य—उक्त दो श्लोकोमे यह बताया है कि ज्ञानकी वृद्धिमे रागकी वृद्धि नही, रागकी वृद्धिमे ज्ञानकी वृद्धि नही, इस कारणसे इसमे व्याप्ति नही बनती और अब बतला रहे है कि जैसे उक्त छदमे यह भी कहा था कि कदाचित् राग बढे, ज्ञान बढे, दोनों एक साथ हो जायें तो भी उनके कारण न्यारे-न्यारे है । इसी तरह दैववश रागकी हानि व ज्ञानकी हानि दोनो ही हो जायें एक साथ तो भी यह हानि अपने-अपने कारणसे है । इसमे भी व्याप्ति नही है । इस विषयको भी एक मध्यम रूपसे देखना होगा । यहाँ लोकमे देखते जाइये किसी-मे कि ज्ञान तो नही है ज्यादा, मगर कपाय भी नही है ज्यादा, शान्त है, सीधे है और ज्ञान नही है तो देखो उस पुरुषमे ज्ञानकी हानि देखी गई और रागकी भी हानि देखी गई तो ऐसी हानि देखी जानेपर भी उनमें व्याप्ति न मान लेना कि रागमे और उपयोगमे व्याप्ति है । यह हानि तो अपने-अपने कारणसे हुई है । मोहका उदय तीव्र नही है, रागकी हानि है, ज्ञानावरण का क्षयोपशम नही है तो ज्ञानकी हानि है । यहा भी कारण दो है—और स्वरूपमे भी ज्ञान मे अपने ज्ञानस्वरूपमे हानि होती है, रागमे अपने राग स्वरूपसे हानि हो रही है, तो हानि दोनोंकी हुई । वहाँपर भी ये कारण-कार्य भाव न बताये जा सकेंगे कि उपयोगके कारण रागमे

हानि-वृद्धि है और जिससे फिर ज्ञानचेतनाका महत्त्व मिटाया जाय। यह सब न मानना, उपयोगसे सब कुछ मानना, यह सब ज्ञानचेतनाके महत्त्वको मिटाने वाली बाते है। तो यहां तक यह सिद्ध किया गया कि सम्यग्दृष्टि उसके अन्दर योग्यता है, उपयोग चाहे आत्मपदार्थको जान रहा हो, उपयोग चाहे परपदार्थको जान रहा हो। जिस आत्मामे सम्यक्त्व जगा है, अनन्तानुबधी कषायका अभाव हुआ है उस जीवके जो सम्वर निर्जरा है। जो गुण है वे होते ही है। उनमे विघात परोपयोगके कारणसे नही है।

व्याप्तिर्वा नोपयोगस्य द्रव्यमोहेन कर्मणा।
रागादीनान्तु व्याप्ति स्यात् सविदावरणै सह ॥८६१॥

उपयोगकी द्रव्यकर्मके साथ भी व्याप्तिका अभाव—अब तक जो वर्णन आया है वह उपयोगके सामने अनेक आत्मभावोको रखकर वर्णन किया है। उपयोगकी सम्वर निर्जरामे व्याप्ति नही, उपयोगकी रागादिक भावोके व्याप्ति नही और उसी प्रसगमे कर्मबन्धकी भी बात कही। अब यहा कह रहे है कि जैसे रागादिक भावोके साथ उपयोगकी व्याप्ति नही है उसी प्रकार द्रव्य मोहके साथ भी उपयोगकी व्याप्ति नही है। द्रव्यमोह याने मोहनीयकर्म तथा द्रव्यमोह क्या ? मोहकर्ममे, उदयावस्थामे जो उसमे परिणति होती है मोहन वह भी द्रव्यमोह है। जैसे जीवमे क्रोध, मान परिणति होती है इसी तरह उन प्रकृतियोमे भी क्रोधन आदिक परिणतियाँ होती है, लेकिन वह क्रोधन परिणमन उनके माफिक है। जीवमे क्रोधन जीवके ढगके है। कर्मको उनका अनुभवन नही, ज्ञान नही। कर्म है, जड है, हुआ जो सो वह हुआ। हुआ अवश्य, नही तो विपाक किसका नाम है ? वह भी द्रव्यमोह है। तो इस उपयोग की व्याप्ति द्रव्यमोहके व कर्मकी किसी भी परिणति और स्थितिके साथ नही है। स्वरूपभेद होनेसे उपयोगमे उपयोग है, द्रव्यमोहमे द्रव्यमोह है, उसके साथ व्याप्ति नही है। इसी वर्णन को जब बडी भेददृष्टिपूर्वक सुना जाता है तो उसे प्रदेशभेद जैसा दिखने लगता है और उसी स्थितिमे यह अवधारण बनता है कि ज्ञानमे और रागमे प्रदेशभेद है, एकपना कैसे हो सकता है ? तो इस प्रकार इस उपयोगका इन रागादिक भावोके साथ, रागादिक भावोके कारणभूत प्रक्रियाके साथ व्याप्ति नही है। उपयोग उपयोग है, राग राग है। देखिये—यहा भेदविज्ञान के चरम छटा समझ लीजिए, भेदविज्ञानकी एक उत्कृष्ट पद्धति समझ लीजिए। जिसने अपने आपके भीतर राग और ज्ञानमे भेद डाला है भेदज्ञानी वह है। यो तो गांवोमे लोग भी कहते रहते है कि आदमी मर गया, मिट्टी यहां रह गयी, जीव चला गया, इतने मात्रसे क्या वे भेद-ज्ञानी है। हम आप कहते रहते है कि शरीर न्यारा है, जीव न्यारा है, कर्म न्यारे है जीव न्यारा है और ये रागादिक भाव निराले है, यह मैं उपयोग स्वरूप ज्ञानस्वभाव यह मै निराला हू। यहां जिसने भेद किया और भेद सचमुच किया उसका चिह्न यह है कि उन

विभावोसे उपेक्षा, निवृत्ति अवश्य होती है। तो ऐसे उन रागादिककी निवृत्तिके साथ अविनाभाव रखने वाला जो ज्ञान है, ऐसा भेदज्ञान जिसके हुआ है ज्ञानी पुरुष वह है और ऐसे ज्ञानी को लोकमे फिर कोई लगाव नही रहता। इस तरह यह सिद्ध किया गया कि उपयोगकी व्याप्ति द्रव्यमोहके साथ भी नही, भावमोहके साथ भी नही, किन्तु एक जिज्ञासा हो सकती है कि रागादिककी व्याप्ति ज्ञानावरणके साथ तो होगी। अब उस जिज्ञासाका समाधान सुनिये।

अन्वयव्यतिरेकाभ्यामेषा स्याद्विषमैव तु।
न स्यात् क्रमात्तथाव्याप्तिर्हेतोरन्यतरादपि ॥८६८॥

ज्ञानावरणादिके साथ रागादिकी समव्याप्ति न रहनेका समर्थन—जीवकी जब मोहमय अवस्था होती है तब उसके लिए अन्दर बिल्कुल अधेरा है और बाहर जो कुछ समझते है तो वह सब स्वप्न अथवा उन्मत्त जैसी चेष्टा है। जैसा नही है वैसा समझता है। देहको मानता है कि यह मैं है, इन्द्रियको मानता है कि ये मेरे सुखके साधन है, विषयसुखोको मानता है कि ये मेरी विभूतियां है, किन्तु जब सम्यक्त्वका अभ्युदय होता है उस समय इसको अपने अनन्तकाल तककी भूलका कुछ पछतावा आता है। अहो, मैने व्यर्थ ही भ्रम ही भ्रममे अब तक अनन्त भव बिताये, क्लेश ही क्लेश सहा, जन्ममरणके सकट सहे। अहो, मेरे आत्माका स्वरूप तो आनन्दमय है। यहाँ कष्टका क्या काम ? मैं अमूर्त हू, ज्ञानज्योतिस्वरूप हू। इसमे आकुलता कहाँ पडी है ? आकुलता तो भ्रमसे बतायी है। तो जिस जीवके सम्यक्त्वका अभ्युदय होता है उसके अन्त· अनाकुलता वर्तती है। ऐसे जीवकी यहाँ चर्चा चला रहे है कि देखो इस सम्यग्दृष्टि जीवके भीतरमे ज्ञानचेतना तो जग गई, अब कोई भी बाह्य पदार्थ इसको लुभा नही सकता, मोहित नही कर सकता। फिर भी यह तो सम्भव ही है कि इस ज्ञानीका उपयोग कभी आत्माको जाननेमे भी लगता तो कभी परद्रव्यको जाननेमे भी लगता, किन्तु यहाँ ग्रन्थकार यह बतला रहे है कि सम्यग्दृष्टि जीव परपदार्थको भी जाने तो भी उससे गुणोमे हानि नही आती और स्वको जाने तो उससे कही लब्धि और योग्यतासे आगेका गुणोत्कर्ष नही बनता। इसी प्रसगमे बहुत कुछ चर्चा होनेके बाद अब यह बतलाया जा रहा है कि देखो—रागादिक दोष होते है तो मोहके उदयसे होते है और ज्ञान जो हो रहा है वह ज्ञानावरणके क्षयोपशमसे हो रहा है तो राग और ज्ञान इन दोनोके कारण जुदा-जुदा है। यह बात तो अभी बता दो गई थी। अब यहा गुण और दोष क्या कि रागादिककी जिस ज्ञानके साथ व्याप्ति नही है कि ज्ञानके कारण राग हो, रागके कारण ज्ञान हो। जहा-जहा राग हो वहाँ वहाँ ज्ञान हो याने रागवृद्धिके साथ ज्ञानवृद्धि हो, यह नियम नही बनता और यह भी नियम न बन सकेगा कि रागहानिके साथ ज्ञानहानि हो। अब यहा यह बतला रहे हैं कि रागादिक की ज्ञानावरणके साथ भी व्याप्ति नही है, याने जहाँ रागादिककी वृद्धि हो वहा ज्ञानावरणकी

वृद्धि हो, जहा ज्ञानावरणकी वृद्धि हो वहां रागादिककी वृद्धि हो, यह भी व्याप्ति नियमतः नही बनती, यह सब बताया जा रहा है एक साधारण लोगोमे जैसा देखा जाता है उसके अनुसार। तो इन दोनोमे भी समव्याप्ति नही है, इसीको सिद्ध करेंगे।

व्याप्तेर्रासिद्धिः साध्यात्र साधन व्यभिचारिता।
सैकस्मिन्नपि सत्यन्यो न स्यात्स्याद्वा स्वहेतुत ॥८९३॥

व्यभिचारिता होनेसे व्याप्तिकी असिद्धिकी सिद्धि—जहां व्यभिचार पाया जाय, एक के होनेपर दूसरा न हो तो वहां समव्याप्ति नही बना करती। तो समव्याप्ति नही है, इसका हेतु है कि व्यभिचार देखा जाता है। यदि रागादिक और ज्ञानावरण कर्म इनमे समव्याप्ति मानी जाय तो व्यभिचार दोप आता कि देखो—ज्ञानावरण कर्मके रहनेपर रागादिक नही भी रहते है। करणानुयोगकी दृष्टिसे १०वें गुणस्थानसे ऊपर १२वे गुणस्थानमे ज्ञानावरण तो है, पर रागादिक नही है। और यहा लोकमे भी ऐसा देखा जाता है कि जो जीव ज्ञानमे बढ़े तो नही है, किन्तु रागादिक उनके कम पाये जाते है। ज्ञानावरण कर्मके रहनेपर रागादिक भाव नही होते और होते है, लेकिन वे अपने कारणसे होते है। कारण उनका जुदा-जुदा है, इस कारण समव्याप्ति नही है। बात यहा यह समझना संक्षेपमे कि हम और आप लोगोका कल्याण बन सकेगा तो आन्तरिक स्वच्छतासे ही कल्याण बनेगा। हम विद्यासे बढ़ जाये इतने से हममे कल्याणकी बात न आ जायगी। विद्या तो एक शिक्षा है, लौकिक काम है, जान गए। जैसे बहुतसे विषय पढ़े जाते है, एक थोडासा धर्मकी बातोको भी पढ लिया, वह यद्यपि हमारे कल्याणका कारण तो है, मगर वास्तविक कारण है तो कषायोंका अभाव। तो कषायो का अभाव हो, इसके लिए हमारा प्रयास होना चाहिए। भ्रम और कषाय—इन दो बातोको छोड़ें। ज्ञान हमारा कम रहे उससे हम कुपथमे न हो जायेंगे, पर भ्रम रहेगा तो कुपथमें हो जायेंगे। एक छोटीसी कहानी है कि एक बुढियाके दो बालक थे, एकको कम दिखता था, लेकिन सही दिखता था और एकको दिखता तो था खूब, लेकिन पीला-पीला दिखता था। बुढिया अपने दोनो बेटोको वैद्यके पास ले गई। वैद्यने दोनोको एक ही दवा दी। (बहुतसी दवायें ऐसी भी होती है कि जो कई रोगोको दूर करती है) तो वैद्यने एक ही दवा दोनोंको दी जो कि बिल्कुल सफेद थी। उस दवाको चांदीके कटोरेमे, गायके दूधमे डालकर दोनो बेटोको दवा पीनेको वैद्यने कहा। बुढ़िया मा ने वैसा ही किया। तो जिस बेटेको कम दिखता था, मगर सही दिखता था उसने तो दवा पी लिया और जिसे तेज दिखता था, मगर पीला दिखता था उसने दवा पीनेसे इन्कार कर दिया। बोला कि अरी मा क्या मै ही तेरा दुश्मन हुआ? अरे मुझे पीतलके गिलासमे, गायके मूत्रमे, यह क्या विष जैसा मिलाकर दिया? उसे तो पीला ही दिखता था न, सो वे सारी सफेद चीजें उसे पीली दिखी। तो उसने दवा न पिया

जिससे उसकी आखें ठीक न हो सकीं, और जिसे कम दिखता था उसकी आँखें ठीक हो गई। तो ऐसे ही ज्ञानमे चाहे थोडी कमी हो, लेकिन भावोमे निर्मलता हो तो पार हो जायेंगे, यह ज्ञान भी हमारा बढ जायगा। और यदि भीतरमे कषायोकी गांठ नही निकाल रहे हैं, भ्रम बना है तो उससे इस जीवका भला नही होनेका। तो गुणोत्कर्ष होता है तो वह सम्यक्त्व और चारित्रके कारण होता है। यह विषय यहाँ मुख्यतासे चल रहा है।

व्याप्तित्व साहचर्यस्य नियमः स यथा मिथः।
सति यत्र य स्यादेव न स्यादेवासतीह यः ॥८९४॥

व्याप्तिकी साहचर्यनियमरूपमें सिद्धि—व्याप्तिकी बात बहुत छन्दोमे चली है, उसका यहा लक्षण बताया जा रहा कि व्याप्ति कहते है साहचर्यके नियमको कि जिसके होनेपर जो हो, जिसके न होनेपर जो न हो, यह उन दोनोमे व्याप्ति कही जाती है। जैसे सम्यक्त्वमे और सम्यक्त्वके कालमे होने वाली सम्वर निर्जरामे व्याप्ति है, ऐसी सम्वर निर्जरा है वहाँ सम्यक्त्व, जहाँ सम्यक्त्व है वहाँ यह सम्वर निर्जरा है। इसका नाम हुआ समव्याप्ति, मगर रागादिकमे व उपयोगमे या ज्ञानावरणमे समव्याप्ति नहीं है, इसलिए उपयोग न रागादिको बढानेका कारण है, न इसकी रागवृद्धिसे व्याप्ति है और न इस ज्ञानके उपयोगमे ज्ञानहानिसे व्याप्ति है, किन्तु जब दोनोमे कारण अलग-अलग है, तो दोनोके स्वरूप अलग-अलग हैं। तो भाई देखो जब सही भेदविज्ञानमे हम चल रहे हो तो भीतर निरख लो यहाँ रागकी धारा और ज्ञानकी धारा दोनो चल रही है अर्थात् ज्ञान भी चल रहा है, राग भी चल रहा है तो उसमे यह समझें कि रागका स्वरूप तो रज्जता है, और ज्ञानका स्वरूप जानना है। राग अपने रगनेके हेतुसे हुआ है और ज्ञान अपने जानन हेतुसे हुआ है। रागमे ज्ञान नही है, ज्ञानमे राग नही है, जानना काम ज्ञानमे ही बनेगा और रगने जैसा काम रागमे ही बनेगा। इन दोनोमे स्वरूपभेद निरखो और रागको वैभाविक जानकर, परभाव जानकर उपेक्षा करें और ज्ञानको अपना निज तत्व जानकर उसको ग्रहण करे।

मा समा रागसद्भावे नून बन्धस्य सभवात्।
रागादीनामसद्भावे बन्धस्याऽसभवादपि ॥८९५॥

व्याप्तिः साविषमा सत्सु सविदावरणादिषु।
अभावाद्रागभावस्य भावाद्वाऽस्य स्वहेतुत ॥८९६॥

ज्ञानावरणमे व रागादिभावमें व्याप्ति न होनेका युक्तिपूर्वक निर्णय—ज्ञानावरणादिक कर्मोमे और रागादिक भावोमे यह विषम व्याप्तिका प्रकरण चल रहा है। ज्ञानावरणादिक कर्मोके रहनेपर रागभावका अभाव भी पाया जाय और सद्भाव भी पाया जाय, दोनो ही

स्थितियाँ होती है और इसका हेतु है कि उनका कारण अलग-अलग है। ११वें १२वें गुण-स्थानमें ज्ञानावरणका सद्भाव है, पर रागका अभाव है और नीचे ज्ञानावरणका सद्भाव है, रागका भी सद्भाव है। तो ज्ञानावरण कर्मके रहनेपर रागभाव रहे ही रहे, ऐसा नियम नही देखा गया, इस कारण इसमे विषमव्याप्ति है। समव्याप्ति तो तब कहलाती जब ज्ञानावरणके सद्भावमे रागादिक भाव अवश्य ही हो। देखिये—यद्यपि ऐसा कारण है कि हम राग करते है, ज्ञानावरण कर्म बँधता है, उसकी सत्ता रहती है, निमित्तनैमित्तिक भाव है, पर सद्भावमे व्याप्ति अन्त तक न निभ सकी कि जहाँ तक ज्ञानावरण पाया जाय वहाँ तक रागभाव मिले ही मिले। बध होता रहता है। रागादिक भावोके होनेपर सत्ता आ गयी, रागादिक नही भी रहे तो भी कर्मका आस्रव अथवा उसे बन्ध (प्रकृति प्रदेशबन्ध) कह लीजिए होता रहता है। तो इसमे बतला रहे है कि इन सबके स्वरूपको सही-सही जाने। रागका स्वरूप क्या है, ज्ञानावरणका क्या है, अनुभव उपयोग क्या है? सबके स्वरूपको पहिचानें और पहिचानकर करना क्या है? तो मूल बात कर्तव्यकी यह है कि अपने आपमे यह समझ लें कि यह रागभाव मेरा भाव नहीं औपाधिक भाव है। इसका कारण जुदा है, यह मेरे कारणसे नही होता। एक बात यहाँ यह समझनी चाहिए कि ज्ञान जितना भी होता है हम आपको हुआ क्षयोपशमके कारणसे इस समय, लेकिन वह ज्ञान मेरे गुणका स्वरूप है, मेरे ही हेतुसे उत्पन्न हुआ है। जितना अवकाश मिला, जितना ज्ञानावरणका हटाव हुआ उतना-उतना ज्ञान बना, मगर ये रागभाव तो हटावसे नही होते, ये उपाधिके सद्भावसे होते है। तो ज्ञान मेरा स्वभाव है, राग मेरा स्वभाव नही है, यही बात तो पहिचानना है।

मोही जीवोका निश्चयतः लगावका विषय विभाव—मोही जीवोको लगाव होता है किसमे? आप कहेंगे कि मकानमे, धन-दौलत आदिमे। अरे मकान, धन-दौलत आदिमे तो किसीका लगाव हो ही नही सकता, चाहे कैसा ही मोही हो, किसी परपदार्थमे वह लगाव कर ही नही सकता। वस्तुके स्वरूपको कोई तोड सकता है क्या? अच्छा तो फिर उस मोहीका लगाव किसमे है? तो इसमे सत्य बात यह है कि उस मोहीका लगाव है अपनी विभाव परिणतियोंमे। जो विकल्प उठा उस विकल्पको ही माना कि यह मैं हू और उस विकल्पमे ही आत्मस्वरूपका अनुभव करता है, उसे तोडना नही चाहता, उससे हटना नही चाहता। लगाव तो निश्चयतः यहाँ है। जब यहाँ लगाव है तो लगावकी मुद्रा बनती है नोकर्मका आश्रय लेनेमे। तो जब इस मोह रागभावमे लगाव हुआ तो उसकी मुद्रा बनी, किसी बाह्य पदार्थको उपयोगके लेनेसे कि मकान मेरा है, धन मेरा है यह बहुत अच्छा है इस प्रकार उन बाह्य पदार्थोंको आश्रयभूत होनेके कारण कहा जाता है कि मोहीका धन मकान आदिकमे लगाव है। अरे यही लगाव देखो—यहाँका लगाव तोडोगे तो वह लगाव टूट जायगा और वहांका

लगाव न तोडोगे तो कितना ही उत्तम करो, उन बाह्य पदार्थोंका वह लगाव टूट न सकेगा। रूठ गए, गुस्सा आ गई, घर छोड दिया, जगल चले गए, कही रहने लगे, भले ही ऐसा हो जाय, पर मोह न टूटेगा। उस ओरसे उपयोग भी हटा ले तो अन्य जगह मोह होने लगेगा। यहां भेद किए बिना हम उसकी विडम्बनाका लगाव तोड नही पाते। अपने अन्तःस्वरूपमे देखें तो मै ज्ञानमात्र हू, ज्ञानस्वरूप हू, रागभाव मेरा स्वरूप नही है। इस रागका मैं लगाव न रखू, इन विकल्पोका मैं लगाव न रखू। देखो—कोई पुरुष लोकमे यदि नामवरीका यत्न कर रहा है तो उसका लोगोमे लगाव नही है। किन्ही लोगोसे बडा स्नेह भरा वर्ताव करता हो तो भी उसका लोगोमे लगाव नही है। उसका लगाव अपने विकल्पमे है। तो इस विकल्प से अपना लगाव मिटे, ऐसा ज्ञान भीतर जागृत हो तब ही हम आपका कल्याण सम्भव है।

मनुष्यजीवनकी सफलताका उपाय कर लेनेका अनुरोध—देखिये यह मनुष्यजन्म पाना कितना दुर्लभ है? जगतके जीवोपर दृष्टि पसारकर समझ लो—कैसे-कैसे जगतमे जीव है? कीडा-मकोडा, पेड-पौधे, पशु-पक्षी आदिक कितनी तरहके जीव पाये जाते। कैसा दुःखी हैं, विह्वल है? ऐसे ही हम आपकी भी तो दशा थी। ऐसे-ऐसे जन्ममरण करने पडते है इन ससारियोको। उन जन्ममरणोसे निकलकर हम आज मनुष्यजन्ममे आये है तो समझ लो कि इसका कितना महत्त्व है? ऐसा महत्त्वशाली मनुष्यभव पाकर जहाँ हम अन्त ज्ञानज्योति जगाकर सदाके लिए ससारसकटोसे छूटनेका उपाय बना सकते है। ऐसा श्रेष्ठ मनुष्यजन्म पाकर यदि हम इसे यो ही गप्प-सप्पमें गँवा दें तो मरण करके ऐसे ही जीवोमे जन्म लेना पडा तो बताओ क्या शान रही, क्या लाभ रहा? दो दिनकी चाँदनीमे चकाचौधमे क्यो आ जाते है? क्यो इसे सर्वस्व मान बैठते है? क्या है? धन मकान आदिक भी क्या है? शरीर भी क्या है? ये भी किसी दिन लोगोके द्वारा जला दिए जायेंगे या कही पडा रह जायगा। इसके साथ भी जब हमारा सम्बध नही तो धन वैभवके साथ जो इतना सम्बध मान रखा, इस भूलका फल कौन भोगेगा? तो ऐसा दुर्लभ जन्म पाया है तो ऐसी हिम्मत बनाओ, इन बाह्य पदार्थों के प्रति ऐसी उदारता वर्तो, इन लोगोके प्रति ऐसी उदारता वर्तो कि बाह्यका जो हो सो हो, हानि हो तो चिन्ता न करो, लाभ हो तो उसमे मौज मत मानो, उसके ज्ञाता रहो। ये सब पुण्यके फल हैं, यह सब ससार की लीला है। कोई भूखो मर रहा, कोई करोडपति बन रहा, इसमे क्या हर्ष-विषाद? अरे उपयोग लगाओ अपने आत्महितकी ओर जैसे हो वैसे। मुझे भीतरकी ज्ञानज्योति प्रकट करनी है अपने हितके लिए, ससारके सकटोसे छुटकारा पानेके लिए, ऐसा एक अन्तः साहस बनावे तो यह जीवन सफल हो जायगा। अगर न बने तो जैसे जन्म-मरण करते आये, तैसे और भी देखो। जिन्दगीभर मिला क्या? मोहमे आकुलित रहे, मरण किया और आगे फिर जन्ममरणके दुःख भोगते रहेगे। ऐसी स्थिति मजूर न करो। अपने

आपपर दया करके कुछ समय आत्मानुभवके लिए लगावें, ऐसे साधन बनावें। जैसे वैराग्य बने, ज्ञान बने उस प्रकारकी अपनी वृत्ति बनावें। और सफलता तब समझिये कि जब आपको अपने भीतर उठने वाले रागादिक भावोसे भी उपेक्षा हो जाय। ये तो मेरी बरबादीके लिए आये है, ये मेरे स्वरूप नही है, इनसे मुझे हटकर अपने आपके एक ज्ञानस्वरूपमे अनुभवमे लगना है, ऐसा जब आपका चिन्तन बने तब समझिये कि हाँ हमने इस जीवनकी सफलता पायी है।

अव्याप्तिश्चोपयोगेपि विद्यमानेष्टकर्मणाम्।
बन्धो नान्यतमस्यापि नाबन्धस्तत्राप्यसति ॥८९७॥

उपयोगके होनेपर भी कहीं कहीं कर्मबन्ध न देखा जानेसे उपयोग व कर्ममें व्याप्ति का अभाव—इस पदमे बतला रहे है कि उपयोगकी द्रव्यकर्मके साथ व्याप्ति नही है। उपयोग हो तो वहाँ कर्म बँधे, ऐसा नियम नही है। उपयोग जुदी वस्तु है, कर्म जुदे पदार्थ है। एक बात यहाँ और समझना है कि गुणस्थानोके जो नामकरण हैं और उन गुणस्थानोके जो कारण है उन कारणोमे आप एक ज्ञानकी कारणता कहीं न पायेंगे। ज्ञानके कारण कोई गुणस्थान बनाये गए है, ऐसी बात कही न मिलेगी। मिथ्यात्व गुणस्थान बना तो दर्शनमोहके उदयसे। अब चलते जाइये—अविरत सम्यक्त्व बना है तो दर्शनमोहके उपशम आदिकसे। और आगे बढे, छठा, ७वा, ८वा आदि गुणस्थान बने तो चारित्रमोहके क्षयोपशमसे, अभावसे, उपशमसे, क्षयसे। सयोगकेवली गुणस्थान बना तो योगके निमित्तसे याने ज्ञान आत्माका एक ऐसा आत्माके गुणोमे साधारण गुण है जो उस ज्ञानके कारण न यहाँ बन्ध हो रहा, न सम्वर हो रहा, न निर्जरा हो रही, वह ज्ञान तो एक निष्पक्ष बैठा हुआ है। जितनी हम आपकी गडबडी हो रही है वह मिथ्यात्व व कषायसे हो रही है और जितना सुधार हो रहा है वह सम्यक्त्व चारित्रके कारण हो रहा है, फिर भी हम एक ज्ञानके प्रयोगके सिवाय और कर क्या सकते है? सम्यक्त्वके साधन बनाया सम्यक्त्व बने, चारित्रके साधन किया चारित्र बने, जो भी कुछ आपका उत्कर्ष है उन सबमे ज्ञान सहायक है, इतनेपर भी ज्ञानकी साधारणताके कारण यहाँ बन्धन और अबन्धनकी व्यवस्था नही बन सकती। तो उपयोगके साथ भी द्रव्यकर्मकी व्याप्ति नही है। सिद्ध अवस्थामे शुद्धोपयोग है, पर वहाँ बध नही, मिथ्यात्व अवस्थामे शुद्धोपयोग नही, वहाँ बध है तो उपयोगसे कर्मोकी व्याप्ति नही बन सकती।

यद्वा स्वात्मोपयोगीह क्वचिन्नानुपयोगवान्।
व्यतिरेकावकाशोपि नार्थादत्रास्ति वस्तुतः ॥८९८॥

ज्ञान और रागकी जुदी-जुदी लखन—देखिये—हम आप कर क्या रहे है? हर जगह जाननेका काम कर रहे और जाननेके साथ-साथ करते है रागद्वेष मोह तो वहाँ यह विदित होता है कि हमारा जानना बिगड़ गया है, हम उल्टा जान रहे है। एक भगोनेमे पानी है

और आपको कोई कपडा रगना है तो रग डाल दिया पानीमें तो आपको सारा पानी रगा हुआ दीखेगा, लेकिन वहाँ विचार करके देखो तो क्या पानी रग गया ? हाँ रग तो गया, अगर नही रगा है तो इस भगोनेके किसी कोनेमे बताओ कि यहाँ पानीका एक बूद बैठा है क्या साफ, स्वच्छ, सफेद ? नही है ।' अब जरा गहरी दृष्टिसे देखो तो क्या पानी रग गया ? पानी पानीमे जिस प्रकार है सो है, स्वरूपतः और रगमे वह रग भरा है, इसमे कुछ जरा मोटीसी बात देख लो—भीतपर कलई पोत दी तो लोग कहते है कि भीत अब रग गयी । पीला रग पोत दिया तो भीत पीली हो गयी । बताओ भीत पीली हो गई क्या ? अरे भीत नही पीली हुई, भीतमे भीत है, रगमे रग है । तभी तो कभी-कभी देखा होगा कि उस भीतमे से रगकी पपडीसी निकल जाती है और भीत दिखने लगती है । जैसे रंगमे रग है, भीतमे भीत है, फिर भी लोग कहते है कि भीत रग गई, ऐसे ही जलमे रग डाल दिया, जल रग गया तो लोग कहते है कि जलका रग बदल गया, रग गया । ज्ञानके साथ रागद्वेष लगे हुए हैं उन रागद्वेषोके कारण चूँकि एक ही आधारमे है ना दोनो बातें, तो वहाँ ऐसा जँचने लगता है कि ज्ञान बिगड गया, पर ज्ञानका जितना काम है उतना स्वरूपकी ओरसे देखो तो ज्ञानमे न बिगाड है, न सुधार । जितना बिगाड-सुधार है हम आप सबका वह एक भीतरी कषाय और अकषाय भावसे है । तो हम जब अपने आपको इस तरह पा लेंगे कि मेरा तो मात्र ज्ञानस्वरूप है, जाननमात्र है, प्रतिभासमात्र है वह तो मेरे गुणका अश है और जितनी यह गंदगी है, कीचड है, ये सब औपाधिक चीजें है । मैं नही हू वह, मेरा स्वरूप नही है वह, इस प्रकार भीतरके विविक्त रागादिकोसे निराला एक ज्ञानमात्र आत्मतत्त्वको हम जितने भी ढगो से जान सकें, जाननेका यत्न करे ।

स्वरूपतः जीवोको समान जानकर उनमे शत्रुता बन्धुताका भाव न लानेकी नीतिमे आत्मलाभ—देखो—जीवनमे उत्कर्षके पास पहुचाने वाली एक नीति है, वह नीति आत्मनीति है । सब जीवोको स्वरूपत समान मानकर इन जीवोमे बन्धुता और शत्रुताकी श्रद्धा न रखें । जहाँ यह नीति आ जायगी वह अपने आत्माका उत्कर्ष कर लेगा । स्वरूपत. देखो कौन जीव मेरा विरोधी है, विरुद्ध है ? यह भी कर्मका नाच है, स्नेह है वह भी कर्मका नाच है । जीव स्वरूपतः जो है सो है । उस बेचारेका क्या यह अपराध है ? स्वरूपत देखिये—जो अपराध है वह सब कर्मका नाच है । ऐसे अन्त. स्वरूपको निरखकर सर्वजीवोमे शत्रुता और बन्धुताका जो भाव नही रखता, ऐसी जिसकी श्रद्धा निर्बन्ध बन गयी है, ऐसा जीव ससार-सकटोसे पार अवश्य हो जायगा और जो यहाँ परिचय रख रहा है, यह मेरा है, यह गैर है, यह विरोधी है, जो इस तरहकी चित्तमे श्रद्धा जमाये हुए हो उसमें उत्कर्ष कहाँसे आयगा ? तो ये सारी बातें करनेकी हैं और अपने आपपर दया करके करनेकी हैं । इसमे कही दूसरे जीवोपर ऐहसान

आये ऐसी कोई बात नही। तो खुदके भलेके लिए अपने आपमे खुद ऐसी ज्योति जगाना चाहिए।

सर्वतश्चोपसहार: सिद्धश्चैतावन्मात्र वै।
हेतुः स्यान्नोपयोगोय दृशो वा बन्धमोक्षयो ॥८६६॥

उपयोगकी सम्यक्त्व, बन्ध व मोक्षमे अकारणताका उपसंहार—अभी तक जितना कथन किया गया था उसका सारांश यह है कि उपयोग सम्यग्दर्शन या बंध मोक्षका कारण नही है। उपयोग कहते है जाननेको। कुछ भी जानना—जैसे चौकी जाना, ईंट पत्थर जाना, यहँ उपयोग रहता है। आत्माको जाना, यह भी उपयोग कहलाया, परमात्माको जाना तो यह भी उपयोग हुआ। उपयोगका अर्थ है जानना। तो जो जानना मात्र है उससे न सम्यक्त्व होता है, न बन्ध होता है, न मोक्ष होता है, न सम्वर निर्जरा है, वह तो एक जीवमे साधारण तत्त्व है। तब सम्वर निर्जरा होती किससे है? सम्यक्त्व और चारित्रसे। कषाय न रहे, भ्रम न रहे, भीतरमे स्वच्छता प्रकट हो उससे सम्वर निर्जरा होगी है। यह प्रकरण किस बातपर चल रहा था और किस प्रसङ्गके लिए ये सब उत्तर दिये जा रहे थे, उस शकाको अब फिर दुहराते है।

ननु चैव स एवार्थो यः पूर्वं प्रकृतो यथा।
कस्याचिद्वीतरागस्य सद्दृष्टेर्ज्ञानचेतना ॥६००॥
आत्मनोऽन्यत्र कुत्रापि स्थिति ज्ञाने परात्मसु।
ज्ञानसञ्चेतनाया. स्यात् क्षतिः साधीयसी तदा ॥६०१॥

सम्यग्दर्शन व ज्ञानचेतनाका परिचय—शकाकारकी शका दुहराई जा रही है उससे पहिले कुछ समझने योग्य बातें सुनो—यहाँ इतने शब्दोका प्रयोग होगा। सम्यग्दर्शन, ज्ञानचेतना, उपयोगमयी ज्ञानचेतना, इनका यहाँ प्रयोग होगा तो इन तीनका पहिले अर्थ समझ लो। सम्यग्दर्शनका अर्थ है आत्मामे से विपरीत अभिप्रायका निकल जाना। जो मिथ्यात्व कर्मके उदयसे मोह लग गया था, भ्रम हो गया था, देहको आत्मा मान रहा था, परवस्तुओ से सम्बध कर रहा था—मै परका करने वाला हू, मै परका काम कर सकता हू, मै भोगको भोग सकता हूं आदिक जो विपरीत अभिप्राय लगा रखे थे वे अभिप्राय समस्त दूर हो जायें और उन अभिप्रायोके दूर होनेसे आत्मामें जो एक स्वच्छता, हल्कापन हो जाता है, बोझ नही रहता, ऐसी स्थिति आ जाय तो उसे कहते है सम्यग्दर्शन। ज्ञानचेतनाका क्या अर्थ है? आत्मा का जो सहज ज्ञानस्वरूप है उस ज्ञानमे यह मै हू, मैं इसको ही करता हू, इसी ज्ञानको भोगता हू, ज्ञानके सिवाय और कुछ नही है, ज्ञान ही मेरा स्वरूप सर्वस्व है। इस तरह ज्ञानमय अपने स्वरूपका सम्वेदन करना सो ज्ञानचेतना है। यहाँ आप दोनोका अर्थ सुनकर कुछ समझ

रहे होगे कि बात दोनो एकसी हुई और है भी बात दोनो एक। सम्यग्दर्शनमे भी स्वच्छता होना, ज्ञानचेतनामे भी स्वच्छता होना, बात दोनो एक है, लेकिन ज्ञानचेतनाका तो सम्बन्ध है उपयोगसे, ज्ञानसे और सम्यग्दर्शनका सम्बध है सम्यक्त्व गुणसे। इतना दोनोमे अन्तर है। हाँ अब प्रकृत बातपर आइये—ज्ञानचेतनाका अर्थ क्या हुआ ? ज्ञानमे यह मैं हू, इस प्रकार का सचेतन करना। जरा रुचिपूर्वक सुनिये—और मुझे ससार-सकटोसे छूटना है, उसका उपाय करना है, ऐसा मनमें भाव रखकर सुना जाय तो अपने आत्माकी बात अपनेको कठिन लगे, यह नही हो सकता। अपनी बात अपनेको कठिन कैसे लग सकेगी ? वह तो अपनी ही चीज है, अपनेमे है, परन्तु रुचि जब तक अपने आपके हितकी ओर न हो, विषयकषायोमे, धनमे, दूकानमे, परिवारमे, लौकिक इज्जतमे, ठाट-बाटमे यदि रुचि लगी हो तो फिर इस रुचिके फेरसे यहाँका सारा फेर हो जाता है। अत पहिले अपने आपके सकल्पको स्वच्छ बनायें। मेरी सही-सही जिन्दगी इस उपयोगमे लगे कि मेरे आत्माका हित हो। किसीसे अपने आपकी भलाई न होगी। तो ऐसा सकल्प हो, भाव हो तो अपनी बात अपनेको रुचेगी और समझमे आयगी। प्रकरण चल रहा था ज्ञानचेतनाका। हम हमेशा चेतते तो रहे, कुछ भी चेते। घर-मकान जाना तो, विषयोको भोगा तो, चेतनेका काम हम निरंतर करते हैं। जानते ही तो रहते है कुछ न कुछ, लेकिन अपने ज्ञानस्वरूपको छोडकर अन्य कुछ बाहरमे जाना अन्य कुछको चेता, तो उस जाननेका कोई फायदा नही होता। अपनेको इस तरह अनुभव करे कि मैं ज्ञानस्वरूप हू, ज्ञान ही मेरा सर्वस्व है, ज्ञान ही सदासे है, सदा तक रहेगा। ज्ञान ही मेरी दुनिया है, ज्ञान ही मेरा सारा कुटुम्ब है, ज्ञान ही मेरा सर्वस्व वैभव है, ज्ञानके सिवाय अन्य अणु मात्र भी मेरा कुछ नही है। धनकी तो बात ही क्या ? ऐसे उस सहज ज्ञानस्वभावको चेतें तो वह ज्ञानचेतना कहलाती है।

उपयोगमयी ज्ञानचेतना व लब्धिरूप ज्ञानचेतनाका परिचय—अब इसके बाद तीसरी बात और सुनो—जैसे हम इतनी चीजोको जानते है, अपने जानने योग्यको जान रहे है, मकान, भीत, पत्थर, पुस्तक, चौकी सबकी जानकारी हो रही है, मगर क्या एक साथ सबकी जानकारी बन रही है ? जितनी चीजे है उन सबको एक साथ समझ रहे हो। नही समझ रहे, मगर इन सबको जाननेकी आपमे योग्यता है कि नही ? है। तो सबको जाननेकी योग्यता तो है, मगर जान पाते है एक-एकको। तो इसे कहेगे लब्धि और उपयोग, याने बहुतसी चीजोको समझनेकी हममे योग्यता है वह तो है ज्ञानचेतना। ज्ञानको हम ऐसा समझे कि यह मैं हू, इस ज्ञानको ही करता हू, भोगता हू, ज्ञान ही मेरा वैभव है। ज्ञानको ही अपना सर्वस्व समझना, यह कहलाता है ज्ञानचेतना। ज्ञान भी योग्यता और उपयोगरूप दोनो किस्मसे परखे जाते हैं। जैसे इस मन्दिरमे जितनी चीजें है उन सबको आप जान लेते है कि नही ? जानते हैं। दर-

बाजा, किवाड, भीत, चटाई, दरी आदिक सब कुछ तो जान सकते है आप, मगर उपयोग जिसमे लगा हो, जान रहे है उस चीजको। जाननेकी योग्यता तो है सबके, जितना कि आप जान रहे है, जान सकते है, मगर जानते आप एक समयमे किन्ही एक-दो चीजोको। सबको तो नही जान रहे। तो सबको जाननेकी जो योग्यता है उसको कहते है लब्धि। सबको जाननेकी योग्यता बनती है ज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशमसे, और उपयोग कहलाया कब, जब कि उस पदार्थको जान रहे हो, और भी समझें। जैसे आप ४-५ भाषाओको जानते है—अंग्रेजी, हिन्दी, संस्कृत, उर्दू आदि, मगर पुस्तक बाँच रहे आप हिन्दीकी, तो योग्यता आपमे कितनी है? ४-५ भाषाओके जाननेकी और जान रहे है आप इस समय किसको? हिन्दीको। तो जिसमे उपयोग लग रहा, जिसे जान रहे है उसे तो कहेंगे उपयोग और जितनेकी योग्यता है उसे कहेंगे लब्धि। याने ज्ञानावरणका क्षयोपशम होनेपर जितने पदार्थोंको जाननेकी इसमे सामर्थ्य आयी बस उसे कहेंगे लब्धि। तो ऐसी ही बात ज्ञानचेतनामे घटित करे। ज्ञानचेतनाका अर्थ बताया कि ज्ञानमे ही, ज्ञानस्वरूपमें ही अपने आपके सर्वस्वका वेदन करना, सचेतन करना, अब यह बात लब्धिरूप भी है उपयोगरूप भी है, मानना है अपने ज्ञानस्वरूपको ज्ञान-स्वरूप आत्मा। अपने इस आत्मस्वरूपको हम जान सकते है, ऐसी हममे योग्यता हो, ऐसा क्षयोपशम बने और वह बनता है सम्यक्त्वके साथ-साथ। सम्यक्त्वके बिना नही, तो ऐसी योग्यताको कहते है लब्धिरूप ज्ञानचेतना। और जब हम ज्ञानस्वरूपका अनुभव कर रहे हो, स्वानुभव स्वोपयोग तब कहेंगे उपयोगरूप ज्ञानचेतना।

शंकाकारके अभिप्रायका स्पष्टीकरण—इतना समझनेके बाद अब शंकाकारका अभिप्राय सुनो—शंकाकारका यह अभिप्राय है कि मैने यह सुना था कि वीतराग सम्यग्दृष्टिके ज्ञान-चेतना होती है और ज्ञानचेतना समझ रहे थे उपयोगस्वरूप। याने ज्ञानस्वरूप निज आत्माका ज्ञान रूपसे ही अनुभव करनेको ज्ञानचेतना समझ रहे थे। इस समझके अनुसार शंकाकारका यह कहना था कि जब ज्ञानोपयोग आत्माको छोड़कर अन्य किसी पदार्थको जानता है तो वहाँ ज्ञानचेतना न रही, सम्यक्त्व भी न रहा, सम्वर निर्जरा भी न रहे, ऐसा अभिप्राय शंकाकार रखता था। उसे समझनेके लिए यह सब प्रयत्न हो रहा है।

सत्य चापि क्षतेरस्याः क्षतिः साध्यस्य न क्वचित्।
इयानात्मोपयोगस्य तस्यास्तत्राप्यहेतुता ॥६०२॥
साध्यं यद्दर्शनाद्धेतोर्निर्जरा चाष्टकर्मणाम्।
स्वतो हेतुवशाच्छक्तेर्न तद्धेतुः स्वचेतना ॥६०३॥

लब्धिरूप ज्ञानचेतनासे उत्कर्षकी बात समझ लेनेपर सब समस्याओंका समाधान—शंकाकारकी क्या शंका थी कि यदि उपयोगरूप ज्ञानचेतना न रहे याने जैसे चौकीको जानते

है तो यह उपयोगरूप चौकीका ज्ञान है और पीठ पीछे जितनी चीजें पडी है उनका है लब्धि-रूप ज्ञान। उसे हम जान नही रहे है तो ऐसी ही लब्धिरूप ज्ञानचेतना होती है और उपयोग-रूप ज्ञानचेतना है तो शकाकारकी शकाके उत्तरमे समझा रहे है कि भाई लब्धिरूप ज्ञानचेतना हो, सम्यक्त्व हो तो सम्वर निर्जरा होती रहती है। उपयोगरूप ज्ञानचेतना न भी हो याने सम्यग्दृष्टिका उपयोग किसी परपदार्थके जाननेमे चल रहा हो तब भी सम्वर और निर्जरा होती है, मोक्षका मार्ग उसके चल ही रहा है। तो यह शका न करना कि उपयोगमयी ज्ञान-चेतना न रही तो सब मिट गया, सम्यक्त्व भी मिटेगा, सम्वर निर्जरा भी मिटेगी, ऐसी बात नही। यहाँ ग्रन्थकार एक भीतरी स्वच्छताकी महिमाको बता रहे है, मिथ्यात्वके नष्ट हो जानेपर आत्माकी जो स्वच्छता प्रकट होती है उसकी अपूर्व महिमा है। तब ही समतभद्राचार्य कहते है कि सम्यक्त्वके समान श्रेयस्कर अन्य कुछ चीज नही है और मिथ्यात्वके समान विपदा और कोई चीज नही। मिथ्यात्व नाम किसका है? अपने आपकी जो दशा बन रही है, जो राग बन रहा है उस रागसे, उस कषायसे अपना न्यारा ज्ञानस्वरूप है, उसे न समझ सकना, ऐसी बेसुधीका नाम मिथ्यात्व है। जिसकी मुद्रायें बनती है कि देहको आत्मा मानना परपदार्थको अपना समझना। मिथ्यात्व नाम है एक अज्ञानका, बेसुधीका। अपना जो एक सहज ज्ञानस्वरूप है, अपने आपके सत्त्वसे जो अपनेमे स्वभाव पाया जाता है उसका प्रकाश न हो सकना, उसका ज्ञान न हो सकना, उसका अनुभव न हो सकना, यह है मिथ्यात्व।

सम्यक्त्वके होनेसे सम्पन्नता व मिथ्यात्वके होनेसे विपन्नताका निर्णय—भैया! यह निर्णय करना है कि मेरे ऊपर विपदा है तो मिथ्यात्व और कषाय ये दो प्रकारके भाव जो मुझमे होते है वही मुझपर सकट है, अन्य बातका सकट न समझें। कभी वैभव कम हो जाय याने बाहरी बातोमे कुछ भी कमी-बेसी हो उससे आत्माको कुछ लाभ-हानि नही है। धन बढ गया तो आत्मामे कौनसी वृद्धि हो गई? आखिर आगे मरण तो होगा ही, और फिर जैसे कर्म किया है उसके अनुसार तुरन्त ही निर्णय होगा। एक दो समयमे ही निर्णय होगा। जिस किसीकी इज्जत बनी है वह धीरे-धीरे मिटेगी, ऐसा यहाँ नही है। मरेके बाद तुरन्त जाना पडेगा। आज मनुष्य है और मरकर बन गए पेड तो कहाँ रही इज्जत? तो वहाँ कुछ धीरे-धीरेका काम नही है। तो ये सब जितने भी हमारे पतन है उनका कारण है मिथ्यात्व। अपने आपको सम्हालकर अपने आपकी रक्षा करना, यह प्रथम काम है। लडके हैं, स्त्री है, लोग हैं, उनके कर्म उनके साथ लगे है और उनके ही कर्मके उदयमे आप लोग उनके चाहे कुछ सेवक बने, नौकर बनें, लेकिन आप उनके कोई उत्तरदायी नही। आप अपने ही जिम्मे-दार हैं, ऐसा जानकर एक आत्महितके लिए उत्सुकता जगे और अपने आपमे भीतर सोचा करें तो आत्मज्ञान हो लेगा।

विषयरुचि न होनेपर ज्ञानसाधनाकी सुगमता—लोग सोचते है कि धर्मकी साधना कठिन है, ज्ञानकी साधना कठिन है, सम्यक्त्व पाना होगा कोई बडोका काम, इस तरह उन बातोको टाल देते है, लेकिन एक प्रयोग भी करके देखें—एक यही प्रयोग कर ले कि किसी क्षण तो जगतके सारे पदार्थोको अहित जान करके जब मेरे हितमे एक परमाणु भी न आयगा, मेरे काम कोई आ ही नही सकता है तो मैं अपने चित्तमे किसी भी परपदार्थको न बसाऊंगा। कुछ भी मेरे ज्ञानमे मत आये, सबका ख्याल छोड दें और ऐसे आत्मीय विश्रामके साथ एक क्षण भी बैठ जाये, एक क्षण भी ऐसा गुजारें तो जो बात कठिन समझी जाती हो वह सब आपके सामने आ जायगी, अनुभव हो जायगा, किन्तु जब रुचि लगी है मोह रागकी ओर तो आत्म के शुद्ध तत्वकी बात जानना चाहे, अनुभवना चाहे और उस पथमे लगना चाहे तो यह बात जरा कठिन है। कठिन क्या है ? परकी रुचिमे तो आत्माका प्रकाश पाना असम्भव है। वह दूर करना होगा और परकी रुचि दूर करनेके लिए कोई विशेष ज्ञानकी ज्यादा जरूरत नहीं है। जो भोग रहे है. जो आपने अनुभव पाया है, सबके साथ रह-रहकर वह ही अनुभव आपके लिए काफी है। सब समझा है कि सेवायें सबकी करे, लेकिन वहांसे मुझे फल कुछ नही मिलता। जिन्दगीभर सबकी खुशामदमे रहो, प्रसन्न करनेमे मरो, लेकिन अपने आपको वहांसे कुछ फल नही मिलता, बल्कि जरासा बिगाड हो जाय तो उल्टा वे अपराध ही उमड़ते हैं। तो ऐसे विचित्र संसारमे मुझे चित्तमे बसाने लायक कौन है ? एक बार सबका ध्यान छोडकर ऐसे विश्रामसे बैठ जाये कि अपने आप जो ज्ञानमे आये सो आया करे। मुझे जान-बूझकर तोड-ताडकर ठिकाने बना-बनाकर मुझे कुछ नही सोचना है। स्वयं जो ज्ञानमे आये सो आये, ऐसो एक हिम्मत बनाकर थोडे समयको ही सबको भुला दें तो वह ज्ञानस्वरूप भी भगवान आत्मतत्त्व स्वय आपको दर्शन दे सकता है। पर इसके लिए मूलमे चाहिए हितकी अर्थिता।

हितार्थिताका गुण होनेपर श्रोताका वास्तविक श्रोतृत्व—सबसे पहिले श्रोताओके लक्षणमे बताया है कि "भव्यः किं कुशलं ममेति विमृशन्" मेरी किसमे कुशल है ? मेरा क्या हित है ? ऐसा विचार करने वाला ही श्रोता है। जब हम कभी कुछ बोले धर्मकी बात, तो खुद अपने आप ही सुने। अपने आप बोलें तो उस बोलनेका लाभ भी बोलने वालेने उठाया। दूसरोको तो हम बहुत बातें समझाया करते है, कोई अधीर हो रहा हो, दुःखी हो रहा हो तो उसको समझाते है, पर एक प्रकृति बन जाय कि हम जो दूसरेको समझायें उसको हम तुरन्त समझते जाये, सुनते जायें तो यह बोलना भी यह श्रम भी व्यर्थ न जायगा। पहिली बात यह आनी चाहिए चित्तमे कि मेरा हित किस बातमें है ? हमे तो वह बात जानना है, समझना है, दोष देखनेके लिए नही, कितना क्या बोला जा रहा, कोई गल्ती पकडनेके लिए नहीं, अन्य

किसी अभिप्रायसे नही, किन्तु मेरा हित किसमे है, मुझे तो अपने हितका प्रकाश चाहिए। इस भावसे सुनें। यो तो फिर ससार है। आप एक विरोधीको देखते हो और जगतमे है अनन्त जीव और यही विरोधी यहाँ न हो और अन्य जगह हो तो आपका विरोधी तो नही। हमारे सामने आ जाय तो समझते है कि यह विरोधी है। अरे न किसीका विरोधभाव चित्तमे लावें, न किसीका रागभाव चित्तमें लावें। अपने आपको अकेला ज्ञानस्वरूप निरखते रहे। मेरा हित किसमे है ? इसके जाननेकी उत्सुकता बनाये रहे तो अपने लिए सब कुछ भला होगा। यह आत्माकी ही तो बात है। आत्मा ज्ञानस्वरूप है कि नही ? बताओ, आत्माका क्या ढग है, आत्माका क्या रूपक है ? कुछ कल्पनासे बताओ ना। मेज, कुर्सीकी तरह है क्या आत्मा ? किसीने आपके शरीरको जकड लिया तो क्या आत्माको जकड लिया ? आत्माका क्या स्वरूप है ? टेबिल, कुर्सीकी भाँति पिण्डरूप तो है नही। रस, गन्ध आदिककी तरह कोई यहा रस गंध पायी जाती नही। तो है आत्मामे और क्या चीज ? मना कर सकते नही, क्योकि जान रहे, समझ रहे, पूछ रहे, ऐसी बात किसीमे हो तो रही, मना कैसे कर सकते ? सो मना कर सकते नही व देख सकते नही। तब आत्माको समझनेकी क्या तरकीब है ? बस उसकी तरकीब है ज्ञानस्वरूपमे उसे देखना। जो जानना बन रहा है वह जाननस्वरूप है, सो ही मैं आत्मा हू। आत्मा ज्ञानस्वरूप है। तो जब आत्मा ज्ञानस्वरूप है और वह अपने ज्ञानस्वरूप को ही न जान पाये तो यह तो अधेर जैसी बात है ना ? क्यो न जान पायगा ? इस ज्ञानस्वरूप आत्माको जाननेमे बाधक हो रहा है तो परकी ओरकी दृष्टि, परका व्यामोह, विषयोकी रुचि, परिग्रहका भाव, मूर्छा परिणाम, ये सब ऐब लगे है, वे बाधक बन रहे है, अन्यथा आत्मा तो ज्ञानस्वरूप ही है। तब जानना तो सहज ही हो जायगा। उसमे क्या कठिनाई है ? पर रुचि जो परपदार्थोकी ओर लगी है उससे नही समझ पाते। आप धर्मके नामपर कितने ही काम करते जायें और कितनी ही विद्याये सीखते जायें, कितना ही भाषण सुनते जायें, कितना ही कुछ कर लें, लेकिन ज्ञानस्वरूप निज तत्त्वको जाने बिना क्षोभ तो न दूर हो सकेगा, मोक्षमार्ग तो न मिल सकेगा। ससारकी कुछ थोडी मुद्राओको देखकर इनमे अगर ललचाहट ही रही तो भलापन कुछ नही होगा। बन जायेंगे राजा, बन जायेंगे चक्रवर्ती, बन जायेंगे अहमिन्द्र, इतनेपर भी आत्माका कल्याण कुछ नही होगा।

अपने प्रतिबोध बिना विडम्बनाओका भोग—भैया! समझना होगा इस कठिन बात को जो आज कठिन लग रही है। यदि आत्माका कल्याण चाहिए, ससार-सकटोसे छुटकारा चाहिए तो अपने आपके ज्ञानस्वरूपकी बात, अन्तरगकी बात समझना ही होगी। न समझेंगे तो रुलते रहेंगे ससारमे। एक किसान था। हल जोतते समय खेतमे कोई एक सांप आ गया और उस साँपपर पड गया बैलका पैर, और उस सांपने डस लिया किसानको। तो सांप द्वारा

इसे जानेपर कुछ उन्माद-सा होता है, जिसे कहते है मेहर उठना। ५-७ बार उन्मादकी घटना बना करती है तो वह उन्मादमे आकर बैलको बहुत-बहुत पीटने लगा। लोगोने समझाया कि भाई तुम अपने बैलको क्यो पीट रहे ? तो किसान बोला कि इसने मुझपर पैर क्यो रखा ? जिसको उन्माद आता है वह अपनेको साँप अनुभव करता है। और साँपकी ओरसे वह बोलता है। उसे बहुतसे लोगोने समझाया, न माना। बहुत देर बाद एक विवेकीने धीरेसे समझा कि देखो तुम बैलको पीट रहे हो, वह बैल मर जायगा तो फिर तुम्हारा काम कैसे चलेगा ? तुम क्या खाओगे, बच्चे क्या खायेंगे ? अरे इस बैलको मत मारो, तुम्हारे यह साँप का विष उतर जायगा, तुम ठीक हो जावोगे। इस बैलको न पीटो, नही तो तुम्हारा सारा काम बिगड जायगा। तो उसकी समझमे बात आ गई और पीटना छोड दिया। ऐसे ही समझिये कि हम विषयकषायोमे रुचि बनाकर, आरम्भ परिग्रहमे अपनी उत्सुकता बढ़ाकर अपने आपको बरबाद किए जा रहे है। इतना उन्माद चढ़ा है कि हम अपने भगवान आत्माकी कुछ सुध नही ले रहे। तो समझाने वाले ऋषि सत समझाते है कि देखो पागलपन मत करो। यह जिन्दगी तो थोडीसी है और इस ही जीवनमे विषयकषायोंकी रुचि बनायें, उससे निवृत्ति न कर सकें तो दुःख कौन भोगेगा ? बरबाद तो इसको ही होना पडेगा, दुर्गतिमे तो इसको ही जाना पड़ेगा। चेत जाओ, मत मोह करो। बाह्य पदार्थोमे मत इतनी ममता बनावे, अपने आत्माकी सुध करें और यह समझ जायें कि हमारा तो भला होगा आत्मज्ञानसे। इस परिग्रह से क्या आत्माको मिलेगा ? लोग थोडा सोचते है कि लोग कहेगे कि यह है खास आदमी, धनी आदमी। अरे जो लोग कहेगे वे स्वय दुःखी है और उनके कहनेसे तुम्हे मिलेगा क्या ? अपना तो कुछ सोचो। सतुष्ट रहना चाहिए और ज्ञानमे, धर्मके मार्गमे अपनेको बढ़ाना चाहिए। देखिये—अनादिकालसे भ्रमते आये है। दुर्लभतासे मनुष्यजन्म पाया है, सफल हो जायगा यह अगर आत्मज्ञानकी बात पा सके तो। इस ज्ञानस्वरूपका ज्ञान जिनके हुआ है उनके ज्ञानचेतना कही जाती है और जिनके यह ज्ञानचेतना है, सम्यक्त्व है, उनके सम्वर है, निर्जरा है, मुक्ति का मार्ग है।

ननु चेदाश्रयासिद्धो विकल्पो व्योमपुष्पवत्।
तत्किं हेतु: प्रसिद्धोस्ति सिद्धः सर्वविदागमात् ॥६०४॥

विकल्पकी असत्ता होनेसे किसी भी ज्ञानको विकल्पात्मक कहनेकी आश्रयासिद्ध दोष होनेसे अयुक्तता—प्रकरण यह चल रहा था कि हम आप लोगोका जो ज्ञान होता है वह ज्ञान बदलता रहता है। अभी कुछ जाना, फिर कुछ जाना तथा हम आप लोगोके ज्ञानमे चचलता रहती है, उसमे विकल्प उठा करते है, इस कारणसे इस ज्ञानको विकल्पात्मक अथवा सक्रमणात्मक कहा था। इसपर यहाँ शकाकार यह कह रहा है कि विकल्प नामकी तो कोई चीज ही नही है। विकल्प क्या है ? कोई वस्तु ही नही है, तब ज्ञानको विकल्पात्मक कहना कैसे ठीक

है ? इसे कहते हैं आश्रयासिद्ध । जो बात नहीं है उसकी बात कहना, उसके आश्रयसे किसीका कुछ कहना आश्रयासिद्ध कहलाता है । शकाकार कह रहा है कि विकल्प तो आकाशके फूल की तरह असिद्ध है । क्या किसीने आकाशका फूल देखा अथवा आकाशके फूलकी किसीने माला बनायी ? अरे जब फूल ही नही है तो उसका कथन ही कैसे किया जा सकता ? तो जैसे यह कथन आश्रयासिद्ध है, इसी प्रकार ज्ञानको विकल्पात्मक कहना आश्रयासिद्ध है । जब विकल्प कोई पदार्थ ही नही है तो ज्ञानको सविकल्प कहनेमे यह हेतु देना कि सर्वज्ञ भगवानने ऐसा ही कहा है । आगममे इसी तरह वर्णन है । आगमकी दुहाई देना, यह भी बेकार चीज है । विकल्प जब कुछ वस्तु नही तो ज्ञानको विकल्पात्मक उपचारसे भी क्यो कहते हो ? देखिये—ध्यानपूर्वक मुनो—ज्ञानको क्या बताया था विकल्पात्मक, विकल्परूप । उन विकल्पो के दो भेद है—एक तो ज्ञान बदलता रहता है, विकल्पका अर्थ बदलना है । दूसरा अर्थ है कि ज्ञानके साथ जो रागद्वेष इष्ट अनिष्ट आदिक भाव चलते है वे विकल्प हैं । तो दोनो ही विकल्पो को ध्यानमे रखकर शकाकार यह कहता है कि विकल्प तो कुछ चीज ही नही है । फिर विकल्परूप कहनेका क्या भाव है ? इस शकाके उत्तरमे कहते है कि—

सत्य विकल्पसर्वस्वसार ज्ञानं स्वलक्षणात् ।
सम्यक्त्वे यद्विकल्पत्व न तत्सिद्ध परीक्षणात् ।।८०५।।

स्वलक्षणरूप विकल्पके अतिरिक्त अन्य विकल्पका ज्ञानमें अभाव तथा सम्यक्त्वमे विकल्पका अभाव—उत्तर समझनेसे पहिले एक बात और समझ लीजिए । अभी विकल्पके दो अर्थ बताये थे—एक तो ज्ञानका बदलना, अमुक पदार्थ जाना, उसे छोडकर अन्यको जाना । दूसरे विकल्पका अर्थ क्या था कि उसके साथ जो रागद्वेष विचार तर्क-वितर्क जो चल रहे हैं वे भी विकल्प हैं । इसी अर्थको लेकर शकाकारकी शका थी कि विकल्प कोई वस्तु ही नही है । फिर ज्ञानको विकल्पात्मक कहनेका क्या अर्थ ? इसका उत्तर सुननेसे पहिले विकल्पकी एक तीसरी व्याख्या भी सुन लीजिए । विकल्पका अर्थ है जानना । पदार्थका जानना, यह भी विकल्प कहलाता है । विकल्प शब्दका जो प्रसिद्ध अर्थ है उस अर्थके अनुसार तो सोच रहे होगे कि इस विकल्पका क्या मतलब ? परिभाषाये होती है उसके अनुसार अर्थ होता है । ज्ञान जानता है, ज्ञेयाकारको समझता है, ज्ञेयाकाररूप परिणमन करता है, बस इस जाननका ही नाम विकल्प है । तो ऐसा विकल्प तो ज्ञानका स्वरूप समझियेगा । दोषरूप नही है । शकाकार दोषरूप विकल्पके लिए शका कर रहा था, किन्तु यह विकल्प तो ज्ञानकी सहज मुद्रा है, सहजस्वरूप है । उस विकल्पसे तो बतावेंगे कि ज्ञान अपने लक्षणसे विकल्पात्मक है, लेकिन शकाकारने दो आपत्तियाँ दी थी कि ज्ञान कैसे विकल्पात्मक है, सो शकाकारका कहना कुछ ठीक था । हाँ, वास्तवमें ज्ञान विकल्पस्वरूप नही है । विकल्प है दूसरे ऐवका काम, लेकिन

उसके सगसे जब तक जान रहा है तब तक ज्ञानमे विकल्पात्मकताका उपचार किया जाता है। ज्ञानमे विकल्पात्मक नही, सम्यक्त्वमे विकल्प नही। यह बात यद्यपि कुछ ठीक है, लेकिन इसके मायने यह न होगे कि विकल्प आकाशपुष्पकी तरह असत् है। विकल्प है कुछ और चीज और उस विकल्पके सम्बधसे ज्ञानको या सम्यक्त्वको विकल्पात्मक कह दिया जाता है, यह उपचारकथन है। विकल्प है क्या चीज और होता किस तरह है ? अब इस बातको समझाते है।

यत्पुनः कैश्चिदुक्त स्यात् स्थूललक्ष्योन्मुखैरिह।
अत्रोपचारहेतुर्यस्त ब्रुवे किल साम्प्रयम् ॥६०६॥

ज्ञानको सविकल्प कह देनेका कारण उपचार—जिन लोगोने ज्ञानको या सम्यग्दर्शन को सविकल्प बतलाया उनकी दृष्टि है वह तो उपचारसे विकल्पात्मक है। वास्तवमे सम्यक्त्वमे और ज्ञानमें विकल्प नही है। उपचार क्यो है ? उपचार कहते है कि बात तो हो किसीमे और लगावें किसी अन्यमे। जैसे किसी क्रोधी लडकेसे कहते है कि यह लड़का आग है। तो क्या लडका आग हो गया ? अथवा सीधा ही कह दिया जाय कि यह तो आग है तो क्या वह वास्तवमे आग है ? अरे वह तो लडका है, लेकिन उसमे आग जैसी कुछ बात निरखकर तुलना करके क्रोधी उसे कह दिया जाता है तो इसे कहते है उपचारकथन। जैसे घी का घडा। बतलावो घीका घडा कही बनता है क्या ? मिट्टीका घडा बनता है। लेकिन उसमे विकल्पका सम्बध है, इसलिए उपचारसे कहा जाता है घी का घड़ा। अच्छा घड़ेकी बात कुछ व्यवहारमें बन रही है, पर जैसे लोग शौच जिस लोटेमे जाया करते है उसे कहते है टट्टीका लोटा। भला बताओ वह लोटा टट्टीका है क्या ? अरे वह तो टीनका अथवा पीतल आदिका है। लेकिन वैसा कहनेका प्रयोजन यह है कि उसका सम्बंध लेकर उपचार किया जाता है। तो यह उपचरित कथन है कि ज्ञान सविकल्प है। विकल्प है किसी दूसरेका परिणमन और सम्बध लगा दिया ज्ञानमे। क्यो सम्बंध लगा दिया ? कुछ तो कारण होगा ? साहचर्य है। विकल्प भी वहाँ बस रहा और ज्ञान भी बस रहा और ज्ञान उन विकल्पोको जान रहा तो इस साहचर्यसे ज्ञानको सविकल्प कहा है, इसीको खुलासा करते हैं।

क्षायोपशमिक ज्ञान प्रत्यर्थ परिणामि यत्।
तत्स्वरूपं न ज्ञानस्य किन्तु रागक्रियास्ति वै ॥६०७॥

विकल्प रागक्रियाभूत होनेसे क्षायोपशमिक ज्ञानमे होने वाली प्रत्यर्थपरिणामिताकी निश्चयतः अतत्स्वरूपता—देखो जो ज्ञान बदलता रहता है, जिस ज्ञानके साथ क्षोभ भी रहा करता है, ऐसा ज्ञान कौन हो सकता है ? क्षायोपशमिक ज्ञान। ज्ञान दो प्रकारके है—क्षायोपशमिक और क्षायिक। क्षायिक ज्ञान तो केवलज्ञान रहता है। वहाँ तो यह विकल्प नही है।

क्षायोपशमिक ज्ञानमे यह बात है कि वह प्रत्येक अर्थके अनुसार परिणमता रहता है। जैसे जो अर्थ आया ज्ञानमे उसे जाना, अब फिर दूसरे अर्थको जाना तो अर्थ अर्थके प्रति परिणमता है, बदलता रहता है, यह बात रहती है क्षायोपशमिक ज्ञानमे। तो यह परिणमन होना ज्ञान का स्वरूप नही है, किन्तु यह तो रागकी क्रिया है। देखो—ज्ञानका काम तो जानना है। अब जानन जो बदलता है यह होता है रागकी प्रेरणासे, रागभावके कारण तो यह बदल जो है वह रागकी क्रिया है, अथवा ज्ञानके साथ जो क्षोभ है वह रागकी क्रिया है, यह ज्ञानकी क्रिया नही है। ज्ञानकी क्रिया तो जानन है। यहाँ परख लीजिए कि मै ज्ञानस्वरूप हू। मेरा काम जाननेका है। जाननेमे कोई ऐब नही होता, जानना जानना ही रहता है, जाननेमे तो यह भी ऐब नही लगा सकते कि वह देखो इस इस तरहसे बदलता रहता है। हाँ बदलता तो रहता है, इसको मना नही किया जा सकता। अभी कुछ जान रहे, अब कुछ जानने लगे, मगर इसमे ऐब है रागका। राग भीतर बैठा है, उससे इतनी अशक्ति आयी है कि इस शुद्ध जाननमे नहीं रह पाता। तो रागकी क्रियारूप है वह विकल्प, और वह विकल्प है ज्ञानके साथ-साथ इसलिए ज्ञानको सविकल्प कह दिया। तो विकल्पका सम्बध लगा दिया ज्ञानके साथ, यही कहलाया उपचार।

> प्रत्यर्थं परिणामित्वमर्थानामेतदस्ति यत्।
> अर्थमर्थं परिज्ञान मुह्यद्रज्यद्द्विषद्यथा ॥६०८॥

रागादिकी मुद्रा बनाते हुए ज्ञानमे प्रत्यर्थपरिणामिताका कारण रागादिभाव—ज्ञान मे जो प्रत्यर्थ परिणामिपना है अर्थ पदार्थमे जो बदल-बदलकर ज्ञान होता है सो ठीक है और वहाँ पदार्थमे भी यही बात है कि प्रत्येक पदार्थमे अपने आपका परिणमन है उस परिणमनमे ज्ञान प्रत्येक पदार्थके प्रति मोह करता है, राग करता है, द्वेष करता है, याने पदार्थमे इष्ट अनिष्ट बुद्धि बनी हुई है उससे जो राग बना और द्वेष बना, किसी पदार्थमे रागका परिणाम बना, पदार्थमे न बना, पदार्थका नाम लेकर आत्मामे ही रागका परिणाम बना, मगर जैसा पदार्थ है, परिणति है, यहाँ भी रागकी क्रिया चल रही है, उसका यह बदलना चलना है तो यह रागद्वेपके अनुसार ज्ञानमे भी बलिष्ट होने लगा। पर ज्ञानका काम बदलना नही है। बद-लना काम है रागकी क्रियाका। लोग जब चाहे अनुभव करने लगते कि अब तो हम बडी उलझनमे है, बडे झंझटमे है, वह उलझन और झंझट किस बातकी है? रागकी। स्वच्छंद होकर किसी बातमे राग बढाया, उसके साथ ज्ञान है। तो रागके विषयभूत होते है अन्य जीव और अन्य जीवोकी कल्पना या परिणमन उसके आधीन है नही तब उनकी वृत्ति होने लगी कुछ प्रतिकूल। उस प्रतिकूलको देखकर यह मानने लगा खेद। तो इस तरह जितने भी खेद होते है जीवको तो उसका मूल कारण है रागमोह। तो ऐसा राग मोह जब जीवके साथ

लगा है तो इसका ज्ञान स्थायी कैसे रह सकता ? शुद्ध किसी विधिसे जान नही रहे, जान रहे निरन्तर बदलता हुआ, तब ऐसी शुद्धता ज्ञानमे कैसे प्राप्त हो सकती है ? तो ज्ञानमें जो सक्रमण होता है वह रागके कारण होता है।

स्वसवेदनप्रत्यक्ष.दस्ति सिद्धमिदं यत ।
रागाक्तं ज्ञानमक्षा तं रागिणो न तथा मुनेः ॥६०६॥

रागियोंके अशान्त रागाक्त ज्ञानकी संभवता— इस बातको आप सब अपने-अपने अनुभवसे भी जान सकते है कि रागसहित ज्ञान शान्त नही होता। जिस ज्ञानके साथ राग लगा है उस ज्ञानमे शान्ति नही आ सकती। तो ऐसा अशान्त ज्ञान, ऐसा रागलिप्त ज्ञान रागी पुरुषके होगा, वीतराग साधु सतके ऐसा राग मिला ज्ञान अथवा क्षोभ वाला ज्ञान नही होता। जो राग करे सो ही दुःखी होता है। तो ज्ञानमे जो यह बदल चल रही है, हम आपके ज्ञान जो स्थिर नही रह पाते, प्रत्येक पदार्थमे बदलते रहते है तो लोग इसे बडा बुद्धिमान कहते हैं। हम बहुत बढिया जानते है, अमुकको जाना, अमुकको जाना, नई-नई बातें जानते है, लेकिन अध्यात्मशास्त्र यह कहते है कि यह रागकी प्रेरणासे ज्ञानमे बदलना हो रहा है। भगवानका ज्ञान तो तीन लोक तीन कालका जानने वाला है, सदा जानने वाला है। जो जाना उसे फिर जानता ही रहना है, उसमे बदलना नही होता है। बदलना होता है अज्ञानियोके, ज्ञानहीनोके, अल्पज्ञोके और इस बदलनेको सक्रमण कहा है। भगवानके ज्ञानको सक्रमणात्मक नही कहा। जिस समय जीव स्वानुभवमे रहता है उसे भी सक्रमणात्मक नही कहते है, क्योकि उसका विषय एक शुद्ध आत्मतत्त्व चलता रहता है। तो जहाँ पदार्थ विषयभूत नये-नये हो, अपूर्व-अपूर्व हो उसे यहाँ बदलना कहते है। तो अपने-अपने अनुभवसे भी आप यह समझ सकेंगे कि रागमे जो ज्ञान बनता है उस ज्ञानके करते समय इसको क्षोभ रहता है और इसका बदलना चला करता है तो एकमे टिक नही सकता। जैसे लोग प्रायः पूछा करते हैं कि जब सामायिक करने बैठते हैं तो चित्त बहुत चचल होता है, उसका क्या कारण है ? तो उसका उत्तर है कि आपके राग लगा है।" अच्छा, तो क्या राग और समयमे नही लगा है ? हाँ और समयमे भी लगा है, मगर और समयके रागमे तो आप भुक्त होनेका व्रत लेकर लगे हुए हैं इसलिए वह एक जगह बात, उपयोग जरा थोड़ी देरको टिका है तो दुनियाभरकी बातें नही याद रहती। सस्कार तो सारा हैं, किन्तु जब सामायिक करने बैठे तो आपने सकल्प यह किया कि हमे घरसे मतलब नही, दूकानसे मतलब नही, बस माला लेकर शान्तिसे बैठ गए, लेकिन भीतरमे योग्यता थी तो इस बनावटकी, सो स्वतत्र बननेपर होता क्या है कि जितनी भीतरमे गल्तियाँ हैं अधिकतर वे सब उमड़ पड़ती है। कारण क्या है कि रागवान है, मन चचल है, उसके कारण ज्ञान बदलता रहता है। उसका कारण है राग। तो रागसहित [illegible]

क्षुब्ध होता है, वह शान्त नही रह सकता।

अस्ति ज्ञानाविनाभूतो रागो बुद्धिपुरस्सरः।
अज्ञातेर्थे यतो न स्याद् रागभावः खपुष्पवत् ॥६१०॥

बुद्धिपूर्वक रागकी क्षायोपशमिकज्ञानाविनाभूतता—राग दो प्रकारके होते है—बुद्धिपूर्वक और अबुद्धिपूर्वक। बुद्धिपूर्वकके अनेक अर्थ हैं, पर यहाँ एक यह अर्थ लगाओ कि जो राग हमारी समझमे आ रहा, ज्ञानमे आ रहा, अनुभवमे आ रहा, जिससे हमपर दोष लगा करते है वह राग कहलाता बुद्धिपूर्वक, और जो राग समझमे नही आता, ज्ञानमे नही आ रहा ऐसे ऊँचे ज्ञानी सत पुरुषके भी श्रेणीमे रहने वाले साधु संतोके जो ज्ञान होता है वह अबुद्धिपूर्वक राग है, और जैसे बताया था कि अबुद्धिपूर्वकके अनेक अर्थ हो जाते है। अबुद्धिपूर्वकका अर्थ जहाँ इतना ऊँचा लिया गया कि जिन ऊँचे साधु सतोके एक शुद्ध ध्यान होनेके कारण रागका उन्हे परिचय नही रहता, राग उनके ज्ञानमे नही आ पाता। रागका उदय यद्यपि १०वे गुणस्थान तक है, फिर भी राग समझमे नही आ रहा तो यह भी अबुद्धिपूर्वक कहलाता है। और जो असज्ञी जीव है उनके जो कुछ वर्त रही है, एकेन्द्रिय दोइन्द्रिय आदिकके इनके भी राग अबुद्धिपूर्वक कहेगे तो अर्थ जैसा जो कुछ सामने रख दिया जाय तो उसके अनुसार विचार चला करता है। यहाँ यह बात कह रहे हैं कि जो बुद्धिपूर्वक राग है वह क्षायोपशमिक ज्ञानका अविनाभावी है। अर्थात् जाना हो, समझमे आया हो तो वह राग महसूस हुआ ना। अज्ञान पदार्थमे रागभाव उत्पन्न नही हुआ और न जाना गया। जो पदार्थ ही नही है उसमे राग कैसे ? जैसे किसीको राग होता है कि मैं गुलाबके फूलोकी माला पहिनूँ, किसीको राग होता है कि मै बेलाके फूलोकी माला पहिनूँ, ऐसे ही क्या कोई यह भी राग करता है कि मैं आकाशके फूलोकी माला पहिनू ? अरे आकाशका फूल ही कुछ नही तो उसका राग भी नही बनता। बुद्धिपूर्वक राग अज्ञात पदार्थमे नही होता, तो बुद्धिपूर्वक रागका क्षायोपशमिक ज्ञानके साथ सम्बध है और जिनके बुद्धिपूर्वक राग होता है तो उनके ही ज्ञानमे सक्रमण होता है। सूक्ष्म सक्रमण तो ऊपर श्रेणियोमे भी है, किन्तु जिसका लक्ष्य रखकर शंकाकार कह रहा है, उसका प्रकरण चल रहा है। यह जो हम आपका ज्ञान सक्रमण किया करता है इसका कारण है राग, और वह राग है बुद्धिपूर्वक। बुद्धिपूर्वक राग, यह विशेष कर्मबन्धका कारण है। तो प्रकरणमे यह बतलाया जा रहा कि ज्ञानकी बदलका कारण ज्ञानका स्वरूप नही, ज्ञानका स्वयं विकल्प नही, किन्तु वह रागकी क्रिया है और रागके कारण क्षायोपशमिक ज्ञानमे भी होता है विकल्प, सो यह उपचारकी बात यहाँ कही गई। चूकि वह ज्ञान क्षायोपशमिक है, इसलिए ज्ञानमे सविकल्पताका उपचार किया गया है।

अस्त्ययुक्तलक्षणो रागश्चारित्रावरणोदयात् ।
अप्रमत्तगुणस्थानादर्वाक् स्यान्नोर्ध्वमस्त्यसौ ॥६११॥

कारणभेदसे व स्वरूपभेदसे ज्ञानका रागसे निरालापन एवं अप्रमत्त गुणस्थानसे पहिले पहिले बुद्धिपूर्वक रागकी संभवता—यह बुद्धिपूर्वक राग कैसे उत्पन्न होता है ? चारित्रमोहनीय कर्मके उदयसे । बुद्धिपूर्वक राग छठे गुणस्थान तक पाया जाता है । रागमे मिले ज्ञानमे कुछ अदल-बदल है, लेकिन राग तो राग ही है । राग हेय है । ज्ञानी जीवको यह श्रद्धा है कि राग सर्वत्र हेय है और रागकी प्रशसा कभी-कभी की जाती है । जैसे भगवानकी भक्ति, इसमें जिनेन्द्रके गुणोका अनुराग, तो गुणानुरागकी जो भक्ति की जाती है, प्रशसा की जाती है तो यह प्रशंसा भी उस रागमे उस वैराग्य और ज्ञानके सम्बधसे प्राप्त होती है । रागमे जो जितना अश है रागका वह राग और आत्माका स्वरूप नही । वह तो छोडने योग्य ही है । तो रागके प्रति ज्ञानका ऐसा मनन है, चिन्तन है कि राग तो हेय ही है, वह उपादेय नही है, किन्तु किसी अवस्थामे मुकाबलेसे उपादेय माना जाता है अथवा किसी श्रेष्ठ ज्ञानके साथ रह रहा हो तो उसे उपादेय कहा करते है । बुद्धिपूर्वक राग जिसके कारण ज्ञानमे अदल-बदल होना, पदार्थोंको छोडकर नये-नये पदार्थोंको जानना, ऐसा जो ज्ञानमे हो रहा है वह रागके कारण हो रहा है । ज्ञानका स्वरूप नही है कि वह इस तरह बदल-बदलकर जाने । देखो हमे ज्ञानका ही एक शुद्ध स्वरूप विदित हो जाय और उसे माना जाय कि यह मेरा स्वरूप है, यह मेरी वस्तु है, तो ज्ञानका यो शुद्ध स्वरूप विदित हो जाय, इससे ही कल्याणका मार्ग मिलेगा । मै जानता हू, इस पदार्थके कारण नही जानता हू कि सामने यह चौकी है तो मैंने इसे जान लिया । जानता हू तो स्वभावमे जानता हू, उस रागको भी जानता हू । देखो बहुत अन्तर्दृष्टि से समझियेगा कि आत्मामे रागभाव भी हो रहा है और ज्ञान भी चल रहा है तो अन्तरात्मा ज्ञानी पुरुष उस रागको भी जानता है—यह राग है, यह ज्ञान है तो वहाँ भी जो रागका जानना हुआ सो रागके कारणमे जानना नही हुआ, किन्तु ज्ञानने अपने ही स्वभावसे, अपनी ही परिणतिसे जाना । देखो यह है भेदविज्ञानकी पराकाष्ठा । राग अपने कारणसे हो रहा, ज्ञान अपने कारणसे हो रहा, राग अपने परिणमनमे हो रहा, ज्ञान अपने परिणमनमें हो रहा । यद्यपि दोनो है एक आत्मपदार्थमे और उस ही पदार्थमें परिणमन है, पर भेददृष्टि करके जब हम गुणोको, परिणमनोको न्यारा-न्यारा कह रहे है तो इस दृष्टिमे वे सब न्यारे-न्यारे हैं और यहाँ जो कुछ भी हम निर्णय बनावेंगे वह उस ही विधिसे बनेगा । राग रागमे है, ज्ञान ज्ञानमें है । मै ज्ञानस्वरूप हू राग पौद्गलिक है । लो कैसा यहाँ अपनी उपयोगभूमिको साफ किया है ज्ञानीने कि जो मिश्रण हो रहा था, जो एक विकृत बन रहा था वह सब विश्लिष्ट भिन्न रहा है—राग राग है, ज्ञान ज्ञान है । दोनो एक कैसे है ? ज्ञान ज्ञानके कारणसे हुआ है, राग राग

के कारणसे हुआ है, एक कैसे ? ज्ञानका स्वामी मैं हूं, रागका स्वामी पुद्गल है । और थोडी देर बाद रागको पुद्गलके पास भेज दो—तुम्हारी चीज तुम रखो, ज्ञानको अपने पास ले लो, अपनी चीज तुम रखो, लो इस भेदविज्ञानने कैसा उपयोगभूमिको स्वच्छ किया ।

रागकी पौद्गलिकताका विवरण—अभी यहाँ रागका स्वामी जो पुद्गलको कहा है उसकी एक दृष्टि है । चूंकि रागका अविनाभाव, अन्वयव्यतिरेक कर्मके साथ है । कर्मके होनेपर राग हो, कर्मके न होनेपर राग न हो, इस दृष्टिको लेकर उसका स्वामी पुद्गलको कह दिया है । परिणमा तो यद्यपि यह जीव रागरूप, लेकिन जैसे हम यहाँ देखते हैं कि दर्पणके सामने हाथ किया तो हाथकी छाया हुई । अब कितना सीधा जंच रहा कि हाथ हटाया तो छाया खतम, हाथ सामने किया तो छाया तैयार । हाथ हिलाया तो छाया हिली । इस बातसे यह पता पडा कि इस छायाके होने न होनेमे इस हाथका स्वामित्व माना जा रहा है । यद्यपि उपादान दृष्टिमे जिसमे प्रतिबिम्ब कहलाता है तो इस दृष्टिसे छायारूप परिणमने वाला वह दर्पण है । लेकिन अन्वयव्यतिरेक दर्पणके साथ नही है । जिसके साथ अन्वयव्यतिरेक है उसके प्रति कहा जा रहा है । हे राग ! तुम जिसके होनेपर होते और न होनेपर नही होते तुम तो उसके हो, मेरे मित्र कैसे हो ? तुम जावो पुद्गलके पास, मेरेको तुमसे मतलब नही है । तो ऐसा भेदविज्ञान करके इस ज्ञानीने अपनी उपयोगभूमिको स्वच्छ किया है । हाँ तो उस विकल्प की बात चल रही थी कि ज्ञान बदलता है, क्यो बदलता है ? ज्ञानके इस बदलनेमे अभी इसको जाना, अब अन्यको जाना, इस बदलमे कारण हमारा राग है, रागकी क्रिया है । ज्ञान अपने स्वरूपसे ऐसी बदल नही रखता, इस कारण ज्ञानको विकल्पात्मक उपचारसे कहा जाता है । ज्ञान स्वलक्षणतः स्वरूपत. विकल्पात्मक नही है ।

अस्ति चोर्ध्वमसौ सूक्ष्मो रागश्चाबुद्धिपूर्वज ।
अर्वाक् क्षीणकषायेभ्यः स्याद्विवक्षावशान्न वा ॥९१०॥

अप्रमत्त गुणस्थानसे क्षीणकषाय गुणस्थान पर्यन्त अबुद्धिपूर्वक रागकी संभवता—कल यह बतलाया था कि बुद्धिपूर्वक राग प्रमत्त गुणस्थान पर्यन्त रहता है । आज यह बतला रहे है कि अबुद्धिपूर्वक राग कहाँ तक रहता है ? जब प्रमत्त गुणस्थान तक बुद्धिपूर्वक राग है याने जान-समझकर अनुभव करते हुए जो राग होता है वह छठे गुणस्थान तक है । तो इससे यह सिद्ध हो ही गया कि अबुद्धिपूर्वक राग ७वे गुणस्थानसे होता है और रहता है क्षीण-कषायसे पहिले-पहिले तक याने १०वें गुणस्थान तक रहता है । अबुद्धिपूर्वक रागमे भी बहुत अन्तर है । ७वें गुणस्थानमे जो अबुद्धिपूर्वक राग है उससे सूक्ष्म ८वेंमे, उससे सूक्ष्म ९वें मे, उससे सूक्ष्म १०वें मे, परन्तु अबुद्धिपूर्वक यह राग अप्रमत्त गुणस्थानमे रहा, उससे पहिले बुद्धिपूर्वक राग चलता है । यह सब विवरण इसलिए किया जा रहा है कि शकाकारने यह

माना था कि ज्ञानचेतना वहाँ नही होती जहाँ परमे उपयोग रहा हो, जहाँ ऐसा राग चल रहा हो, उसी सिलसिलेमे यह सब कथन चल रहा है और आगे इसका निष्कर्ष बताया जायगा।

विमृश्यैतत्पर कैश्चिदसद्भूतोपचारत ।
रागवज्ज्ञानमत्रास्ति सम्यक्त्व तद्वदीरितम् ॥६१३॥

सम्यक्त्वको व ज्ञानको सविकल्प कहनेका कारण असद्भूत उपचार—शकाकारको यह शका क्यो उपजी कि सम्यक्त्व भी सविकल्प है और ज्ञान भी सविकल्प है ? उसकी दृष्टि यह रही कि देखो छठे गुणस्थान तक राग चलता है तो वहाँ तक जो ज्ञान हो रहा है और सम्यक्त्व बन रहा है वह भी सविकल्प बन रहा है। यो बुद्धिपूर्वक रागकी बात सोचकर असद्भूत उपचारसे रागसहित ज्ञानको निरखकर ऐसा कह दिया है कि ज्ञान सविकल्प है। असद्भूत उपचारका अर्थ यह है कि ज्ञान वास्तवमे विकल्पमय नही है। यह तो रागका विकल्प है। ज्ञानका काम कितना ? जानना। और विकल्प होता है, वह विकल्प क्या ज्ञानसे आया है ? वह रा से उठा हुआ है। तो रागमे तो है यह विकल्प और उस रागके साथ चल रहा है ज्ञान तो लोग उस ज्ञानपर विकल्प को थोप देते हैं कि ज्ञान सविकल्प है। असद्भूत व्यवहारका अर्थ यह है कि विकल्प ज्ञानमे असद्भूत है, है तो नही उसका, पर हाँ साथ-साथ हो तो मिले हुए उन भिन्न पदार्थोको अभेद कर देवें तो वह असद्भूत व्यवहार कहलाता है। जैसे आत्मा और शरीर ये एक जगहमे रह रहे है ना और वहाँ कोई कहे कि यह शरीर मेरा है तो यह असद्भूत उपचार हुआ। शरीर आत्माका है क्या ? शरीर भिन्न द्रव्य है, आत्मा भिन्न द्रव्य है, शरीर पौद्गलिक है, आत्मा चैतन्यस्वरूप है। जहाँ आत्मा है वहाँ शरीर है। तो यो कोई कह दे कि आत्माका शरीर है, यह शरीर मेरा है तो यह असद्भूत उपचार है, ऐसे ही यहाँ लगाये कि जिस आत्मामे ज्ञान चल रहा है उसी आत्मामे राग बन रहा है तो है तो रागमे विकल्प, मगर थोप देते है कि यह विकल्प ज्ञानमे है। इस तरह अभेदोपचारसे कहा जाय तो बुद्धि सावधान रहे, लेकिन शकाकार तो सीधा ही कह रहे कि ज्ञान सविकल्प है और सम्यक्त्व सविकल्प है, लेकिन ज्ञानके साथ व सम्यक्त्वके साथ विकल्प नही है। अत. वास्तवमे सम्यक्त्वको और ज्ञानको सविकल्प नही कहा जा सकता।

हेतो पर प्रसिद्धैर्यैः स्थूललक्ष्यैरितिस्मृतम् ।
आप्रमत्त च सम्यक्त्व ज्ञान वा सविकल्पकम् ॥६१४॥

सराग सम्यक्त्व व सविकल्प ज्ञानकी प्रमत्तगुणस्थान पर्यन्त संभवताका स्थूल लक्ष्य वालों द्वारा कथन—ज्ञान और सम्यक्त्व कहाँ तक सविकल्प पाये जाते है, यह बतला रहे है। इस श्लोकमे अभी यह निर्णय बताया था कि ज्ञानका काम तो जानना है, विकल्प उसमे नही

है। विकल्प तो रागमे चलता है, फिर भी चूंकि एक आधारमे ज्ञान भी है और राग भी है, अतः ज्ञानको भी सविकल्प कह दिया तो यह कहलाया असद्भूत उपचारनयसे। इस तरह भी सविकल्प ज्ञान कहाँ तक रहता है ? तो यहाँ कह रहे हैं कि यह सराग सम्यक्त्व और ज्ञान प्रमत्त गुणस्थान तक रहता है। तब इस तरहकी सविकल्पता छठे गुणस्थान तक कही जा सकती है। प्रमत्तविरत गुणस्थानका अर्थ क्या है ? जहाँ सम्यक्त्व जग गया, महाव्रत हो गया, किन्तु प्रमादमे है, शिष्योंको समझाना, उपदेश करना, विहार करना, आहार करना ये सब प्रमाद कहलाते हैं। तो इन प्रमाद स्थितियोमे रह रहा है वह विरक्त, इस कारण उसे प्रमत्त-विरत कहते है। यह विकल्प ६वें गुणस्थानमे है, रागकी दशामे है, जिसको वह अनुभव कर सके। हो तो रहा है राग, मगर विकल्प नही उठ रहा तो वहाँ अबुद्धिपूर्वक राग कहा है। तो ज्ञान और सम्यक्त्व वहाँ निर्विकल्प कहा जाता है।

ततस्तूर्ध्वं तु सम्यक्त्व ज्ञान वा निर्विकल्पम।
शुक्लध्यान तदेवास्ति तत्रास्ति ज्ञानचेतना ॥६१५॥

प्रमत्त गुणस्थानके ऊपरके गुणस्थानोमे निर्विकल्प सम्यक्त्व व ज्ञानका उद्घोष—प्रमत्त गुणस्थानसे ऊपर याने ७वें गुणस्थानसे लेकर अन्त तक सर्वत्र सम्यक्त्व और ज्ञान निर्विकल्प है। देखो सूक्ष्मदृष्टिसे तो यह बात है कि ज्ञान और सम्यक्त्व विकल्पसहित नही होता, लेकिन साहचर्यसे, उपचरित असद्भूत व्यवहारनयसे कहा जाता है ज्ञानको सविकल्प। तो ऐसा सविकल्प ज्ञान और सविकल्प सम्यक्त्व छठे गुणस्थान तक सम्भव है। इससे आगेके गुणस्थानमे तो निर्विकल्प है और इसीको कहते है शुद्ध ध्यान और यह ही कहलाती है ज्ञान-चेतना। देखो ज्ञानचेतना यद्यपि चौथे गुणस्थानसे है, लेकिन जिस-जिस दृष्टिसे देखें उस-उस दृष्टिसे वैसा समझना चाहिए, और जहाँ राग बिल्कुल न हो, आत्मामे स्वरूप उपयुक्त हो, शुद्धोपयोग बन रहा हो वह ज्ञानचेतना सप्तम गुणस्थानसे मानी गई है।

प्रमत्ताना विकल्पत्वान्न स्यात्सा शुद्धचेतना।
अस्तीति वासनोन्मेप केषाञ्चित्स न सन्निह ॥६१६॥

चतुर्थ गुणस्थानसे प्रमत्तविरत गुणस्थान तक ज्ञानचेतना न माननेकी वासनोन्मेषता—कोई लोग ऐसा कहते है कि छठे गुणस्थान तक तो बुद्धिपूर्वक राग है, विकल्पात्मक दशा है तो वहाँ शुद्धचेतना न होनी चाहिए। शुद्धचेतनासे मतलब यहा ज्ञानचेतनाका है। तो किन्ही पुरुषोंके ऐसी समझ बैठी है कि ज्ञानचेतना ७वें से ही प्रारम्भ होती है, लेकिन यह कथन वास्तवमे ठीक नहीं है, क्यो ठीक नही है, इसका उत्तर आगे देंगे। पहिले समझ लीजिए—ज्ञानचेतनासे मतलब क्या ? इस बातको ध्यानमे रखिये—दो-चार बार स्मरण करो, यह बडा काम देगा जीवनमे। ज्ञानचेतनाका अर्थ क्या है ? मेरे आत्माका जो स्वभाव है, सहज स्वभाव

है उस ज्ञानस्वरूप ज्ञानस्वभावमे 'यह मैं हू' इस प्रकारका अनुभव करना सो ज्ञानचेतना है। देखो अनुभव तो सब कर रहे है कुछ न कुछ। कोई ऐसा अनुभवता है कि मै गृहस्थ हू, त्यागी हू, साधु हू, अमुकका बाप हू, अमुकका पुत्र हू, इस नामका हूं, इस पोजीशनका हू, धनी हू, सोचते है ना सब लोग कुछ न कुछ। तो ऐसा सोचना यह तो है अज्ञानचेतना, विपरीत बात, और जहाँ यह चिन्तन हो, मनन हो, अनुभव हो कि मैं सहज ज्ञायकस्वरूप हू, अन्यरूप नही हू, शरीर रूप नही, रागरूप नही, केवल जो एक ज्ञानप्रतिभास है वह शुद्ध प्रकाश तन्मात्र मै हू, ऐसी कोई दृढतासे प्रतीति कर ले तो उसको ज्ञानचेतना कहा जाता है। ऐसी ज्ञानचेतना अगर इस जीवनमे नही है तो जीवन बेकार रहेगा। कल्पना करते जावो, मानते जावो कि मैं अमुक कुलका हू और कभी कोई छू ले, अपवित्र हो जाय वहाँ क्रोध हो जाय, अरे मैं तो ऐसा धर्मात्मा हू, मुझे इसने छू लिया, यदि ये सारी बातें जगती है तो बतलावो कि वह शुद्ध है कहाँ ? भीतर तो अशुद्ध बना हुआ है। भीतर तो कषायसे प्रेम बना हुआ है। मैं अमुक हू, बाह्यपदार्थमे यह मै हू, यह मेरा है, ऐसा अनुभव करना विष है, विपदा है, विडम्बना है, अज्ञान है, और यह अनुभव करना कि मैं तो शुद्ध ज्ञानस्वभाव हू, यही अमृत है, यही मोक्षका हेतुभूत है। तो जो ज्ञानस्वरूपमे यह मै आत्मतत्त्व हू, ऐसा अनुभव करता है उसके कहलाती है ज्ञानचेतना। तो यह ज्ञानचेतना जहाँसे सम्यक्त्व है तहाँसे है। सम्यग्दर्शन हो, ज्ञानस्वरूप अतस्तत्त्वका अनुभव जगे तो ज्ञानचेतना हो ही गई, लेकिन कुछ लोग कहते है कि ज्ञानचेतना सप्तम गुणस्थानसे प्रारम्भ है, उनका कथन युक्त नही है। क्यो युक्त नही है सो बतलाते है।

यत. पराश्रितो दोषो गुणो वा नाश्रयेत्परम्।
परो वा नाश्रयेद्दोष गुणञ्चापि पराश्रितम् ॥६१७॥

अन्यके आश्रित दोष व गुणका अन्य किसीका आश्रय करनेका असामर्थ्य—देखो—व्यवहारमे यदि यह समझा जाय कि देखो दूसरेका दोष दूसरेपर न मढना चाहिए तो समझ में आता कि यह न्यायकी बात कह रहे है। किसीने कसूर किया हो तो उसका कसूर दूसरेपर न मढो, यह बात भली जचती है। जो कसूर करता है सो कसूर वाला है, वह दूसरेपर क्यो मढ़े ? आप सोचेंगे कि ऐसा तो कोई नही करता। दूसरेने कसूर किया हो और दूसरेपर कोई मढ़े, ऐसा कौन करता है ? अरे करते है बहुतसे लोग। जब क्रोध आता है तो दूसरेका दोष दूसरेपर मढते है कि नही। जैसे कभी कोई स्त्री अपने पतिसे रूठ गई तो वह कही बर्तन पटक देती है, कही अपने बच्चोको पीटती है। तो यह दूसरेका दोष दूसरेपर मढना ही तो हुआ। अच्छा अन्य भावोमे देखो—जब लोभ भाव होता है, मान कषाय जगती है तो ऐसी अनेक घटनाये होती है कि दूसरेका दोष दूसरेपर जोड दिया जाता। यह बात भली नही, बल्कि अन्यायकी है। यह बात जरा यहाँ घटित करो। जो लोग कहते है कि ज्ञान सविकल्प

है, सम्यक्त्व सविकल्प है और ज्ञानचेतना सप्तम गुणस्थानसे पहिले असम्भव है, उनका क्या प्रयास है ? दूसरेके आश्रयमे रहने वाला दोष दूसरेपर मढ दिया जानेका प्रयास है। राग और ज्ञान इन दो बातोमे छाँटो—विकल्प किसका दोष है ? रागका है, ज्ञानका दोष नही है। अगर रागका दोष ज्ञानपर मढा जा रहा है कि ज्ञान सविकल्प है तो यह विफल प्रयास है, क्योंकि दूसरेके आश्रयसे होने वाला गुण अथवा दोष दूसरेके आश्रय हो ही नही सकता। मढते जावो दूसरेके दोषको किसी दूसरेपर, किन्तु क्या हो जायगी वह परिणति दूसरेकी ? इस आश्रयसे जो दोष होता है अथवा गुण हो वह उसके ही आश्रयमे कहलायेगा, दूसरेके आश्रयमे न कहलायगा। तो जो लोग इस सिद्धान्तकी अवहेलना करते है, दूसरेका दोष दूसरेपर मढते है, दूसरेका गुण दूसरेपर मढते हैं वे भूल करते हैं। प्रकृत बात क्या चल रही थी कि ज्ञान सविकल्प है, सम्यक्त्व सविकल्प है, ऐसा जो लोग निश्चयसे कहते है वे भूलमे हैं, क्योकि किसीका दोष किसीपर मढ दिया है। किसका है वह विकल्प दोष ? रागका। यही बात अगले श्लोकमे कहते है।

पाकाच्चारित्रमोहस्य रागोस्त्यौदयिक. स्फुटम्।
सम्यक्त्वे स कुतो न्यायाज्ज्ञाने वाऽनुदयात्मके ॥६१८॥

चारित्रमोहपाकज औदयिक रागका अनुदयात्मक सम्यक्त्व व ज्ञानमें अभाव—ऊपर के श्लोकमे जो यह कहा था कि जिसका जो दोष है वह उसके ही आश्रय कहलायगा, दूसरे के आश्रय न कहलायगा, यह किस बातपर कहा जा रहा था ? यही बात इस छन्दमे कही जा रही है। चारित्रमोहके उदयसे औदयिक राग उत्पन्न होता है। जो राग जगता है, प्रीति स्नेह, ये चारित्रमोहनीयके उदयसे हो रहे है वे सम्यक्त्वमे अथवा ज्ञानमे कैसे हो सकते है ? क्योकि सम्यक्त्व और ज्ञान चारित्रमोहके कारणसे नही बना है। चारित्रमोहके अनुदयरूप है वह ज्ञान और सम्यक्त्व। तो चारित्रमोहके उदयसे होने वाला राग विकल्पका, दोष चारित्र-मोहके उदयसे सम्बध न रखने वाले अनुदयात्मक ज्ञान और सम्यक्त्वमे कैसे लगाया जा सकेगा ? बडा कठिन काम किये जानेका साहस हो रहा है। अच्छा देखो—आप लोग पकौडी खाते है, लेकिन उनमे नमक न पडा हो तो क्या वे अच्छी लगती है ? नही अच्छी लगती ना, और अगर खूब अच्छा नमक पडा हो तो अच्छी लगती है। तो उस पकौडीको खाते समय आप यह अनुभव नही कर पाते कि यह है नमकका स्वाद और यह है मूगकी दालका स्वाद। जब आप नमक अलगसे खायें और मूगकी दाल अलगसे खायें तो पता पडेगा कि यह है नमक का स्वाद और यह है मूगकी दालका स्वाद। जब पकौडी बनाकर खाते है तो उसमे अलग-अलग स्वाद न मालूम होकर एकरस मालूम होते है और आप उनको खाते हुए खूब मौज मानते हैं। बस इसी तरह ज्ञान और राग दोनोका स्वाद निराला-निराला है। ज्ञानका अनु-भव और तरहका है, रागका अनुभव और किस्मका है, मगर अज्ञानी जीव, आसक्त जीव,

मोही विषयप्रेमी लोग जो कुछ अनुभव करते है उस अनुभवमे उनको यह प्रकाश नही मिल पाता कि ओह ! इसमे ज्ञान तो यह है, राग यह है, यह ज्ञानका स्वाद है, यह रागका स्वाद है, ऐसे जुदे अनुभवमे नही आ पाता । लेकिन जो ज्ञानी पुरुष है, विवेकी है और इस बातपर ध्यान बनावें कि पकौडी खाते समयमे जो कुछ भलासा लग रहा है, यह नमकके प्रतापसे लग रहा, और नमकका ऐसा स्वाद होता है और उसके होनेसे उस तरहका स्वाद बना है और न नमक हो तो ऐसा पकौड़ीका फसफस स्वाद रहता है । कुछ ध्यान दें तो जान तो सकते है । इसी तरह ज्ञान और राग यद्यपि एक आधारमे है, फिर भी विवेक करें तो समझ सकते हैं कि अहो ! इस परिणतिमे दो बाते मिली हुई है—ज्ञान और राग । तो ज्ञानका जो यह अंश है, रागका यह अश है ।

रंगीन प्रकाशमे रंग और प्रकाशके भेदकी भांति राग और ज्ञानमें भेदका प्रदर्शन— जैसे हरा बल्ब लगाया, प्रकाश हरा हो गया, उसको देखकर यह भेद नही कर पाता कोई कि प्रकाश तो प्रकाश होता है । वह न हरा होता, न पीला होता, किन्तु वह तो मात्र प्रकाश होता है, और जो यह हरापन है यह तो बल्बमे जो हरा रंग लगा है उसका है यह भाव, औपाधिक है यह । बात तो ऐसी है, लेकिन उस प्रकाशको देखकर लोग कहते तो यही है कि हरा प्रकाश है । लेकिन जो विवेकी पुरुप है वे जानते है कि प्रकाशका क्या स्वरूप है ? अच्छा बतलावो—प्रकाशका असली स्वरूप कैसा है ? प्रकाशका रग हरा है क्या ? नही । प्रकाशका रग पीला है क्या ? नही । काला, नीला, लाल, सफेद आदि किसी रगका है क्या ? नही । जब कभी आप बहुत तेज रॉड जलाते है या दूधिया बल्ब जलाते है तो उसके प्रकाशमे कितनी ज्यादा सफेदी रहती है, वह भी प्रकाशका रग नही । अरे जो प्रकाश है वह एक स्वच्छ प्रकाश है । अब आप हैरानोमें होगे कि उस प्रकाशको समझें कैसे ? तो यह प्रकाश किसी न किसी रगोके साथ हमे यहाँ दिख रहा है, लेकिन भेद करें तो प्रकाशका अर्थ केवल प्रकाश है, किसी प्रकारका रंग नही है । हाँ कह सकें तो उसे साधारणतया स्वच्छताका रूप कह लीजिए । उसे कुछ सफेद कह लीजिए, पर इतना तो निश्चित है कि हरा, पीला आदि प्रकाश नही होता, ऐसे ही यहाँ देख लो—ज्ञान और राग दोनो बातें चल रही है । जान रहे है व राग कर रहे है मिली परिणति है । उन मिली परिणतियोमे आप यह भेद कर देते है कि जितना अंश केवल प्रतिभासका है वह तो है ज्ञानकी असली सम्पदा स्वरूप, और जो तर्क-वितर्क, विचार, कल्पना, राग आदि उठ रहे है वे ज्ञानकी चीज नही है, वह रागभाव चारित्रमोहके उदयसे हुआ है । यह भेदविज्ञान बड़ा कठिन है, लेकिन यह भेदविज्ञान जिनके जग गया उनके स्पष्ट मोक्षमार्ग है ।

राग विकल्प और ज्ञानमें स्वरूपभेद होनेसे ज्ञानकी सविकल्प कहनेकी अयुक्तता— देखो जीव शरीरसे न्यारा है, यह बात समझमें आ रही । बहुत जल्दी आयगी, और

यहाँ हम आपकी तो बात क्या गाँवोमें, देहातोंमे बिल्कुल अनपढ, मूर्ख लोग भी बता देंगे कि शरीरसे जीव न्यारा है। कह तो देंगे एक बार। कोई गांवमे मर गया हो तो उसे देखकर वे कह बैठते हैं कि देखो शरीर तो यही रह गया और हंसा अकेला चला गया। तो वे भी कह देते है कि जीव शरीरसे न्यारा है। इतनेमे तो भेदविज्ञानकी कोई खासी कला नही समझी। ढगसे कोई इसे भी जाने तो वह भी कला है। शरीरसे जीव न्यारा है, कर्मोंसे जीव न्यारा है। यहाँ तक तो भिन्न द्रव्यकी बात है, किन्तु कोई यह समझ सके कि रागसे जीव न्यारा है, कपायसे जीव न्यारा है, ऐसा भेदविज्ञान विरलेको होता और इसे समझनेके लिए यह कुञ्जी है कि जीवकी जगह हम ज्ञान नाम बोलें—ज्ञान है सो जीव है। जीव और ज्ञान निराले नही है। जीवके बजाय ज्ञानको बोल लो। ज्ञान रागसे न्यारा है। झट समझमे आ जायगा। ज्ञान का स्वरूप जानन है, प्रतिभास है, रागका स्वरूप विकल्प है। तो लो ज्ञान रागसे न्यारा हुआ। इस तरहका ज्ञान तो विशुद्ध है, प्रतिभासस्वरूप है और राग एक विकल्प है, चारित्र-मोहनीयके उदयमे हुआ है। तो विकल्पका दोप तो रागमे हुआ। उसका कारण चारित्रमोह का उदय है और उस दोपको लपेटा जा रहा है ज्ञानके साथ। बस यह भूल है, अगर असद्-भूत उपचारमे कहे तो कह दें, लेकिन इसका अर्थ क्या है कि वास्तवमे ऐसा नही है। जैसे कोई कहे कि देखो तुम अगर झूठ बुलवाओ तो बात ऐसी है, तो उसका अर्थ क्या हुआ कि बात ऐसी नही है। कोई किसी सच बातको कहना चाहता था और उसे दबाव डाले कोई कि ऐसा मत कहो। तो कैसे कहे? ऐसा कहो—अच्छी बात। सुनो देखो भाई हमसे अगर झूठ बुलवाओ तो बात ऐसी है। कह दिया उसने, क्या कहा? सच कह दिया। तो ऐसे असद्भूत उपचारनयसे अगर कहलवायें तो ज्ञान सविकल्प है। इसका अर्थ क्या हुआ कि वास्तवमे ज्ञान सविकल्प नही है।

अप्रनिघ्नन्निह सम्यक्त्व रागोऽय बुद्धिपूर्वकः।
नूनं हन्तु क्षमो न स्याज्ज्ञानसचेतनामिमाम् ॥६१६॥

सम्यक्त्वका घात न कर सकने वाले अबुद्धिपूर्वक रागमे ज्ञानसचेतनाका घात करने की अशक्यता—ज्ञान और रागमे फर्क है, स्वरूपभेद है। तब जिस जीवके सम्यक्त्व उत्पन्न हुआ है उसकी जो ज्ञानचेतना जगी है उस सम्यक्त्वको यह राग नष्ट नही कर सकता। बुद्धि-पूर्वक राग है चौथे गुणस्थानसे छठे गुणस्थान तक श्रावकोके, साधुवोके और अविरत सम्य-ग्दृष्टिके राग चल रहा है, लेकिन यह राग उनके सम्यक्त्वका घात करनेमे समर्थ नही है। जैसे सज्वलन कषाय महाव्रतका घात करनेमे समर्थ नही है, इसी प्रकार अप्रत्याख्यानावरण सम्बधी राग सम्यक्त्वका विनाश करनेमे समर्थ नही है। जो बुद्धिपूर्वक राग चल रहा उसमें यह सामर्थ्य नही कि सम्यग्दर्शनका घात कर दे। सम्यक्त्व तो अपने स्वरूपमे निर्भर है, पर

राग लग रहा है साथमे जोवमे । उस साहचर्यसे लोग सविकल्प कह देते है, पर वास्तवमे नही है । भीतपर कलई पोत दी तो भीन सफेद हो गई, लेकिन क्या भीत सफेद है ? अरे सफेद तो कलई है । जो कलई अभी ढेलाके रूपमें सफेदीको लिए हुए थी वही कलई घोल देनेसे भीतपर कूची फेर देनेके उपायसे ऐसी फैल गई । छटाकभर कलई जो छोटी जगहमे थी वही सारी कलई देखो अब १०० हाथमे फैल गई । तो कलईमे कलई फैली । सफेद कलई है, भीत नही । लेकिन साहचर्य है, इसलिए कहते कि भीत सफेद है । यह भी एक मोटा दृष्टान्त है, ऐसे ही यहाँ देखें कि राग हो रहा है तो रागमे राग है, राग ही तो विकल्प है । उस विकल्प रूप तो राग ही है, लेकिन वहाँ साथ ज्ञान अवश्य है । ज्ञान न हो तो राग भी कंसे फूटे ? रागकी मुद्रा कैसे बने ? तो उस रागकी मुद्रा वनायी ज्ञानने । तो रागका अपराध ज्ञानपर मढ़ दिया । जैसे दो आदमी लडते हो और कोई तीसरा व्यक्ति बचानेको पहुचा तो लडने वालोमें जो क्रूर है वह उसको छोडकर बचाने वालेपर टूट पडता है । तो क्रोध जो आया वह उसपर उतार दिया जाता है । तो ऐसे ही राग हो रहा है जीवमे और उसने ज्ञानको जाना, लेकिन ज्ञानने तो उसकी मुद्रा बनायी कि राग कैसे अनुभवमे आये ? सो ज्ञानने तो ऐसा सहयोग दिया, लेकिन लोग रागका विकल्प ज्ञानमे लगा देते है कि यह ज्ञान सविकल्प हुआ है । पर वस्तुतः ज्ञान और सम्यक्त्व दोनो सविकल्प नही है । इससे भ्रम मत करना कि ज्ञानचेतना सक्रमण करती है या विकल्प करती है या चतुर्थगुणस्थानसे प्रमत्तगुणस्थान तक होती नही है ।

नाप्यूह्यमिति शक्तिः स्याद्रागस्यैतावतोपि या ।
बन्धोत्कर्षोदयाशाना हेतुर्दृग्मोहकर्मणः ॥६२०॥

दर्शनमोहका बन्ध, उत्कर्ष व उदय कर देनेकी रागमे शक्ति बतानेका शकाकारका प्रयास—आत्माके अपने अन्दरकी विभूतिका वर्णन चल रहा है । यह बात अपनी ही है, इसके समझनेकी रुचि बढाये और अपने पाये हुए मन और ज्ञानका सदुपयोग करे । बात कठिन यो लगती है अपनी कि विषयोमे रुचिका सस्कार जबरदस्त बना है तो मन लग जायगा गप्पोमे, सरल प्रवचनोमे, गपसपकी बातोमे, क्योकि वैसा तो सस्कार बना ही है, लेकिन जो बात आत्माका नियमसे भला करेगी, ससारके सकटोसे सदाके लिए छुटकारा दिलायेग, वह बात यद्यपि कुछ कठिन लगती हो, किन्तु यह श्रद्धा करें कि मुझे तो यह ही समझना है । जितना ही कठिन हो, दसों बार उसका मनन करें, उसको खूब गुनें, वह इतना सरल हो जायगा जैसे कि वह अपने ही पास है । चर्चा यह चल रही थी कि जिस समय इस जीवको अपने सहज ज्ञानस्वरूपका परिचय होता है, अनुभव जगता है उस समय उसके ज्ञानचेतना प्रकट होती है और तबसे फिर यह किसी भी परपदार्थमे, परभावमे आत्मीयताका, अहताका, कल्याणका विश्वास नही रखता । उसकी प्रतीति यह रहती है कि जो ज्ञान है सो ही मैं हू ।

मैं ज्ञानको ही करता हू, ज्ञानको ही भोगता हू, ज्ञान ही मेरा सर्वस्व है। इसके अतिरिक्त परमाणुमात्र भी मेरा कुछ नही है, ऐसी प्रतीतिको कहते है ज्ञानचेतना। इस ज्ञानचेतनाके बारे मे पहिले शकाकारने तो यह कहा था कि यदि अपने ज्ञानस्वरूपमे उपयोग न हो तो ज्ञानचेतना मिट जायगी, मिथ्यात्व मिट जाना चाहिए। उसका उत्तर भली-भाँति दिया जा चुका है कि भाई ज्ञानचेतना लब्धिरूप है और उपयोगरूप भी है। उपयोगरूप ज्ञानचेतना कभी-कभी सम्यग्दृष्टिके होती है, किन्तु लब्धिरूप ज्ञानचेतना निरन्तर रहती है और उस ज्ञानचेतनाके कारण सम्यक्त्व है और सवर निर्जरा है। उपयोगमयी ज्ञानचेतना न हो तो इसका सम्यक्त्व, संवर, निर्जरा मिट नही सकती। होगा स्वानुभव, स्वोपयोग तो वह लब्धिकी वृद्धिका कारण हो जायगा, पर जितने भी गुण दोष होते हैं वे आत्मामे अपनी योग्यतानुसार होते हैं। इसका समाधान हो चुकनेके बाद अब यहाँ शकाकार यह कह रहा है कि सम्यग्दृष्टि जीवके राग तो है ही, कुछ पदोमे जीवके राग रहता है तो रागसे तो बडा खतरा है। रागकी ऐसी शक्ति है कि जो दर्शनमोहनीय कर्मका बंध करा दे, दर्शनमोहका उत्कर्ष करा दे, उदय ला दे। तो जब राग है तब दर्शनमोहका उदय आ बैठेगा और सम्यक्त्व मिट जायगा। लो उस तरह न सही तो इस तरह मान लो कि जब किसी परपदार्थकी ओर उपयोग है तो उसके राग भी है और राग होनेसे उसका सम्यक्त्व मिट जायगा। इस पद्यमे ऐसी शंका बताकर कहते है कि ऐसी कल्पना न करनी चाहिए। रागमे ऐसी शक्ति है कि दर्शनमोहनीयका उदय ला दे और इस तरह ज्ञानचेतना यह सम्यक्त्व मिट जाय, ऐसी तर्कणा न करनी चाहिए, क्योकि रागको अगर मिथ्यात्वके उदयका कारण मान लिया जाय तो इसमे दोष आता है, वह क्या दोष है सो सुनो—

एव चेत् सम्यगुत्पत्तिर्न स्यात्स्यात् दृगसभव'।
सत्यां प्रध्वससामग्रचा कार्यध्वंसस्य सम्भवात् ॥६२१॥

रागको दर्शनमोहोदयका कारण मान लेनेपर सम्यक्त्वकी सदा अनुत्पत्तिका प्रसंग— शकाकार कह रहा है कि रागभाव दर्शनमोहनीयके बध, उत्कर्ष और उदयका कारण हो सकता है। यदि ऐसा मान लें तो इसका अर्थ यह होगा कि फिर सम्यग्दर्शनकी उत्पत्ति हो ही नही सकती। रागके कारण यदि मिथ्यात्वका उदय मान ले तो राग तो अनादिसे जीवके है ही। मिथ्यात्व कैसे मिटेगा ? सम्यक्त्व कैसे बनेगा ? तो रागके कारणसे न सम्यक्त्व मिटता, न मिथ्यात्व आता, यद्यपि थोडासा यहां यह फर्क डाल सकते है जो अनन्तानुबधी राग है या मिथ्यात्वके साथ रहने वाला राग है वह तो सम्यक्त्व नही होने देता, ठीक है, मगर वहां यह बात तो पडी है कि मिथ्यात्वका उदय चल रहा है। असली कारण तो मिथ्यात्वका उदय है और अनन्तानुबधीका उदय जिसके आया उसके सम्यक्त्वका विनाश होता है, किन्तु दर्शनमोह

का उदय तो नही बनता । बात यद्यपि सही है, पर इतने मात्रसे यह नियम तो न बनाया जायगा कि राग दर्शनमोहका उदय ला दे, ध्यानसे सुननेकी बात है और फिर भी यदि समझ मे न आया तो यह आपके लिए उलाहना बनेगा कि बीसो वर्ष स्वाध्याय करते हो गए और जैनधर्मके बच्चोकी अ आ की बात भी नही समझमे आती, यह तो जैनसिद्धान्तके प्रारम्भको बात कही जा रही है । यदि इसकी ओर रुचि नही है या समझमें नही आता तो समझो कि हमने तो अब तक मन ही बहलाया, धर्ममे प्रवेश नही किया । चर्चा चल रही है कि सम्यग्दर्शन तो होता है मिथ्यात्वके अभावसे और राग होता है चारित्रमोहके उदयसे । तो चारित्रमोहके उदयसे होने वाला राग सम्यक्त्वका विनाश करनेमे असमर्थ है । एक थोडेमे अनन्तानुबंधीके उदयकी बातको यो गौण कर दे कि वह तो थोडे ही समयमे मिथ्यात्वका उदय आने का है और एकमे रागकी औपचारिक कारणता देखकर सब रागमे नियम तो नही बनता । तो रागभाव सम्यग्दृष्टिके रहता है । जब तक वह गृहस्थीमे है अथवा प्रमत्तविरत गुणस्थान तक है, तो रहा आये, मगर उस रागमे यह सामर्थ्य नही है कि दर्शनमोहका उदय ला दे, या सम्यक्त्वका विनाश कर दे । पहिले शंकाकारने यह कहा था कि जब राग अवस्था आती है तो वहाँ ज्ञानचेतना कैसे रह सकती है ? उसका उत्तर पानेके बाद अब यह शकाकार दूसरे ढगसे आक्रमण करके अपनी बातको रखना चाह रहा है । शंकाकारका यहाँ यह अभिप्राय है कि चलो— रागभाव होनेसे सम्यक्त्वका घात नही होता, लेकिन राग होनेसे दर्शनमोहका उदय तो आ जायगा । दर्शनमोहका उदय आया कि सम्यक्त्व मिटा, मिथ्यात्व आ गया । बात तो यह ही कही है, मगर दूसरे शब्दोमे बात पेश की जा रही है कि सम्यक्त्वके राग है, परपदार्थकी ओर उपयोग है तो दर्शनमोहका उदय आ जायगा । समाधान यहां यह दे रहे है कि रागभाव यदि दर्शनमोहका उदय करानेमे या बन्ध करानेमे समर्थ हो तब तो आत्मामे सम्यक्त्व कभी भी नही जग सकता । इसी विषयको और स्पष्ट करते है ।

न स्यात्सम्यक्त्वप्रध्वंसश्चारित्रावरणोदयात् ।
रागेणैतावता तत्र दृङ्मोहेऽनधिकारिणा ॥९२२॥

चारित्रावरणके उदयसे होने वाले रागका दर्शनमोहमें अनधिकार—राग कैसे होता है ? किसी कर्मके उदयका निमित्त पाकर । कौनसे कर्मके उदयके निमित्तसे ? चारित्रावरणके उदयसे अथवा कहो चारित्रमोहनीयकर्मके उदयसे रागभाव होता है, सो उस रागभावसे अथवा कहो चारित्रमोहनीयके उदयसे सम्यक्त्वका घात नही हो सकता । रागभावका यह अधिकार नही है कि वह दर्शनमोहनीय कर्मके बारेमें कुछ कर सके । इसी कारण तत्त्वार्थसूत्रमें ८वें अध्यायमे जहाँ कर्मके नाम लिए गए हैं वहाँ मोहनीयका काम दो भेदोमे लिया है— दर्शनमोह और चारित्रमोह । दर्शनमोहके उदयसे मिथ्यात्व होता है, रागभावके कारण या चारित्रमोहके

उदयमे मिथ्यात्व नही होता, सम्यक्त्वका घात नही होता, यहाँ वस्तुस्वरूप बताया जा रहा है। कही यह बात न ग्रहण कर लेना कि देखो यह कहा जा रहा कि रागभाव भी रहे, सम्यक्त्व भी रहे, कोई विरोध नही, तो हम तो घरमे रहकर खूब डटकर रागभाव करेंगे, क्योकि बताया हो जा रहा कि राग भी रहे, सम्यक्त्व भी रहे। अरे जिसके सम्यक्त्व रहता है वह कर्मके उदयसे रागभाव हो तो उससे भी विरक्त रहता है। यह बात तो अपने आपमे परख लो कि अपने आपमे जो राग जगता है उस रागसे आपको घृणा है या नही। जो कुटुम्ब, परिवार, वैभव घर सम्बधी राग जगता है चित्तमे, उस रागसे आपको ग्लानि है या नही? उस रागसे हटनेके लिए आपको भीतरमे तडफन है या नही? यदि उस रागको भला मान रहे है तो सम्यक्त्व नही है। राग दो किस्मके मान लें—एक तो विषयोका राग और एक उन रागोका राग। उदय आया, न सह सके, विषयोमे लग गए, यह हुआ राग। इतना तक तो सम्यग्दृष्टिके सम्भव है, लेकिन उस रागमे भी राग रहे, उस रागमे ग्लानि न आये तो ऐसा राग सम्यग्दृष्टिके नही होता। ऐसे रागको मिथ्यात्व कहते है जो रागमे राग बनाये। राग तो मात्र राग है, रागभाव सम्यक्त्वका विघातक नही, दर्शनमोहका उदय ला सकने वाला नही। गुण दो है—चारित्रगुण और सम्यक्त्व गुण। सम्यक्त्व गुणकी प्रक्रिया उस ही मे होगी, चारित्रगुणकी क्रिया उस ही मे होगी, तब शकाकारका यह कहना कि रागकी ऐसी शक्ति है कि वह दर्शनमोहका उदय ला सकता है, यह कहना युक्त नही।

यतश्चास्त्यागमात् सिद्धमेतद्दृङ्मोहकर्मण ।
नियत स्वोदयाद्बन्धप्रभृति न परोदयात् ॥९२३॥

दर्शनमोहकर्मके बन्धादिकी दर्शनमोहोदयसे उद्भूतिकी आगमसे सिद्धि—आगममे भी यह बताया गया है कि दर्शन मोहकर्मका बध उत्कर्ष ये सब दर्शनमोहके उदयसे ही चलते है। चारित्रमोहके उदयसे न दर्शनमोहका बन्ध है, न उत्कर्ष है, न उदय है। फिर यह कैसे कहा कि रागभाव होनेसे सम्यक्त्वका विघात होगा, दर्शनमोहका उदय हो जायगा। जिस सम्यक्त्व का जो कारण माना गया है वह कार्य उसी कारणसे बन सकेगा। कार्य कारण विधि मिटाई न जा सकेगी। यदि यह कार्य कारण पद्धति मिटा दी तो कोई ठीक व्यवस्था न बन सकेगी। रोटी जिस तरह बनती है उसी तरह बनेगी। कोई कहे कि वर्ष भरमे जब ११ महीने २९ दिन आगसे रोटी पक जाती है तो यह एक दिन पानीसे क्यो न पक जायगी? ऐसा तो नही होता। यह तो व्यर्थकी चर्चा है। जैसे एक कोई ठाकुर बन्दूक लिए बैठा था। एक बनिया भी उसके पास बैठा था। सो वह ठाकुर बन्दूककी नली तो दूसरी तरफ किए था और उसका काठका मूठ बनियाकी ओर था। पर वह बनिया बोला—ठाकुर साहब आप इस बन्दूकको कही अलग धर दो, अपने हाथमे न रखो। 'क्यो?' कही ऐसा न हो कि इसकी गोली

छूटकर हमारे लग जाये ।....अरे भाई बन्दूककी नली तो हमारी ही ओर है, तुम्हारी ओर तो नही है । गोली नलीमें से ही तो निकला करती है, कही मूठसे (कुन्देसे) थोड़े ही निकलती । अगर गोली निकलेगी तो हमारे ही तो लगेगी, तुम्हारे तो न लगेगी । तो वह बनिया बोला— अरे भाई रोज-रोज तो गोली नलीमे से निकलती है, पर मुझे भय है कि आज कही कुन्देमे से न निकल पड़े । तो भाई ऐसी भी शका कोई लोग करते, पर कार्यकारण पद्धति तो जिस तरह है वैसी ही चलेगी । दर्शनमोहके उदयसे दर्शनमोहका उत्कर्प बनेगा, चारित्रमोहके उदय से दर्शनमोहका उदय नही बनता, अतएव यह शका मत करो कि रागभाव होनेसे दर्शनमोहका उदय आ जायगा याने मिथ्यात्व हो जायगा ।

ननु चैवमनित्यत्वं सम्यक्त्वाद्यद्वयस्य यत् ।
स्वत. स्वस्योदयाभावे तत्कथ स्यादहेतुतः ॥६२४॥
न प्रतीमो वय चैतद्दृङ्मोहोपशमः स्वयम् ।
हेतुः स्यात् स्वोदयस्योच्चैरुत्कर्पस्याऽथवा मनाक् ॥६२५॥

उपशम सम्यक्त्व व क्षायोपशमिक सम्यक्त्वकी अनित्यता दिखाकर रागमें सम्यक्त्व-विनाशक शक्ति बतानेका शंकाकारका प्रयास—अब शकाकार दूसरी शंका करता है । इस शकाको समझनेसे पहिले यह समझ लें कि कर्म ८ प्रकारके होते है—ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय । इनमे से मोहनीय कर्मके दो भेद है— दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय । दर्शनमोहनीयके उदयसे मिथ्यात्व होता है और चारित्र-मोहनीयके उदयसे राग होता है तो यहाँ यह सिद्ध किया गया । यह सिद्धान्त बताया गया था कि रागसे दर्शनमोहका उदय नही बनता याने मिथ्यात्व नही आ जाता । इसपर शंकाकार यह कहता है कि देखो रागके उदयसे दर्शनमोहका उदय नही आता, मिथ्यात्व नही जगता तो फिर यह बतलाओ कि तीन सम्यक्त्वोमे जो दो सम्यक्त्व है—औपशमिक सम्यक्त्व और क्षायोप-शमिक सम्यक्त्व, ये सम्यक्त्व अनित्य क्यो है ? मिट क्यो जाते है ? औपशमिक सम्यक्त्व तो अन्तर्मुहूर्त रहता है, कोई दो-चार सेकेण्ड रहता है, फिर नही रहता, और क्षायोपशमिक सम्यक्त्व अधिकसे अधिक ६६ सागर तक रहता है, इसके आगे नही । यदि रागभाव दर्शन-मोहका उदय लानेमे समर्थ न हो तो यह बतलाओ कि आदिके दो सम्यक्त्व अनित्य क्यो है ? यदि बिना कारण उदय अपने आप हो जाय तब तो बडी गडबडी हो जायगी । ऐसा तो होता नही, याने उपशम सम्यक्त्व मिटकर, क्षायोपशमिक सम्यक्त्व मिटकर मिथ्यात्व आ जाता है तो ऐसा कैसे हो पायगा ? रागादिक भाव ही तो कारण बने तब तो उदय आये । यदि राग को कर्ता न मानें तो फिर अकारण कैसे मिथ्यात्व हो गया ? दर्शनमोहका उदय बन गया और यह भी विश्वास नही किया जा सकता कि दर्शनमोहका उपशम ही दर्शनमोहका उदय ला

देगा। देखिये—उपशमसम्यक्त्व किसे कहते हैं ? जो दर्शनमोहनीय कर्मके उपशमसे जगे उसे औपशमिक सम्यक्त्व कहते है। उपशम सम्यक्त्व रहता है थोड़े समय, फिर मिट जायगा तो क्या दर्शनमोहके उपशमसे मिट जायगा ? दर्शनका उपशम दर्शनमोहके उदयका कारण नही बन सकता। तो इससे भी सिद्ध होता है कि रागभावसे सम्यक्त्व मिट जाता है, मिथ्यात्वका उदय आ जाता है। शंकाकार अपनी शंकाका पोषण कर रहा है। हैं ना दोनो अनित्य ? क्षायिक सम्यक्त्व ही एक ऐसा सम्यक्त्व है कि जो हो वह अनन्तकाल तक रहेगा, मिट नही सकता, तब ही क्षायिक सम्यक्त्वको बताया है कि वह चौथे से १४वें गुणस्थान तक है, और सिद्धोमे भी है। औपशमिक कहा गया है चौथेसे ११वें तक और क्षायोपशमिक कहा गया है चौथेसे ७वें तक, और आगे रहता ही नही है, अनित्य है, मिट जाता है। और जब मिट गया और मिथ्यात्वरूपमे स्थिति हो गई तो इससे यह सिद्ध है कि देखो—ऐसे सम्यक्त्वका विघात या मिथ्यात्वका होना रागसे ही बना। यदि रागके उदयसे सम्यक्त्व न मिटे तो कैसे मिट सकेगा औपशमिक ? और क्षायोपशमिकसे सम्यक्त्व जगे तो भी क्षयोपशम तो न रहा। और इसे छोडो, सबके नियम तो नही उपशम और क्षयोपशम ही मिथ्यात्वके कारण बनेंगे यदि तो सम्यक्त्व फिर होगा कैसे ? और स्वयमेव अगर हो जाय तो बडी गडबडी हो जाय, फिर तो ज्ञानीके बल्कि भगवानके भी सम्यक्त्व न रहेगा। इससे मानना चाहिए कि रागभाव सम्यक्त्वको मिटा देता है, मिथ्यात्वको पैदा कर देता है। यह शंकाकारकी शका है। देखो—शंकाकारकी शंका सुननेमे भली लग रही होगी—बेचारा ठीक कह रहा। जब राग जगे तो सम्यक्त्व मिट जायगा, लेकिन सिद्धात यह है कि रागभावके कारण सम्यक्त्व नही मिटता या मिथ्यात्व उत्पन्न नही होता। भले ही यह अनन्तानुबधी कपायका उदय कही सम्यक्त्वका घात कर दे, फिर अनन्तानुबधी कपाय मिथ्यात्वके उदयका कारण नही। तो मिथ्यात्वका हो जाना, रागभावके कारण नही है, सिद्धान्त यह कहता है। सो अब शकाकारकी उक्त शकाका ऐसा ही समाधान करते है।

नैव यतोऽनभिज्ञोसि पुद्गलाचिन्त्यशक्तिषु।
प्रतिकर्म प्रकृत्याद्यैर्नानारूपासु वस्तुतः ॥६२६॥

शंकाकारकी उक्त शंकाके समाधान—शङ्काकारने क्या शङ्का की थी कि किसी सम्यग्दृष्टि जीवके सम्यक्त्व मिटकर जो मिथ्यात्व आ जाता है—औपशमिक सम्यक्त्व और क्षायोपशमिक सम्यक्त्व जो नष्ट हो जाता है उसका कारण रागभाव है, लेकिन सिद्धान्त यह नही बताता। शङ्काकारकी शङ्काके समाधानमे कह रहे है कि हे शङ्काकार पुरुष ! तुम्हे अभी पुद्गलकी अचिन्त्यशक्तिमे विश्वास नही हुआ, कर्मसिद्धान्तका विशेष परिचय नही कर पाया, इसलिए शङ्का कर रहे हो। तुम्हे पता होना चाहिए कि जब कर्मका बन्ध होता है तो चार

प्रकारसे होता है—प्रकृतिबध, प्रदेशबध, स्थितिबंध और अनुभागबंध। और उनके उदयमे उनके अनुरूप प्रभाव होनेकी शक्ति है, और जब उपशम होता है तब वह शक्ति व्यक्त न चलेगी, मगर उपशम तो उपशम है, दबना है। उस दबनेकी भी स्थिति है। तो जब दबनेकी स्थिति पूर्ण हो गई तो अपने आप उदय आ गया। यह तो कर्मोमे अपना स्वयंका प्रभाव है। इसी बातको और स्पष्ट करते है।

अस्त्युदयो यथानादेः स्वतश्चोपशमस्तथा।
उदयः प्रशमो भूयः स्यादर्वागपुनर्भवात् ॥६२७॥

कर्मोकी शक्तिमें उदय व उपशमकी स्वयं योग्यता बताते हुए उक्त शंकाका समाधान— देखो—अनादिकालसे अब तक जीवोके कर्मका उदय चल रहा है। जब कर्म उदित होता है तो वहाँ कोई क्यो तो नही लगाता ? क्यो उदित हो गया ? कैसे उदित हो गया ? चल रहे है, समझ रहे है सब। तो जैसे अनादिकालसे कर्मोका उदय चल रहा है उसी प्रकार कर्मोका उपशम भी स्वय होता है, और उपशमके बाद उदय भी आ जाता तो औपशमिक सम्यक्त्वके उदय होनेकी बात तो यह है कि वहाँ है उपशम और उपशममे होती है स्थिति, अंतःकरण करके जो उपशमका काल पाया है उसकी म्याद है। देखो—जैसे किसी वकीलके यह इच्छा हुई कि हम दसलक्षणके दिनोमे कचहरी न जायें तो वह क्या उद्यम करता है ? करीब एक-दो माह पहिलेसे ही उस दसलक्षणके दिनोकी कोई तारीख नही लगवाता और कोई तारीख पहिलेसे लग गई हो तो उसे हटानेकी कोशिश करता है। यह तारीख बादमे लगा दो या थोड़े पहिले लगा दो। उसके ऐसे उद्यमसे होता क्या है कि उन दस दिनोमे कोई तारीख ही नही है तो कचहरी जानेका कष्ट क्यो करना पडेगा ? तो यो समझ लो कि तारीखोका उन कामोका उपशम हो गया है दस दिनके लिए। अब कोई यहाँ यह प्रश्न करे कि जब एक बार उपशम हो गया दस दिनोकी तारीखका तो फिर ये तारीखे आ कैसे गईं ? इस तरहकी कोई शंका न करे। जानते है कि वह उपशम तो दस दिनोका था, तारीखें तो आयेंगी ही, काम तो होगे। ऐसी ही उपशम सम्यक्त्वकी बात है। उपशम कितने समयका था, उसके बाद उदय तो आयगा ही। तो औपशमिक सम्यक्त्वकी यह बात है। साथ ही यह समझ लो कि औपशमिक सम्यक्त्वके बाद सम्यक्त्व मिटे ही मिटे, ऐसा नही है। क्षायोपशमिक सम्यक्त्व हो जाय। अब जरा क्षायोपशमिक सम्यक्त्वकी अनित्यताकी जानकारी कीजिए। क्षायोपशमिक सम्यक्त्व प्रकृतिका उदय रहता है, उससे उसमे दोष उत्पन्न होते हैं। उसमे यदि प्रमाद किया तो उनमे उसकी भी स्थिति है। जिनका क्षय और क्षयोपशम किया तो उसके बाद उनका उदय आ सकता है। तो यो क्षायोपशमिक सम्यक्त्व मिट गया, लेकिन यह कहना कि देखो रागभाव जगा, इसलिए सम्यक्त्व मिटा या मिथ्यात्वका उदय आया सो बात नही है। राग है चारित्र-

मोहका काम और मिथ्यात्व है दर्शनमोहका काम । तो इस तरह शंकाकार यह सिद्ध करनेमें सफल न हो सका कि इस जीवका जब विषयोके प्रति उपयोग जाय या राग हो तो इसके ज्ञानचेतना नही रहती है ।

अथ गत्यन्तराद्दोष: स्यादसिद्धत्वसञ्ज्ञकः ।
दोषः स्यादनवस्थात्मा दुर्वारोन्योन्यसश्रयः ॥६२८॥

रागसे दर्शनमोहका उदय माननेपर असिद्धत्वादि अनेक दोषोका प्रसङ्ग—मिथ्यात्व कैसे होता है, राग कैसे होता हैं, इसकी चर्चा सक्षेपरूपमे कही गई थी । राग होता है चारित्र-मोहनीयके उदयसे और मिथ्यात्व होता है दर्शनमोहके उदयसे । चारित्रमोहके उदयसे अथवा रागसे दर्शनमोहका उदय आ जाय अथवा मिथ्यात्व आ जाय, यह नही हो सकता । इस सम्बधमे विवेचन किया गया था । अब यहा यह बतलाते है कि जैसा सिद्धान्त बताया गया है वैसा कोई न माने, अन्य प्रकारसे माने याने यह बताये कि रागसे दर्शनमोहका उदय होने लगता है या मिथ्यात्व हो जाता है तो ऐसा मानने वालेके अनेक दोष आयेंगे । असिद्धत्व दोष होगा, अनवस्था होगा और इतरेतराश्रय दोष होगा । अनवस्था तो यो है कि एक व्यवस्था ही न रह सकी । किसी भी कारणसे कोई कार्य बन बैठे तो क्या व्यवस्था रही और रागसे हुआ दर्शनमोहनीयका उदय और दर्शनमोहके उदयसे बना राग तो यो चलते जावो, कही भी व्यवस्था न बन सकेगी तो इन्ही सब दोषोका वर्णन करनेके लिए आगे कुछ पद्य कहेगे ।

दृङ्मोहस्योदयो रागायत्तोस्ति चेन्मतम् ।
सोऽपि रागोस्ति स्वायत्तः किं स्यादपररागसात् ॥६२९॥

रागसे रागकी उत्पत्ति माननेपर अनवस्था दोषके प्रसङ्गका विवरण—रागसे मिथ्यात्व माननेपर, रागसे दर्शनमोहनीयका उदय माननेपर कौन दोष आते है, इस विषयमे कल सकल्प किया था कि उन दोषोको कहेगे, उन्ही दोषोके कहनेकी यह भूमिका चल रही है । शंकाकारने यह माना था कि रागके आधीन दर्शनमोहनीयका उदय है । राग होता है तो मिथ्यात्व आ जायगा । दर्शनमोहका उदय बन बैठेगा, ऐसा शकाकारका मत था । इस विषय मे शकाकारसे यह पूछा जा रहा है कि ऐसा कहने वाले शकाकार यह बतायें कि जो भी राग है, जिसके आधीन दर्शनमोहके उदयको कहा है, जिस रागसे दर्शनमोहका उदय बतलाया जा रहा है वह राग क्या अपने आधीन है या अन्य रागके आधीन ? ध्यानसे सुनो—क्या विकल्प किया गया है ? शकाकार यह कहता था कि राग होता है तो दर्शनमोहनीयका उदय आ जायगा अर्थात् मिथ्यात्व आ जायगा तो ऐसा कहने वाला शकाकार यह बतलाये जरा कि जैसे रागके करनेसे मिथ्यात्व आता है तो रागसे तो मिथ्यात्व आया और वह राग किससे आया सो बताओ ? क्या वह राग किसी दूसरे रागसे आया है ? अगर दूसरे रागसे आया है

तो वह दूसरा राग कहाँसे आया ? किसी तीसरे रागसे आया ? वह तीसरा राग कहाँसे आया ? वह भी किसी अन्य रागसे आया। तो इस प्रकार अनवस्था दोष हो जायगा। पहिले इस ही रागकी व्यवस्था न बना सके जिस रागसे मिथ्यात्वको माना जा रहा है। तो यदि दूसरे रागसे राग आया तो अनवस्था दोष होगा। उसमें तो किसी रागकी व्यवस्था न बन सकी। यह ही राग नही सिद्ध हो सकता, तब फिर दर्शनमोहके उदयकी चर्चा ही क्या करेंगे ?

स्वायत्तश्चेच्च चारित्रस्य मोहस्योदयात्स्वतः।
यथा रागस्तथा चाय स्वायत्त स्वोदयात्स्वत. ॥६३०॥

चारित्रमोहके उदयसे स्वतः रागोद्भव माननेपर दर्शनमोहके उदयसे स्वतः मिथ्यात्वोद्भवकी भी सिद्धि—प्रकरणकी बात फिर सुन लीजिए। बात यहाँ सामने दो है—मिथ्यात्व और राग। और ऐसा जानते होगे कि मिथ्यात्व और रागमे कुछ अन्तर है। राग तो एक प्रेमभाव उत्पन्न हो गया उसका नाम है। राग दोष है, प्रेम दोष है, प्रेमको धर्म न समझना। जैं। विरोध अधर्म है उसी तरह प्रेम भी अधर्म है। यह तो है रागकी व्याख्या। और मिथ्यात्व क्या है ? मोह, अज्ञान, बेसुधी। आत्माके स्वरूपकी सुध भी न हो सकना, यह कहलाता है मिथ्यात्व, यह तो महा अधर्म है। तो मिथ्यात्व तो होता है दर्शनमोहनीय कर्मके उदयसे, लेकिन शकाकार यहाँ यह कह रहा कि राग होगा तो दर्शनमोहका उदय आ जायगा, तो ऐसा कहने वाले शकाकारसे यह पूछा था कि वह राग किससे आयगा ? अगर दूसरे रागसे आयगा तो उसका दोप तो बता दिया। अब यदि यह कहो कि वह राग स्वय आ जायगा तो चारित्र मोहनीयके उदयसे राग अपने आप हो जानेमे राग होनेके लिए और किसीकी आवश्यकता नही। चारित्रमोहनीयका उदय हुआ तो स्वयं अपने आप राग बन गया। यदि शंकाकार यह जवाब दे तो शकाकार उत्तर भी पा ले अपने आप कि जैसे राग स्वयं हो जाता, चारित्रमोहनीयका उदय हुआ कि राग अपने आप हो गया। उस रागको होनेके लिए और रागोकी अपेक्षा नही करनी पडती, तो जिस तरह मोहके उदयसे राग स्वय हो जाता है। इसी प्रकार दर्शनमोह के उदयसे मिथ्यात्व स्वय हो जाता है। यह शका न करें कि राग होनेसे मिथ्यात्व आ जाता या दर्शनमोहका उदय आ जाता। शकाकार जो यह कह रहा था उसके दिलमे यह चोर था कि जो हम यह कहते आ रहे थे कि राग होनेसे ज्ञानचेतना नही रहती, परका उपयोग होने से ज्ञानचेतना नही रहती। परका उपयोग किया, रागभाव हुआ तो ज्ञानचेतना नही रहती। इसका उत्तर तो बहुत विस्तारसे दिया था। जब वहाँ पार न पडा तो शकाकार यहाँ दूसरा पैतड़ा बदलकर बोल रहा है कि इतना तो मान लेना चाहिए कि रागभाव होगा तो दर्शनमोहनीयका उदय आ जायगा; उसका समाधान यहाँ दिया जा रहा। देखो—जैसे चारित्रमोहनीयका उदय आनेपर राग स्वयमेव हो जाता है उसी प्रकार दर्शनमोहनीयका उदय आनेपर

मिथ्यात्व भी स्वयमेव हो जाता है ।

अथ चेत्तद्द्वयोरेव सिद्धिश्चान्योन्यहेतुत: ।
न्यायादसिद्धदोषः स्याद्दोषादन्योन्यसश्रयात् ।।८३१।।

राग और दर्शनमोहोदयको दोनोको परस्पर कारण माननेमे असिद्ध और अन्योन्य-संश्रय दोषका प्रसङ्ग—शकाकारने यह कहा था कि जो दो बातें सामने रखी है—राग होना और दर्शनमोहनीयकर्मका उदय होना और इसमे जैसे कारण कार्य बताया था कि राग तो कारण है और दर्शनमोहनीयका उदय हो जाना कार्य है । इस सम्बधमे यदि शकाकार यह कहने लगे कि दोनोकी सिद्धि एक दूसरेसे मान ली जायगी, याने दर्शनमोहनीयके उदयसे राग होता है और राग होनेसे दर्शनमोहनीयका उदय आ जाता है तो लो किसी एककी भी सिद्धि न हो सकी । यो असिद्ध दोष आया तथा उनमे इतरेतराश्रय दोप हो गया । एककी सिद्धि दूसरेके आधीन है और उसकी सिद्धि दूसरेके आधीन है तो कोई सिद्धि हो ही न सकेगी । जैसे कोई ताला जो बिना चाभीके लग जाता है उसकी चाभी तो धर दें संदूकमे और बाहरसे ताला लगा दिया जाय तो वहाँ विवशता आ जाती है, इतरेतराश्रय दोप आ जाता है । जब ताला खुले तब चाभी निकले, जब चाभी निकले तब ताला खुले । एक घटना बतायी है, कही ऐसा तर्क न कर देना कि हम बाजारसे दूसरी चाभी ले आवेंगे । लो वहाँ इतरेतराश्रय दोष कैसे होगा ? तो जितनी बात समझायी जा रही है वह समझना है । ऐसे तर्कोंमे तो किसी बातपर भी न टिक सकेंगे । एक ऐसी घटना कहते कि एक वकील साहब जा रहे थे तो रास्ते मे एक तेली अपने बैलसे कोल्हूमे तेल पेल रहा था । तेलीने उस बैलके गलेमे एक घटी बाँध रखी थी । जब वह चलता था तो बैलकी गर्दन हिलनेसे वह घटी बजती रहती थी । वह तेली स्वय दूर जाकर अपना और कोई काम करता रहता था । जब तक घटीकी आवाज आती रहती थी तब तक समझता था कि बैल चल रहा है और जब घटी बजना बन्द हो जाता तो समझ लेता था कि बल खडा हो गया और आकर बैलको खेद जाता था, बैल फिर चलने लगता था । तो वकील साहब जब उधरसे निकले तो पूछा कि इस बैलके गलेमे घटी क्यो बाँध रखी है ? तो तेलीने बताया कि घटी बजनेसे हम जानते रहते है कि बैल कोल्हू पेल रहा है, इसलिए इस बैलके गलेमे घटी बाँध रखी है । तो वकील बोला—अगर यह बैल खडा खडा ही अपनी गर्दन हिलाता रहे तब तो तुम धोखेमे पड जावोगे । तो तेली बोला—अभी हमारा बैल वकील नही बना । जब वकील बन जायगा तो वैसा भी कोई उपाय कर लेंगे । तो यह इतरेतराश्रय दोपकी घटना बतायी है । जैसे बताया कि ताली निकले तब ताला खुले और ताला खुले तब ताली निकले, ऐसे ही कहा कि जब दर्शनमोहनीयका उदय आये तो राग उत्पन्न हो और जब राग उत्पन्न हो तो दर्शनमोहका उदय आये । सम कार्यकारणभाव मानने

मे भी शकाकारका पूरा नही पड सकता।

नागमः कश्चिदस्तीदृगघेतुर्दृङ्मोहकर्मणः ।
रागस्तस्याथ रागस्य तस्य हेतुर्दृगावृत्तिः ॥६३२॥

आगमसे भी रागमें दर्शनमोहोदयकारणत्वकी असिद्धि—युक्तियोसे यह बात सिद्ध न हो सकी कि राग होनेसे दर्शनमोहनीयका उदय आ जाता है। अब आगमका सहारा लेकर बोले तो आगमसे भी सिद्धि नही हो सकती। आगममे यह नही बतलाया कि दर्शनमोहनीय कर्मका कारण राग है, और न यह बतलाया है कि रागका कारण दर्शनमोहनीयकर्म है। दोनोके भिन्न-भिन्न कारण है, और राग तो है यहाँ भावकर्म और दर्शनमोहनीयकर्म है द्रव्यकर्म और तिसपर भी रागका सम्बन्ध है चारित्रगुणके विकारसे और दर्शनमोहका सम्बंध है सम्यक्त्व गुणके विकारसे। तो यहाँ ऐसा कार्यकारण भाव नही है कि रागभाव दर्शनमोहका कारण बने और दर्शनमोह रागभावका कारण बने। तो आगमसे भी यह सिद्ध नही किया जा सकता कि रागसे दर्शनमोहका उदय आता है।

सम्यग्दृष्टिके निरन्तर ज्ञानचेतना, संवर व निर्जरण तथा रागसे सम्यक्त्व ज्ञानचेतना, संवर व निर्जरणके विनाशकी असिद्धि—इस प्रकरणमे फिरसे बात समझ लो—सिद्धान्तकी बात यह है कि जिस जीवको सम्यग्दर्शन हो जाता है उसके निरन्तर ज्ञानचेतना रहती है। जैसे यहाँ लोगोंको अपने नामकी चेतना निरन्तर रहती है। मेरा अमुक नाम है। सो रहे हों तब भी नामकी प्रतीति है। नही तो कोई धीरेसे पुकारता है तो झट क्यो जग जाते है? दूसरेका नाम कोई जोरसे ले तब भी बडी मुश्किलसे जगते है। कितने ही दूकान आदिकके काम-काजमे लग रहे हो तब भी नामकी प्रतीति रहती है। मै अमुक नामका हू, नामकी तरफ ख्याल भी न रख रहे हो तब भी अपने नामकी प्रतीति और सस्कार रहता है। तो जैसे लोगोको अपने नामको प्रतीति निरन्तर रहती है, ऐसे ही सम्यग्दृष्टि जीव को अपने ज्ञानस्वरूपकी प्रतीति निरन्तर रहती है। मै ज्ञानमात्र हूं, ज्ञानको ही करता हूं, ज्ञानको ही भोगता हू। ज्ञानके सिवाय अन्य कोई मेरा स्वरूप नही, ऐसी प्रतीति सम्यग्दृष्टिको निरन्तर रहती है। इसे कहते है ज्ञानचेतना। जैसे लोगोको अपने नामकी प्रतीति निरन्तर रहती है और जब नामका उपयोग कर रहे हो, ख्याल कर रहे हों, नाम लिख रहे हो तो उस समय नामका उपयोग कहलाया। वहाँ प्रतीति और उपयोग दोनो हो गए, और जब किसी काममे व्यस्त हों, नामकी तरफका ख्याल न रख रहे हो तो उस समय आपको नामकी प्रतीति है। उपयोग तो नही है, ऐसे ही सम्यग्दृष्टि जीव जब स्वानुभूति कर रहा है उस समय ज्ञानचेतनाका उपयोग भी है और लब्धि भी है। और जब अपने ज्ञानस्वरूपका यह उपयोग

नही कर रहा, ज्ञानस्वरूपको ज्ञानमें नहीं ले रहा, घर परिवार कुटुम्ब शिष्य या अन्य लोगों की बात सुन रहा, उनमे उपयोग लगा रहा तो उस समय ज्ञानचेतना उसके उपयोगरूप नही है, किन्तु लब्धिरूप है, और लब्धिरूप ज्ञानचेतना हो तो सम्वर निर्जरा बराबर चलती रहती है। इसके विरुद्ध शकाकारने यह आपत्ति उठायी थी कि वाह जब यह जीव दूसरे मित्र से बात कर रहा, घरसे बात कर रहा, दूसरेमे उपयोग लगा रहा तो उसके ज्ञानचेतना कैसे रह जायगी ? उसका उत्तर विस्तारसे दिया गया है कि देखो—लब्धिरूप ज्ञानचेतना तो निरन्तर रहती है और इसी कारण सस्कार उसका उत्तम है तो सम्वर और निर्जरा भी सदा रहती है, सम्यक्त्व भी सदा रहता है। जब यह बात शकाकार न मिटा सका तो वह दूसरी बात सामने ला रहा है कि रागसे, परके उपयोगसे सम्यक्त्व नही मिटता, सम्वर निर्जरा नही मिटती, तो सुनो—इतना तो हो ही जायगा कि दर्शनमोहका उदय आ जायगा। उसके समाधानमे कह रहे हैं कि भाई दर्शनमोहका कारण है अन्य और रागका कारण है अन्य, तो कैसे परस्पर इनमे कार्यकारणभाव हो जायगा ? इस कारण यह सिद्धान्त घटित होता कि दर्शनमोहनीयका उदय अथवा अनुदय अपनेसे होता है। चारित्रमोहनीयका उदय अथवा अनुदय अपने आप होता है। इनमें ऐसा नही हो सकता कि दर्शनमोहके लिए चारित्रमोह कारण बन जाय या चारित्रमोहके लिए दर्शनमोह कारण बन जाय।

तस्मात्सिद्धोस्ति सिद्धान्तो दृङ्मोहस्येतरस्य वा।
उदयोनुदयो वाऽथ स्यादनन्यगतिः स्वतः ॥६३३॥
तस्मात्सम्यक्त्वमेकं स्यादर्थात्तल्लक्षणादपि।
तद्यथाऽऽवश्यकी तत्र विद्यते ज्ञानचेतना ॥६३४॥

स्वोदयसे राग व दर्शनमोहकी उद्भूति तथा सम्यक्त्व व सम्यक्त्वलक्षणकी एकरूपता तथा सम्यक्त्वके साथ ज्ञानचेतनाकी विद्यमानता—बहुत विस्तारपूर्वक ज्ञानचेतना व सम्यक्त्व के सम्बन्धमे वर्णन करनेके बाद यहाँ निष्कर्षरूपमे कहा जा रहा है कि देखिये—यही बात सिद्ध होती है कि सम्यक्त्व एक है। उसका लक्षण भी एक है, इसी कारण ना सम्यक्त्व एक है, और इसी कारण ज्ञानचेतना भी उसके निरन्तर बनी रहती है। तीन बातोंपर प्रकाश डाला है—सम्यक्त्वका लक्षण एक है, सम्यक्त्व भी एक है और सम्यग्दृष्टिके ज्ञानचेतना निरन्तर रहती है। शकाकारने यह आपत्ति दी थी कि सराग सम्यक्त्वमें तो रागचेतना ही होना चाहिए, वीतराग सम्यक्त्वमे ज्ञानचेतना होनी चाहिए। लो आप दो शब्द और नये सुन रहे है—सराग सम्यक्त्व और वीतराग सम्यक्त्व। इसका अर्थ क्या ? इसका अर्थ यह है कि जो रागी जीव है उसके सम्यक्त्व हो तो सराग जीवके सम्यक्त्वका नाम है सराग सम्यक्त्व और कोई वीतराग जीव हो, मुनि हो, उसके सम्यक्त्वका नाम है वीतराग सम्यक्त्व, किन्तु कुछ

उलझनमे डालनेके लिए शंकाकार ऐसा भी मान सकता है कि जिस सम्यक्त्वमे राग घुसा हो वह है सराग सम्यक्त्व और जिस सम्यक्त्वमे राग न पड़ा हो वह है वीतराग सम्यक्त्व। लेकिन यह परिभाषा सही नही है। सम्यक्त्वमे सम्यक्त्व ही है, उसमे राग नही है। तो शंकाकारका यह सिद्धान्त है कि सराग सम्यक्त्वमे ज्ञानचेतना नही होती, वीतराग सम्यक्त्वमें ज्ञानचेतना होती है। लेकिन यह बात यो युक्त नही होती कि रागके सम्बधसे सम्यक्त्वका नाम सराग सम्यक्त्व नही, किन्तु रागसहित जीवके सम्यक्त्व हो तो उसे सराग सम्यक्त्व कहते है। सम्यक्त्वके वास्तवमे से दो भेद नही है—सराग सम्यक्त्व और वीतराग सम्यक्त्व। ये दो भेद हो ही नही सकते। सम्यक्त्व तो सम्यक्त्व है। सम्यग्दर्शनका क्या लक्षण है? इस सहज ज्ञानमात्र आत्मतत्त्वमे यह मैं हू, यह ही उपादेय है, ऐसी रुचि होनेका नाम सम्यग्दर्शन है। देखो—श्रद्धारहित कोई नही है। किसीके यह श्रद्धा लग रही है कि स्त्री-पुत्रादिक ही उपादेय है, ये ही मेरे मगल है, ये ही मेरे प्राण है, इनके लिए ही मेरी जिन्दगी है, कोई भो श्रद्धा कर रहा श्रद्धावान तो वह भी है। उसकी दृष्टिमें भगवानकी जगह स्त्री-पुत्रादिक है, और भगवान कुछ भी नही है। और जब कभी भगवानके दर्शन भी करता तो वहाँ भी यह समझता है कि यह भगवान तो भोले-भाले है। हम इनका नाम लेकर अपना काम निकाल लेते है, स्त्री-पुत्रादिक सुखी हो जाते है, मुकदमा जीत जाते है, चतुर तो हम है, ऐसी श्रद्धा मोही जीवोकी होती है। वे अपने आपकी कुटिलता चतुराईकी श्रद्धा रखते है। किन्तु सम्यग्दृष्टि पुरुषकी यह श्रद्धा रहती है कि ज्ञानमात्र स्वरूपके अतिरिक्त मेरा कुछ भी मगल नही है और इस ज्ञानमात्र स्वरूपकी दृष्टिसे ही मेरा समस्त कल्याण होता है, मगल मिलता है। यही उपादेय है, यही मेरा स्वरूप है।

सम्यक्त्वमें सहज आत्मवृत्ति व एकरूपता—अथवा उपादेयकी बात क्या? जो बात असलमे जैसी सहज है उसका जान लेना भला काम है, उसकी श्रद्धा रखना भला है, झूठको सच मानकर रहना, यह भलेकी बात नही है। असल बात यह है तो ज्ञानमात्र तत्त्वके अतिरिक्त सारी बातें झूठ है, धन वैभव झूठ है। पुद्गलका संयोग है। मुझसे भिन्न चीजें है। उनसे मेरा क्या लगाव? यह शरीर भी मायारूप है, इससे भी मेरा क्या सम्बंध? रागद्वेषादिक भाव झूठे है। ये किसी एकके आश्रित ही नही है। रागको किसकी चोज बतायें? आत्मामे रागका स्वभाव नही। कर्मोंमे राग ही नही करता, मायारूप है। सत्य ध्रुव तो है यह ज्ञानमात्रस्वरूप। उसकी ओर श्रद्धा होना सम्यग्दर्शन है। यह मै हू, ऐसी प्रतीतिका नाम सम्यक्त्व है। सम्यक्त्वमे कही भेद नही पडे कि गृहस्थका सम्यग्दर्शन और तरहका हो और मुनियोका सम्यग्दर्शन और तरहका हो। या यहाँ पडितोका सम्यग्दर्शन और तरहका हो या थोड़े पढ़े-लिखे लोगोंका सम्यग्दर्शन और तरहका हो। सम्यक्त्वमे भेद नही, सम्यक्त्वके लक्षण

मे भेद नही, और जहाँ सम्यग्दर्शन है वहा ज्ञानचेतना निरन्तर है। सम्यग्दर्शनका लक्षण यदि कहा जा सकता है वास्तवमे तो स्वानुभूतिको कह सकते है। स्वानुभूति जिसको जग गई हो उसके सम्यक्त्व है। स्वानुभूति नही भी हो, मगर स्वानुभूतिका सम्बध जिसे मिल गया हो सम्यक्त्व वहाँ है। सम्यग्दर्शनकी बात समझानेमे लिए और जो-जो कुछ भी कहा जाय उससे यथार्थ बात तो नही बता सकते, लेकिन समझाना तो पडता ही है। सम्यग्दर्शन एक रूप है, सम्यक्त्वका लक्षण एक रूप है, और वहाँ ज्ञानचेतना अवश्य रहा करती है। तो चाहे सराग अवस्था हो अथवा वीतराग अवस्था हो, ज्ञानचेतना सम्यक्त्वमे साथ अवश्य ही रहेगी। शङ्काकार अब यह शङ्का मिटा ले कि रागभाव होनेसे सम्यक्त्व मिट जाता है। सम्यक्त्व मिटनेका कारण तो दर्शनमोहका उदय है।

मिश्रौपशमिक नाम क्षायिकं चेति तत्त्रिधा।
स्थितिबन्धकृतो भेदो न भेदो रसबन्धसात् ॥९३५॥

मिश्र, औपशमिक व क्षायिक तीनो सम्यक्त्वोमे रसानुभवभेदका अभाव—सम्यक्त्वके प्रकरणमे यहाँ सम्यक्त्वके भेद बनाये जा रहे है। सम्यक्त्वके भेद तीन है—औपशमिक सम्यक्त्व, क्षायोपशमिक सम्यक्त्व और क्षायिक सम्यक्त्व। इन तीनो ही सम्यक्त्वोका लक्षण एक ही मिलेगा। प्रतीति एक ही प्रकारकी है। उनमे यह भेद नही है कि औपशमिक सम्यक्त्वमे तो और श्रद्धा हो, अन्यमे और तरहकी श्रद्धा हो। उनके कारणभेदसे भेद है और उनमे स्थितिके भेदसे भी भेद है। पर स्वाद किसका आता है ? सम्यक्त्वके स्वादमे भेद नही है। सभी सम्यक्त्वोमे सहज ज्ञानज्योतिस्वरूपका अनुभव हुआ करता हैं। इन तीन सम्यक्त्वोका लक्षण क्या है सो सुनो—कर्म ८ प्रकारके बनाये गए हैं—उनमे जो मोहनीय नामका कर्म है उसके दो भेद है—दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय। दर्शनमोहनीयकर्मकी तीन प्रकृतिया है—मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्प्रकृति। मिथ्यात्वका उदय होनेसे जीवमे मिथ्यात्व प्रकट होता है। सम्यग्मिथ्यात्वका उदय होनेसे जीवमे सम्यग्मिथ्यात्व बनता है, जिसे तीसरा गुणस्थान कहते है। सम्यक्त्वप्रकृतिके उदय होनेसे सम्यक्त्वमे दोष लगा करते है। सूक्ष्म दोष चल, मलिन, अगाढ़ तो ये तीन प्रकृतियाँ हैं दर्शनमोहकी। चारित्रमोहनीयकी प्रकृतियाँ है २५ (१६ कषायें और ९ कषायें) अनतानुबधी क्रोध, मान, माया, लोभ, अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ अनन्तानुबधी तो सम्यक्त्वका घात करने वाली प्रकृति है और चारित्रका भी घात करने वाली है। अनतानुबधीमे दो स्वभाव हैं—सम्यक्त्व मिटा दे और चारित्र मिटा दे। अप्रत्याख्यानावरण प्रकृति श्रावकका व्रत नहीं होने देती। उसके उदयमे ५वाँ गुणस्थान प्रकट नही होता। प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ यह प्रकृति मुनिव्रतका घात करती है। संज्वलन क्रोध, मान, माया, लोभ, इस प्रकृतिसे यथाख्यात चारित्र प्रकट नही

होता। जब १०वें गुणस्थानके अन्तमे संज्वलन लोभ न रहा तो ११वें १२वे गुणस्थानमे यथाख्यात चारित्र होता है और हास्यादिक ६ प्रकृतियां और है। तो इन २५ प्रकृतियोमें अनन्तानुबधीके दो कार्य है—(१) सम्यक्त्वका घात करना और (२) चारित्रका घात करना। तो सम्यक्त्वका घात करने वाली प्रकृतियाँ ७ हो गयी। ३ दर्शनमोहनीयकी और ४ मोहनीय की। इन ७ प्रकृतियोका उपशम हो जाय तो औपशमिक सम्यक्त्व होता है। इन ७ प्रकृतियो का क्षयोपशम हो याने किसीका क्षय रहे (उदयाभावी क्षय) किसीका उपशम रहे, किसीका उदय रहे, इसे कहते है क्षयोपशम। तो ७ प्रकृतियोके क्षयोपशमसे क्षायोपशमिक सम्यक्त्व होता है। इन तीनों प्रकारके सम्यक्त्वोमे स्थितिकृत भेद है, उसमे रसास्वादका भेद नही है। तीनो सम्यक्त्वोका विषय है शुद्ध सहज आत्मस्वभावकी प्रतीति, अनुभूति।

तद्यथाऽथ चतुर्भेदो बन्धोऽनादिप्रभेदतः।
प्रकृतिश्च प्रदेशाख्यो बन्धौ स्थित्यनुभागकौ ॥६३६॥

जीवके सुख, दुःख, राग, द्वेष आदिमें कर्मकी निमित्तता—हम आप सब जीवोंको कष्ट की कोई वास्तवमे बात ही नही है। जितने भी कष्ट मान रहे वे सब बना-बनाकर मान रहे है। न बनाये, ऐसे कष्ट न करे रागद्वेष मोह, न करें कोई कल्पनायें तो कोई जीव क्या जबरदस्ती करता है कि तुम क्यो आरामसे बैठे हो ? मेरे लिए तुम क्यो नही कष्ट उठाते ? किसी की जबरदस्ती है क्या ? लेकिन यह जीव स्वयं भ्रममे है, इसलिए कल्पनायें करता है और दुःखी होता है। यहाँ यह बात एक समझना है कि यह मै सहज स्वभावसे ही किसी दूसरेका सम्बध बिना कष्ट उठाता होऊँ तो फिर यह कष्ट कभी मिट ही न सकेगा। वहाँ यह भाव लाना चाहिए कि मेरे इन सब मलिन परिणामोके लिए सुख दुःख आदिक विभावोके लिए निमित्त कर्मका उदय है। लोगोकी दृष्टि कर्मपर थोडे ही है कि मुझे कर्म दुःख देते है। यद्यपि कर्म भी साक्षात् दुःख नही देते, वे निमित्तमात्र है। इतनी भी सुध जीव नही करते, वे तो दिखने वाले मनुष्य और अन्य प्राणी इनको ही नजरमे लेकर अपने सुख दुःखका फैसला बना डालते है। मुझे सुख स्त्री-पुत्रादिकने दिया, मुझे कष्ट अमुकने दिया। इस तरह अन्य जीवोपर ही यह निगाह डालता रहता है और दुःखी होता रहता है। वास्तवमे जीवके सुख, दुःख, जन्म, मरण आदिकका निमित्त है कर्म। वह कर्म क्या चीज है ? उसके सम्बंधमे ही कुछ विवरण चलेगा।

कर्मपरिचयकी आवश्यकताका कारण—भैया ! यह भी पहिचानना है अपने विषयमें कि मेरे साथ कर्म लगे है। उन कर्मोकी रचना मै बनाता हू और जो कर्म बँध जाते है वे आसानीसे टलते नही है। प्रायः उनका फल भोगना पड़ता है। आज पुण्यके उदयमें कुछ अच्छी सामग्री मिली है तो कुछ उद्दण्डता मचा लेना, स्वच्छन्द बन जाना, इसका कितना

कटुक फल होता है, इसका अनुभव तभी होता है जब कि उस बँधे हुए कर्मका उदय आता है। तो उन कर्मोका यह प्रकरण है। बीचमे यह भी समझ लेना कि इन कर्मोका प्रकरण कैसे आ गया? प्रकरण तो यह था कि जीवमे सम्यग्दर्शन व ज्ञानचेतना होती है और वहाँ सम्वर निर्जरा निरन्तर चलती है। शकाकारने यही तो छेडा था कि जब जीवका राग उदय आये, परमे उपयोग जाय तो सम्यक्त्व विघट जायगा, ज्ञानचेतना मिट जायगी। जिसके सिलसिलेमे जब यह समाधान दे दिया गया कि रागभाव होनेसे सम्यक्त्व नही मिटता, ज्ञानचेतना नही समाप्त होती, किन्तु दर्शनमोहका उदय आये तो सम्यक्त्व समाप्त हो जायगा। तो शकाकारने यह कहा था कि रागसे दर्शनमोहका उदय आ जायगा। उसका भी समाधान दिया कि रागसे दर्शनमोहका उदय नही आता, किन्तु जैसे राग चारित्रमोहके उदयसे स्वय आता, ऐसे ही दर्शनमोह दर्शनमोहके उदयसे स्वय आता और दर्शनमोह अपनी स्थिति बनाये है। उपशम हो गया, क्षयोपशम हो गया। सत्तामे पडा है, उसका उदय आ जाता है। तो ये सब बातें समझनेके बाद निष्कर्ष यह बताया था कि सम्यक्त्व रागसे नही नष्ट होता।

सम्यग्दृष्टि जनोके स्वानुभूत्यात्मकरसस्वादकी अभिन्नता—सम्यक्त्वके जो ३ भेद है—औपशमिक, क्षायोपशमिक, क्षायिक ये भेद स्थितिके भेदसे है अथवा कर्मोकी दशाके भेदसे है, किन्तु सम्यक्त्वमे स्वयमे कोई भेद नही पडा है। मिश्रीका स्वाद जो कोई खायगा उसको वैसा ही आयगा जैसा सबको आता है। कभी-कभी आहार करते समय जब कोई माँ यह कहती है कि यह चीज अमुक चीजके साथ खावो महाराज, तो हमे थोडा मनमे यह हँसी आ जाती कि देखो—इनके मनमे है कि जैसा स्वाद हम लेती है वैसा ही स्वाद इनको आ जायगा। तब ही तो यह ऐसा कहती है। तो जो मिश्री खायगा उसको स्वाद भी वैसा ही आयगा। किसीको कम मिश्री मिली है तो वह कम देर तक स्वाद लेगा, जिसे अधिक मिश्री मिली है वह अधिक देर तक स्वाद लेता रहेगा, मगर मिश्रीके स्वादमे तो अन्तर न आ जायगा। कही ऐसा तो न हो जायगा कि थोडी मिश्री खाने वालेको करेला जैसा स्वाद आये और अधिक खाने वालेको और तरहका स्वाद आये? सबका स्वाद एक किस्मका आयगा। ऐसे ही सम्यत्वका स्वाद स्वानुभूतिस्वरूप है। स्वाद सबमे एक समान है। चाहे औपशमिक सम्यग्दृष्टि हो, चाहे क्षायिक सम्यग्दृष्टि हो अथवा क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि हो, सभीको स्वानुभूत्यात्मक आनन्द आता है। जब अपने आपको मैं ज्ञानमात्र हू, इस प्रकारसे अनुभवमे लेते है उस समय वही अमीर है। उसके समान लोकमे कोई पुरुष नही। अपने आत्मापर श्रद्धा करो, मोक्षमार्गपर श्रद्धा करो, जीवन सफल हो जायगा।

लोकसम्पन्न धनी मोहियोके दुःखी होनेकी यथार्थता—भैया! दुनियामे दिखने वाले लोगोकी सुखिताकी श्रद्धा मत रखो कि इसको सुख है, यह बडा है। उनका दुःख आप इस

तरह देखें—यह बड़े दुःखमे है, बडे कीचडमे है, मिलना इसे कुछ नही है, मगर धनके विकल्प के चक्करमे आकर रात-दिन अपनी मौज खराब कर रहे, उनको दयापात्रकी दृष्टिसे देखे—इन बेचारोको आत्माकी सुध नही है, आत्मप्रतीति नही है। बाहर-बाहर ही भटकते है, मिलता कुछ नही है, व्यर्थका परिश्रम कर रहे है। सत्य आराम इन्हे रच भी नही मिलता। उन्हे तो दुःखी देखो, उनको महत्त्व मत दो, महत्त्व दो अपने आपकी निर्मलताको। सम्यक्त्व ही एक श्रेय है, जिनके सम्यक्त्व नही है उनका जीवन पशुओसे भी गया बीता है। भला पशुओको कहाँ परिग्रहकी चिंता है? वे तो दूसरे दिनकी भी घास जमा करके नही रखते और यहाँ करोडो रुपये भी हो तो भी क्या चैन है? अरबकी तृष्णा लगा लेते है। पशुओको तो डर कब होता है? जब कोई लाठी लेकर सामने आ जाय। लेकिन मनुष्योको डर घरमे बैठे है, ठंडे घरमे है, उनके अनेक नौकर-चाकर हैं, लेकिन भीतर देखो तो निरन्तर डर बनाये रहते है। सरकारका डर, प्रजाका डर, उद्दण्ड लोगोका डर, बन्धुवोका डर और नौकरोका भी डर है। निरन्तर शल्य बनाये रहते है, क्योकि अधिकसे अधिक धन जोडनेकी जहाँ तृष्णा है वहाँ अन्याय करना पडेगा। जो यहां अन्याय करता है वहाँ यह बलहीन हो गया। आत्मामें बल न रहा, अनेक शल्य हुए। अन्यायको छिपानेकी भी शल्य है, अनेक शल्योमे दुःखी रहते है। इतना तो निर्णय बना लें कि जितने भी लोकमे धनी लोग है वे दु.खी हैं। गरीब है, अज्ञानी है, मूढ है। इनके जन्ममरणकी परम्परा बहुत अधिक है।

प्राय करके यह बात यो कह रहे कि आजके समय तो प्रायः सभी धनिक मूढ है, मोही है। यद्यपि यह नियम नही है, सम्यग्दृष्टि जितना बाह्य धनी भी कोई हो ही न सकेगा। चक्रवर्ती, नारायण, बलभद्र, तीर्थंकर जैसे पदोको सम्यग्दृष्टि पाता है। भले ही किसीके नारायण आदिकके या चक्रवर्तीके सम्यक्त्व न रहे, गलत रास्तेपर जाय, लेकिन जो इतना अलग माना जाने वाला वैभव मिला है तो वह सम्यक्त्वके साथ जो रागभाव, दयाभाव, दान, तपश्चरण, संयम हुआ, उसका फल मिला है। तो ज्ञानीकी दृष्टिमे धन तृण समान है। खूब धन रहा तो इससे आत्माको क्या, खूब धन न मिला तो इससे आत्माको क्या? कल्पना करते है, लोगोको निरखते है। ये लोग मुझे कुछ अच्छा कह दे, ऐसी चाह जिन्होने बनायी है वे बडे दयनीय पुरुष है, गरीब है। ऊपरसे भेष चाहे कुछ बन जाय, लेकिन जिसके चित्तमे लोगोसे कुछ नाम यशकी चाह हो उसके चित्तमे प्रभु नही बसा। कौन बसा? ये नाक, थूक बहाने वाले लोग बसे है। उनके हृदयमे प्रभु नही रहा जो लोगोसे अपने लिए किसी प्रकारके यशकी चाह करता है। तो उन धनिकोको, उन लोगोको देख करके तृष्णा मत बढ़ाओ, उन्हें दुःखी मानो और अपने सम्यक्त्व भावके कारण अपने आपको समृद्ध समझें। अब मेरेको क्या कष्ट रहा? मेरा नाम जब मेरी दृष्टिमे आये तो मेरेको कष्ट क्या? सम्यक्त्वकी महिमा अद्भुत

है। सम्यक्त्वका अनुभव एक समान है। उसमे रस स्वादका भेद नही है, केवल स्थितिका भेद है। इस प्रकरणको सुनकर स्थितिके बारेमें कुछ समझनेकी जिज्ञासा होती है, उसीको स्पष्ट करनेके लिए यहाँ कुछ कर्मोंका विवरण चल रहा है।

कर्मका स्वरूप—कर्म जो किये जायें उन्हे कर्म कहते है। आत्मा जिसे करता है उसका नाम कर्म है। किसे करते है ? खोटे भावोको। अशुद्ध भावोका, विभावोका कारण होता है अध्यवसानके साथ और होना होता है सहज भावके साथ। जैसे कोई कहता है किसी काम को करके भी कि भैया ! मैने कुछ नही किया, यह तो हो गया। तो करनेमे और होनेमे कुछ फर्क समझो। क्यो मना कर रहे हो, क्यो कह रहे हो, ऐसा कि मैंने नही किया ? कुछ खराब बात होगी करना। ऐसा कहना कि मैंने किया, तो उसमे कुछ खराबी आती होगी। जैसे कोई बडा दान कर दे, बडी संस्थाकी मदद कर दे, बच्चोका उपकार कर दे और उसकी कोई प्रशसा करे, तो वह कहता है कि भाई मैंने कुछ नही किया। मालूम होता है कि मेरी समझ मे और सारी दुनियाकी समझमे यह बात बैठी है कि किसी कामको करना बुरा है, मायने किसी कामको करनेकी बुद्धि बनाना बुरा है। मैंने किया, यह अहकार बुरा है। तो कहते है कि मैने नही किया। फिर ? यह तो हो गया। होना अच्छा है। करना बुरा रहा, होना अच्छा रहा। तो इससे यह निष्कर्ष निकला कि अध्यवसान भावपूर्वक जान-बूझकर, सकल्प बना-बनाकर रागद्वेषसे प्रेरित होकर जो बातें बनती है उन्हे कहते है करना और रागद्वेषके बिना सहजभावसे ज्ञानप्रकाशमे रह-रहकर जो बात होती है उसे कहते है होना। तो कर्म नाम किसका है ? आत्माके द्वारा जो किया जाय उसका नाम कर्म है। आत्माके द्वारा किया जाता है रागद्वेषादिक भावोको। तो असलमे कर्म नाम रागद्वेषादिक भावोका है, किन्तु राग-द्वेषादिक भाव होनेपर जो कार्माणवर्गणाओमे कर्मरूप परिणमन होते है, उन पुद्गल द्रव्योको भी कर्म कहते है। यहाँ पुद्गल द्रव्योकी बात चल रही है। कर्मका जो बध होता है, जो कि अनादि परम्परासे चला आया है, वह बध ४ प्रकारका है—प्रकृतिबध, प्रदेशबध, स्थितिबध और अनुभागबध।

प्रकृति, प्रदेश, स्थिति व अनुभागका अर्थ—प्रकृति, प्रदेश, स्थिति, अनुभाग—इन शब्दोके अर्थ समझिये—प्रकृति मायने स्वभाव। प्रदेश मायने उसकी चीज, उसकी काय, उसकी स्थिति मायने उसकी म्याद और अनुभाग मायने फल देनेकी शक्ति। जैसे भोजन किया तो उसमे प्रकृति आ गई कि इसका यह हिस्सा खून बन जायगा, यह पानी बन जायगा, यह हिस्सा मल-मूत्र बन जायगा। उसमे प्रकृति पड गई, स्थिति भी आ गई। जो खून रूप परि-णमा वह ५-७ वर्ष तक रहेगा, जो पसीना रूप बन रहा वह हिस्सा घटा दो घटा रहता, जो मलरूप बन रहा वह हिस्सा मानो २४ घटा रहता है, और प्रदेशबन्ध है ही, चीज है ही।

और अनुभागबंध, यह हिस्सा इस प्रकारका फल देनेमे समर्थ है, खूनकी इतनी शक्ति है अथवा उनमे अनुभाग पडा है। भोजन अधिक कर लिया तो बहुत नीद लायगा, सरस भोजन कर लिया तो आलस्य लायगा, उनमें फल भी पड़े हुए है। तो इसी तरह जो कर्म बँधते है उनमे बांधनेके साथ ही यह विभाग हो जाता है कि इन कर्मोकी यह प्रकृति रहेगी, यह ज्ञानको घातेगा, यह अमुकका काम कहलायगा। प्रदेश भी बँधे, स्थिति भी पड़ जाये, पर उनमे फल देनेकी शक्ति न हो तो क्या प्रभाव, किन्तु ऐसा नही, जहाँ स्थिति है वहाँ अनुभाग है। अपनी भलाई चाहिए तो सदा यह ध्यानमे रखना होगा कि मेरे भाव खोटे होगे तो तुरन्त ही कर्म बँध जायेंगे। कर्मबन्धनके लिए कही बाहरसे नही लाना है कर्मको। जीवमे अनेक कार्माण-वर्गणायें है जो कर्मरूप परिणमती है। उनसे छुटकारा पाना कठिन होगा। तब ही तो लोग कहते है कि जो कर्म बाँधे उनका फल भोगना ही पडेगा। कोई विशिष्ट ज्ञान हो, वैराग्य हो तो वहाँ कोई कर्म बिना फल दिए झड़ जाय, लेकिन उस प्रसगमे भी प्रायः करके फल देकर कर्म झडते है। कोई ज्यादा फल देकर झड गया, कोई थोडा फल देकर झड़ गया। एक दृष्टि मे तो झडना ही एक फल है, तो जो कर्म बँध जाता है, फिर मुश्किल है उन कर्मोंसे छुटकारा पाता। जैसे किसी पुरुषकी तबियत ठीक है, स्वास्थ्य अच्छा है, तो वहाँ महसूस नही होता कि मै मीठा अधिक खा लू तो मेरा बुरा होगा, हलुवा खीर खाऊँ तो बुरा होगा। कोई चीज खानेमे कुछ अडचनसी नही मालूम होती है, मगर खाता हो रहे खूब भोजन तो वह भोजन जिस समय अपना विकार व्यक्त कर देगा, तो फिर उसके ठीक होनेमे एक महीना लग जायगा। पडे रहेगे, बुखार हो गया, तडफडाहट हो गयी, खाँसी हो गयी तो, जैसे किसी स्वस्थ पुरुषको प्रतिकूल भोजन करनेमें अड़चन नही दिखती और स्वादके लोभमे आकर खूब करते जाते है, लेकिन वह जब अपना विष फैला देता है भीतर तो महान दुःख भोगना पड़ता है। खाना तो आसान हो गया और कष्ट कठिन हो गए। ऐसे ही जब पुण्यका उदय है तो उसीको समझ लें कि यह कुछ स्वस्थ है मनुष्य, बडे नटखट हो रहे है, उस समय जैसे चाहे मनमाने भोग भोग ले, ताकत है, उसके साधन है, लेकिन ऐसे भोग भोगे जा रहे हो तो उनके जो भीतरी भावोमे विष जमा हो रहा है वह जब फूटेगा तब नारकी बनेंगे, कीडा-मकोड़ा बनेंगे। इस भवमें भी दुर्गतिके पात्र बनेंगे और आगे भी दुर्गति होगी। तो हमें सावधान रहना होगा। मेरे कर्म मत बँधो, मेरे भाव विशुद्ध रहे, स्वाध्याय, ज्ञान, सत्सग इनकी ओर लगे। इन बाह्य वैभवोंकी उपेक्षा करें, सन्तुष्ट रहे और ज्ञानकी आराधनामे रहे, इसीमे हमारी आपकी भलाई है।

प्रकृतिस्तत्स्वभावात्मा प्रदेशो देशसंश्रयः।
अनुभागो रसो ज्ञेयो स्थितिः कालावधारणम् ॥६३७॥

भावकर्म व द्रव्यकर्मक परिचय—कर्मोंके सम्बंधमे विवरण चल रहा है। लोग कहते तो प्राय. सभी है। जिसने जैसा कर्म किया वह वैसा फल पायगा। जिसके कर्ममें जो लिखा सो मिलेगा, पर कर्म क्या है वास्तवमें, इस ओर किसीका यथार्थ निर्णय नही हो सकता, लेकिन जैन संतोने तीर्थंकर महाराजकी दिव्यध्वनिकी परम्परासे जो वर्णन किया है वह वर्णन युक्ति सिद्ध है, समझमें आने वाला है। यथार्थ जचेगा। कुछ लोग ऐसा सोचते हैं कि आत्मा ने जो भाव किया, जो विचार किया उसका नाम कर्म है और उसका फल मिलेगा। पर इस सम्बधमें एक वात सोचो कि लोग तो कृत कर्मके फलकी वात सोचते हैं भविष्यमे याने जीव के भावकरूप कर्मका फल। लेकिन उस भावकर्मका फल भाव तो तुरन्त मिलता है। उनके निर्णयकी भविष्यमें बात नही है। जैसे किसीके प्रति क्रोधरूप भाव किया यह हुआ उसका कर्म, इसका फल उसे उमी ममय मिल गया, अशांत हो गया, क्षुब्ध हो गया, बेचैन हो गया। लोकमे कर्मका फल तो तुरन्त मिल गया, आगे मिलनेकी वात कैसे सम्भव है? जो भाव किया जीवने वह भाव तो होते ही खतम हो गया, अब नये भाव चल रहे है तो उन भावोका फल भविष्यमे कैसे मिलेगा? यह समस्या न सुलझा सकेंगे। वे लोग जो ये मानते हैं कि आत्मा जैसे भाव करता है वही कर्म है और उसका वैसा फल उसे अगले भवमें मिलेगा। यथार्थ बात क्या है कि जीव जो परिणाम करता है, रागद्वेष सुख दुःख आदिक जो कुछ भी भाव खोटे बनते है तो आत्माका स्वभाव तो है ज्ञाता द्रष्टा रहना। ऐसा न रहकर जो भी क्षोभ आता है उसका फल उसे तुरन्त मिलता है और उस कालमें अन्य सूक्ष्म मैटर जिन्हे कार्माण-वर्गणायें कहते हैं वे कर्मरूप परिणाम जाते है। कर्मके सम्बंधमे यह बहुत बडी रहस्यभरी बात है। जब वे कार्माणवर्गणायें कर्मरूप परिणाम गईं तो जीवके साथ रहती ही है। उनकी जब स्थिति पूरी होगी तब उसे कहेगे विपाककाल। उस समयमे ऐसा ही निमित्तनैमित्तिक योग है कि इस जीवको उस कर्मोदयके अनुसार फल भोगना पडेगा। चूंकि वह कर्म बँधा है पहिले किए गए भावके निमित्तसे, इसलिए यह कहा जाता है कि जो जीव जैसा परिणाम करेगा वैसा ही अगले भवमे फल भोगेगा। मगर परिणाम तो किया इस जीवने अभी और वह परिणाम नष्ट हो गया, फल अगले भवमे कैसे मिलेगा? उसका समाधान यह है कि उस भावके कारण जो कार्माणवर्गणायें कर्म बन गईं वह कर्मपिण्ड तो इसके साथ रहता है। देखो जीवके साथ यह शरीर रह रहा है ना। इतना तो खूब समझमें आ रहा कि जबसे जन्म हुआ तबसे शरीर साथ लगा हुआ है। तो यह बात बतलाते है कि जीवके स्वभावके विरुद्ध दूसरी चीज जीवके साथ लगी रह सकती है। जैसे कि शरीर। शरीर तो लगा रहता है कुछ समय तक। जैसे किसीकी ८० वर्षकी आयु है, ८० वर्ष तक शरीर लगा रहेगा, पर कर्म लगे रहते है बहुत काल तक। मरनेके बाद भी कर्मका संबध नही छूटता। कैसे जीवके कर्म लगे है? यह शरीर

जो दिख रहा है यह ही मूरत बता रही है कि जीवके साथ कर्म लगे हैं। यदि जीवके साथ कर्म न होते तो शरीर कैसे लग बैठता ? यह भी कर्मके उदयकी बात है। तो यहाँ यह समझना है पहिले कि कर्म क्या चीज कहलाती है ? आत्मा जो भाव करता है उसका नाम है भावकर्म और उस भावकर्मके निमित्तसे जो पुद्गल कर्मरूप दशामें बनते है और जीवके साथ रह रहे है वे कहलाते है द्रव्यकर्म।

प्रकृतिबन्धका परिचय—जिस द्रव्यकर्मकी खोजमें अन्य लोग कोई पहुच न सके, उस द्रव्यकर्मकी चर्चा यहाँ की जा रही है कि उसमे चार प्रकारका बध होता है—१–प्रकृतिबध, २–प्रदेशबध, ३–स्थितिबध और ४–अनुभागबध। उस कर्ममे प्रकृति पड जाय, स्वभाव आ गया। यह कर्म इस प्रकारके फलमे कारण बनेगा। ज्ञानावरण कर्म ज्ञानको प्रकट न होने देगा आदिक रूपसे जो कर्मोमे प्रकृति पड जाती है उसे कहते है प्रकृतिबंध। जैसे भोजन करते ही उस भोजनमे प्रकृति पड़ जाती है कि यह स्कध, इतने अणुरसरूप बन जायेंगे, इतने अणु मलरूप बन जायेंगे। प्रकृति पडी है ना, और थोडा बहुत अदाज भी हो जाता है। जैसे कोई चना, मसूरकी रोटी खाये तो वह भोजन मलरूप अधिक परिणमेगा और कोई दूध, सब्जी आदि खाये तो उसका मल कम बनेगा। तो देखो प्रकृति हुआ करती है उनमे उसरूप परिणमनेकी। ऐसा अदाज तो यहाँ भी लग रहा है। तो जो पुद्गल कार्माणवर्गणायें कर्मरूप बन गई है उनमे प्रकृतिके परिणमानेका नाम है प्रकृतिबध। जैसे यहाँ पदार्थोमे प्रकृति रहती है, गुडमे मीठा स्वभाव है, नीबूमे खट्टा स्वभाव है, प्रकृति है, ऐसे ही कर्मोमें भी प्रकृति हो जाती है उसे कहते है प्रकृतिबध। ये कर्म ८ प्रकारके होते है तो उनकी प्रकृतियाँ देखिये—ज्ञानावरणकी प्रकृति है ज्ञानको प्रकट न होने देना। ऐसा ही निमित्तनैमित्तिक योग है कि जब ज्ञानावरण कर्मका उदय रहता है, जितना उदय होता है तो उसके अनुसार जीवमे ज्ञान व्यक्त नही हो पाता। दर्शनावरण कर्मकी प्रकृति है दर्शन न होने देना। आत्मामे दो पद्धतियाँ होती है चैतन्यकी। १–पदार्थको जान लेना, २–सामान्य प्रतिभास होना। जिसमे पदार्थका आकार ग्रहणमे न आया, ऐसा सामान्य वह झलकाटा कि जो ज्ञानका सहयोगी हो वह दर्शन है, ऐसे दर्शनको प्रकट न होने देना, यह दर्शनावरणकी प्रकृति है। मोहनीयकी क्या प्रकृति है ? आत्माके सम्यक्त्व गुणका और चारित्रगुणका विकास न होने देना, उसको उल्टा परिणमा देना, यह है मोहनीयकर्मका काम। अतरायकी क्या प्रकृति है ? शक्तिमे विघ्न आना, वीर्य प्रकट न हो सकना और दान, लोभ भोगोपभोगकी भी शक्ति न प्रकट हो पाना, यह अन्तरायका काम है। जैसे कितने ही कृपण ऐसे होते है जिनके धनी होकर भी उनके चित्तमें दान देनेकी बुद्धि नही होती, और हो भी तो भी उत्साह प्रकट न हो सकना, भाव न आ सकना, देनेका भाव करके भी लौट जायगा। ऐसी जो भीतरमे चित्तवृत्ति बनती है, ऐसा ही विघ्नका काम है। तो ऐसी

प्रकृतियाँ पडी रहती हैं। वेदनीयकी क्या प्रकृति है ? इन्द्रियद्वारा सुख-दुःखका उपयोग कराना, यह वेदनीयकी प्रकृति है। जिसे कहते है साता असातारूप परिणमन। आयुकी प्रकृति है कि उस आयुकर्मके उदयसे यह जीव शरीरमें रुका रहे। नाम कर्मकी प्रकृति है कि शरीर बना रहे, शरीरका जन्म हो, शरीरमें वर्गणायें आयें, उनको नाना प्रकारकी रचनाओमे रखें तो ऐसी कर्मकी प्रकृतियाँ होती है। गोत्रकर्मकी प्रकृति है ऊँच-नीचका भाव उत्पन्न हो जाय। तो कर्मों मे बँधतेके साथ ही यह प्रकृति पड जाती है, इसे कहते है प्रकृतिबंध।

प्रदेशबन्ध और स्थितिबन्धका परिचय—उन कर्मोंके ही परमाणुओंका परस्परमे बध हो जाना और उभयबधकी दृष्टिसे जीवके साथ कर्मका सम्बन्ध हो जाना, यह प्रदेशबन्ध कहलाता है और उन प्रकृतियोमे जो स्थिति पड जाती है उसे स्थितिबध कहते है। कर्मोंमे भी एक आयुकर्म तो ऐसा है कि जिसकी छोटी स्थिति पडती है छोटे भावोसे, सक्लेश भावोसे या अन्य किसी प्रकारसे, लेकिन बाकी सब कर्मोंकी छोटी स्थिति तब पडेगी जब अच्छा भाव होगा। साधु हो, श्रेणीमे हो उनके अन्य कर्मकी स्थितियाँ कम बँधती है और मोही, अज्ञानी जीवोके स्थितियाँ बहुत-बहुत बँधती है। एक क्षणके मोहके तीव्र परिणामसे मोहनीयकर्मकी स्थिति ७० कोडाकोडी सागर तककी बँध जाती है। सागर भी बहुत बडा होता है। कोडाकोडीका अर्थ है कि एक करोडमे एक करोडका गुणा किया तो जो लब्ध आया उसे कहते हैं एक कोडाकोडी। ऐसी ७० कोडाकोडी सागरकी स्थिति बँध जाती है। अब सागर किसे कहते है, इसे समझ लो। सागर (कालका सागर) कितना बडा होता है कि उसको कहनेके लिए कोई गणित नही है, सिवाय एक उपमाके। उसकी उपमा दी गई है। कल्पना करो कि कोई दो हजार कोशका लम्बा-चौडा, गहरा गड्ढा है, उसमे उत्तम भोगभूमिके तिर्यंचके (मेढेके) बाल कतरनीसे इतने छोटे-छोटे टुकडे किए हो कि जिनका दूसरा टुकडा कतरनीसे न किया जा सके उन्हे उसे गड्ढेमे भर दिया गया और उसमे कई हाथी फिरा दिए जायें कि जिससे वह गड्ढा उन रोमके टुकडोसे ठसाठस भर जाये। अब प्रत्येक १०० वर्षमे १ टुकडा बालका निकाला जाय तो जितने कालमे वे सब टुकडे निकल जावे उतने कालका नाम है व्यवहारपल्य याने जिसका सहारा लेकर आगेकी बात बतायी जायगी उसका नाम है व्यवहारपल्य। उससे असख्यातगुणा होता है उद्धारपल्य, उससे असख्यातगुणा समय होता है अद्धापल्य। ऐसे १० कोडाकोडी अद्धापल्यका एक सागर होता है। ऐसे ७० कोडाकोडी सागरका मोहनीयकर्म बँध जाता है उस भावमे जहाँ तीव्र मोह हो रहा हो।

मोहका भयंकर परिणाम—अब समझ लीजिए भैया! कि मोहमे तुमको क्या मिलेगा ? वैसे भी जान लो। धन वैभवसे जो मोह किया जा रहा, इससे लाभ क्या मिलेगा सो तो बताइये। एक दृष्टान्त दिया है कि कोई एक कजूस पुरुष था। वह अपने हाथकी मुट्ठीमे

एक रुपया लिए हुए बाजारमें कुछ खरीदनेके लिए जा रहा था। तो मुट्ठी बँधी होनेके कारण हाथकी उस मुट्ठीके अन्दर पसीना आ गया। गर्मीका सीजन था ही। सो वह रुपया पसीनेसे भीग गया। जब चीज तुलाकर रुपया देनेको, भजानेको मुट्ठी खोली तो वह कंजूस उस रुपयेसे कहता है कि ऐ रुपये! तुम रोवो मत, हम चाहे मर जायें, पर जीते जी तुम्हे भजायेंगे नही, याने तुम्हे खर्च न करेंगे। तो देखो यह कितनी तीव्र मोहभरी बात है कि चाहे मर जायें, पर उन बाह्य पदार्थोके प्रति चित्तमे उपेक्षा नही जगती। ऐसे तीव्र मोहसे मिलेगा क्या इस जीवन मे सो बताओ, और मरकर भी क्या मिलेगा सो बताओ? देखो भैया! जिनेन्द्रदेवके शासन का शरण पाया है, हृदयको बोझरहित बना लें, सम्यग्ज्ञान जगा लें और सम्यक्त्वसे आत्माको सुवासित बना लें और संसारके संकटोसे छूटनेका उपाय बना लें, जीवन इसमें सफल होगा और बातोमे सफल न होगा। और देखो—मोहमें दुःख कितना है, रोज-रोज दुःखी होते सो भी भोगते जाते है। लडका आँख दिखाये, बहू आँख दिखाये, स्त्री आँख दिखाये और मान लो कि अनुकूल भी हो, आज्ञाकारी हो तो उस आँख दिखानेसे भी अधिक दुःख भोगना पडता है। आँख दिखानेका तो दुःख कम है। कोई स्त्री-पुत्र आदिक नाराज हो जाय, बुरा बोलने लगे उससे दुःख हो जाय, वह तो थोडा है, और कोई स्नेहमे रहे, मोहमे रहे, आज्ञा माने, बडा राग दिखाये, उसका दुःख बहुत अधिक कठिन है। इस मोहसे मिलेगा कुछ नही। इससे उपेक्षा होनी चाहिए। ऐसी-ऐसी कर्मोकी स्थितियाँ बँधती है और जब उन कर्मोका उदय आता है तो उसके अनुसार फिर फल भोगना पडता है। क्या फल है? यही कि जो संसारके सब जीव समझमे आ रहे है—कुत्ता है, बिल्ली है, कीडा-मकोडा आदि ये जो दिख रहे है, यह ही तो फल है मोहका। एक शराबी शराबकी दूकानमे गया तो बोला—भाई मुझको अबकी बार बहुत बढ़िया असली शराब देना। तो दूकानदार बोला—हाँ हाँ बहुत बढ़िया असली वाली ही देंगे।....अजी बहुत बढिया वाली दो।....हाँ हाँ, सबसे बढिया वाली देंगे। और हमारी शराब बढिया है या नही, इसकी परख कर लो इन १०-१२ लोगोको देखकर जो कि नालियोमे बेहोशी हालतमे पडे हुए है और जिनके ऊपर कुत्ते भी मूत रहे है। यही हमारी शराबके अच्छी होनेका प्रमाण है। तो ऐसे ही ससारमें दुःख बहुत है। मोहमे कठिन दुःख है। कर्म बहुत कठिन चीज है, यह समझमे ही नही आता हो तो देख लो इन दुःखी जीवोको कि ससारमें मोहका यह फल होता है। इन कर्मोमे जो स्थितियाँ है सो जब तक सत्ता है तब तक कर्म जीवके साथ रह रहे है, कोई बिगाड नही है। जब विपाककाल आता, उदय होता है तब जीवको उसका कटुक फल भोगना पडता है।

अनुभागबन्धका परिचय—चौथा बंध है अनुभाग—बद्धकर्ममे फलरूप देनेकी जो शक्ति है उसका नाम अनुभागबध है। शक्तियोमें तरतमता होना प्राकृतिक बात है। कोई कर्म

थोडा फल देनेका अनुभाग रखता है, कोई अधिक फल देनेका अनुभाग रखता है। जैसे यहाँ जो भोजन किया उसका जो रस रहा बना तो देखो—कोई रस तो इस शरीरमे अधिक शक्ति प्रदान करता है, कोई रस कम शक्ति प्रदान करता है। वीर्य सबसे अधिक शक्ति प्रदान करता है। तो क्या मास-मज्जा शक्ति प्रदान नही कर रहे ? ये कम करते है। तो क्या ये मल-मूत्र कुछ शक्ति प्रदान नही करते ? ये भी कर रहे हैं। आयुर्वेदमे बताया कि प्रत्येकके शरीरमे कमसे कम ढाई सेर तो मल रहना चाहिए। न रहे तो वह मरणोन्मुख हो जायगा। तो जिस शरीरको देखकर हम खुश होते है, जिसको नहलाते है, बडी प्रीति करते है, उस शरीरमे, पेट में भरा क्या है ? कमसे कम ढाई सेर मल तो हर एकके पेटमे होगा। वह भी शक्ति प्रदान करता है। ऐसे ही समझिये कि इन कर्मोमें नाना प्रकारके फल देनेका रस पडा है, शक्ति बसी है। तो देखो सारी करामात इस अनुभागबन्धकी है। यद्यपि इन तीन बधोके बिना अनुभाग बध ठहरेगा कहाँ ? लेकिन तत्काल जो हमपर आक्रमण होते है वे शक्तिके साथ, फोर्सके साथ होते है। वह फोर्स क्या है ? अनुभागबध। तो इस प्रकार यहाँ यह बताया है कि कर्ममे ४ प्रकारका बन्ध है।

कर्मस्थितिविवरणका प्रकृत प्रयोजन सम्यक्त्वमे रसास्वादकी भिन्नताका अभाव बताना—कर्मोमे स्थितिका भेद है। उस स्थितिके भेदसे जीवके विभावोमे भेद होता है और उस स्थितिके भेदसे चूँकि उपशम हो जाय तो यह स्थिति तो उमडेगी, उसका सम्यक्त्व मिट जायगा। या क्षायोपशमिक सम्यक्त्वमे भी क्षयोपशम ही तो है दर्शनमोहकी सत्ता है, वहाँ पर भी दर्शनमोह उपशममे बैठा है, उसका उदय आयगा, सम्यक्त्व मिट जायगा। तो यो सम्यक्त्वके मिटनेका कारण दर्शनमोहका विपाक है, लेकिन रागभाव सम्यक्त्वको मिटानेमे समर्थ नही है। तभी सम्यग्दृष्टि जीवके जो राग रहता है उस रागमे यह सामर्थ्य नही है कि उसका सम्यक्त्व मिटा दे, रागचेतनाको नष्ट कर दे, सम्वर निर्जराको हटा दे। यह बात चल रही है मूलमे इस प्रकरणपर कि यह बताया गया था कि ज्ञानचेतनामे सक्रमण नही होता। जैसे हमारे और-और ज्ञानोमे परिवर्तन होता है, अभी चौकी जान रहे थे, अब कुछ और जान लिया, इस तरहसे सक्रमण ज्ञानचेतनामे नही होता। उस ही पर नाना प्रश्नोत्तर होते-होते जब अतिम शङ्का यह आयी कि रागके उदय होनेसे दर्शनमोहका उदय बन बैठेगा, उसके समाधानमे यह सब बात बतायी जा रही है कि दर्शनमोहका उदय उसकी स्थितिसे होगा, रागके होनेसे न होगा। उस स्थितिको बतानेके लिए कर्मोका यहाँ सक्षेपरूपमे विवरण किया गया है और यह सिद्ध किया गया है कि तीनो सम्यक्त्वमे स्थितिकृत भेद तो है, किन्तु अनुभव रसास्वादका भेद नही है।

स्वार्थक्रियासमर्थोत्र बन्धः स्याद्रससञ्ज्ञिकः।
शेषबन्धत्रिकोप्येष न कार्यकरणक्षम. ॥६३८॥

अनुभागबन्धकी प्रधानता—जीवके कषायभावका निमित्त पाकर कर्मोंका बध होता है। यद्यपि यहाँ भी सूक्ष्मदृष्टिसे देखा जाय तो व्यवस्था यह है कि जो कर्म उदयमे आये है वे उदयागत पुद्गल कर्म नवीन कर्मोके आस्रवके कारण होते है, किन्तु उन उदयागत कर्मोमें नवीन कर्मोके आस्रवका कारणपना आये, इसमे निमित्त होते है रागद्वेष मोहभाव। तब असली बात तो रागद्वेष मोह भावपर निर्भर रही, अतः सीधा कथन यो कर दिया जाना चाहिए कि रागद्वेष मोहका निमित्त पाकर जीवमे नवीन कर्मोका आस्रव होता है। आये कर्म और वे जीवमे बँध गए। अब उन बद्ध कर्मोंमे ४ विभाग बनते है—प्रकृतिबध, प्रदेशबध, स्थितिबध और अनुभागबध। उनमे आदत है, स्वभाव बन गया कि ये कर्म इस फलको देंगे, इस प्रकार के फल देनेका स्वभाव रहेगा। प्रदेशमे उन कर्मोका अभाव बन गया, स्थितिमे कर्मोकी म्याद बन गयी। कितने दिनो तक कर्म जीवमे टिकेंगे और अनुभागमे फलदान शक्ति बँध गई कि यह कर्म इतनी डिग्रीका, इतनी तीव्रता मदताका फल देगा। तो इस श्लोकमे यह बता रहे है कि इन चार प्रकारके बधोमे अनुभागबधका महत्त्व है, क्योकि अनुभागबध ही स्वार्थक्रिया करनेमे समर्थ है। फल देनेकी जो शक्ति है उसपर ही तो यह सारी ससारकी विडम्बना निर्भर है। शेषके जो ३ बंध है वे तो अनुभागबध आ सके, ऐसी द्रव्यसे सम्बन्धित बात है, मगर शक्ति तो अनुभागकी है कि वह किस डिग्रीका फल दे सकता है? कहते है कि इसपर भी तीव्र मोह हो गया तो वहाँ बात क्या हुई कि मोहनीय कर्मका तीव्र अनुभाग है जिसका कि उदय रहता है। साक्षात् दुःख तो इस अनुभागबधके कारण है। उस अनुभाग शक्तिमे न्यूनता आये तो थोड़ा फल मिले, अधिकता आये तो अधिक फल मिले। इस तरह/कर्मोके चार बध बताकर उनमे स्थिति और अनुभागबधकी बात कही गई है। अब पकृत बातको कहते है। कर्मका आवरण करनेका प्रयोजन क्या था यहाँ? इसीको सारांश रूपमे कह रहे है—

ततः स्थितिवशादेव सन्मात्रेप्यत्र सस्थिते।
ज्ञानसञ्चेतनायास्तु क्षतिर्न स्यान्मनागपि ॥६३९॥

सम्यक्त्वोमे स्थितिभेद होनेपर भी ज्ञानचेतनाकी क्षतिका अभाव—शकाकारकी शङ्का यह थी कि सम्यग्दृष्टि जीवके रागभाव आ जाय तो दर्शनमोहका उदय आ जाना चाहिए, सम्यक्त्व नष्ट हो जाना चाहिए और फिर उसके ज्ञानचेतना नही रहेगी। उसके उत्तरमे यह बताया था कि सम्यग्दृष्टिके जो राग है उस रागके उदयमे यह सामर्थ्य नही है कि सम्यक्त्वका विघात वह कर दे, किन्तु दर्शनमोहनीयका उदय आये तो सम्यक्त्व विघट जायगा, मिथ्यात्व आ जायगा तो जब तक सम्यक्त्व है तब तक दर्शनमोहका उदय नही है। क्यों नही उदय है, क्यो नही सम्यक्त्व मिटा? तो इसकी वजह है उपशम, क्षय। जिन कर्मोको दबा दिया है उस समयमे उस स्थितिके कर्म वहाँ नही है। अगली स्थिति उदयमे आती है तो उपशम

सम्यक्त्व मिट जाता है। क्षायोपशमिक सम्यक्त्वमें भी वे प्रकृतियाँ उपशान्त होती है तथा उदयाभावरूपसे क्षत हो जाती है। उनका उदय आयगा तो वह भी मिटेगा और जब तक नही उदय है, इस सम्यक्त्वकी स्थिति बन रही है। औपशमिक सम्यक्त्व अन्तर्मुहूर्तको होता है २-१ मिनट जितना भी नही। बादमें या तो क्षायोपशमिक हो जायगा या मिथ्यात्वमे आ जायगा, सासादन हो तो भी मिथ्यात्वमे आनेकी बात रही। क्षायोपशमिक सम्यक्त्वकी स्थिति है कमसे कम अन्तर्मुहूर्त और अधिकसे अधिक ६६ सागर तक, और क्षायिक सम्यक्त्वकी स्थिति है अनंतकाल तक। संसार अवस्थाकी दृष्टिसे क्षायिक सम्यक्त्वकी स्थिति है कुछ अधिक ३३ सागर। तो सम्यक्त्वकी यह स्थिति है। उस सम्यक्त्वमे स्वय उस स्थितिसे भेद बना रहे, लेकिन सम्यक्त्वके कालमें जो रसानुभव होता है, आत्मस्वरूपके दर्शनका जो आनद होता है वह तो सबके समान है। तीनोका सम्यग्दर्शनमे स्थितिकी अपेक्षा उसके सत्त्व रहनेमे भेद भर है, किन्तु ज्ञानचेतनाका विनाश नही है।

ज्ञानचेतनाकी अलौकिक समृद्धिरूपता—भैया! ज्ञानचेतनाका महत्त्व समझिये। ससारमे हम आपका कोई अलौकिक वैभव यदि है, अलौकिक आनन्दका कोई स्थान है तो वह है ज्ञानचेतना। सर्वत्र बाह्य दृष्टिमे दुःख है। जीवको सुख और आनन्द स्वय अपने आप है। स्वभाव ही उसका यह है, लेकिन अज्ञानचेतनामे रहता है, अपनेको ज्ञानस्वरूप अनुभव नही कर पाता है, बाह्य पदार्थोमें रागद्वेष बनाता है, इस कारण उसके दुःख ही दुःख बना रहता है। सुखी होना, शान्त होना, अपना उद्धार कर लेना अपने हाथ बात है। इस मनको मारना होगा, इन विकल्पोके निर्देशमे न चलना होगा और आत्माका जो सहज सत्त्व स्वरूप है उसमे रमना होगा। बाकी जितने भी मोह है, वैभव है, घर है, परिवार है, प्रीति है, इज्जत है, परिचय है ये सब विकार है, तृणकी तरह असार है। आत्माको इनसे कुछ लाभ नही मिलता, किन्तु जहाँ दुनियामे मोही मोही प्रायः बस रहे है, उनके बीच पड रहे है, दिखते है, व्यवहार होता है, तो इस निर्णयपर टिक नही पाते और लगने लगता है कि ऐसा तो करना चाहिए, इससे हमारी पोजीशन बढती है, इससे मेरेको सुख मिलेगा, लोग प्रीति करेंगे। कैसा यह चक्र है, इस चक्रसे वह ही पुरुष छूट सकता है, जिसने आत्माके सहज ज्ञानस्वरूपका अनुभव किया हो।

सत्यके आग्रहमें असत्यका असुहावना लगनेकी स्वाभाविकता—देखो जिस किसी पुरुषको किसी बातकी हठ हो जाय, चाहे वह हठ बुरी भी हो, लेकिन उस हठी पुरुषको कोई कुछ समझता तो उसका चित्त बदलता तो नही है। उसे ये सब बातें असारसी लगती हैं, और जिसकी हठ कर लिया वही सार लगता है। सीताका भाई भामडल विद्याधरोकी नगरीमे रहता था। यहाँ क्रुद्ध होकर नारदने सीताका चित्रपट भामण्डलके सामने रख दिया। भामडल

उस चित्रको देखकर ऐसा मुग्ध हुआ कि ऐसी हठ हो गई कि जिसका यह फोटो है उसके साथ ही विवाह होना चाहिए। खाना-पीना न सुहाये, कोई बात न सुहाये। उसे कोई समझाये तो वे बातें असार लगें। सार तो यह ही है। इसका मिलन ही सार है। सारी बाते असार जंची। कोई कितना ही समझाये, पर चित्तमे तो नही उतरता था। यह एक झूठे हठ की बात बतला रहे है। फिर आखिर भामंडल इस धुनमे आ गया। रास्तेमें उसे जातिस्मरण हुआ और पछताया कि मैने क्या खोटे भाव किये, वह तो मेरे साथ उत्पन्न हुई बहिन है। कुछ भी हो–खोटी हठमे कोई आये तो पीछे नियमसे पछताना पडता है। मगर यह समझ लीजिये कि हठ होनेपर अन्य बात सुहाती नही है। अब यहाँ सच्चे हठकी बात देखिये—सत्याग्रहकी बात, जो यथार्थ है, तथ्यकी बात है, त्रिकाल सत्य है, ध्रुव सत्य है, मेरा सहजस्वरूप मेरे सत्त्वके कारण अपने आप होने वाली जो एक ज्ञानज्योति है, जिसके न बंध है, न मोक्ष है, न नर-नारकादिक पर्यायें है, स्वभावदृष्टिको निरखकर कहा जा रहा है यह, स्वभावकी बात कह रहे है यह। स्वभावतः जीवमे ये कोई खटपटें नही है, ऐसा जो यह ज्ञानस्वभावमात्र अतस्तत्त्व है बस यही मै हू और हू ही नही, ऐसा दृढ निर्णय हो एक बार तो फिर उसे कोई कितना हो समझाये कि तुम तो फलाने चंद हो, फलाने लाल हो, फलानी बिरादरीके हो, फलाने गोत्रके हो, फलानी दूकानके हो, उसे नही जचता, एक ही बात प्रतीतिमे है–ज्ञानज्योति स्वभावमात्र यह मैं हू, ऐसा इस सत्यका आग्रह बन जाय, उसे सारे विषय असार लगते है, कुछ भी सार नही। ऐसा इस ज्ञानचेतनाका जिसके उपयोग बन जाय उस पुरुषकी सम्पन्नता की तुलना तीन लोककी सम्पदा भी इकट्ठी हो जाय उससे नही हो सकती है।

ज्ञानचेतनाके लाभके समक्ष त्रिलोकसम्पदाकी तुच्छता—देखो भैया! हो गया ढेर लाख करोडका, तुम तो अकेले ही हो, निराले हो, शरीर छोड़कर जाना पड़ेगा, मरण होगा, और जब है तब भी तुम्हारा कुछ नही है। उसमे क्या सार है? एक आत्मस्वरूपका भान हो, आत्मस्वरूपकी दृष्टि हो तो इससे बढ़कर जगतमे कही कुछ वैभव नही। एक मेरी आत्म-दृष्टिके कार्यको छोडकर बाकी सारे काम, सारे लोग, सारी वस्तुवे किसी भी प्रकार परिणमे. मेरा उसमे कोई दखल नही है। मेरेको उसमे कोई क्षोभ न होना चाहिए। यह ज्ञानचेतनाका वैभव जिसने पाया वह वास्तवमे अमीर है, शेष तो गरीब है, तृष्णावान् है और फिर उन तृष्णावानोमें जो कृपण है वे तो दयापात्र है। जिन्होने आत्मस्वरूपका अनुभव नही किया वे पुरुष दुःखमे ही रहेगे, चाहे राष्ट्रपति बन जायें, चाहे सर्वविश्व राष्ट्रसंघके प्रधानमंत्री बन जाये। कोई भी बडेसे बडा पद मिल जाय, जो कि लोकव्यवहारसे माना जाता हो, तो वह भी दुःखी रहता, व्याकुल रहता। तो एक ज्ञानचेतनाका वैभव प्राप्त हो, इसके लिए यत्न करो। आपको इसका महत्त्व दिलमे समाया है, इसकी निशानी यह है कि आप सोचे कि जैसा

तन, मन, धन, वचन परिवारके लिए लुटा रहे है, दुनियामे इज्जत पानेके लिए लुटा रहे है उतना तन, मन, धन, वचन एक ज्ञानके खातिर हम समर्पण करनेके लिए तैयार है या नही ? यदि तैयार है तो समझो कि इस ज्ञानचेतनाका महत्त्व हमारे चित्तमे समाया है। उस ज्ञानचेतनाके सम्बंधमे यह प्रकरण चल रहा है कि ज्ञानचेतनाका विघात होगा तो सम्यक्त्वके विघातके साथ होगा। सम्यक्त्वका विघात दर्शनमोहके उदयमे होगा। बचे-खुचे रागभाव सम्यक्त्वको, ज्ञानचेतनाको मिटानेमे समर्थ नही है।

एवमित्यादयश्चान्ये सन्ति ये सद्गुणोपमाः।
सम्यक्त्वमात्रमारभ्य ततोप्यूर्ध्वं च तद्वतः ॥६४०॥

स्वसवेदनप्रत्यक्षं ज्ञानं स्वानुभवाह्वयम्।
वैराग्य भेदविज्ञानमित्याद्यस्तीह किं बहु ॥६४१॥

सम्यक्त्वके साथ रहने वाले स्वसंवेदनप्रत्यक्ष, ज्ञान व स्वानुभवका निर्देशन—सम्यग्दर्शनके साथ-साथ और उसके आगे भी जो गुण पकट होते है उनकी चर्चा इन दो श्लोकोमे की जा रही है। जो गुण प्रकट हुआ है आत्मामे स्वानुभव, स्वसम्वेदनप्रत्यक्ष, ज्ञान, भेदविज्ञान वे सब सम्यक्त्वके साथ रह रहे है, इस कारण सद्गुण है, और सम्यक्त्वके साथ न हो तो वह सद्गुण नही हो सकता। देखो—स्वसम्वेदन ज्ञान नाम सीधा है। स्व आत्माका सम्वेदन कहो, जानन होना कहो, सम्यक्त्वके साथ है तो वह सद्गुण है। तो जिज्ञासा हो सकती कि क्या स्वसम्वेदन सम्यक्त्वके बिना भी हो जाता है ? हाँ हो जाता है। दार्शनिक लोग जानते है। जहाँ ज्ञानकी यह परिभाषा दी है कि स्व और अपूर्व अर्थका निश्चय करानेवाला ज्ञान प्रमाण होता है। तो लो ज्ञानने स्वका सम्वेदन तो किया। प्रत्येक ज्ञान स्वका सम्वेदन करता है, जो नही समझ पाता है कि मैंने अपने ज्ञानको जाना वे लोग भी ज्ञान द्वारा ज्ञानका सम्वेदन करते रहते है, पर ज्ञानरूपमे नही कर पाते। बस इतना फर्क रहता है। आत्माको कौन नही जानता ? पर यह मैं आत्मा हू, इस प्रकारसे नही जान पाते। सबके अपने अन्दर अनुभव चलते है, पर परपदार्थोमे उपयोग होनेके कारण उन अनुभवोंसे वे जीव यह नही समझ सकते कि यह मैं हूं। खैर ऐसा भी जान लो कि सम्यक्त्व होनेपर उससे और आगे जो भी प्रकट होता है वह क्या है ? स्वसंवेदनप्रत्यक्ष, अपने आपके निर्मल ज्ञानमे आत्माके सहज ज्ञानस्वरूपका परिचय होना सम्यक्त्वके साथ यह सद्गुण होता है। ज्ञान होना, सम्यक्त्वके साथ जो ज्ञान है वह सम्यग्ज्ञान है। सम्यक्त्वके बिना जो ज्ञान है वह सम्यग्ज्ञान नही है। उसे हम क्या कहे ? ऐसी स्थिति होती है कि जान तो रहा है वह सच-सच, पर सम्यक्त्व नही है तो उसे क्या कहा जाय ? मोक्षमार्गकी पद्धतिमे यह मिथ्याज्ञान कहा गया

गया है जैनबद्री, यहीसे सुन रहा है कि बाहुबलिकी ऐसी मूर्ति है, इतनी लम्बी-चौडी है, खूब जान रहा है। लिखा हुआ है पुस्तकोमे, उसे पढ-पढकर उस मूर्तिकी पूरी जानकारी कर लिया है, एक तो यह ज्ञान और दूसरा यह ज्ञान कि खुद वहाँ जाकर उस बाहुबलि स्वामीकी मूर्ति का दर्शन कर आये, तो बताओ इन दोनों ज्ञानोमे अन्तर है कि नही ? अन्तर है। एक तो है अनुभवात्मक ज्ञान और एक है परिचयात्मक ज्ञान। जिसे अनुभवात्मक ज्ञान है बाहुबलि स्वामीकी प्रतिमाका उसे यद्यपि सूक्ष्म नापकी बात सही सही ज्ञात नही है कि उस मूर्तिके हाथ इतने लम्बे है, पैर इतने लम्बे है, पैरोके अगूठे इतने लम्बे है आदि, और एक परिचयात्मक ज्ञान करने वालेको सब मालूम है कि मूर्तिका कौन अंग कितने फुटका लम्बा-चौडा है, इतनेपर भी इन दोनोंके ज्ञानमे बड़ा अन्तर है। जिसे अनुभवात्मक ज्ञान है उसे वास्तविक भेदविज्ञान है। तो ऐसे ही समझिये कि वास्तविक भेदविज्ञान वहाँ ही है जहाँपर आत्माका अनुभवात्मक ज्ञान हुआ है। ऐसे सम्यग्दृष्टिके सद्गुणोकी बात कही जा रही है—ये समस्त सद्गुण सम्यक्त्वके साथ उत्पन्न होते है।

अद्वैतेपि त्रिधा प्रोक्ता चेतना चैवमागमात्।
यथोपलक्षितो जीवः सार्थनामस्ति नान्यथा ॥६४२॥

चेतनाकी त्रिविधता—जीवका लक्षण चेतना है, प्रतिभास है। जैसे हम बाहरमें अनेक वस्तुओको देखते है। कुछ वहाँ पता पडता है, यह पिण्ड है, वजनदार है, हाथमे लेकर बता सकते है—इस प्रकार इस चेतनको भी समझा सकते हो या समझ सकते हो क्या ? इसकी समझ एक चेतन भावको ही लक्ष्यमे लेकर होती है। मै चैतन्यमात्र हू, प्रतिभासस्वरूप ज्ञानमात्र हू, जानना जानना ही जिसका स्वरूप है, जिसका जानना स्वरूप है वह नियमसे अमूर्त ही हो सकता। जिसका जानना स्वरूप है वह नियमसे सूक्ष्मतर हो सकेगा। ऐसा यह मैं चैतन्यमात्र हू। जीवका लक्षण चेतना है। यह चेतना चेतना ही तो है, अद्वैत है, एक है। किसी भी पदार्थका स्वरूप सहज अपने आप अपने सत्त्वसे एक स्वरूप ही होता है। उसमें भेद नही हुआ करता, तो स्वरूपत इस चेतनामे कोई भेद नही है। अद्वैत है, फिर भी आगमके अनुमार देखिये, दृष्टि लगाकर देखिये। चेतना ३ प्रकारकी कही गई है—१–ज्ञानचेतना, २–कर्मचेतना, ३–कर्मफलचेतना। ज्ञानचेतनाका अर्थ है कि मैं ज्ञानमात्र हूं, ज्ञानको ही करता हूं, ज्ञानको ही भोगता हू, ज्ञानरूप ही बर्तता हूं, ज्ञान ही मेरा सर्वस्व है, ज्ञानातिरिक्त कुछ भी नही है। इस तरह अपनेको ज्ञानमात्र चेतना, इसका नाम है ज्ञानचेतना। कर्मचेतना—ज्ञानको छोडकर अन्य क्रियावोमे, अन्य बातोमे, अन्य परिणतियोंमें, अन्य अवस्थाओमे इसे मै करता हूं—इस प्रकारका अनुभव करना, विकल्प करना, इसको कहते है कर्मचेतना। कर्मफलचेतना—ज्ञानके सिवाय याने ज्ञानको छोडकर अन्य कुछ मै भोगता हू, विषयोंको

भोगता हू, रूप भोगता हू, भोजन भोगता हू आदि प्रकारसे ज्ञानातिरिक्त भावोको भोगनेका विकल्प करना, मै भोगता हूं, ऐसी प्रतीति रखना सो कर्मफलचेतना है ।

अद्वैत होनेपर भी चेतनाके कर्मके निमित्तसे त्रिविधताका विवेचन—चेतना तो एक ही प्रकारकी है, लेकिन कर्मकी उपाधिसे इसमे तीन भेद आ गए । कर्मचेतना और कर्मफल-चेतनामे कर्म उपाधिका सम्बध प्रकट है, कर्मका उदय है, इस कारण यह कर्मचेतना व कर्म-फलचेतना होती है, पर ज्ञानचेतनामे कर्मका अभाव, कर्मका क्षयोपशम, कर्मका उपशम याने कर्म उपाधिका कुछ हट जाना, बिल्कुल हट जाना, यह कारण है । भेद बननेमे कर्मका निमित्त रहा ना । कही हटाव रूपसे रहा, कही उदयरूपसे रहा । चेतना तो एक ही प्रकारके स्वरूपमे है, पर कर्मके भेदसे, कर्मके निमित्तसे चेतनाके तीन भेद होते है—इस ३ प्रकारकी चेतनामे सामान्यतया यह समझ लीजिए कि कर्मचेतना और कर्मफलचेतना मिथ्यादृष्टियोके होती है । ज्ञानचेतना सम्यग्दृष्टियोके होती है । प्रतीति देखिये—भीतरमे क्या भाव भरा है ? यदि परि-वार रुच रहा हो तो समझिये कि हमारा भविष्य बहुत खराब है । यदि धन वैभव ही आप को देवता लग रहे हो तो समझिये कि हमारा होनहार खराब है । अपने आपके स्वरूपकी सुध ही नही है । आप कहा जायेंगे, क्या होगा इसका फल ? किसी भी बाह्य पदार्थसे मोह ममत्व रखनेका क्या परिणाम होगा ? यही ६ प्रकारके कायोको धारण कर-करके ससारमे दुःखी रहना पडेगा । अनन्त काल तो बिता दिया, अनत भव बिता दिया, एक इस भवको ऐसा ही मान लो कि मानो मैं पैदा ही नही हू लोगोकी दृष्टिमे, मैं कुछ भी नही हू । मैं यदि यहाँ न होता तो लोग क्या मुझे समझते ? और स्वरूपदृष्टिसे देखो तो मुझ चेतनको तो कोई समझने वाला है ही नही । जिसे कोई कुछ मानता है, समझता है वह तो जड है, मिट जाने वाला है, जला दिया जायगा । इस भवमूर्तिको देखकर ही तो लोग व्यवहार करते है । अपने स्व-रूपकी सुध लो और ससार-संकटोसे पार हो जावो । जो कला, जो विवेक, जो बुद्धिमानी तीर्थकरोने की, बडे पुरुषोने की उस कलाको कर लीजिए, और मोहियो जैसी कलामे तो विडम्बना ही हाथ लगेगी । इस कारण अपनी सुध लीजिए ।

ननु चिन्मात्र एवास्ति जीव· सर्वोपि सर्वथा ।
कि तदाद्या गुणाश्चान्ये सन्ति तत्रापि केचना ॥९४३॥

आत्माके चिन्मात्र एकरूपत्व अथवा अनेकत्वके विषयमे एक जिज्ञासा—अब इस प्रसगमे शकाकार अपनी जिज्ञासा रख रहा है कि लोकके समस्त जीव क्या सर्वथा एक चैतन्य-मात्र ही है या उनमे एक अन्य गुण भी होता है अर्थात् जीव क्या एक स्वरूप ही हैं अथवा अनेकरूप है ? इस प्रकार दो विकल्पोमे यह शंकाकार शंका कर रहा है । ऐसी शका क्यो उठी ? ठीक है जिसे उठी वह कोई दार्शनिक ही हो सकता है । नयवादके अनुसार जीव

के स्वरूपका वर्णन सुन-सुनकर जब कभी किसीको किसी नयका ज्यादा व्यामोह हो गया तो उसे कभी यह लगने लगता है कि ओह! जीव एक ही है, चेतना मात्र ही है। उसमें अन्य कुछ है ही नहीं। और जब विशेषवादी नयके द्वारा कथन सुना जाता है तब वहाँ यह लगता है कि इसमे तो अनेक गुण हैं और गुण ही क्या? इसमें क्रियायें भी भरी हुई है, अनेक तत्त्व दिखते है। ऐसी स्थितिमे यह शका होना प्राकृतिक है कि जीव क्या अखण्ड अद्वैत चेतनामात्र है अथवा उस जीवमे अनेक गुण भी पाये जाते है? शंका करनेका उसे अवसर मिल गया कि अभी मैने यह सुना था कि चेतना तो एक अद्वैतमात्र है, पर कर्मके निमित्तसे ३ भेद हो गए। जहाँ अद्वैतपनेकी बात सुनें तो अद्वैतमे उसका चित्त और आगे बढ़ा तो और जिज्ञासा हुई—तो क्या इसमे अनेक गुण है? क्या इसमे अनेक स्थितियाँ है? इस तरह शंका-कार दो विकल्पोमे अपनी जिज्ञासा रख रहा है कि समस्त जीव क्या चेतना मात्र है अथवा चेतना आदिक अन्य गुण भी है? इस शंकाके समाधानमे कहते है—

उच्यतेनन्तधर्माधिरूढोप्येकः सचेतनः।
अर्थजोत यतो यावत्स्यादनन्तगुणात्मकम् ॥६४४॥

अनन्तधर्मोंसे अधिरूढ़ होनेपर भी जीवकी एकरूपता—यह सचेतन, जीव, आतमा, ब्रह्म अनन्त धर्मोसे अधिष्ठित है, फिर भी यह एक है। इसके उत्तरमे निश्चयनय और व्यव-हारनयकी झाँकी लेते जाइये—जहाँ चेतनेको एक कहा जा रहा हो, मात्र चित्स्वरूप कहा जा रहा हो वह है निश्चयनयकी झाँकी और जहा अनन्त धर्मोंसे अधिरूढ़ पाया जा रहा हो, अनन्त गुणात्मक कहा जा रहा हो वहां है व्यवहारनयकी झाँकी। यह जीव अनन्त धर्मोंसे अधिरूढ है। रूढ़ और अधिरूढ। रूढिमे जैसे कोई बात प्रसिद्ध हो जाती है, प्रसिद्ध हुई, मगर यों अटपट नही, वहा जैसी बात पायी जा रही है उन गुणोसे हम जीवकी पहिचान कर सकते हैं, इसलिए यह अधिरूढ है। जैसे यहां जीवके सम्बधमें प्रश्न किया गया है कि यह जीव क्या एक अद्वैत चैतन्यमात्र है या इसमे अनन्त गुण है? ऐसा ही प्रश्न सभी पदार्थोंके विपयमे किया जा सकता है। और उसका उत्तर जैसा जीवमे घटित होता है, ऐसा सभी पदार्थोंमे घटित होता है। प्रत्येक पदार्थ अपने असाधारण स्वभावकी दृष्टिसे एकरूप है, फिर भी उस ही स्वभावके अन्तर्गत, उस ही स्वभावको स्पष्ट करनेके लिए उचित विधिके अनुसार उसमे अनत गुणभेद होते है, तो यह निर्णय हुआ कि पदार्थ अनेक गुणात्मक होते हुए भी एक है। एक तो स्पष्ट है, क्योकि यदि एक है, सत्त्व एक है, वह एकरूप है, है और प्रत्येक पदार्थ निरन्तर परिणमता रहता है, परिणमन भी प्रति समयका एक है। पर वह एक किस प्रकार है, उसे हम कैसे समझें? उसको समझनेके लिए हमे आचार्योंने एक गुणका उपहार किया। उसके द्वारा समझ लो—गुण कहते किसे है? 'गुण्यते परिच्छद्यते द्रव्य यैस्ते गुणाः' अर्थात् जिनसे

पदार्थ जाना जाय उन्हें गुण कहते है। इस व्युत्पत्तिके अनुसार गुणका अर्थ है—आत्माकी ऐसी शक्तियाँ कि जिनकी समझसे हम द्रव्यकी पहिचान करते है अथवा दूसरी व्युत्पत्तिसे हम द्रव्यकी पहिचान करते है। दूसरी व्युत्पत्तिसे देखिये—'गुण्यते भिद्यते द्रव्यं यैस्ते गुणाः।' जिसके द्वारा द्रव्यका भेद किया जाय उसे गुण कहते है, लेकिन इसमे यह झांकी आयी कि प्रत्येक द्रव्य स्वरसतः एकस्वरूप है। उनमे जो गुण समझे जाते है उन गुणोसे द्रव्यका परिच्छेदन हुआ और भेदन हुआ, और प्रत्येक पदार्थ अनन्त गुणात्मक होकर वस्तुनः एक है। जीवद्रव्य अनन्त गुणोका अखण्ड पिण्ड है।

स्याद्वादके सही प्रयोग द्वारा ही वस्तुस्वरूपके यथार्थ अवगमकी शक्यता—देखो वस्तुस्वरूपके समझनेके लिए जब आप चलेंगे तो जो उपायकी गली है वह बहुत संकरी है। अपने आपको बहुत सम्हलकर, केन्द्रित होकर उस गलीसे चलाना होगा। स्वच्छन्द होकर अटपट कदम उठाकर यदि चलेगे तो उस रास्तेसे भी गिर गए और वस्तुस्वरूप तक पहुंचना कठिन है। पदार्थमे अनन्त गुण तो है, लेकिन उन अनन्त गुणोको यो ही वस्तुत: मान लें तो वे सभी गुण एक-एक पदार्थ कहलाने लगेंगे और ऐसा जिसने कदम उठाया है उन दार्शनिकोंकी यह तो स्पष्ट घोपणा है। पदार्थ कितने होते है ? जातिकी अपेक्षा उन भेदवादियोके पदार्थ ७ होते हैं—द्रव्य, गुण, कर्म सामान्य, विशेष, समवाय और अभाव, उनका यह सिद्धान्त है कि दिमागमे जंचना चाहिए कि जो यह है सो यह नही है। इससे यह भिन्न है, जुदा है, स्वरूप निराला है। लो, उनकी स्वतत्र सत्ता वाला या सत्ताके समवाय वाला पदार्थ बन गया। जैसे यह समझमे आया कि जीवमे ज्ञान है, जीवमे दर्शन भी है, चारित्र भी है और देखो—जो ज्ञानका स्वरूप है सो दर्शनका नही, जो दर्शनका स्वरूप है सो चारित्रका नही। ये तो बिल्कुल भिन्न-भिन्न बातें है। इस भिन्नतापर बढनेका फल क्या हो गया कि जैसे जीव एक पदार्थ है वैसे ही ज्ञान, दर्शन चारित्र आदिक भी एक पदार्थ है, और ऐसा विशेषवादने माना है। तो बहुत सम्हलकर चलना है वस्तुप्रतिबोध मन्दिरके लिये वस्तुमे अनन्त गुण नही है, किन्तु वस्तु अनन्त गुणात्मक है। व्यवहारके लिए कुछ भी कह लो—वह समझनेके लिए है। जैसे किसीके सिरदर्द हो रहा और उससे कोई पूछ बैठे कि भाई आपको क्या कुछ दर्द है ? तो उसे तो बडा लम्बा बोलना पडेगा, क्योकि वह जानता है कि सिर तो मेरा है नही, मैं तो एक चेतन हू, यह सिर तो एक जड पदार्थ है। अब इसका दर्द बताना है तो वह कितना लम्बा बोलेगा ? असमानतातीय दो द्रव्योके मेलसे बना हुआ तो एक मायामय पर्याय है, उसमे जो एक सिर है, उसमे कितने ही नसाजाल होते है, उनमे परिस्पन्दन हो रहा है। सुध ही उसे कहाँ रहेगी उसको इतना कहनेकी ? वह तो कहेगा कि हाँ मेरे सिरमे दर्द है। समझने वाले समझ ले, बात क्या बन रही है। यह एक व्यवहार भाषा है। इसी तरह प्रति-

बोधके लिए बताया गया है कि वस्तुमे अनन्त गुण हैं।

गुणोंके स्वतन्त्र सत्त्वका अभाव—भैया! गुण इस तरह स्वतंत्र नही है जैसे कि वैशेपिकोने माना है। जब उनके दर्शनमे कुछ प्रवेश करें तब यह बात विदित होगी कि उनको सत् रूपसे न कहना चाहिए। जैसे कि आजकल ऐसी प्रथा चल गई है अध्यात्मके जोशमे कि द्रव्य सत् है, गुण सत् है, पर्याय सत् है। कहाँ वह सत् है? सत् है तो वह एक पदार्थ है। अब उसकी भेदविवक्षामे जो जच रहा है वह जंचनेकी बात है। सत् तो जो है सो है, उसकी बात बताओ ठीक है, और इतनेपर भी मशा पूरी नही होती। उस एकान्तमे तो क्या कहा जाता कि द्रव्य स्वतत्र सत् है। एकान्तवादके अभिनिवेशकी बात कही जा रही है। उसमे वस्तु तत्त्वका याथात्म्य नही जाना जा सकता। नयवादकी बात और है और एक प्रकट एकान्तसे घोषणा करना, यह बात और है। और इतने तक ही मशा पूरी न हो तो यह भी कहना पडता है कि प्रत्येक समयकी पर्याय स्वतत्र है। प्रत्येक गुण अपने आप स्वयं सत् है। किसीका किसीसे कुछ ताल्लुक नही। तो एकान्तवादके अभिनिवेशमे वस्तुस्वरूपका अवगम सही नही हो पाता, वहाँ समझ लीजिए। आगममे बताया है कि पदार्थ अनन्तगुणात्मक है और एक है। वहाँ कोई स्वरूप रूपसे इस तरह सत् नही है कि जैसे एक थैलीमे १०० पैसे डाल दिए। अब उस थैलीसे प्रत्येक पैसा स्वतत्र सत् है, ऐसे ही आत्मा कोई थैली नही है कि जिसमे अनन्त गुण भरे हो वे स्वतत्र सत् हो। आत्मा एक वस्तु है, वह एक असाधारण स्वभावके लिए हुई है। प्रतिसमयमे उसका एक परिणमन होता है। अब तीर्थप्रवृत्तिके लिए व्यवहारकी आवश्यकता है ही। उसके बिना हम उस परमार्थस्वरूपको समझ सकते नही। तब आत्मा अनन्तगुणात्मक है। कैसे? आत्मा अनेकानेक है। कैसे? आत्मा ज्ञान भी है, गुण भी है, नही भी है, कैसे? अरे आनन्दका काम है आह्लाद व ज्ञानका काम है जानन। उसका काम उसीमे है। लोकव्यवहारके उपायसे बढ़ते जाइये भेदमे, परवस्तु वहाँ क्या है? वह तो एक स्वरूप है, जिसे अनन्तगुणात्मक कहा जा रहा है। तो शकाकारकी यह आशंका थी कि यह जीव सचेतन क्या एक अद्वैत चेतना मात्र है या उसकी आड लेकर अन्य अनेक गुण भी इसमे मौजूद है? बताया गया कि आत्मा अनन्तगुणोसे अधिरूढ़ है, फिर भी यहाँ गुणोकी भेदविवक्षासे भेद किया गया और जब अभेददृष्टिसे परखेंगे तो अभेद समझा जायगा।

अनन्तधर्माधिरूढ़ होनेपर भी आत्मद्रव्यकी अद्वैतरूपता—अब इन दोनोके समन्वय रूपसे बात क्या समझमे आनी चाहिए कि अनन्तगुणसमूह वह आत्मा है और इसी कारण द्रव्यका लक्षण यह किया गया है कि 'गुणसमुदायो द्रव्य।' द्रव्य क्या है? गुणसमुदाय। वह गुणसमूह क्या है? गुणसमुदयो द्रव्य, गुणका जो समुदय है वह द्रव्य है। गुणवद्द्रव्य, जो गुण वाला है वह द्रव्य है। जो गुणमय है वह द्रव्य है। गुणमे द्रव्यका तादात्म्य है मायने

गुणमय है द्रव्य। गुण ही जिसका आत्मा है, गुण ही जिसका स्वरूप है, ऐसा यह जीव है। कहो विशेषवादकी तरह यह न समझ लेना कि गुण अलग है, आत्मा अलग है, उन गुणोका सम्बंध हो तो आत्मा गुणी कहलाये। जैसे लाठी अलग है, बूढा अलग है, लाठीका सम्वध हो तो यह बूढा लाठी वाला है, ऐसा आत्मामे नही है। आत्मा गुणमय है, गुण वाला है। यह समझानेके लिए कहा है। उसका अर्थ तादात्म्य ही लेना, भिन्नताका अर्थ न लगाना, क्योंकि यदि भिन्न मान लेंगे तो क्या आपत्ति आयगी ? ज्ञान भिन्न है, जीव भिन्न है तो बताओ जीव के बिना ज्ञानका स्वरूप क्या ? तो ज्ञानके बिना जीवका क्या स्वरूप ? आत्माका स्वरूप सिद्ध नही हो सकता। यदि कोई यह कहे कि भले ही ज्ञान जुदा है, जीव जुदा है, फिर भी इसका समवाय सम्बध है और वह सम्वध नित्य है। नित्य है तो लो जीव कभी मुक्त हो ही नही सकता। मुक्त तो उसे कहते है कि जो अपने स्वरूपके अतिरिक्त अन्य चीजोसे निराला रह जाय तो जब जीव और ज्ञानका नित्य सम्बंध मान लिया, भिन्न-भिन्न तत्त्व मानकर भी तो लो ज्ञान कभी जीवसे अलग न होगा तो मुक्ति भी न होगी। विशेपवादी मुक्ति इसीको मानते है कि ज्ञानशून्य हो जाय जोव, बस यही भगवान बन गया, यही इसका मोक्ष हो गया तो यह बात भी न रही। वास्तविक बात यह है कि जीव ज्ञानस्वरूप है, पर-उपाधिके सम्बधसे यहाँ जो तरग रंग उठती है उससे मलिन हुआ है, ससारी बना है। पर-उपाधि न रहे, जीव अपने सहज शुद्ध ज्ञानस्वरूपमे आ जाय, विकसित हो जाय उसीके मायने मुक्ति है। तो यह निर्णय करना कि जीव ज्ञानस्वरूप है, अद्वैत चेतनारूप है और ऐसा ही इसका व्यक्त स्वरूप बन जाय, इसीको कहते है मुक्ति। इस चेतनाके यहाँ ३ भेद जो बताये जा रहे है तो जब स्वरूपत देखते है तब तो वह एक रूप है और जब पर्यायतः देखते हैं तो ३ रूप है—ज्ञान-चेतना, कर्मचेतना और कर्मफलचेतना। इस तरह इस छदमे शङ्काकारकी शङ्काका समाधान देते हुए यह निर्णय दिया है कि यह जीव अनन्तगुणात्मक होकर भी एक स्वरूप है। इसी विपयको स्पष्ट करनेके लिए आगेका श्लोक कहेगे।

अभिज्ञानं च तत्रापि ज्ञातव्य तत्परीक्षकै.।
वक्ष्यमाणमपि साध्य युक्तिस्वानुभवागमात् ॥६४५॥

प्रत्येक जीवके अद्वैत होनेपर भी एकस्वरूप होनेका सप्रमाण निर्णय—कल यह बताया गया था कि जीव अनन्तगुणात्मक है, इसका विशेष परिज्ञान युक्तिसे करें, स्वानुभवसे करें, आगमसे करे। भली प्रकार परीक्षा करके चित्तमे उतरा हुआ ज्ञान स्पष्ट होता है और एक कहने मात्रसे मान ले कोई तो उसके दृढता नही होती। तब ही तो समयसारकी भूमिकामे कुन्दकुन्दाचार्यने कहा है कि मैं उस एकत्वविभक्त आत्माको दिखाऊँगा जो एकत्वविभक्त आत्मा

लोकमें सुन्दर है, कल्याणकारी है, जिसके जाने बिना संसारकी सारी विडम्बनायें है, ऐसे जीव के सहजस्वरूपको बतावेंगे, सो यदि मैं दिखा दूं, समझा दू तो उसे परीक्षा करके प्रमाण मान लेना और यदि चूक जाऊँ तो दोष ग्रहण न करना। इसमे दो बाते खास ध्यान देनेकी है। आचार्यदेव यह कहते है कि यदि मैं बता दू तो उसकी परीक्षा करके तो प्रमाण करना, प्रमाण की कसौटी पर सही उतरे तो उसे मान लेना। और बात भी सही है—जो ढंगसे मानता हैं कुछ तो वह ढगसे प्रमाण करके अपने मनमे आये तब ही मानता है। कौन किसकी मानना है? झगडा तो यही है संसारमे। घर-घरमे कलह इन्ही बातोका है। घरके लोग चाहते कि हमने कहा है, इसलिए यह ऐसा मान ले, पर वस्तुस्वरूप यह कहता है कि उसके चित्तमें उतरे तब ही तो वह मान सकेगा। तो जो घरमे अपनेको बडासा समझता है, मनोज्ञ, लाडला सा समझता है वह इस बातसे ऊब जाता है मैने कहा और दूसरेने न माना। अरे जरा वस्तु-स्वरूपको तो देखो—दूसरा कोई तुम्हारा कहना कभी मान ही नही सकता। आप कहेगे कि कभी-कभी ऐसी घटनायें होती है कि वह जानता है कि ये झूठ कह रहे, सही नही कहते है या मनमे इच्छा नही है कि इसकी बात मान लें और फिर भी मानता है। तो वहाँ भी वास्तवमे एक कुछ मंशा है, इच्छा है जिसके कारण वह मानता है। दूसरेकी बात दूसरा कोई मान ही नही सकता। खुदकी शान्तिके लिए, खुदकी सुखपूर्तिके लिए बातको समझा हो तो मान लेगा, अन्यथा कौन मान जायगा? तो भाई पहिली बातमे तो यह बताया कि तुम परीक्षा करके प्रमाण कर लो और फिर यह बतला रहे है आचार्य कुन्दकुन्द महाराज कि मैं चूक जाऊँ तो छल ग्रहण न करना, दोष ग्रहण न करना। इसमे बडेका बडप्पन दिख रहा है। चूकेगा वह श्रोता, अज्ञानी, मूढ़ और लघुताकी बात कह रहे हैं खुद आचार्यदेव। जैसे कोई-कोई समझदार आदमी त्यागी विद्वान या कोई भी यो कहते है कि हमारी बात तुम्हारी समझमे ही नही आयी, तुम्हारे दिमागमें बात उतरी कि नही? अरे तुम्हारे दिमागमे क्या गोबर ही-भरा है? चलते जावो—धीरे-धीरे असभ्यतामे बहुतसे लोग यो अपमान करनेको तैयार रहते है, परन्तु जो पुरुष सज्जन है वे इन शब्दोमे कहते कि भाई मैं आपको समझा नही सका। तो बडेका बडप्पन देखिये—आचार्य महाराज कहते है कि यदि मै चूक जाऊँ तो छल ग्रहण न करना। छल ग्रहण करनेकी बात क्या है? यह विश्वास करके जाना कि आत्मा कुछ नही है, केवल कहनेकी बात है। ऐसा छल ग्रहण न करना। न समझमे आये न सही, मगर चित्तमे उत्कंठा बनाये रहना कि मुझे जानना है आत्माको।

युक्ति, स्वानुभव और आगमसे जीवकी अनन्तधर्माधिरूढ़ताका विवेचन—युक्तियोसे जिसकी परीक्षा हो जाती है उसका ज्ञान प्रमाणभूत होता है। तो आत्मामे अनन्त गुण है। आत्मा अनन्तगुणात्मक है, इसकी परीक्षा भी करें युक्तिसे, स्वानुभवसे, आगमसे। युक्तिसे तो

यो परीक्षा होती है कि देखो आत्मामें ज्ञानगुण अवश्य है, अन्यथा यह जाननेका काम कैसे बनता ? कार्यको देखकर कारणका अनुमान किया है । धुवेंको देखकर अग्निका अनुमान किया जाता है । कोठेमे आग जल रही है, क्योंकि धुवां निकल रहा है । तो ज्ञानगुणका कार्य है यह जानना समझना । यदि ज्ञानशक्ति न होती मुझमे यह जाननेका काम कैसे बनता ? और जानने का काम समझनेके लिए और कोई युक्ति नही दिखती, वह तो सबकी समझमे है । जान रहे सब कुछ, सबको ही जान रहे । इसमे श्रद्धा गुण भी है । देखो—तब ही तो लोग कही न कही अपने चित्तमे विश्वास बनाये हुए है । कोई धनमे विश्वास जमाये है, खूब धनी बन ले इससे बडा आराम है । कोई परिवारमे विश्वास जमाये है, कोई स्त्रीमे विश्वास जमाये है, कोई धर्ममे विश्वास जमाये है, कोई आत्मदृष्टिमे विश्वास किए है । विश्वास किए बिना कोई जीव रहता नही । किसीको विषयसुखमे विश्वास है तो किसीको अविकार ज्ञानस्वभावमे विश्वास है । यदि श्रद्धागुण न होता तो यह विश्वास करनेका काम कैसे बने ? इससे चारित्र-गुण भी है जीवमे । न होता चारित्रगुण तो रमनेका काम कैसे बनता ? सभी जीव कही न कही रम रहे है । कोई मोहमे रम रहा, कोई रागमे, कोई विरोधमे, कोई ज्ञानमे रम रहा, पर रमनेकी प्रकृति जीवमे पायी जा रही है तो इसकी कोई शक्ति तो है जीवमे तो युक्तियोसे भी गुणकी परीक्षा होती है । स्वानुभवसे भी परीक्षा होती है । इन्द्रियका व्यापार बन्द करो । देखना, ताकना, भूकना सब समाप्त करो और एक विशुद्ध आत्माके उपयोगमे स्थित हो जाओ । अनुभूति बता देगी कि यह मै ज्ञान, दर्शन, आनन्द आदिका पुञ्ज हू । अनुभूतिके कालमे भेद तो न आयगा, पर अनुभूति हो जानेपर समझ सब आ जायगी । तो युक्तिसे, स्वानुभवसे आत्मगुणोकी परीक्षा करो । आगमसे भी देखिये—आगममे जीवके सामान्य गुण और विशेष-गुणका वर्णन है जिसे कि अब बतलाया जा रहा है ।

तद्यथापथं जीवस्य चारित्र दर्शन सुखम् ।
ज्ञान सम्यक्त्वमित्येते स्युर्विशेपगुणाः स्फुटम् ॥९४६॥

जीवके असाधारण गुणोकी चर्चा—जीवके विशेष गुण है चारित्र, दर्शन, आनन्द, ज्ञान, सम्यक्त्व । विशेष गुण कहो या असाधारण गुण कहो, दोनोका एक ही भाव है । जो गुण लक्षित द्रव्यमे ही पाये जाये, अन्य द्रव्यमे किसीमे भी न पाये जायें उसे असाधारण गुण कहते है । जिन गुणोका यहाँ नाम लिया गया है वे जीवमे ही पाये जाते है, जीवके सिवाय अन्य किसी पदार्थमें पाये ही नहीं जाते । इस कारण ये असाधारण गुण कहलाते हैं । गुण नाम है शक्तिका । जीवमे हमेशा रहने वाली शक्ति है यह । चाहे कोई निगोदमे हो, अन्य गतियोमे हो अथवा सिद्ध हो, प्रभु हो, सबमे ये शक्तियां पायी जा रही है । आज ज्ञानशक्ति का परिणमन हो रहा है कुमति, कुश्रुतरूप, किन्तु जब सम्यक्त्व जगेगा और कुज्ञान हटेगा

ओर चारित्रोपयोगसे अपने ज्ञानस्वरूपमें रमण किए जानेके बलसे जो विशुद्धि जागृत होगी उसमे कर्मका क्षय होगा, केवलज्ञान प्रकट होगा, तो वह केवलज्ञान भी इस ही ज्ञानशक्तिका उपादान करके प्रकट हुआ है। कही प्रभुमे नई चीज नही आ गई। जो बात आत्मामे है वही बात व्यक्त हो गई। प्रभुता पानेके लिए कोई बाह्यसाधन नही जुटाने पडते, किसी बाह्यपदार्थ से परमात्मतत्त्व खीच लिया जाय, ऐसे नही आता परमात्मतत्त्व, बल्कि जो ऐब, कलक मल लगे है उनको हटानेकी आवश्यकता है, कुछ लगानेकी आवश्यकता नही है। विषयकषायके परिणाम हटे तो ज्ञान पूर्ण विकसित हो जायगा। जो है सो प्रकट हो जायगा।

आत्माके ज्ञानादि विशेष गुणोंकी चर्चा—देखो तो अनादिकालसे यह गुण सहजज्ञान स्वरूप, जिसे कह लीजिए सहज अनन्त ज्ञानस्वरूप कैसा दबा हुआ पडा है? विषय कषाय रागद्वेषभावके कारण। आज कितनी दयनीय दशा है? मोहका लेश भी सम्बन्ध हो तो वह दुःखका ही कारण है। इस मोहसे ही दुःखी होते जाते और उस दुःखके मिटानेका उपाय मोह करना ही समझते। यदि इस मोहको हटानेका उपाय करें तो दुःख हमेशा को मिट जायगा। लेकिन ऐसी बात अगर बन जाय तो उसका नाम मोह कैसे रहेगा? जैसे कोई कहता ना कि देखो मै ऐसा न कर दू तो मेरा नाम पलट देना, इसी तरह मोह यह कह रहा है कि मै इस जगतके जीवोको यो बरबाद न रखू तो मेरा नाम पलट देना। मोहमे कहाँ यह बात सूझेगी कि मेरेको दुःख इस मोहसे हुआ है? यह मोह क्रूर पिशाच है, इससे छुटकारा पानेके लिये ज्ञानबल बढाओ और इस मोहको तिलाञ्जलि दे दो। रागमे तो यह बात सूझ जायगी कि इस रागसे मुझे दुःख हुआ है, इसलिए इस रागको मिटाना चाहिए पर मोह मे रहकर यह बात नही सूझती। अतः मोहका विनाश कर सुखका उपाय बनाओ, मोहमे उपाय न बनेगा। यहाँ आत्माके विशेषगुण बताये जा रहे है, जो आत्मामे ही पाये जाते अन्य मे नही पाये जाते। ज्ञानचेतना जीवको छोडकर अन्यमे कहाँ पायी जाती है? जापानमे लोग अब बच्चोके बराबरके डेढ-डेढ दो-दो हाथके ऊँचे खिलौने बनाने लगे है। उन्हे कुछ दूरसे देखनेमें ऐसा लगता है कि मानो वे सच सच बच्चे ही है, पर उनके पास जाकर देखो तो वे ज्योके त्यों काठ पत्थर जैसे रखे रहते है। उनमे बोलने समझने आदिकी कुछ बात नही हो रही। तो कैसा ही कुछ बना ले कोई पुद्गलको, मगर ज्ञान क्या उसमे आ जायगा? ज्ञान तो जीवका असाधारण गुण है वह कैसे आ सकेगा? चारित्र किसी ओर रम जाना यह बात जीवमे ही पायी जा सकती है। दर्शन—अपना भी प्रतिभास रहना यह गुण जीवमे ही पाया जा सकता। आनन्द, आल्हाद होना यह भी जीवमे ही है और सम्यक्त्व भी जीवमे ही है। ये जीवके विशेष गुण कहे गए है युक्तिसे भी समझ लो, स्वानुभवसे भी जान लो, आगमसे भी जान लो।

वीर्यं सूक्ष्मोवगाहः स्यादव्याबाधश्चिदात्मकः ।
स्यादगुरुलघुसंज्ञं च स्युः सामान्यगुणा इमे ॥६४७॥

जीवके सामान्य गुणोंका निर्देशन— जीवके विशेष गुणोका निर्देश करके इस श्लोकमे जीवके सामान्य गुणोका दिग्दर्शन कराया है । सामान्यगुण किसे कहते है ? साधारण गुण—जो गुण समस्त द्रव्योमे पाये जायें ऐसे गुणोको साधारण गुण कहते है । जैसे—अस्तित्व वस्तुत्व आदिक ये साधारण गुण क्यों कहलाते ? यो कि ये सबमे समान है । वहाँ भी यह न जानना कि जीवका वस्तुत्व पुद्गलमें पहुंचा या वस्तुत्व आदिक नामक गुण कोई एक है, सर्वव्यापी है, ऐसा नही है । प्रत्येक पदार्थ निराले है उनमे जो बात समान रूपसे पायी जाय, सबमे घटित हो उसे साधारण गुण कहते है । ऐसा नही है कि अस्तित्व एक गुण है और उसके सम्बन्धसे सब पदार्थ अस्तित्व वाले कहलाये । पदार्थ जितने है वे सब अपने-अपने गुणोमे हैं, अस्तित्व वस्तुत्व आदिक गुण भी खुदके खुदमें है, दूसरेमे नही, लेकिन जैसे इसमे हैं तैसे ही और मे है, सबमे है, उसकी इस समानताके कारण इन्हे साधारण गुण कहा है । तो वीर्य, सूक्ष्म अव्याबाध और अगुरुलघु ये जीवके सामान्य गुण है, अस्तित्व आदिक भी है और ये भी गुण ऐसे है कि जो सबमे देखिये । कोई भी द्रव्य मोटा नही है, जो स्कंध दिखते है ये द्रव्य नही हैं, यह तो अनन्त परमाणुओका समूह है । किसी भी द्रव्यसे किसी द्रव्यको बाधा नही आती । इन गुणोकी साधारणतापर विचार किया जा रहा है । एक अणुसे दूसरे अणुमे बाधा नही पहुचती और तब ही तो परस्पर उनका अवगाह है । पर्यायकी बात नही कह रहे, स्कधरूप पर्यायमे होनेपर तो एकसे दूसरेको बाधा है । मगर अणुको अणुसे कोई बाधा नही है । किसी द्रव्यसे किसी दूसरे द्रव्यको कोई बाधा नही है । तो लो यह भी साधारण गुण हो गया । शक्ति सबमे है । तभी तो सब पदार्थ अपने अनुरूप अपना कार्य करते रहते है । सब पदार्थोमे वीर्यकी बात आयी । सब पदार्थ अपने स्वरूपसे अगुरुलघु है । इतना ही है, न वे हल्के होते, न बडे होते । कुछ शका हो सकेगी तो पुद्गलमे, तो पुद्गलकी बात समझ लीजिए कि अणुमे गुरु लघु स्पर्श ही नही है । उसका अगुरुलघु तो स्पष्ट ही जंच रहा है । ऐसे ही सभी गुण जो इस लोकमे बताये जा रहे है सामान्य गुण है—जो सामान्य रीतिसे सबमे पाये जायें । इस तरह जान लें कि जीवमे अनेक तो सामान्य गुण है और अनेक विशेष गुण है । तब उन सब सामान्य विशेष गुणोको समझकर निर्णय करना कि—

सामान्याः वा विशेषा. वा गुणाः सिद्धाः निसर्गतः ।
टकोत्कीर्णा इवाजस्रं तिष्ठन्ति प्राकृता स्वत. ॥६४८॥

सामान्य एवं विशेष गुणोकी निसर्गसिद्धता—जीवके सामान्य गुण हों अथवा विशेष गुण हो, सभी गुण स्वभावतः सिद्ध है अर्थात् किसी अन्यके द्वारा निष्पन्न नही किये गये ।

जीवमे रहने वाली शक्तियोंको किसने बनाया ? जीव चूंकि सत् है, इसलिए स्वयं ही अपने आप गुणपर्यायमय है । द्रव्य कहते है उसे जो गुण पर्यायवान हो । कैसे प्रचलित हो गया कि इन सबका बनाने वाला कोई एक ईश्वर है । अरे ईश्वरकी उपासना तो करनी चाहिये थी अनन्तज्ञान और अनन्त आनन्द, अनन्तज्योतिस्वरूपमे । जिसके स्वरूपकी उपासना करके यहाँ भी स्वभावदृष्टि पहुचती और ससारके संकट मिटते है । लेकिन क्या किया जाय ? ज्ञान द्वारा वस्तुस्वरूपका निर्णय करना जिसे बोझ लगा, कठिन लगा तो सीधा उपाय यह जंचा कि वह ईश्वरने किया, ईश्वरकी लीला है । कोई भी विज्ञानवादी पुरुष जिसके ज्ञान विज्ञानमे रुचि है, उत्साह है वह तो माननेको तैयार न होगा । अरे पदार्थ सभी सामान्यविशेषात्मक है और उनमे स्वभावतः यह कला है कि वे निरन्तर उत्पाद व्यय कर रहे है । लो सारी व्यवस्था सही बन रही है । उस कल्पित ईश्वरको यदि अनन्त पदार्थोंमे से किसी एककी भूल हो जाय तो ऐसा न होगा कि वह पदार्थ परिणमे बिना बैठा रहेगा और कहो कि यह यो नही परिणम रहा कि ईश्वरकी उसपर दृष्टि नही पहुची । जरा सोचो तो सही कि कोई पदार्थ परिणमन न कर रहा हो तो पदार्थ क्या, सत् क्या ? प्रत्येक पदार्थ अपने निसर्गसे ही प्रतिक्षण परिणमते रहते है । ऐसे सभी गुण जीवमे निसर्गसे सिद्ध है और वह टाँकीसे उकेरी गई पत्थर की मूर्तिके समान निश्चल है । जैसे पत्थरकी मूर्ति निश्चल है, निरन्तर है, ऐसे ही ये समस्त गुण निश्चल है । जीवसे हटाये हटते थोडे ही हैं । भला कर्मोका इतना अधिक आक्रमण कि निगोद दशाको तो देखिये ऐसा लगता है कि जीव ही कहाँ रहा ? यह तो सारी जान निकल गयी । अक्षरका अनन्तवाँ भाग ज्ञान श्वासके १८वें भागमे जन्ममरण, एक शरीरके आश्रय अनन्त जीवोका रहना, भला भगवान आत्माकी कोई यह दशा है क्या ? लगता है ऐसा कि यह तो कुछ भी नही रहा । लेकिन क्या न रहा ? जितने अनन्त गुण है, जितने सहज गुण है, सभीके सभी निगोद जीवमे ही है, निश्चल हैं, अन्यथा मनुष्य होनेपर वे गुण आ कहाँसे गए और प्रभु होनेपर वे गुण कहाँसे पूर्ण विकसित हो गए ? तो जीवके ये सभी गुण निसर्गसिद्ध है, स्वयंसिद्ध है, अनादिनिधन है । यहाँ प्रकरणमे यह बात कही जा रही थी कि जीव अनन्तगुणात्मक होकर भी एक है और वह एक है चेतनास्वरूप और उस चेतनाके कर्म के निमित्तमे तीन भेद बने—ज्ञानचेतना, कर्मचेतना, कर्मफलचेतना । उसमे से ज्ञानचेतना सम्यग्दृष्टिके होती है । कर्मचेतना कर्मफलचेतना मिथ्यादृष्टिके होती है । उस ज्ञानचेतनाका घात रागसे नही होता । जब दर्शनमोह ही पनप उठे तो सम्यक्त्व मिटेगा, ज्ञानचेतना मिट जायगी, पर ज्ञानी पुरुषके जो कोई राग शेष है उस रागमे इतनी सामर्थ्य नही है कि उसके सम्यक्त्व का विघात कर दे । सो जो सम्यक्त्व जैसे संक्रमणरहित है, ज्ञानचेतना भी संक्रमणरहित है लेकिन स्पर्शी है, पर ज्ञानचेतनाका विषय बस ज्ञान ही है स्वयं सहज स्वभाव ही है ।

इन तथ्योंके विवेचन करनेके प्रसंगमें ये सब बातें बतायी जा रही है कि जीव किस-किस अनन्त गुणस्वरूप है और फिर भी एकस्वरूप है।

तथापि प्रोच्यते किञ्चिच्छ्रयतामवधानतः।
न्यायबलात्समायातः प्रवाहः केन वार्यते ॥९४९॥

गुणोंका कुछ वर्णन किये जानेका संकल्प—उक्त श्लोकमे बताया गया था कि जीवमे अनेक सामान्य गुण है और अनेक विशेषगुण है। देखिये—सामान्य गुणोके विना विशेष गुण रह नही सकते और विशेष गुणोंके बिना सामान्य गुण नही रह सकते है। जैसे आत्मामे अस्तित्व वस्तुत्व ही न हो तो ज्ञानगुण काहेपर रहे? सत्ता ही नही है। है ही नही स्वरूप-चतुष्टय। तो ज्ञानका क्या मतलब? और आत्मामें ज्ञानादिक जैसे असाधारण गुण न हो तो फिर सत्ता किसकी? तो सामान्य और विशेष ये दोनो परस्पर अविनाभावी है। सामान्यगुण के बिना विशेषगुण नही रह सकता और विशेषगुणके बिना सामान्यगुण नहीं रह सक्ता। ऐसे अनेक सामान्यगुण है और अनेक विशेष गुण है। उन गुणोका थोडासा विवेचन किया जा रहा है। तो ग्रन्थकार कहते है कि उसे बहुत सावधानीसे सुनो—गुण सब पदार्थोंमे स्वयसिद्ध है और उनका प्रवाह न्यायबलसे चला आ रहा है अर्थात् अनादिसे गुणद्रव्योमे है और अनन्तकाल तक रहेगे। इस तरह भी प्रवाह चला आ रहा है और उन समस्त गुणोका परिणमन भी निरन्तर है। इस तरह भी प्रवाह चला आ रहा है तो न्यायबलसे आया हुआ प्रवाह किसके द्वारा रोका जा सकता है? अर्थात् जीवद्रव्यमे अनेक सामान्यगुण, अनेक विशेष गुण है, इसे कोई मना कर ही नही सकता। इन सामान्य और विशेष गुणोके सम्बंधमे पहिले अनेक स्थलोपर बहुत-बहुत वर्णन आया था। अब प्रकरण यहाँ यह है कि जीवमे राग-द्वेषादिक भाव होते है और किन्ही सम्यग्दृष्टियोके सम्यक्त्वके रहते हुए भी रागद्वेष भाव रहते है तो इसका निदान यहाँ दिया जा रहा है। तो उस निदानका सम्बध है वैभाविक शक्तियो से। उन शक्तियोका वैभाविक शक्तियोके विषयमे वर्णन किया जा रहा है।

अस्ति वैभाविकी शक्ति स्वतस्तेषु गुणेषु च।
जन्तोः संसृत्यवस्थाया वैकृतास्ति स्वहेतुतः ॥९५०॥

वैभाविकी शक्तिका परिचय—उन समस्त गुणोमे वैभाविकी नामकी शक्ति भी है। कैसे जाना? तब यह कहा जा रहा है कि ६ प्रकारके द्रव्योमे धर्म, अधर्म, आकाश और काल-द्रव्य ये त्रिकाल कभी भी विभावरूप परिणम नही सकते और उन ६ द्रव्योमे जीव और पुद्-गल दो द्रव्य ऐसे है कि ये विभावरूप परिणम जाते है। जीवमे रागद्वेषादिक भाव उत्पन्न होना, सुख दुःख आदि विकल्प अनेक होना, ये विभाव कहे जा रहे है और पुद्गलमे स्कध बन जाना, अनेक उनके रस गुण गंध आदिक बदलते रहना तो ये विभाव जीव और पुद्गलमे

पाये जा रहे है और धर्म, अधर्म, आकाश, काल—इन चार द्रव्योमें नही पाये जाते । इसका कारण कोई पूछ बैठे तो यह ही तो कहना पडेगा कि जीव और पुद्गलमे ऐसी योग्यता है, शक्ति है कि वे विभावरूप परिणम सकते है, पर धर्म, अधर्म, आकाश, कालमें विभावरूप परिणमनेकी शक्ति नही है । इसका सीधा अर्थ यह ही तो हुआ कि जीव और पुद्गलमें वैभाविकी शक्ति है, शेष चार द्रव्योमें नही है । तो जीवमे जो अनेक गुण पाये गए उन गुणोमे एक स्वतःसिद्ध वैभाविकी नामकी शक्ति है । वैभाविकी शक्तिका परिणमन क्या होता है ? ससार अवस्थामे तो उसका विकृत परिणमन है और मुक्त अवस्थामें उसका स्वाभाविक परिणमन है । थोडा ऐमा मानना बन सकता होगा इस प्रसगमे कि वैभाविकी शक्तिका विकारपरिणमन तो जो कुछ वैभाविकी शक्तिसे उल्टा हो सो होना चाहिए याने विभावरूप परिणमनेकी शक्तिका उल्टा परिणमन विकार कहलाये और वैभाविकी शक्तिका नामके अनुरूप याने विभाव होना, यह कहलाये स्वभावपरिणमन, लेकिन शक्तिका स्वरूप समझ लो तो सदेह मिट जावेगा । यहाँ यह बताया जा रहा, संसार अवस्थामे जो रागद्वेष, सुख दु ख, विचार विकल्प आदिक होते रहते हैं वे है वैभाविकी शक्तिके विकारपरिणमन और मुक्त अवस्थामे है वैभाविकी शक्तिका स्वभावपरिणमन । इस बातको इस तरह समझिये कि जितनी भी शक्तियाँ मानी जाती है वे सब शुद्ध हुआ करती है, जीवके स्वभावरूप हुआ करती है, याने जीवकी स्वाभाविकी चीजें है । और उसे स्पष्ट यो समझ लीजिए कि कहना तो यह चाहिए कि मूलमे तो वह भावशक्ति है । सभी द्रव्योमे भावशक्ति पायी जाती है कि वह परिणमता रहे, किसी रूप परिणमता रहे । तो वही भावशक्ति जीव और पुद्गलमे भी है, पर यह समझनेके लिए कि जीव और पुद्गलमे यह विशेषता है, उसके भावशक्तिकी यह विशेषता है कि ये दो द्रव्य विभावरूप भी परिणम सकते है । तब दो शक्तियाँ तो नही कही जा सकती थी कि भावशक्ति भी है और वैभाविकी शक्ति भी है । शक्ति एक है, उस ही शक्तिका सही परिचय पानेके लिए उसीका नाम वैभाविकी शक्ति है । जिसमे यह ध्वनित हो जाता है कि जीव और पुद्गल मे उल्टा परिणमनेकी शक्ति है, योग्यता है तो ससार अवस्थामे वैभाविकी शक्ति विकृत होती है और ऐसा विकृत होनेका कारण स्वयं वह हेतु है । रागद्वेष भाव होना और उसमे निमित्त है कर्मका विपाक । इस तरह कर्म उपाधिके संपर्कमे यह जीव वैभाविकी शक्तिके कारण विभावरूप परिणमता रहता है ।

यथा वा स्वच्छताऽऽदर्शे प्राकृतास्ति निसर्गत ।
तथाप्यस्यास्यसयोगाद्वैकृतास्यर्थतोपि सा ॥९५१॥

वैभाविकी शक्ति और उसकी परिणमनविधिके परिचयमें दर्पणका दृष्टान्त—वैभाविकी शक्ति और विभाव-परिणमन सिद्ध करनेके लिए दृष्टान्त दिया जा रहा है । जैसे दर्पण

मे स्वच्छता प्राकृतिक है। दर्पण भी एक स्कंध है, यह भीत भी स्कंध है। अब यह पूछा जाय कि क्यो भाई भीतमे क्यो नही तुम्हारा चेहरा दिखता और दर्पणमे क्यो चेहरा दिख जाता है? उत्तर दोगे? यह ही तो कहा जायगा कि भीतमे प्रतिबिम्ब ग्रहण करनेकी शक्ति है, स्वच्छता नही है। दर्पणमे स्वच्छता है तब वहाँ प्रतिबिम्ब झलक उठता है। भीतमे स्वच्छता नही है तो प्रतिबिम्ब नही झलकता। वहाँ भी यह देखिये कि दर्पणमे प्रतिबिम्बरूप परिणमनेकी शक्ति है, इसका कोई नाम धर तो लीजिए, कुछ भी नाम रख लो, अब विचार करिये उस शक्तिका विभावपरिणमन क्या है कि कोई परपदार्थ सामने आये, उसका निमित्त पाकर दर्पणमे प्रतिबिम्ब बन उठा। तो दर्पणमे प्रतिबिम्ब बन उठना दर्पणकी स्वच्छता शक्तिका क्या स्वभावपरिणमन कहा जायगा? विकारपरिणमन है। और उपाधिका अभाव होने पर दर्पणका, उस शक्तिका स्वभावपरिणमन चल रहा है अपने आपमे झलमला रहा है। तो जैसे दर्पणमे स्वच्छता स्वभावसे प्राकृतिक है तो भी उसमे जो प्रतिबिम्बरूप विकार अवस्था बनती है वह किसी परपदार्थका निमित्त पाकर ही बनती है। हाँ, यह जरूर कहा जायगा कि जिस समयमे प्रतिबिम्ब हुआ दर्पणमे वह प्रतिबिम्ब दर्पणका परिणमन है और वह वास्तविक है याने वस्तुमे उत्पन्न हुआ है। जैसे दर्पणको देखा तो मुखका प्रतिबिम्ब पडा। तो दर्पणका स्वरूपमे आकार क्या बन रहा? एक मुखमय बन रहा, द्रष्टाका मुखमय नही वह बन रहा, किन्तु दर्पणमे ही स्वयं ऐसा आकार बन गया, तो वह है दर्पणकी विकार अवस्था। वह दर्पणमे अभी वास्तविक है, कल्पना मात्र नही है, वह प्रतिबिम्ब है, छाया है। वह पुद्गलकी पर्याय है, मगर वह पर्याय दर्पणमे स्वतः नही हुई, उपाधिके बिना नही हुई। सामने मुख आये तो उसमें मुख प्रतिबिम्ब हुआ। इसी तरह जानें कि जीवके पूर्वबद्ध कर्म उदयमे आते है तब रागद्वेष अवस्था बनती है और रागद्वेष परिणामोसे उस वैभाविक शक्तिका विभावपरिणमन हो रहा है, विकार अवस्था हो रही है, ऐसी अवस्था इस जीवके अनादिकालसे चली आ रही है। जैसे हम दर्पणमे अनेक प्रकारके रग-बिरगे प्रतिबिम्ब देखें—तो समझमे आता है कि दर्पणपर यह उपद्रव हो रहा है। दर्पण तो वास्तवमे स्वच्छ है, निर्मल है, पर वहाँ जो अनेक प्रतिबिम्ब हो रहे वे तो दर्पणपर आक्रमण है, उपद्रव है। वहाँ तो समझमें झट आ जाता है, लेकिन यहाँ भी ऐसा ही समझ लीजिए कि उसी आत्माका स्वाभाविक रूप सहज स्वरूप एक स्वच्छताका है, प्रतिभासमात्र है, ज्ञायकस्वरूप है और उसमे हमारे विकल्प-विचार तर्क विचार सुख दुःख रागद्वेष आदिक जो भी भाव बन रहे है ये मुझपर आक्रमण है, उपसर्ग हैं, उपद्रव हैं। इन उपद्रवोमें आसक्त नही होता है। राग आता है तो उसे यह जानें कि यह मेरे लिए विडम्बना है, विपदा है, इसी कारण तो मेरा परमात्मपद रुका हुआ है। विकासको प्राप्त नही हो रहा।

स्वरूपदृष्टि करके प्रभुदर्शनमें दर्शनका साफल्य—जब लोग यहाँ प्रभुभक्ति करते हैं, हम आप सब आते है तो प्रभुदर्शन करके कभी ऐसा भी तो भाव करना चाहिए कि मुझे तो ऐसा होना है, और कुछ न चाहिए मुझे। बस जैसे प्रभु है, यही स्थिति मेरी हो, ऐसा चित्त मे आना तो चाहिए। कोई कहे कि ऐसा तो हम कई बार कह देते है कि प्रभु जैसी हमारी स्थिति है, लेकिन यह तो विवेक करें कि ऐसा सोचनेसे क्या इस ढगसे सोचते है कि इनको हजारो लोग दर्शन करने आते, देवी-देवता जिनके दर्शन करते है, ये बडे कहलाते, पूज्य कहलाते, इसलिए हमे ऐसा होना है, यदि ऐसा भाव बना हुआ है तब तो आपकी शुद्ध भावना नही है और वहाँ वीतराग अविकार स्वभावको देखकर रागद्वेषरहित कैसा ज्ञानस्वरूप है, स्वाभाविक स्वरूप है ? स्वाभाविक स्वरूप यहाँ विकसित हो गया है, यह मेरा स्वभाव है, मेरा स्वरूप है, यह तो सहज लीला है। यही मेरा हो, यदि इस तरहसे भावना जग रही हो तब तो दर्शन सफल है और आपने प्रभु होनेकी भावना सही बनायी है और प्रभुके उस अविकार स्वरूपपर दृष्टि न हो और फिर प्रभुभावना होनेकी बात आप सोचा करें तो यह सोचना इस तरह है जैसे यहाँ किसी करोडपतिको देखकर कोई सोचता है कि मै भी ऐसा हो जाऊँ, ऐसे ही इस मोहीने भी प्रभुको इतना चमत्कार वाला निरखकर सोच लिया कि मै भी ऐसा हो जाऊँ। प्रभुके अन्तस्वरूपमे प्रवेश करके नही सोचा गया। तो अपने आपके स्वरूपपर भी तो दृष्टि दो। मै ऐसा अविकार स्वभाव प्रतिभासमात्र एक पवित्र प्रधान पदार्थ हू। मुझपर यह सारा उपद्रव है कि जो तरग उठ रही, कषायका रग चल रहा, अनेक विकल्प उठ रहे, हम समाधिभावमे लीन नही हैं, ख्याल बन रहा है, कुछ भी ख्याल बनाये तो यह सब विडम्बना है। तो यह विडम्बना मेरी केवल स्वभावके कारण नही हुई, परउपाधिका सम्बध होनेपर वैभाविकी शक्तिका ऐसा विकार-परिणमन हुआ है।

वैकृतत्वेपि भावस्य न स्यादर्थान्तर क्वचित्।
प्रकृतौ यद्विकारित्व वैकृतं हि तदुच्यते ॥६५२॥

जीवकी वैभाविकी शक्तिकी विकृत अवस्था होनेपर भी पदार्थान्तरताका प्रसङ्ग—इस जीवमे ऐसी विकृत अवस्था हुई है कि वैभाविकी शक्ति वैकृत बन गई है, इतनेपर भी पदार्थ कही पदार्थान्तर नही हुआ है। मुझ जीवका इतना विपरीत परिणमन चल रहा है, इतनेपर भी मैं जीव जीव हू, पदार्थान्तर नही बन गया, कर्म नही हो गया, अजीव नही हो गया, क्योकि विकार नाम है किसका ? प्रकृतिमे विकार स्वरूपका नाम विकार है। पदार्थमें जो विकार होता, वह उस ही पदार्थका विकार कहलाता है। परिणमन दूसरेका नही बन गया, जीवका ही है। इस कारण जीव जीवरूप ही रह रहा, अजीव रूप नही बन गया, कही

ऐसा नही हो गया नाना ससारकी अवस्थायें और विडम्बनाये होनेसे कि मैं अजीवरूप हो गया हू । यदि मैं अजीवरूप हो गया हू, रागद्वेप होनेके कारण तो फिर उसका विकार क्या ? वह तो अजोव है । तब तो जो कुछ हो सो अजीवका कहना चाहिए । तो वैभाविक शक्ति आत्मामे है और वह जब विकृत अवस्थामे है तो वह विकार इसका ही है, कही अन्य पदार्थका नही है । है भी कोई एक ऐसा दार्शनिक कि जिसका यह मत है कि रागद्वेप सुख दु ख ये सब कर्मकी दशाये है, प्रधानकी दशा है, प्रकृतिकी दशायें है । जीव तो एक चैतन्यमात्र है । तो भला सोचो तो सही कि ये ज्ञान आदि भी सब प्रकृतिकी दशायें है और जीव चिन्मात्र है, तो उसका स्वरूप क्या बने ? ज्ञान भी एक विकार मान लिया, फिर और स्वरूप क्या ? चेतनाका अर्थ क्या ? और जब यह पूछा जाता कि यदि यह विकार बन गया है प्रकृतिका तो प्रकृति ही सुख दुःख भोगे, प्रकृतिमे ही रागद्वेष आयें, अजीवमे रागद्वेप हो । अजीवका विकार है तो अजीव उसका फल भोगेगा, फिर मुझ जीवसे क्या मतलब ? तो वहा यह कहा जाता है कि इसके भ्रम हो गया है । रागी तो हो रहा अजीव कर्म और इसने माना कि मैं हो रहा । तो उत्तर हो गया सब । मैं हो रहा, ऐसा जो भ्रम है वह मुझमे है कि जीवमे है ? उसे तो कहना पडेगा कि जीवमे है । तो राग जैसी हल्की बात तो जीवमे नही मानी और भ्रम जैसी कठिन बात जीवमें मान लें तो जो विकार होता है वह जीवमे विकार होता है । जीव कही अन्य पदार्थरूप नही हो जाता । यह वात स्पष्ट सिद्ध हो जाती है ।

तथापि वारुणीपानाद् बुद्धिर्नाऽबुद्धिरेव नु. ।
तत्प्रकारान्तर बुद्धौ वैकृतत्त्व तदर्थसात् ॥६५३॥

वैभाविकी शक्तिकी वैकृत अवस्था होनेपर द्रव्यान्तरता न होनेका उदाहरणपूर्वक समर्थन—जीवमे अनेक रागद्वेप सुख दुःख उत्पन्न होते है । जीव जीव ही है, अजीव नही बन गया । इसको समझानेके लिए दृष्टान्त दिया जा रहा है । जैसे किसी पुरुपने मदिरा पी लिया तो उसकी बुद्धि विकृत हो जाती है । बुद्धि विकृत हो जानेपर बुद्धि अबुद्धि नही हो गयी, याने वह मनुष्य अजीव नही बन गया । बुद्धि ही है, वह विपरीत परिणम गया है । जिस चाहेसे जैसी चाहे वात कर डालता है, उसकी वुद्धि उसके ठिकाने नही है । इतनेपर भी है तो वह बुद्धि ही, जो विकृतरूप परिणम गई । अबुद्धि या अचेतन कैसे पागल बन सकता है ? पागल तो बुद्धि ही बनेगी । यह अजीव पदार्थ कहा पागल बनेगा ? तो जैसे मदिरापान करने पर भी बुद्धि विकृत हुई है, कही बुद्धि अवुद्धि नही बन गई है, इसी प्रकार रागद्वेषादिक भाव करनेपर यह जीव अजीव नही बन गया, अन्य पदार्थ नही हो गया । आज विपरीत है, समय आयगा, ठीक हो जायगा । जैसे वच्चे लोग देहातोमे एक वड़ी और एक छोटी लाठी लेकर चलते है । बड़ी लाठीको दोनो पैरोके वीचमे रखते है और छोटी लाठी हाथमे रखते है । वे

कल्पना करते है कि यह मेरा घोड़ा है, उसे मारते है और इधर-उधर भागते है, खुश होते है। तो देखो उन बच्चोने उस लाठीमें घोड़ेकी कल्पना कर ली, पर बताइये कि वह लाठी कही घोडेका जैसा काम कर सकेगी क्या ? घोडे जैसा कुछ आराम दे सकेगी क्या ? पर वह उसे घोडा मानकर मौज मानता है। अरे उस लाठीमें चलनेकी प्रकृति ही नही है। चले कैसे ? वह ही खुद अपने पैरोसे उछलता, सारा श्रम करता, हैरान होता, फिर भी मौज मानता। वह लाठी खुद तो कुछ काम नही कर सकती। और यदि कोई घोड़ा हो, वह कभी खोटे मार्ग मे भी चलता है, सडकको छोड़कर इधर उधर भागता है, रास्तेमें ठीक-ठीक नही चलता है, तो भी यदि उस घोडेको लगाम डालकर उसे वश कर लिया जाय और धीरे-धीरे उसको सही मार्गपर ले आया जाय तो ऐसा हो सकता है ना ? कुपथसे हटकर वह कभी सुपथमे आ तो सकता है ना। जो लकडीका घोडा बनाया उसे चाहे खूब सजा भी दिया जाय या मान लो जो काठके बने बनाये खूब सुन्दर घोडे आते है ना, वही हो, और उसे खूब अच्छी तरहसे सजा दिया जाय, फिर भी क्या उसमे कुछ चलने-फिरने, या क्रियायें करनेकी कला आ सकती है ? नही आ सकती। तो ऐसे ही समझ लो कि आज जो जीव रागद्वेषादिकसे मलिन बन रहा है उसे यदि विशुद्ध ज्ञान जग जाय, सम्यक्त्व हो जाय तो क्या वह सन्मार्गपर आ नही सकता ? आ सकता है, पर जो जीव ही नही है, अजीव है उसमे तो यह कला आ ही नहीं सकती। सभी लोग खूब विचार कर लो।

विकारसे हटकर स्वभावकी ओर आनेका कर्तव्य—आज हम आप इस परिचित दुनियामे मनुष्य हो गए, ये सब परिचित है। जैसे स्वप्नमे अनेक लोगोसे परिचय बन जाता है, पर धरा क्या है जहाँ ? एक ख्याल ही ख्याल है। इसी तरह इस ख्यालकी नीदमें मोहकी नीदमे कुछ परिचयसा बना रखा है कि यह मेरी स्त्री है, पुत्र है, मित्र है आदि, मगर है कुछ नही। ख्याल ही ख्याल तो है। किसीका कोई कुछ लगता है क्या ? उस जीवके पुत्र होनेकी कोई मोहर लगी है क्या ? तुम्हारे जीवमे किसीका पिता या पुत्र होनेकी मोहर लगी है क्या ? स्वतंत्र है, साफ है, स्वच्छ है, भिन्न है। कोई किसीका सम्बंधी नही है, लेकिन मान रहे है कि यह सब सत्य है। यह जगत सत्य नही है, ऐसा ही भव-भवमे करते आये, जैसा आज कर रहे। जैसे जो दाल-रोटी आज खावोगे वह आज आपको बड़ी अच्छी लगेगी, नई बात लगेगी, उसका स्वाद आयगा, मौज मानोगे, मगर ऐसी दाल रोटी तो दसों बीसो वर्षोसे रोज रोज खाते आये, लेकिन उसका कौन ख्याल करता ? कलके (बीते हुए दिनके) खानेका कौन ख्याल करता, मानोगे कि आज अच्छा नया-नया खाया, क्योंकि इच्छा है, भूख है, आसक्ति है, गृद्धता है, वह लग रहा है ना ऐसा ? यो ही आसक्ति है, अज्ञान है, मोह है, गृद्धता है, रुच रहा है, भीतरमे सारा नक्शा बदला हुआ है। विपरीतताकी ओर ही हमारा अभिप्राय

चल रहा है तो यह सारा जगत परिचितसा वन गया। यह जगत अपरिचित है, अशरण है, आपको ये कोई सहाय नही हैं। और अब हो गए है मनुष्य। तो मनुष्य होकर कोई ऐसा काम बना लो कि सदाके लिए ससारके सङ्कट छूट जायें। जो रफ्तार चली आ रही उसको बदल दें, जो रागद्वेष मोह पडे है, करनेके विकल्प चले आ रहे है, विपयकषायके परिणाम बने आ रहे है उनमें मोड़ दें और अब सम्यक्त्वकी ओर आवें, हिम्मत बना लें। ये वैभव मेरे कुछ नही है। ये जिस तरह हो सो हो। घरमे रहते है, रहे, किन्तु घरमे रहकर जो कर्तव्य है सो करें। इस तरहका भाव बना लें और दृष्टि दे सम्यक्त्वकी ओर। मेरेको सम्यक्त्व रहे, सम्यग्ज्ञान रहे, उसकी ओर ही मेरा रमनेका यत्न रहे, ऐसा कोई एक अलौकिक प्रोग्राम मनमे लाइये तो यह होगा हम आपके भलेके लिए, अन्यथा जो बेढगी रफ्तार थी उसीमे यह जीवन भी खो दिया तो क्या लाभ हुआ ? यह बात केवल सुनने भरकी नही है, कहने भरकी नही है, अपने आपमे एक अनुभव करनेकी बात है। हम इस ओर अपनां कदम बढ़ायें तो हम ससारके सकटोसे छूट सकते है।

प्राकृत वैकृतं वापि ज्ञानमात्रं तदेव यत्।
यावदत्रेन्द्रियायत्त तत्सर्वं वैकृत विदुः ॥९५४॥

इन्द्रियाधीन समस्त ज्ञानोंकी वैकृतता—उक्त श्लोकमे यह दृष्टान्त दिया गया था, जैसे मदिरापान करनेसे भी मनुष्यकी बुद्धि बुद्धि ही रहती है, अबुद्धि नही बन जाती, विकृत जरूर हो जाती है, इसी प्रकार विभावशक्तिके विभावपरिणमनमे यह जीव, यह ज्ञान विकृत हो जाता है, तिसपर भी वह ज्ञान पदार्थ अन्य नही बनता है। तब यहाँ यह निष्कर्ष समझना कि चाहे स्वाभाविक ज्ञान हो या वैभाविक ज्ञान हो, चाहे मति, श्रुत, अवधि, मन.पर्यय, केवलज्ञान हो या कुमति, कुश्रुत, कुअवधि ज्ञान हो, ज्ञान सभी कहे जायेंगे और जानन प्रतिभासका काम है मात्र जानना, इतना भेद है। जो इन्द्रियज्ञान होता है वह वैभाविक ज्ञान हैं और जो क्षयोपशम पाकर ज्ञान हो रहा वह भी वैभाविक है। इन ८ प्रकारकी ज्ञानमार्गणाओमे एक केवलज्ञान ही तो स्वाभाविक ज्ञान है, बाकी ७ ज्ञान वैभाविक ज्ञान है और उन वैभाविक ज्ञानोमे भी इतना अन्तर है कि चार तो है सम्यक्विभावज्ञान और तीन है मिथ्याविभावज्ञान। किसी भी दृष्टिमे किसो भी तरहका विभाव बना लें। यहाँ यह वात बतायी जा रही है कि सब प्रकारके ज्ञानोमे ज्ञानपनेकी दृष्टिसे समानता है, फिर भी जिसमे इन्द्रियकी अपेक्षा है, ऐसा ज्ञान वैभाविक ज्ञान है। हम आप छद्मस्थ जीवोके जो ज्ञान बर्त रहा है वह इन्द्रियापेक्ष ज्ञान है, वह वैभाविक ज्ञान है। हम आपको इन इन्द्रिय द्वारोने ही कुचल रखा है, भीतर हम एक स्वतत्र ज्ञानज्योतिस्वरूप पावन पदार्थ हैं। उनकी महिमा किसीकी उपमा देकर नही की जा सकती। ऐसा परमपावन ज्ञानज्योतिस्वरूप मैं हू, लेकिन अनादिसे ही यह दशा वन रही

है। हम जिन इन्द्रियोसे प्रेम करते है, जिन इन्द्रियोको देखकर हम खुश होते है, बड़े बलिष्ट है, इन्द्रिय आँख मेरी खूब तेज है, खूब अच्छा सुनता हू, अच्छा स्वाद लेता हू, सब प्रकारके जो ये इन्द्रियद्वारा ज्ञान किए जा रहे है उसमे भी लोग आसक्त है और इन इन्द्रियोमे भी आसक्त है। इतना हमे व्यथित कर दिया है इन इन्द्रियोने कि निरन्तर आकुलित रहा करते है। जहाँ ये इन्द्रियाँ नही रहती, जहाँ इन्द्रियजन्य ज्ञान नही होता वह प्रभु कहलाता। भावना करना है तो ऐसा भाव करो कि मुझे इन इन्द्रियोसे प्रयोजन नही। मै केवल मनुष्य पर्यायमात्र नही हू। मै तो शाश्वत आत्मतत्त्व हू, मुझे इन्द्रियोसे प्रयोजन नही। मेरेको इन्द्रियोमे कोई आसक्ति नही। बल्कि भावना है कि कब वह क्षण आये कि इन इन्द्रियोका सदाके लिए वियोग हो जाय। तो ये इन्द्रियाँ हमारे मथनेकी कारण बन रही है। इन इन्द्रियोसे प्रीति नही करना, इन्द्रियजन्य सुखसे प्रीति न करना, अपने आपके अन्तः प्रकाशमान ज्योतिस्वरूप आनन्दमय जो कारणपरमात्मतत्त्व है उसका सहारा लें, उसकी दृष्टि करे। विकार हट जायगा, सारे दुःख टल जायेंगे।

अस्ति तत्र क्षतिर्नून नाक्षतिर्वस्तिवादपि।
जीवस्यातीवदुःखित्वात् सुखस्योन्मूलनादपि ॥६५५॥

जीवकी वैकृत अवस्थामें जीवकी हानिका प्रतिपादन—जीवमे जो विकारकी अवस्था आती है उस विकृत अवस्थामे जीवकी हानि होती है। विकृत अवस्थासे जीवमे हानि क्या होती है कि यह जन्ममरण करता है, अनेक शरीरोको धारण कर उनका दुःख सहता रहता है, यह इसकी हानि है। जैसे पहिले बताया था कि विकृत अवस्था होनेपर भी ज्ञान ज्ञान ही रहता है। वह कही अजीव नही बन जाता, अज्ञान नही हो जाता। तो उससे इतना आगे न बढ़ जाना चाहिए कि फिर तो विकृत अवस्थासे हानि ही कुछ नही है। सुनिये, वह तो एकस्वरूपकी बात कही गई थी, लेकिन विकार होनेपर जो आकुलता आ गई है वह तो हानि ही हानि है। आत्माका हित अनाकुलता है और कुछ भी बाते बनती रहो आत्मामे एक आकुलता न बसे तो इसको फिर क्या फिक्र ? और आकुलता बनी ही तथा बाहरी साज सामान शृंगार दिखावट बहुत प्रभुता जैसी बनी हो तो उससे क्या लाभ ? जीव अपना हित मानता है अनाकुलतामे। जैसे अनाकुलता प्राप्त हो उसमे ही यह जीव राजी रहता है। लेकिन अधेर तो देखो कि जिन बातोमे आकुलता ही आकुलता है उनमे तो यह जीव राजी है और जिसमे आकुलता नही होती, ऐसे स्वरूपदर्शनके कार्यमे, आत्मतत्त्वके आलम्बनमे, वैराग्यके धारणमें इस जीवको हित नही सूझता।

व्यवहारनयको छोड़कर निश्चयनयके एकान्तसे जीवकी शुद्धता माननेमे आपत्तियां—वस्तुका परिचय पानेकी दो पद्धतियां होती है—एक निश्चयनय, दूसरी व्यवहारनय। निश्चय-

नयसे तो वस्तुके सहजस्वरूपका बोध किया जाता है और व्यवहारनयसे अनेकका सम्बंध, परका निमित्त पाकर होने वाला प्रभाव अथवा परिणतियाँ ये व्यवहारनयके विषय हैं। इस प्रकरणमे यह बात चल रही थी कि आत्मा ज्ञानस्वरूप है और विभावशक्तिमे भी जब विकृत परिणमन होता है तब भी ज्ञान अज्ञान नही बन जाता अर्थात् अचेतन नही हो जाता। हाँ इतनी बात अवश्य है कि जीवमे विकार आ जाते है। रागद्वेष, सुख दु ख आदिक विभाव उत्पन्न हो जाते हैं। ऐसी बात सुनकर निश्चयनयका एकान्त रखने वाला कोई पुरुष यहाँ यह आशंका रख रहा है कि बस जीव जब ज्ञानस्वरूप है, ज्ञान अज्ञान नही बनता है तब तो यह बडे मौजकी बात रही। उसके समाधानमे व्यवहारनयकी दृष्टिसे विवरण दिया जा रहा है कि निश्चयनयसे तो उसका एक स्वरूप बताया गया था, पर देखो तो सही—परिणतियाँ क्या हो रही है ? परउपाधिका सम्बध पाकर आत्मामे जो विभावशक्तिका परिणमन चला है वह क्षोभमय है, आकुलतारूप है, जीवकी प्रकट हानि है। क्या हमे दु खी ही होते रहना है ? दु खसे दूर होना है तो उसका इलाज है यह परपदार्थ प्रतिक्रमण, परमार्थस्वरूपका दर्शन, पर जैसा स्वभाव है, स्वरूप है वैसा प्रकट परिणमन तो नही चल रहा, वैभाविकी शक्तिके विभावपरिणमनमे जीवकी हानि हो रही है। कर्मबंधसे आत्माकी कुछ हानि नही है। आत्मा सदा शुद्ध है। ऐसा कहने वालेने वस्तुका सर्वदृष्टियोसे परिचय नही किया और व्यवहारनय को मिथ्या समझते है, यह उनकी भूल है। जैसे कोई पुरुष खौलते हुए पानीको यह कहकर कि पानीका तो स्वभाव ठडा है, पानीमे क्या बिगाड है और पी लेवे तो उसकी जीभ ही तो चलेगी। इसी तरह आत्माका स्वभाव शुद्ध ज्ञानानन्दस्वरूप है, पर ऐसा सुनकर कोई सर्वथा पर्यायमे भी मान ले कि मैं तो आनन्दस्वरूप हू, बन्धरहित हू, अमर हूं, सच्चिदानन्द हू, इसमे कोई बिगाड ही नही होता है, ऐसा कोई पर्यायरूपसे भी मान ले तो जन्ममरण करेगा कौन ? ससारमे दु:ख कौन भोगेगा ? तो दोनो दृष्टियोसे आत्माकी परख करिये—यह जीव कर्मबन्धनसे ही तो कष्ट भोग रहा है, दु खी हो रहा है। जो बेहोश फिर रहा है, रागद्वेषसे आकुलित हो रहा है तो ये सब बातें इसपर बीत रही है। इसे दूर तब ही तो करेगा कोई कि जब मान लेगा कि हाँ जजाल रोग है और इस जजालसे छूटनेका उपाय भीतर सुगम स्वाधीन पडा हुआ है। दोनो दृष्टियाँ हो तो वह कल्याणमार्गमे लग सकेगा।

अपि द्रव्यनयादेशाट्टङ्कोत्कीर्णोस्ति प्राणभृत्।
नात्ममुखे स्थितः कश्चित् प्रत्युत तीव दु खवान् ॥९५६॥

द्रव्यार्थिकनयसे टङ्कोत्कीर्णवत् निश्चल स्वभाव होनेपर भी प्राणीकी वर्तमान दुःख-रूपता—यद्यपि द्रव्यार्थिकनयसे यह जीव टङ्कोत्कीर्णवत् शुद्ध है, निश्चल है, स्वय स्वयमे है। तो भी पर्यायार्थिक नयसे देखिये तो सही कोई संसारी जीव अपने सुखमे स्थित नही है, किन्तु

दु खी है । दुःखसे दूर होनेका उपाय स्वभावदर्शन है । मनको पसंद लगने वाला दिलचस्प उपन्यास सुन लो या प्रवचन सुन लो, किसीका भाषण सुन लो, जो दिलको तुरन्त बडा सुख उत्पन्न करे, सुख उत्पन्न करने वाली चीजें इन विषयी जीवोको वे ही बातें तो होगी जो इसको विषयोमे प्रेरित करती रहें । ऐसे मित्र (विषयोकी ओर प्रेरित करने वाले मित्र) तो जगतमे बडी सुगमतासे मिल जाते है, लेकिन जीवके कष्टके कारणभूत, जीवकी बरबादीके हेतुभूत जो रागद्वेष मोहादिक है उनसे दूर कराने वाले मित्र बडी दुर्लभतासे मिल पाते है । अपने दिलको स्वच्छन्द न बनाइये कि मुझे तो अपनी मनपसद मौज वाली बात ही सुनना है । अरे ऐसी बातें तो अनादिकालसे सुनते आये है, अनुभवते आये है, ऐसी बैर विरोधभरी, रागद्वेष मोह भरी बातें तो परम्परासे चली आयी है । उनमे उत्साह न बनाइये और एक विवेक जगाकर कि मुझे तो किसी भी प्रकार अन्त.विराजमान परमात्मस्वरूपका अनुभव करना है, इसके लिए सारे प्रेम छोडने पडे, सारे विरोधका विरोध करना पडे, सारे मोहको तिलाञ्जलि देनी पडे, सबका ख्याल छोडना पडे, सबके लिए तैयार हो, सब कुछ मेरे दिलसे हटे । मै तो एक अन्तःप्रकाशमान कारणपरमात्मतत्त्वका दर्शन करूँगा । ऐसा मनमे एक सकल्प बनायें, दृढ़ भावना बनायें और धर्ममार्गमे चले ।

धर्मके स्वरूपका दिग्दर्शन—धर्मकी यह व्याख्या नही है, धर्मकी यह परीक्षा नही है कि जैसे बहुतसे लोग समझें, पसद करे अथवा बहुतसे लोग जो बात कहे बस वह धर्म हो जायगा । धर्मके लिए वोटोसे परीक्षा न करें, विवेकसे परीक्षा करिये—अगर लोगोसे वोट लेने चलें कि धर्म किसे कहते है ? तो कोई कहेगा कि मोह करना धर्म है । स्त्री-पुत्रादिकका पालन धर्म है, बस प्रेमको धर्म बतायेंगे, मगर प्राय करके जहाँ जावो, जहाँ पूछो, यही बात कहेगे । तो वोटोसे तो धर्मका स्वरूप आप न जान सकेंगे । धर्मका स्वरूप यदि जानना है और किसी की सम्मति लेना है, वोट ही लेना है तो ये सब ग्रथ पडे है, इनमे धर्मका सही स्वरूप बताया गया है । आज तो समन्तभद्र, कुन्दकुन्द आदिक आचार्यदेव यहाँ नही है, लेकिन उनके दर्शन हम इन ग्रन्थोमे कर सकते है और अपने जीवनको सफल बना सकते है । तो धर्मका स्वरूप इन ग्रन्थोमे देखिये तो सही—क्या मिलेगा ? धर्मका स्वरूप है आत्माका स्वभाव । आत्माका स्वभाव क्या प्रेम करना है ? अरे वही तो सकट है, वही तो विपदा है । प्रभुका तो यह आदेश है कि अरे भक्त तू मुझमे भी प्रेम मत रख और अपने आपके अविकार स्वभावकी दृष्टि कर, लेकिन जिसका जिसमे प्रेम हो रहा हो उसमे प्रेम किए बिना यह रहेगा कैसे ? अनुराग करेगा, पर प्रभुका तो यह उपदेश है कि तू किसी भी परद्रव्यका आश्रय न कर, केवल अपने आपके स्वद्रव्यका आलम्बन कर । अपने आपके सहजस्वरूपमे ही गुप्त हो जाय । धर्म यह है कि जिसका आश्रय लेनेसे जन्ममरण सारे सकट टल जायेंगे ।

द्रव्यशुद्धिके उपयोगकी दुःखक्षयोपायरूपता व वर्तमान असुस्थितता—भैया ! उपाय

तो जरूर यह है कि जो द्रव्यार्थिक नयका विषय है, अविकार चैतन्यस्वभाव, उसकी दृष्टि करें, प्रतीति करें, आलम्बन करे, पर वर्तमान परिणमनमे भी स्वभाव जैसी ही बात मानकर स्वच्छन्द हो जायें तो यह तो उचित नही है। तो द्रव्यार्थिकनयसे टकोत्कीर्णवत् पाषाणकी तरह एक निश्चल है स्वरूप तथापि पर्यायार्थिक नयसे देखो तो यह संसारी प्राणी कोई भी सुखमें स्थित नही है, प्रत्युत दुःखी है, लेकिन अपने-अपने दिमागसे, अपने-अपने उपयोगसे अपने आपमे आत्मस्वभावको भूलकर एक यशकी कल्पना करता है मोही। मैं अच्छा कार्य कर रहा हूं, ऐसी कल्पना करते है तो यह स्थिति तो जिन-जिन जीवोमे है वे सभी मोही है और दुःखी है। क्या पागल फिरने वाले लोग अपने दिमागमे अपनी चतुराई न समझते होगे ? जब वे बादशाहोकी तरह अकडकर कुछ भी शल्य न रखकर अपनी वचनचेष्टासे प्रवृत्ति करते है तो क्या वे अपनेको चतुर न समझते होंगे ? तो दुनियाके लोगोंसे वाहवाही लेकर अपने आपमे सन्तोष मानने वाले भी अपनेको चतुर समझें तो पागलमे और उस चतुरमे क्या अन्तर रहा ? वेदाग, वेराग धर्मका स्वरूप है। ऐसा धर्मका स्पर्श है। ऐसा धर्मका स्पर्श न होनेसे जीव अब तक संसारमे दुःखी रहा। वैभाविकी शक्तिका जो विभावपरिणमन है उस विभावपरिणमनमे यद्यपि यह जीव अजीव नही बन पाता, लेकिन दुर्गति हो जाती है। एक कल्पनामे सोचो तो सोच लो कि यदि मैं अजीव बन जाता तो बडा अच्छा था। अजीव पदार्थ कितने पडे है, उन्हे कोई क्लेश नही। मगर इसके विकार होनेसे, इतना कर्मोका आवरण होनेसे कितना सकट है कि मै अजीव भी नही बन पाता और ढगसे जीव भी नही रह पाता। तो ऐसी विकट स्थिति इस जीवपर गुजर रही है।

नाङ्गीकर्तव्यमेवैतत् स्वस्वरूपे स्थितोस्ति ना।
बद्धो वा स्यादवद्धो वा निर्विशेषाद्यथा मणिः ॥६५७॥

सोपाधि स्थितिमे जीवके अशुद्ध परिणमनका उद्घोष—कोई लोग ऐसा न समझ लें कि इस जीवको कि यह वर्तमान दशामे सर्व प्रकारसे शुद्ध है। जैसे कोई स्वर्णकी डली कीचड मे पडी रहकर भी वह डली अपने आपमे पूरे तौरसे शुद्ध ही है। उस स्वर्णकी डलीमे कुछ अन्तर नही आ गया। उस स्वर्णकी डलीमे वह वैसा स्वर्णत्व तो बना ही है। ऐसा यहाँ अभी न समझ लेना कि यहाँके ससारी जीव इन समागमो और शरीरके बीच रहकर पूर्णत अपने आपमे शुद्ध है। जीवमे कुछ गडबड ही नही है। अरे गडबडी तो स्वभावमे नही है, परतु परिणमन देखो तो गडबडीका परिणमन है। आत्माके प्रदेश-प्रदेशमे जब रागद्वेष समाया तो सर्वप्रदेशोमे समाया। भीतर विकार है और प्रदेशमे समानेकी बात नही है। इससे भी और भीतर देखिये तो जो चारित्रगुण है, श्रद्धा गुण है वह सब उल्टा हो रहा है। कैसा विकार बन रहा है ? देखो—ज्ञानावरण कर्मका उदय आये तो इतना ही होगा कि ज्ञान न हो पायेगा। आवरण ही तो किया, ज्ञानको उल्टा तो नही कर दिया, लेकिन मोहनीय कर्मका

उदय होनेपर तो श्रद्धा और चारित्रका आवरण नही है, किन्तु श्रद्धा और चारित्रका उल्टा परिणमन है। सारे विकार मोहनीयके कारणसे है।

मोहपद्धतिमें बरबादीका ही लाभ—अब जरा कुछ विकार रूपको अपने आपपर घटित कर लो। मोहमे इस जीवको मिला क्या? जितने परिजन गुजर गए है उनका आपपर कितना मोह था और आपका उनपर भी मोह था। ऐसा कोई घर नही है जिसमे अनेक लोग न गुजरे हो। सब अपने आपका अदाज कर लो दादाका बाबाका। अब बताओ वह सब मोह करना व्यर्थ रहा कि नही? लाभ तो कुछ न मिला। तो जो गुजरी बातसे हमें शिक्षा मिल सकती है उस शिक्षाको यदि वर्तमानमे भी घटा लो तो क्या इस जीवका कल्याण न हो जाय? जब उन गुजरे हुए लोगोके प्रति मोह व्यवहार रहा और उस मोहसे मै कुछ लूट न सका, व्यर्थ ही मोह किया, तो ऐसे ही समझिये कि आजके वर्तमान प्रसगमे भी चेतन और अचेतन पदार्थमे जो मोह किया जा रहा है वह ऐसा ही व्यर्थका मोह है। जैसे उन गुजरे हुए के मोहमें कुछ हाथ नही लगा, ऐसे ही वर्तमान सामने रहने वाले चेतन अचेतनके मोहमे भी कुछ हाथ नही लगता।

अपराधियोसे लाज संकोचकी अनधिरूढ़ता—देखिये—रही अब एक इस परिचित दुनियाकी बात, लाज सकोचकी बात। तो देखो–घरमें भी जिससे अपना स्वार्थ नही सधता, जो अपने लिए दुःखका हेतुभूत हो जाता है उससे आप लाज और सकोच तो नही करते। अपने ही घरमे देख लो—अनेक भाई है, न्यारे हो अथवा एक साथ हो, जब उनसे अपना कोई काम नही बनता और अपने सुख-शान्तिके वे काम नही आते तो उनकी लाज और सकोच तो करते न होगे। सामने जवाब देनेको भी तैयार रहते होगे। उनसे मुख मोडनेका भी सकल्प किये होगे। तो घरमे जिनसे आपका काम न सारे उनसे तो लाज सकोच नही रखते, तो यह ही प्रयोग सब जगह कर लो। जब जगतके और जीवोसे मेरा कोई काम नही सधता, कोई भी प्राणी मेरे उद्धारमे, कल्याणमे, शान्तिमे मदद कर सकने वाला नही है, स्वरूप ही ऐसा है कि किसीमे किसी दूसरेका दखल नही है तो जब इन जीवोसे मेरा कोई काम नही बनता तो मै इनका ऐसा लाज और सकोच क्यो करूँ कि मैं अपने प्रभुका दुश्मन बना रहूं? प्रभुका दुश्मन बनकर फिर कही ठिकाना न रहेगा, और जो लोग दिख रहे उनकी लाज सकोच न करके हमे कोई नुक्सान नही होगा, बल्कि रागद्वेषरहित, प्रेमविरोधरहित जो यह अविकार स्वभाव है, जो अपना प्रभु है, उस प्रभुसे मिलन हो जायगा व स्वयं निकट काल मे परम निर्दोष हो जायगा।

स्वरूपदृष्टिका सत्साहस बनानेका अनुरोध—भैया! किसी दिन तो जी कडा करना ही होगा याने इस सुलभ मिले हुए दुःखके आश्रयभूत विषयोके साधनभूत पदार्थोंसे मुख मोडना

और अपने आपके स्वरूपमे दृष्टि लगना, इसको कह रहे कि शायद कडा लग रहा हो यह काम, इस कारण हम भी सबकी भाषामे मिलकर बोल रहे है कि ऐसा कडा जी तो किसी दिन करना ही पडेगा, नही तो संसारके दु.ख ही भोगते रहेगे। अब आप यदि यह सोचे कि ऐसा कडा जी करनेका अभी मौका नहीं है, आने दो मौका, तो भला वतलाओ—ऐसा मौका किस भवमे पावोगे ? कुछ ठिकाना नही है। तो यह जो मौका पाया है, इन्द्रियां सब ठीक है, सबल है, सोच विचार सकते है, ज्ञान भी उत्तम है, जैनशासनका समागम है, ऐसे अवसर पर यदि कडा जी न कर सकें, विपयोसे मुख न मोड सकें, आत्मस्वरूपकी ओर दिल न लगा सकें, वस्तुस्वरूपके समझनेमे अपना प्रवेश न कर सकें तब फिर जो ससारकी हालत है, जो सभी इन ६ कायके जीवोकी हालत है बस वही हालत बनी रहेगी।

आत्मकरुणाकी प्रेरणा—भैया ! अपने आपपर दया करो, अपनी दयाकी बात कह रहे है। बाह्यमे तो यह बात है कि जैसे एक कहावतमे कहा करते है कि 'लेवा मरे या देवा,' वलदेवा करे कलेवा। कोई दलाल था बलदेवा, मान लो वह गल्लामण्डीमे था, तो बेचने वाले से भी कुछ कमीशन लेता था और खरीदने वालेसे भी। तो कोई सौदा ऐसा आ गया कि जिस सौदाके बिक जानेके बाद बेचने वाला तो यह सोचने लगा कि मै तो ठगा गया, मेरेको इतना नुक्सान हुआ, कल्पना की तो बात है, और उधर खरीदने वाला भी यह सोचने लगा कि इसके तो मै ठगा गया। अब वे दोनों तो हो रहे दुःखी और अपना कमीशन लेनेके बाद एक नीमके पेडके नीचे बैठकर अपना टिपेनबाक्स निकालकर नाश्ता करने लगा और अपने आप ही कहने लगा कि "लेवा मरे या देवा, बलदेवा करे कलेवा।" अरे बाहरी बातोको आप किस-किसको समझायेंगे ? किसका मन भरेंगे ? कौन तुमपर खुश होगा ? ये तो सब अपने परिणमनके अनुसार खुश होते है अथवा दु.खी होते हैं। उनकी लाज करना, उनका संकोच करना, उनको सुखी रखनेके लिए बडा श्रम करना, यह तो कोई इस आत्मप्रभुकी बुद्धिमानी नही है। योग्यता तो बताओ कि जिस समय प्रभुका ध्यान करने बैठे, सामायिकमे बैठे, दर्शन करने आये, किसी साधु सतके निकट बैठे तो वहाँ इतनी पात्रता तो हो कि हम राग विरोध छोडकर अपने आपके स्वरूपकी आराधना कर सकें। कितना बिगाड है इस कर्मउपाधिमे, इस बिगाडसे मोह बसाकर और जगतमे अन्य जीवोको इष्ट अनिष्ट मानकर अपने प्रभुसे विरोध कर रहे है। तो दोनो स्थितियाँ समझ लीजिए। स्वभाव तो है मेरा कि एक अमृतसरोवर जिसमे प्रवेश करके तृप्त हो, खुश हो, कोई संकट बाधा नही। जव जहाँ ज्यादा कूडा जम जाता है सड़कपर या अन्य जगह तो लो अनायास सहज ऐसा उपाय वनाता है वह कूडा साफ करने वाला कि जरासी आग लगा दी तो सारा कूडा साफ हो गया। ढो-ढोकर कहाँ तक श्रम करे ? तो ऐसे ही यहाँ सकटोका कूडा जम गया है। अब इतना कूडा जम गया कि एक-एक

संकटको उठा-उठाकर, मिटा-मिटाकर कहाँ तक श्रम करें ? वे सब संकट मिट ही न सकेंगे। जितना मिटावेंगे अपने लौकिक उपायोंसे उतना ये सकट और बढ़ेगे । मोहीके पास तो संकटों का अक्षय भण्डार है । उन संकटोको दूर करनेका उपाय रागद्वेष मोह आदिके परिणाम करना नही है, किन्तु रागद्वेषरहित ज्ञानमात्र जो अपना सहज स्वभाव है उस स्वभावकी भक्ति उपासना आलम्बन करना, यह उपाय है । इस स्वभावदृष्टिमे ऐसा प्रताप जगता है कि जिसे प्रताप के कारण यह विशाल कूडा क्षणभरमे जलकर भस्म हो जाता है । सो जीवनमें करनेका काम एक ही है, दूसरा है ही नही । आपको रागमे ऐसा लगता होगा कुछ कि यह भी अच्छा काम है, यह भी अच्छा काम है, पर जैन शासनका तो एक ही निर्णय है कि वीतराग अथवा कहो रागद्वेष रहित अविकार ज्ञानस्वभावका आलम्बन लेना, आश्रय लेना, रागको सर्वथा मिटाना, मोह, प्रेम, विरोधका रंचमात्र भी न रह सकना, ऐसी स्थिति बने मेरी तो बस यही मात्र मेरा शरण है, अन्य कुछ मेरा शरण नही है । काम एक ही है, दूसरा कोई काम नही है । ऐसा यदि पक्का निर्णय बनता है आपका तो समझिये कि यही सम्यक्त्व है ।

अन्तस्तत्त्वकी प्रियतमताका विचार—जरा भीतर निगाह कीजिए । आपको सबसे अधिक प्रिय क्या है ? दूकान, दौलत, परिजन, कुटुम्ब या लौकिक यश कीर्ति आदिक ? यदि एक इस कारणपरमात्मतत्त्वको छोड़कर अन्य कुछ भी बात आपके पसद आयी तो समझिये कि हमे सही रास्ता ठीक नही मिल सका । हर जगह दूकानमे, घरमे या कही बाहर आप बैठे हो, सर्वत्र पसद होना चाहिए वीतराग भाव, शुद्ध स्वच्छ ज्ञानस्वभाव, ज्ञाताद्रष्टा रहना । जिसका आदर्श है उदाहरण है अरहत सिद्धदेव । उन उदाहरणोके द्वारा पसद कीजिए अथवा सीधा अपने आपमे दृष्टि देकर पसद कीजिए एक अपना स्वभाव, आत्मधर्म । यह यदि आपको प्रिय है, प्रियतम है तब तो आप वास्तवमे कल्याणके पात्र है । प्रियतमका अर्थ आजकल लोग करने लगे पति । एक स्त्रीके लिए सबसे अधिक प्रिय होता है पति, अतः उसे प्रियतम मान लिया । लेकिन यह जीव अपने आपकी जिम्मेदारी समझ करके अर्थात् मैं शाश्वत सत् हूं, आगे भी रहूगा । अपनेमे बनना, बिगडना और बना रहना किया करता हू तो सदा मेरेको आनन्द बना रहे, ऐसी स्थिति पानेके लिए मैं किस प्रियतमका शरण लूं ? तो उसे दिख जायगा अपने आपमे अपना यह परमात्मस्वरूप । यही है प्रियतम । तो ऐसा स्वभाव सबके अन्त: प्रकाशमान है, उसका आलम्बन लो और दुःख मेट लो । सर्वथा शुद्ध मत मान लो कि मेरेको दु:ख है ही नही, दुःख हैं और उनको दूर करनेका उपाय स्वभावका आलम्बन है ।

यतश्चैव स्थिते जन्तोः पक्षः स्याद् वाधितो वलात् ।
संसृतिर्वा विमुक्तिर्वा न स्याद्वास्याद्भेदसात् ॥६५८॥

ज्ञानचेतनासे सम्बंधित प्रकरणका स्मरण—मूल प्रकरण इस भागमे यह चल रहा

था कि जीवमें ३ प्रकारकी चेतनायें होती है—(१) ज्ञानचेतना, (२) कर्मचेतना और (३) कर्मफलचेतना। मै ज्ञानमात्र हू, ज्ञानको ही करता हूं, ज्ञानको ही भोगता हू, ज्ञान ही मेरा सर्वस्व है, ज्ञानमय हूं इस प्रकार अपने आपका अनुभव करना, चेतना प्रतीति करना, इसका नाम है ज्ञानचेतना, और ज्ञानभावके अलावा अन्य भावमे, अन्य किसी पदार्थके प्रति मैं इसे करता हू, इस प्रकारके करनेका अनुभव करना कर्मचेतना है। इसी तरह कर्मचेतना क्या है? ज्ञानके अतिरिक्त जो भी भाव होते है अथवा परपदार्थ है उनमे भोगनेका भाव बनाना, मैं इसे भोगता हू, इसे कहते है कर्मफलचेतना। इसमे ज्ञानचेतना तो सम्यग्दृष्टि जीवके होती है और कर्मचेतना व कर्मफलचेतना मिथ्यादृष्टि जीवके होती है। कदाचित् चारित्रमोहके उदयमें कर्म और कर्मफल आ जाय तो भी वह कर्मचेतना कर्मफलचेतना मुख्यरूपसे सम्यग्दृष्टिके नही मानी गई है। उस ज्ञानचेतनाके सम्बन्धमे यह कहा गया था कि ज्ञानचेतना एकस्वरूप है, एक आत्माका उसमे सचेतन है। ज्ञानभावको छोडकर अन्य भावमे मैं दुःखी हू, इस प्रकारका अनुभव नही होता। तो वहाँ संक्रमण नही है, जैसे और ज्ञानोमे संक्रमण है। जैसे चौकी जाना, अब किवाड जाना, अब भीत जाना, जैसे अन्य ज्ञानोमे ज्ञानके विषय बदलते रहते हैं इस तरह ज्ञानचेतनामे ज्ञानका विषय नही बदल सकता। एक शुद्ध सहज ज्ञानस्वरूप आत्मतत्त्व इस ज्ञानचेतनाका विषय रहता है। इसपर शङ्काकारने यह आपत्ति उठायी थी कि जब राग भाव होता है तब तो ज्ञानचेतना मिट जायगी। उसके समाधानमे कहा गया कि रागभाव जो सम्यग्दृष्टिके रहता है उस रागमे यह सामर्थ्य नही है कि उससे ज्ञानचेतना मिट जाय। तब शंकाकारने फिर यह आशका व्यक्त की कि लो रागभावके कारण ज्ञानचेतना तो न मिटी, मगर दर्शनमोहका उदय आ जायगा तो फिर तो सम्यक्त्व मिट ही जायगा, ज्ञानचेतना मिट ही जायगी और यो दर्शनमोहके उदयका कारण बन जायगा राग, तब तो ज्ञानचेतना न रहेगी। उसके समाधानमे यह बताया गया था कि रागसे दर्शनमोहका उदय नही आता। दर्शनमोहका उदय उसके अपने कारणसे आयगा। इस ही कारणको स्पष्ट बताते हुए वैभाविकी शक्ति बतलायी गई है कि जीवमे एक वैभाविकी शक्ति है, जिसका विकृत परिणमन तो ससार अवस्था है और शुद्ध परिणमन परमात्म अवस्था है।

विभावपरिणमनकी विपत्तियोका दिग्दर्शन—विभावपरिणमनके वर्णनके प्रसगमे किसीने यह अपना अभिप्राय जाहिर किया कि लो आत्मा तो शुद्ध ज्ञानस्वरूप है, तब विकारपरिणमनसे अज्ञान नही बनता, जीव अजीव नही बनता, तो जीवको क्या आफत पडी अब? उसका समाधान दिया गया है कि जीव इस समय सकटमे है, इसपर बडी आपत्तियां छायी है, ऐसा मत मान बैठो एकान्तसे कि मैं तो शुद्ध स्वरूप हू, मेरेपर कोई विपत्तियाँ नही है। ध्यानमे नही लाते, जब रागका उदय होता है, विषयोमे प्रीति पहुचती है तो सब बातें भूल

जाते है । अपनी विपत्ति ध्यानमे नही रहती कि मै कितना विपत्तिमें हूँ ? मनुष्यभवमें ही देख लो—कितनी विपदायें है ? महती विपत्ति तो मनुष्योपर प्रथम यह ही है कि आजके इस मनुष्यके भीतर यह मूर्खता बसी है कि वह यह चाहता है कि मेरा जगतमे नाम हो, यश कीर्ति बढ़े । देखो यह सबसे बडी भारी मूढताकी बात है । जगतके ये जीव कुछ प्रभाववान दिखते है क्या ? कर्मोके प्रेरे, जन्ममरणके दुःखिया, अपने ही दुःखसे बडे दुःखी है । उनमे क्या चाहते हो कि ये मेरेको कुछ अच्छा कह दें ? जिनको आत्माकी श्रद्धा नही है वही लोग बाहरके लोगोसे अच्छा कहलवानेकी भीतरमे चाह रखा करते है । यह विपदा है । खूब भली-भाँति सोचो, इसके कारण जीवनमे सारे सकट आते है । बताओ अधिक तेज कमाईकी ओर चित्त क्यो जाता है ? मै लखपति बनूँ, करोडपति बनू, अरबपति बनूँ, इसकी ओर दिल क्यो जाता है ? क्यो यहाँ बेहताश होकर भाग रहे है ? मूलमे यह महासकट लगा है कि ये दुनिया के लोग मेरी बडाई करें, इसके लिए बढ़ रहे है । तो आरामसे जो कमाई आये, आने दो, उसीमे गुजारा कर लो और धर्मध्यानमे, ज्ञानसाधनामे अपना खूब उपयोग लगाओ । कितने दिनोका जीवन है ? आखिर मरना होगा । न जाने यहाँसे मरकर कहाँ जायेंगे ? फिर यहा का क्या रहा मेरा ? धर्मसाधना होगी, ज्ञानवासना होगी तो अगले भवमे भी वह काम आयगी । चाहिए तो यही था, मगर दौड रहे है भौतिकताकी ओर । इसके मायने क्या है कि इन्हे आत्मस्वरूपकी सुध नही है । इस कारणसे दुनियाके बडप्पनकी तृष्णा बढ गयी, यह विपत्ति क्या कम है ? अब इसके बाद और विपत्ति देख लो—सम्मान अपमानकी विपत्ति, घरके झझटोकी विपत्ति, और ये तो है न कुछ जैसी विपत्तियाँ, पर जन्ममरणकी कितनी बडी विपत्ति इस हम आपके साथ लगी हुई है ? तो कितनी बडी विपति जन्ममरणकी छाई है, इसकी ओर तो कुछ भी ध्यान नही दिया जा रहा है । और जो कल्पनामे आया उसको ही दुःख मानकर उसको ही मिटानेके लिए रात-दिन भरसक प्रयत्न कर रहे है । कुछ भी किया जाय, पर आत्मज्ञानके बिना सतोष तो नही पाया जा सकता ।

स्वभावतः शुद्ध होनेपर भी संसार पर्यायमें अशुद्धताका निर्णय—देखो ससारी जीवके वर्तमानमे अशुद्धता है । यदि जीवको सदा शुद्ध मान लिया जाय तो फिर किसका ससार ? किसका जन्ममरण ? किसको शुद्ध होना ? काहेके पुण्य-पाप ? ससार ही नही तो फिर मोक्ष किसका नाम ? तो जीवको सदा शुद्ध-माननेसे ससार मोक्षकी व्यवस्था ही न बन सकेगी । कोई कहे कि मत बनो व्यवस्था, हमे क्या पडी ? न ससार रहे, न मोक्ष रहे, उसमें क्या नुक्सान हुआ ? अरे नुक्सान यह हुआ कि दुःखी तो हो रहे हो खूब और उस दुःखको दूर करनेका उपाय न बन सकेगा । तो यह जीव जो यह ससारमे परिभ्रमण कर रहा, जो इतनी रागद्वेषादिक अनेक बाधाये लग रही, ये यह सिद्ध करती है कि जीव पर्यायमे शुद्ध नही है । यदि यह जीव सदा शुद्ध होता तो यह ससार कहाँसे आता और फिर मोक्ष क्या कहलाता ? न भगवान

रहते, न भक्त रहते, कुछ भी तत्त्व न रहता। तो यह मानना चाहिए कि यह जीव स्वभावसे सहज शुद्ध है अर्थात् इसका स्वभाव परसे निराला, परभावोंसे निराला, एक चैतन्यज्योतिमात्र है, लेकिन परउपाधिके अनादि सम्बन्धसे यह जीव दुःखी होता आ रहा है, जन्ममरण कर रहा है।

स्वस्वरूपे स्थितो ना चेत् संसार स्यात्कुतो नयात्।
हठाद्वा मन्यमानेऽस्मिन्ननिष्टत्वमहेतुकम् ॥६५६॥

अपनेको यहां स्वरूपस्थ मान लेनेपर अनिष्टप्रसङ्गका विवरण—यदि यह जीव, यह आत्मा अपने स्वरूपमें ही स्थित रहे याने सदाकाल ही बना रहे तो बतलावो संसार किस नय से सिद्ध हो सकेगा ? यदि कोई यहा हठ ही करे कि मैं तो शुद्ध ही हूं तब फिर इसका अर्थ यह हुआ कि बिना किसी कारणके यह जीव शुद्ध है। तो उसमें क्या आपत्ति होगी ? इसको अगले श्लोकमे बताया जायगा। प्रसंगवश इतना समझ लीजिए कि कुछ मनुष्य ऐसे हैं, कुछ अपनेको धर्मात्मा कहने वाले लोग ऐसे हैं कि अपनेको बिल्कुल शुद्ध मानते हैं और आचार-विचारसे विहीन रहकर अपना मौजपूर्वक गुजारा करते हैं, मैं शुद्ध हू। भूख किसको लगी ? दुःख किसको हुआ ? खाता कौन है ? कुछ भी खावो, कभी खावो, जीव तो शुद्ध है, मैं शुद्ध हू, जरा ऐसा शुद्ध शुद्ध चिल्लाने वाले लोगोंको थोडा एक थप्पड मारकर देख लो—अगर ये बेचैन हो तो उनसे कहो कि आप तो शुद्ध हैं, यह नाराजगी कहासे आयी ? एक गुरु कुछ शिष्योंको पढाता था तो यह ही शुद्ध, वेदान्तकी बात पढ़ाता था—यह ब्रह्म शुद्ध है, और उस गुरुका आचरण क्या था कि उसको रसगुल्ले खानेका बड़ा शोक था। एक मुसलमानकी दूकान के रसगुल्ले उसे बडे अच्छे लगते थे। उस गुरुके सब शिष्योमे से जो एक सबसे बुद्धिमान् शिष्य था वह एक दिन कहने लगा कि गुरुजी आप आत्माको, ब्रह्मको शुद्ध कहते है तो फिर ये दुःख सुख किसको होते हैं ? तो गुरुने कहा कि ये सुख दुःख तो इस प्रकृतिके होते है। शिष्यकी समझमे कुछ बात न बैठी। और फिर पूछा तो, तो गुरुने वही उत्तर दिया। और शिष्यको इस बातमे चिढ आयी कि ये एक मासकी दूकानपर बैठकर रसगुल्ले खाते है। एक दिन वह गुरुजी एक मुसलमानकी दूकानमे बैठे हुए रसगुल्ले खा रहे थे तो शिष्य वहा पहुंचा और हिम्मत करके गुरुजीके दो तीन तमाचे जड दिए। गुरुजी तिलमिला गए और बोले—अरे शिष्य ! तूने मुझे क्यो मारा ?··· महाराज आप मासकी दूकानपर रसगुल्ले क्यो खा रहे ? अरे शिष्य किसने खाया, आत्मा तो शुद्ध है। तब शिष्यने कहा—महाराज मैने आपको नही मारा। जैसे आपने रसगुल्ले नही खाये, खाती तो प्रकृति है, ऐसे ही मारा तो प्रकृतिको, कष्ट हो तो प्रकृतिको हो, आप तो एक शुद्ध हैं, तमाचा तो इस चामपर पडा है ? आपका इसमे क्या बिगाड ?····बस झट गुरुजी की समझमे आ गया और बोले कि ऐ शिष्य ! आज तो तूने

मेरी आखें खोल दी। तो भाई किसे शुद्ध कहा जाय ? शुद्धकी बात तो स्वभावमें है, जिसके देखे बिना आत्माका उद्धार नही हो सकता। यह मै आत्मा अशुद्ध होकर भी भीतर शुद्ध हू, पर भीतर किस तरहका शुद्ध हू, इसको कहनेके लिए पर्याप्त वचन तो नही है और यो समझिये कि यह जीव जब स्वतन्त्र सत् है, केवल अकेला ही है, यह सत् है तो इस अकेले जीवमे इस जीवके ही कारण जो कुछ इसमे बात होती हो, स्वभाव हो वह है शुद्ध याने जीवमे स्वभावमे राग नही मिला हुआ है, स्वभावमे केवल ज्ञानज्योति है, उसके दर्शनसे, उसके आलम्बनसे कल्याण होता है, यह बात तो सही है, पर कोई अपनेको पर्यायमे ही, परिणमनमें भी शुद्ध मान ले, स्वच्छन्द रहे, मेरेको क्या फिक्र, मै शुद्ध हू, तो वह अधेरेमे है।

जीवश्चेत्सर्वतः शुद्धो मोक्षादेशो निरर्थक ।
नेष्टमिष्टत्वमत्रापि तदर्थं वा वृथा श्रमः ॥६६०॥

जीवको सर्वथा शुद्ध माननेपर समापतित अनिष्टप्रसंगका दिग्दर्शन—चर्चा यह चल रही थी कि जीवमे विभावशक्ति है और कर्मोदयके निमित्तसे रागद्वेष भाव होनेके कारण विभावकी शक्तिका विकृत परिणमन चल रहा है। इस जीवको सर्वथा शुद्ध मत निरखो, किन्तु व्यवहारतः विकृतपरिणमन है और स्वरूपतः इसमे शुद्ध चैतन्यस्वभाव है। ऐसा न निरखकर जो केवल सर्व प्रकारसे जीवको शुद्ध ही है तो अनिष्टपसग आवेगा। क्या अनिष्ट प्रसग है ? लो जीव तो मान लिया सदा शुद्ध तो फिर मोक्षका निरूपण करना व्यर्थ हो गया, लेकिन यह बात इष्ट नही है। मोक्षका निरूपण व्यर्थ नही है। मोक्षके लिए जो श्रम किया जाता है वह श्रम व्यर्थ नही है, लेकिन जो जीवको सदा शुद्ध माने उसके लिए सब व्यर्थ है, स्वच्छता है। जैसे जलमे समझ लेते ना कि गर्म जल है, तेज गर्म जल है, कितना ही तेज गर्म जल हो, जब कभी पूछा जायगा कि बोलो इस जलका स्वभाव कैसा है ? तो गर्म कोई न कहेगा। स्वभाव ठडा है, और कोई माने कि यह तो ठडा ही है, हर तरह ठडा है और पी ले तो जीभ जल जायगी। इसी तरह समझिये कि जीवका जो वर्तमान परिणमन है वह विकृत है, विभावपरिणमन है और वे विभावपरिणमन न माने जावे और माना जावे कि यह तो सदा शुद्ध है तो उस तरह धोखेमे आ जायगा। जैसे गर्म पानीको सर्वथा ठंडा मानकर कोई पी लेता है, जीव स्वभावत. तो शुद्ध है, परन्तु पर्यायमे परिणमनमे यह जीव यहाँ अशुद्ध चल रहा है, विषयोसे घिरा हुआ है।

सर्वं विप्लवतेप्येवं न प्रमाण न तत्फलम् ।
साधन साध्यभावश्च न स्याद्वा कारकक्रिया ॥६६१॥

जीवको सर्वथा शुद्ध माननेपर प्रमाण, प्रमाणफल, साधन, साध्य आदिक सभीकी असिद्धि—जीवको सर्वथा शुद्ध मानने वाले दार्शनिकके आगे कौनसी समस्या आती है, कौनसी

अनिष्ट आपत्ति आती है, उसका कुछ विवेचन चल रहा है। देखो जीवको सर्वथा शुद्ध मान लिया जाय तब फिर ससार ही न रहा। रागद्वेप किसके ? जोव तो शुद्ध है, शिक्षा किसको देते हो ? क्रोध न होगा। जीव तो शुद्ध है। अगर शरीरको शिक्षा देते हो कि क्रोध न करो। शरीर क्रोध करता है, ऐसा कोई मानकर कहे कि मैं तो शरीरको शिक्षा देता हू, क्रोध न करो। अरे क्यो शिक्षा देते हो ? क्रोध होता है, होने दो। शरीरमे होता है तो उसको क्या कष्ट होगा ? उसमे तो जान ही नही है, ज्ञान ही नही है, वह कैसे दुःखी होगा ? कोई पीट दे, मार दे तो ? अरे पीटने दो, शरीरमें तो ज्ञान ही नही है। वह तो दुःखका अनुभव करेगा ही नही। किसे शिक्षा देते हो ? जीव यदि सर्वथा शुद्ध मान लिया जाय तो सुनो—संसारकी और मोक्षकी व मोक्षमार्गकी व्यवस्था नही वन सकती। और देखो—यह तो वही जा रही है आत्महितसे सम्बवित वात कि न मोक्ष रहेगा, न मोक्षमार्ग रहेगा। पर उससे पहिले यह ही देख लें कि जब मोक्ष व्यवस्था और मोक्षमार्ग निरर्थक हुए और इतना ही क्या, रागद्वेष ससार, ये सव निरर्थक हुए, क्या करना ? किसका करना, निर्णय क्यो करना ? लोग कहते है कि वस्तुका भली-भाँति निर्णय कर लो, क्यो निर्णय कर लो, क्या जरूरत पडी ? क्यो विवेक करते ? क्यो निश्चय करते ? जीव तो शुद्ध है, इसमे तो कोई दोप ही नही है। ऐसा मानने वालोके यहाँ तो कुछ भी बात सिद्ध नही हो सकती। तब प्रमाणीक कुछ न बनेगा। निर्णय करने वाले ज्ञानको प्रमाण कहते है। लो निर्णयकी जरूरत भी क्या, प्रमाण भी क्या ? न प्रमाण बनेगा, न प्रमाणका फल बनेगा, न साधन बनेगा, न साध्य बनेगा। क्या काम करना, कुछ भी न करना। जीव शुद्ध है, ऐसा जो लोग सोचते है वे केवल एक तप सयम व्रतके लिए ही सोचते है। क्या करना ? जीव तो शुद्ध है, पर अपने रागद्वेष सुख दु ख इच्छाके लिए नही सोचते। वहाँ तो सुभट बन जाते, क्या करना ? जीव तो शुद्ध है। तो जो लोग जीवको सर्वथा शुद्ध मानते है उनकी यह साध्यसाधनकी कुछ भी व्यवस्था नही, किसे साध्य बनाना, कौनसा काम बनाना, किस साधनसे बनाना ? कुछ भी व्यवस्था नही है। कारण कार्य उसके नही बन सकता। क्या कारण जुटाना ?

विवेकसे ही शान्तिलाभकी शक्यता—देखो जीव सर्वथा शुद्ध नही है, वैभाविकी शक्ति का विकृत परिणमन चल रहा है और उसमे जीव आकुलित हो रहा है। अपनी आकुलताओ को समाप्त करें, ऐसा प्रोग्राम बनायें। एक राजा भोज हुए है, उनकी बहुत अधिक प्रसिद्धि है, उन्हे ज्ञानियोसे बडा प्रेम था और स्वय भी पडित था। एक रात्रिको एक कविके मनमे आया कि राजाने मुझे बहुत दिनोसे कुछ इनाम नही दिया, हम भूखो मरने लगे, चलो आज राजाके यहाँ ही हमे चोरी करने जाना चाहिए, और किसी गरीबके यहाँ चोरी करनेसे क्या लाभ ? यह सोचकर वह राजा भोजके यहां चोरी करने गया। वह राजा भोजकी खाटके नीचे छिपा

हुआ। रातको राजा भोज अपनी खाटपर लेटा हुआ एक संस्कृतकी रचना कर रहा था। वह रचना यह थी–चेतोहरा. युवतयः सुहृदोऽनुकूला, सद्बान्धवा: प्रणति गर्भगिरश्च भृत्याः। गर्जन्ति दन्तिनिबहास्तरलास्तुरङ्गाः" । यो छन्दके तीन चरण बन चुके थे। चौथा चरण नही बन पा रहा था। उस रचनामे राजा भोज अपने वैभवका वर्णन कर रहे थे—मेरे पास सुन्दर रानियां है, इतना बडा वैभव है, नम्र आज्ञाकारी बन्धु है, ऐसे हाथी है, ऐसे घोड़े है, हमारे नौकर कितने आज्ञाकारी है, हमारे पास कितने सुन्दर महल है, कितनी महान सेना है आदि, इस प्रकारका वर्णन करने वाली कविताके तीन चरण बन पाये थे, चौथा चरण नही बन पा रहा था। तो उस विद्वान्से न रहा गया, जो कि चोरी करनेके लिए गया हुआ था और राजा के पलगके नीचे छिपा हुआ था, वह चौथा चरण बोल उठा—'सम्मीलने नयनयोर्न हि किञ्चिदस्ति, जिसका अर्थ यह है कि तुमने अपने सारे वैभवका तो वर्णन किया, स्त्री अच्छी, बन्धु अच्छे, नौकर अच्छे, इतने-इतने हाथी, घोडे, महल आदि, पर नेत्रोके मिच जानेपर तेरा कुछ नही है। यह चौथे चरणका अर्थ है। राजा बहुत प्रसन्न हुआ और उसे अपना साधर्मी बन्धु समझकर गले लगाया। तो जो ज्ञानके दुश्मन होते है वे अक्लके दुश्मन कहे जाते है। उस समय राजा भोजने यह न सोचा कि अरे यह तो चोर है। वह तो उस विद्वान्का बड़ा आदर करने लगा। तो यो समझिये कि जो कुछ है वैभव, आँखें मिचनेके बाद आपका क्या है? जिसमे इसना बड़ा तेज ममत्व रख रहे है, मेरा ही तो लडका है, मेरा ही तो फलाना है, मेरा ही तो वैभव है। अरे तुम्हारे कुछ भी नही है, वल्कि ये मेरे है, ऐसा विचार यह आपके लिए वडी हानिकी वात है, क्योकि अन्तः कर्मबन्धन हो रहा है, आकुलता मच रही है, अधेरा छाया है, सम्यक्त्व नही जग पाता है। ससारसे उद्धार होनेका मार्ग बन्द हुआ पड़ा है। तो जो विपत्ति है उसमे तो मानते हैं मौज और जो सच्चे आरामकी वात है उसमें लग रही है कठिनाई। बडे कठिन प्रवचन होते है, समझमे नही आते। तो सारा दोप प्रवक्ताका मानते है, सुनने वाले अपना दोष नही समझते कि मैं थोडी मेहनत करूँ, थोडा विद्या पढू जिससे कि मै इतना समझ सकू। यह न बनेगा, क्योकि वही आदत वनी है मौजकी। अभी सनीमा देखना हो तो उसे बड़े मौजसे देखेंगे, उसमें कोई अधिक दिमागपर जोर तो पड़ेगा नही, और तत्त्वकी बातको समझनेके लिए तो कुछ दिमागपर जोर पड़ता है ना, पर उसमें दिमाग नही लगाना चाहते। तो जो लोग इस जीवको सर्वथा शुद्ध मानते हैं उनका भी गुजारा नही है और जिस जीवके वारेमे कुछ पता नही उनका भी गुजारा नही।

सिद्धमेतावताप्येव वैकृता भावसन्तति.।
अस्ति संसारिजीवाना दुःखमूर्तिर्दुरुत्तरी ॥६६२॥

संसारी जीवोंकी वैकृता भावसंततिके वर्णनका उपसंहार—इस प्रकरणका यह अंतिम

श्लोक है, जिसमे साराश रूपमें यह बताया गया कि संसारी जीवोके भवोकी संतति चली आ रही, भावपरम्परा चली आ रही वह विकृत है, दुःखकी मूर्ति है। उसका फल खोटा है। वर्तमानमे जो कुछ अपनेमे दोप लग रहे, विभाव जम रहे, उसपर कुछ खेद तो लावो। नही ला सकते तो इस ही के मायने हैं मूर्खता, अबोधता। कुछ पता नहीं, जब वाह्य देखते हैं तब झंझट है, जव भीतर देखते है तो वडा आनन्द है। दो चीजें, जो कितनी विरुद्ध चीजें है, कहा तो आनन्द और कहाँ झंझट ? ऐसी विरुद्ध चीजे भी हमारे तराजूकी डंडीके दोनों ओर पडी हुई है, दूर नही है। दूर झांका झंझट, भीतर निरखा आनन्द। हम वहुत दूरकी बात नही कह रहे। हम आत्मामे ही दूरकी बात कर रहे। शरीरसे दूरकी वात नही कह रहे। आत्मप्रदेशमे ही बाहर और भीतरकी बात कर रहे। जव परिणतिमे निरखते है तब अपने स्वभावके उपयोगसे हटकर कुछ भी बाहर उन्मुख होता है उपयोग तो वहाँ झंझट आ ही जाता है और जहाँ अपने स्वभावको निरखा, अन्तः वहाँ परम आनन्द बरसता है। तो दोनो बातोका निर्णय रखो—स्वभाव तो पवित्र है, पर परिणमन मेरा गंदा चल रहा है। इस गदे परिणमनको मिटाना है और शुद्ध परिणमन लाना है। उसका उपाय है अपने अन्त.प्रकाशमान इस सहज शुद्ध स्वभावका आलम्बन करना।

॥ पञ्चाध्यायी प्रवचन त्रयोदश भाग समाप्त ॥

पूज्य श्री गुरुवर्य्य मनोहर जी वर्णी "सहजानन्द" महाराज द्वारा रचित
"पञ्चाध्यायी प्रवचन" का यह त्रयोदश भाग समाप्त हुआ।

पंचाध्यायी प्रवचन चतुर्दश भाग

प्रवक्ता—अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्री १०५ क्षु० मनोहर जी वर्णी
"सहजानन्द" महाराज

ननु वैभाविका भावाः कियन्तः सन्ति कीदृशा ।
किंनामानः कथं ज्ञेया ब्रूहि मे बदतावर ॥९६३॥

स्वान्तःपरीक्षणका महत्त्व व कर्तव्य—अपने आपके आत्माके भीतरकी बातकी परख करना, इससे बढकर लोकमे कोई वैभव नही है। धन सम्पदा, यश प्रतिष्ठा, लोकपरिचय, विषयसाधन ये सब इसके लिए कलक है। इसमे जीवका रच भी हित नही है। ऐसा अनुभव भी किया होगा। तब साधारणतया ऐसा पहिचानकर अपने जीवनका यह निर्णय बनाये कि मुझे अपने आपकी परख करना है। मै क्या हू, मेरेमे क्या-क्या बातें होती है। अपने आपकी परख ही सम्यक्त्व है, कल्याणका मूल है। मनुष्यजन्म पाया है तो उस लाभको मत छोडो। यदि सम्यक्त्वके लाभको छोड दिया तो जैसे पेड-पौधे, कीट-पतिंगोकी हालत है वही अपनी हालत होगी। यह संसार एक भयानक बन है, इसमे किसीका कोई शरण नही है। जैसे बनमे कोई रोये तो कौन निर्णय करने वाला है? इसी तरह इस असार ससारमे जो दुःख भोग रहे हैं उनकी कोई सुनाई करने वाला नही है। जो कुछ यहाँ पुण्योदयमे लग रहा है कि मेरा अमुक रक्षक है, मेरे इतने हितैषी है, वे सब स्वप्नकी तरह है। वस्तुतः कोई हितैषी नही है। यहाँ जितने लोग प्रेम दिखायेंगे, मोह बतायेंगे उन सबके अपने चित्तमे अपना स्वार्थ है। अपना सुख चाहिए, जिसमे भला दिखता हो वैसी प्रवृत्ति करना। यदि कोई हितैषी हो सकता है बाहर तो साधु-संत ही सच्चे हितैषी हो सकते है। उनके अतिरिक्त तो दुनियामे कोई हितैषी न मिलेगा। भला जिसने कोई ग्रन्थ रचा है, ऐसे आचार्य, इन्होने क्या स्वार्थ साधा दूसरोसे? कौनसा अपना मतलब निकाला? एक करुणावश होकर हम आप सबको एक ऐसी देन दे गए कि जिस प्रकाशमे हम अपना भला कर रहे है, करेंगे। सच्चा हितैषी कोई परमे हो सकता है तो साधु सत जन ही हो सकते है। उनके अतिरिक्त अन्य किसीमे भी यह विश्वास न करें कि यह मेरा भला कर सकेगा। यदि अपना कल्याण चाहिए

तो अपने आपके भीतरके वैभवको परखो। क्या है मुझमे ? जो बुरा हो उसे भी परखो, जो भला हो उसे भी परखो, पर परखो अपने आपके भीतर। बाहर कुछ परखनेसे कुछ न मिलेगा। देखिये उसी परखकी बात इस भागमे चलेगी।

वैभाविक भावोके सम्बधमे चार प्रश्न—इससे पहिले यह वर्णन था कि जीवमे एक वैभाविकी शक्ति है सो कर्मके उदयका निमित्त पाकर रागद्वेषादिक विभावरूप परिणमन होता है और इस विकारपरिणमनमे यह जीव दुखी रहता है। तो यह जिज्ञासा होना प्राकृतिक है कि आखिर विभाव कितने होते है, क्या क्या होते है, वे भाव जो कि दुखरूप होते हैं ? वही प्रश्न यहाँ किया जा रहा है। वैभाविक भाव कितने है और कैसे है ? किस नाम वाले है और वे कैसे परखे जाते है, ऐसा हमे समझाइयेगा ? इतनी जिज्ञासायें यहाँ हुईं। एक तो यह जाननेकी इच्छा हुई कि वे वैभाविक भाव कितने है, विकार भाव रागद्वेष सुख दुखादिक जो कुछ हमपर गुजरते है, जिनमे हम आकुलित रहते हैं, ऐसे ये खोटे भाव कितने होते है ? एक प्रश्न तो यह हुआ। दूसरा प्रश्न यह है कि वे कैसे है ? उनका स्वरूप क्या है और वे वैभाविक भाव किस-किस नामसे पुकारे जाते हैं, उनका नाम क्या है और वे किस प्रकार परखे जाते है, उनका परिचय करनेका उपाय क्या है ? इन चार प्रश्नोमे वैभाविक भावोके विषय मे जिज्ञासुकी जिज्ञासा हुई है तो उसके समाधानका सकल्प आचार्यदेव करते है।

शृणु साधो महाप्राज्ञ. वच्म्यह यत्तवेप्सितम् ।
प्रायो जैनागमाभ्यासात् किञ्चित्स्वानुभवादपि ।।९६४।।

महाप्राज्ञ साधु शंकाकारको ग्रन्थकार द्वारा समाधानका आश्वासन—ग्रन्थकार शकाकारको सम्बोधन करते हुए कहते है कि हे महाप्राज्ञ सज्जन पुरुष, हे साधुमहाप्राज्ञ, जो तुम्हारा चाहा हुआ है, जिस बातको तुम जानना चाहते हो उसे हम कहते है सो सुनो—यहाँ ग्रन्थकार उस शकाकारको दो सबोधनोसे पुकार रहा है। सज्जन श्रेष्ठ और महाबुद्धिमान्। ऐसा प्रश्न कौन कर सकता है ? जिसको कल्याणकी रुचि हो, जिसमे आत्मदया उत्पन्न हुई हो, संसारसे भयभीत हो वही पुरुष ऐसा प्रश्न कर सकेगा। इसलिए शङ्काकार स्वय सज्जन है, श्रेष्ठ है, उत्तम पुरुष है, देखो जो विभावभाव इस जीवके लिए दुःखके कारण हैं, जिनके मिटाये बिना कल्याण नही हो सकता है, उन विभाव भावोके सम्बधमे जाननेके स्पष्ट परिचय करनेकी उत्सुकता होना, यह तो किसी विरक्त पुरुषके ही सभव है। रागी पुरुष तो गप्प मारेंगे, उन्हे तो प्रेम ही पसद होगा, और उस प्रेममे जो बाधक होगा उससे द्वेष करना पसद होगा तो मोही जीव सिवाय पापभरी बातोके और कह ही क्या सकता है ? ऐसा उत्तम प्रश्न करना, जिन वैभाविक भावोसे मुक्त होना चाहते उन वैभाविक भावोके परिचयकी उत्सुकता करना, यह तो निकट भव्य पुरुषके ही सभव है। इसलिए शङ्काकारको यहाँ साधु शब्दसे

पुकारा है। दूसरा शब्द दिया है महाप्राज्ञ, बुद्धिमान्। गुरु जब शिष्यको पढाता हो और शिष्य जब समझता हो, परिश्रम करता हो, उसमे आगे कदम बढाता हो तो उसकी चेष्टाको देखकर गुरु प्रसन्न होता है और वह चित्तमे उस शिष्यके प्रति बडा बुद्धिमान् है, बडा अच्छा विद्वान् है, प्रतिभाशाली है, ऐसा समझता है। इस सम्बधमे ग्रथकार प्राज्ञ शब्दसे सबोधन कर रहा है। बडा बुद्धिमान् है, ऐसे शब्दसे सबोधन कर रहे है उचित प्रश्न किया गया ना। अत· भला बतलाओ जो आपके दु खका कारण हो चेतन अथवा अचेतन, उसके बारेमे आपको खूब-खूब जाननेकी इच्छा होती है कि नही ? तो जो वास्तवमे आत्माके दु खके हेतुभूत हैं उनके जाननेकी इच्छा होना, यह विवेकीका काम है। सारा यह मोहका परिवार इस जीव को इस तरह दु खी कर रहा है। जिसे अगर कहा जाय तो जैसे कोई सुन्दर दुःखी करता है। कोई चीज सुन्दर हो तो वह कैसा तडफा-तडफाकर दुःखी करने वाली होती है ? यह बात आप इस जगतमे परख रहे होगे। जिसे जो सुन्दर लगता है, लोग तो तारीफ करते है कि यह बहुत सुन्दर है, पर कहा गया कि यह तडफा-तडफाकर मारने वाला है। अर्थ यह हुआ उसका। यह बात आपको केवल एक व्यावहारिक ढंगकी नहीं कह रहे है, किन्तु सुन्दर शब्द जिन पदोसे बना है उनमे भी यह ही अर्थ पडा है—सुन्दर शब्द सस्कृतका शब्द है। जिसमे सु उपसर्ग है, उन्द् (उन्दी) धातु है और अर (अरच्) प्रत्यय लगा है। उन्द् धातुका अर्थ है क्लेदन। कष्ट, महाकष्ट देना। क्लेद करना वह कहलाता है कि जो देखनेमे तो ऐसा लगता है कि कोई ज्यादा कष्टकी बात नही कही जा रही है, मगर उसे निरन्तर भीतरी चोटसे कष्ट दिया जा रहा है। जैसे कोई किसीके शरीरको बहुत तेज रगड़े जिससे कि उसकी चाम छिल जाय और उसमे नमक छिडक दे तो देखनेमे लगता कि क्या कष्ट ? न कोई तलवारसे मार रहा, न कोई काट छेद रहा, क्या कष्ट, पर भीतर ही भीतर वह बडा कष्ट पाता रहता है। इसी तरह जो भले प्रकारसे तडफा-तडफाकर मारे उसे कहते है सुन्दर। यह शब्दमे अर्थ पडा है। तो ऐसा ये वैभाविक भाव सुन्दर लगते है। प्रेमका भाव जगे तो बडा सुहावना लगता है। खुद भी मुस्करा रहे, दूसरे भी मुस्करा रहे, बडा आनन्द माना जा रहा। अरे क्या आनन्द मानते हो ? यह तो सुन्दर है, तडफा-तडफाकर मारने वाला प्रेम है, इस जीवको जो हैरान किए हुए है। तो ये वैभाविक भाव जो हमारे दु खके कारणभूत है उनकी बात पूछ रहा हो वह महाप्राज्ञ पुरुष है।

वैभाविक भाव कितने है, कैसे है, किस नाम वाले हैं, किस उपायसे ज्ञेय है, इन चार प्रश्नोंका समाधान देनेका प्रामाणिक संकल्प—ग्रन्थकार कहते है कि हे महाप्राज्ञ ! जो तुमने पूछा है उसे ध्यानपूर्वक सुनो और देखो—जो मै कहूगा वह उस जैन आगमके अभ्यासके अनुसार कहूगा और अपने कुछ अनुभवके बलसे भी कहूगा। तो हे महाप्राज्ञ साधु शङ्काकार

पुरुष ! तुम भी उस ज्ञानआगमके अभ्यासके आधारसे सुनो — और कुछ अपना अनुभव भी लगाना, युक्ति भी लगाना, इस तरह तुम सुनो अपने आपके भीतरकी गडबड़ियोको। जिसको कूडेकी खबर है उसको असलीकी भी खबर है। जब चावल बीनते है तो बीनने वालेको कूडे की खबर न हो तो फिर वह बीनेगा क्या ? अथवा चावलकी खबर न हो तो वह सोचेगा क्या ? तो ऐसे ही अपने आपके भीतरका कूडा भी परखिये और वैभव भी परखिये। दोनोको समझ लो—ऐसा विलक्षण आनन्द आयगा जो आनन्द आपको किसी भी स्थितिमे नही आ सकता। जब आपसे कहे कि अच्छा बतलाओ तुमको परमात्मा होना पसंद है ? तो इसे कोई भी मना न करेगा। सभी कहेगे कि हाँ हमे परमात्मा होना पसंद है। तो परमात्मा होनेका जो उपाय है वह बताया जाय और उसका करना पसद हो जाय तब तो परमात्मा पसंद है, यह कहना उसका सच उतरेगा और परमात्मा होनेका उपाय पसद न आया तो उसका कहना झूठ है। उसका तो वह ऐसा सोचकर कह रहा होगा कि जब यहाँ घरमे रहते है, अच्छा बडा मकान है, खूब वैभव है, खूब अच्छा रोज-रोज बढिया भोजन बनता है. मिलता है, बड़े अच्छे मित्र हैं, बडा सुख है, इससे भी उत्तम अनन्तगुना सुख है परमात्मा होनेमें, यह समझकर कहा, स्वरूप नही समझा। तो भाई परमात्माका स्वरूप समझो, और परमात्मा जिस उपायसे हुये है उस उपायमे अपनी रुचि बनाओ। कठिन कुछ नही है, पर मोह लगा है, इसलिए परमात्मा होनेका मार्ग कठिन लग रहा है। पर सुगम इतना है कि जितना सुगम धन कमाना नही, परिवारका पालन-पोषण करना नही। ये तो कठिन है, लेकिन परमात्मा होने का उपाय बनाना सुगम है, सरल है। लेकिन उस सरलको क्या करे ? जब चित्तमे मोह समाया हुआ है तो बात कैसे रुचेगी ? सुगमता और कठिनताकी बात यो समझ लीजिए कि धन कमाना आपके भावके आधीन नही है। आप जितना चाहते है उतना हो जाय, ऐसा आपके भावके आधीन है क्या ? समय आयगा, जो कुछ होना होगा वह होना पडेगा, वह तो उदयके आधीन है। परिवारका पोषण करना, परिवारको प्रसन्न रखना, परिवारकी बडी उन्नति करना, यह कठिन बात है, आपके आधीन बात नही है। योग मिल जाये वह बात दूसरी है। अच्छा समागम मिल गया। बडे विनयशील, बडे चतुर परिवारके लोग मिल गए, पर आपकी कुछ करतूतसे वे वैसे मिल गए सो बात नही, आपकी इच्छाके माफिक वे अपना कार्य करते हो सो बात नही। किसी भी दूसरे जीवको अपने मनमाफिक रखना बडा कठिन है। मोक्षमार्गका कार्य, परमात्मा बननेका कार्य है—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र। इनका निभाना बडा सरल, सुगम, स्वाधीन और आरामदेह है। कैसे ? अपने आपको अपनी दृष्टिमे लो, देखो, परखो, बस तृप्ति भी हो जायगी, प्रसन्नता भी आ जायगी, आत्मरमण भी होगा। इसमे पराधीनता कहाँ है ? कौन रोकने वाला, कौन बाधा देने वाला ?

तो परमात्मा होनेका उपाय सुगम है, सरल है, स्वाधीन है, उसकी ओर रुचि बढ़ावे और अपना यह दुर्लभ मानव-जीवन सफल करे। जिसका जो हो सो होने दो। उसको आप कर भी नही सकता। तो जिसे आप करनेमे समर्थ नही है उसके विकल्पमे ही निरन्तर रहनेसे लाभ क्या है ? और जिस बातके करनेमे आप समर्थ है उस ओर आप जरा दृष्टि दे दे तो वह काम बना बनाया है। तो उसी प्रकरणमे परखनेकी बात चल रही है। अपने आपमे परख कीजिए। गडबडियाँ कितनी है ? वे गडबडिया कैसी है ? उन गडबडियोके नाम क्या है और उन गडबडियोके जाननेका तरीका क्या है ? ये चार बातें पूछी गईं। इन चारो बातोका समाधान देनेका सकल्प ग्रन्थकार कर रहे है।

लोकासंख्यातमात्राः स्युर्भावाः सूत्रार्थविस्तरात्।
तेषा जातिविवक्षाया भावा पञ्च यथोदिताः ॥६६५॥

भावोंकी असंख्यातलोकप्रमाणता व जातिकी अपेक्षासे पञ्चप्रकारता—उक्त चार प्रश्नोमे पहिला प्रश्न क्या था ? वैभाविक भाव कितने है ? पुरुषमे होने वाली गडबडियाँ कितनी है ? उसका उत्तर इस श्लोकमे दिया जा रहा है। ये वैभाविक भाव असख्यात लोक-प्रमाण है और जाति अपेक्षासे देखा जाय तो वह भाव ५ जातियोमे विभक्त है। तत्त्वार्थसूत्रके द्वितीय अध्यायमे प्रथम सूत्रमे ५ भावोका वर्णन है। उन्ही भावोका यहाँ वर्णन चलेगा। तो जीवके स्वतत्त्व कितने है ? निजी भाव कितने है ? वे है ५, उन ५ मे जो एक पंचम भाव है, पारिणामिक भाव है उसमे भी जो शुद्ध पारिणामिक है वह तो शुद्ध भाव है। उसके तो भेद प्रभेद नही होते, लेकिन अन्य जो भाव है वे असख्यात लोकप्रमाण है। कितने है भाव ? दो, चार, दस, करोड, अरब, खरब, शंख, महाशख आखिर कितने है ? अरे असख्यात लोक प्रमाण है। मतलब क्या है ? इस लोकमे कितने प्रदेश है ? असख्यात, अनगिनते प्रदेश है। देखो सूईकी नोक जहाँ गडा दी जाय और उससे जितना गड्ढा बने उतनी जगहमे असख्यात प्रदेश है, अनगिनते प्रदेश हैं। और फिर यह टिकने वाली दुनिया कितनी बडी ? यह सारा लोक कितना बडा ? तो पहिले तो प्रदेश ही समझ लो। एक लोकमे कितने प्रदेश है। ऐसे-ऐसे अनगिनते लोक हो और उनके जितने प्रदेश हो उतने है ये वैभाविक भाव। लेकिन जाति की अपेक्षासे वे ५ प्रकारके कहे गए है। वे ५ प्रकारके भाव कौन है ? उनका नाम अगले दो श्लोकोमे बताया जा रहा है।

तत्रोपशमिको नाम भावः स्यात्क्षायिकोपि च।
क्षायोपशमिकश्चेति भावोप्योदयिकोस्ति नुः ॥६६६॥
पारिणामिकभावः स्यात् पञ्चेत्युद्देशिताः क्रमात्।
तेषामुत्तरभेदाश्च त्रिपञ्चाशदितीरिताः ॥६६७॥

जीवके पांच भावोंका निर्देश—५ भावोंके नाम है—१. औपशमिक भाव, २. क्षायिक भाव, ३ क्षायोपशमिक भाव, ४. औदयिकभाव और ५. पारिणामिक भाव। इनका स्वरूप इस नामके आधारपर ही ज्ञात हो जाता है। विशेष स्वरूप तो आगे बताया जायगा, पर सामान्यतया समझ लीजिए—औपशमिक भाव नाम है उसका जो कर्मोंके उपशमसे उत्पन्न हो, कर्मोंके दब जानेसे उत्पन्न हो। जो कर्मोंके दब जानेसे उत्पन्न होगा वह भाव निर्मल होगा कि मलिन ? निर्मल होगा, मगर उस निर्मलताकी गारंटी नही है, क्योंकि कर्मोंके दबने से होता है वह भाव। दबे हुए कर्म जितनी देर तककी उपशमकी अवधि है उतनी देर दबे रहेगे, फिर उखड जायेंगे। जैसे मेढकके कुछ ऐसे खिलौने बाजारोमें बिका करते है कि जिनके नीचे तो एक टीनकी फास लगी रहती है और उस फांसको मेढकके नीचे चिपकानेके लिए कुछ मसाला रहता है। चिपका देनेसे कुछ देर चिपका रहेगा, मगर वह थोडी ही देरमे उछल जायगा। तो ऐसे ही ये कर्म चिपक गए, उपशान्त हो गए, दब गए तो ज्यादा देर न दबे रह सकेंगे। उनका उदय होता है, उखडते है, फिर वे प्रायः औदयिक भावमे आ जाते हैं, कषायो मे आ जाते है। अगर कर्मोंके उपशमसे जो भाव हुआ है वह तो निर्मल है, औपशमिक है, शान्त है, ऐसा जो भाव है वह भाव जीवका निजतत्त्व है। निजतत्त्वके मायने यह है कि जीव मे ही पाये जायें, अन्य पदार्थोंमे न पाये जायें। यहां निजतत्त्वका अर्थ सहज स्वभाव न लेना, जो जीवके ५ निजी तत्त्व कहे गए है उसका अर्थ स्वभाव नही, किन्तु जीवमे ही पाये जा सकते है, अन्य द्रव्यमे नही पाये जा सकते है, इस कारण जीवके स्वतत्त्व कहा। लक्षण नही है, किन्तु जीवके निजी भाव है। दूसरे भावका नाम है क्षायिक भाव। जो कर्मोंके क्षयसे उत्पन्न हुआ परिणाम है उसे क्षायिक भाव कहते है। क्षायिक भाव निर्मल भाव है। कर्मका क्षय हो चुका, अब उस भावमे धोखा नही है, मिटेगा नही वह भाव। जैसे केवलज्ञान, क्षायिक सम्यक्त्व ये सब क्षायिक भाव कहलाते। हुए तो हुए, मिटनेकी बात नही आयी। तीसरा बताया है क्षायोपशमिक भाव। जो प्रकृतिके उदयसे उदयाभावी क्षयसे और उपशमसे भाव उत्पन्न हो उसे क्षायोपशमिक भाव कहते है। इसका विशेष खुलासा जब स्वरूप वर्णन होगा तब किया जायगा। औदयिक भावका अर्थ है जो कर्मोंके उदयसे उत्पन्न हो। जैसे रागद्वेष मोह ये औद-यिक भाव है, कर्मके उदयका निमित्त पाकर हुए हैं और इसी कारण जीवके स्वतत्त्व है। पारिणामिक भाव निरपेक्ष भाव है, उदय उपशम क्षय क्षयोपशमके बिना जो जीवमे हो वह पारिणामिक है।

पञ्चभावोंकी विशेषता और उनके इस क्रमसे निर्देश करनेका कारण—अब देखो—रागद्वेष भावोको भी स्वतत्त्व बताया। तो इससे तो स्पष्ट समझ लेना चाहिए कि जीवके स्व-भावकी बात नही कह रहे है, किन्तु रागद्वेष मोह जीवमे ही हो सकते है, अन्य पदार्थोंमे नही

हो सकते, इसलिए जीवके स्वतत्त्व कहे जाते है, ये जीवके असाधारण भाव हैं। यद्यपि भाव-दृष्टिसे जीवके भाव असख्यात लोकप्रमाण है और इतना ही क्या ? जब उसमे शक्तिको देखते है तो वे अनन्त भाव है, परन्तु एक जाति अपेक्षासे स्थूल रूपसे उन भावोंको गर्भित किया जाय तो वे ५ प्रकारके होते है। इन ५ भावोंमे सब कुछ आ गया। गुणस्थान, जीवसमास, गति इन्द्रिय, काय, योग मार्गणायें, सब कुछ इन ५ भावोमे शामिल है। उनमे परख कर सकेंगे कि ये मार्गणायें, ये गुणस्थान किस भावमे आते है ? क्या औदयिक है, औपशमिक हैं, क्षायिक हैं। तो इस तरह ये भाव जातिकी अपेक्षासे ५ कहे गए है। इन ५ भावोंका क्रम क्या है ? औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक, औदयिक और परिणामिक, ये नाम बताये गए। इससे औपशमिक क्षायिकको पहिले कहा है, जिससे ये जीव जान जायें कि ये निर्मल भाव है और ये मोक्षगामी, भव्य पुरुषके ही हो सकते हैं। और अन्तमे औदयिक पारिणामिक कहा। उसके लिए झट यह समझ जाये कि यह भव्य अभव्य सभी जीवोके सभव है और बीचमे जो क्षायोपशमिक भाव कहा है वह एक ऐसा व्यापक भाव है कि वह मोक्षमे भी सहा-यक है और संसारी जीवके भी होता है, और एक-एक करके यदि समझना हो कि ५ भावो को इस क्रमसे क्यो नाम देकर लिखा है ? तो उसका भी कारण है।

जीवके पञ्चभावोके क्रमनिर्देशका द्वितीय मर्म—जीवके स्वतत्त्व ५ बताये गए है—(१) औपशमिक, (२) क्षायिक, (३) क्षायोपशमिक, (४) औदयिक और (५) पारिणामिक। इनके क्रम रखनेकी एक विधि तो बता दी गई है। दूसरी विधि यह है कि ससारमे औपश-मिक भाव वाले जीव बहुत कम है। औपशमिक भाव किसके होगा ? जो औपशमिक सम्य-ग्दृष्टि हों या उपशम श्रेणीपर चढ रहे हो उनके औपशमिक भाव होता है। तो ऐसे उपशम भाव वाले तो बिरले जीव है और तिसपर भी औपशमिक भावकी अवस्था अन्तर्मुहूर्त है। इसलिए बहुतसे जीवोका संग्रह भी नही हो पाता है। इसलिए सबसे पहिले औपशमिक भाव कहा है। उससे असख्यात गुणे जीव क्षायिक भाव वाले है। यहाँ अभी सिद्धकी निगाहसे नही देखना है। संसारमे औपशमिक भाव वाले कम है, उनसे असख्यात गुणे क्षायिक भाव वाले है और क्षायिक भाव वालेसे असंख्यात गुणे क्षायोपशमिक भाव वाले है, और उनसे कई गुणे औदयिक भाव वाले है। उनमें द्रव्यकी दृष्टिसे देख लीजिए, औदयिक भावका द्रव्य अधिक है और पारिणामिक भाव तो सामान्यभाव है, इसलिए वह निर्विशेष होनेके कारण अन्तमें रखा गया है। तो बडे पुरुष जो भी बात कहते है उस बातमे कोई खूबी होती है, रहस्य होता है। वह चाहे कह दो अनायास, आसानीसे। लेकिन उसमे मर्म और भाव बहुत होता है। अब उन भावोमे से औपशमिक भावका स्वरूप कहा जा रहा है।

कर्मणा प्रत्यनीकाना पाकस्योपशमात् स्वत· ।
यो भावः प्राणिना स स्यादौपशमिकसंज्ञकः ॥६६८॥

औपशमिक भावका परिचय—विपक्षी कर्मोंका उदय जब उपशान्त हो जाता है उस समय जो जीवके भाव होते है उसका नाम है औपशमिक भाव। औपशमिक भाव दो प्रकार कहे गए है——१–औपशमिक सम्यक्त्व और २–औपशमिक चारित्र। औपशमिक सम्यक्त्व तो अनन्तानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ और मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व, सम्यक्प्रकृति—इन ७ प्रकृतियोके उपशम होनेपर होता है और औपशमिक चारित्र २५ कषायोका उपशम होनेपर होता है। औपशमिक चारित्र उपशम श्रेणीमे है। तो इन औपशमिक भावोके प्रतिपक्षी कर्मोंका उपशम होनेपर होने वाला यह औपशमिक भाव आत्माका भाव है। आत्मामे जो कर्म बँधे हुए है उन कर्मोंमे अपनी शक्तिके कारणसे उनकी शक्तिका उद्भव न हो सके, फल न दे सके, इसको कहते है उपशमभाव। कर्मकी शक्तिका कारणवश उदय न हो सकनेका नाम उपशम है। जैसे कोई गदा पानी है और उसमे फिटकरी डाल दी जाय तो उसकी गदगी नीचे बैठ जाती है। जैसे सरसोका तेल शीशीमे भरा, उसमे निर्मली डाल दी जाय तो उसकी गदगी नीचे बैठ जाती है, तो यह कहलाया उपशम। पानी उपशान्त है, निर्मल है, उसका मल कीचड सब नीचे दब गया है। इसी प्रकार आत्मामे कर्मका उपशम है, दबा हुआ है, उदय नही आ पा रहा। होता है औपशमिक भाव। इस जीवने आज तक औपशमिक भाव नही प्राप्त किया जो कि ससारमे रुलाता चला आ रहा है। जिसने कभी सम्यक्त्व प्राप्त नही किया उपशमके समयमे उन कर्मोका उदय नही रहता। जैसे किसी वकीलकी इच्छा है कि हम भावोमे दशलक्षणके दिनोमे कचहरी किसी तारीखमे न जावेंगे। दशलक्षणके दिनोभर धर्म-साधनामे ही रहेगे, तो वह क्या करता है कि माह दो माह पहिलेसे ही उन दशलक्षणके दिनो के लिए तारीख टालता रहता है और जो तारीखें पहिलेसे लग चुकी है उनको पहिले अथवा बादमे डलानेका प्रयत्न करता है। अब उन दिनो कोई तारीख न रही सो वह निश्चिन्त होकर धर्मसाधना करता है। अब देखिये उसकी वे तारीखें तो पडेंगी ही, मगर वे अभी दबी हुई है, तो ऐसे ही समझिये कि इस आत्मामे कर्म प्रकृति सत्तामे पडी है। अब जिस समय जिस कर्मका उपशम होना है तो होता क्या है कि जिस समय उपशम होगा, जितने समय तक उपशम रहेगा उतने समय तकके वे कर्म या तो पहिले आ जायेगे सत्तामे या आगेकी सत्ता मे पहुंच जायेंगे, वहाँ रहते ही नही। तो उदय कहाँसे आये अथवा जो कोई अन्य प्रकारका उपशम होता है तो रहा आये, लेकिन वह उदयको प्राप्त नही हो सकता। तो ऐसे उपशम भावसे जो जीवके शुद्ध भाव होते है उनको औपशमिक भाव कहते है।

यथास्वं प्रत्यनीकानां कर्मणां सर्वतः क्षयात् ।
जातो यः क्षायिको भावः शुद्धः स्वाभाविकोऽस्य सः ॥६६९॥

क्षायिक भावका परिचय—इस श्लोकमे क्षायिक भावका स्वरूप कहा जा रहा है। भगवान क्या है ? तो वह है पूर्ण क्षायिक भाव और शुद्ध पारिणामिक भाव । बस दो भाव है उनका नाम भगवान है । कर्मोका क्षय होनेसे केवल ज्ञानादिक प्रकट होते है, वह तो क्षायिक भाव है और शुद्ध जीवत्व रह गया जो था ही पहिलेसे तो यो पारिणामिक भाव है । तो क्षायिक भावकी जब हम चर्चा करें तब हमें भाव और भगवान दोनोके स्वरूपकी ओर दृष्टि ले जाना चाहिए । क्षायिक भावका स्वरूप कहा जा रहा है कि विपक्षी कर्मका सर्वथा क्षय हो जानेसे जो आत्मामे भाव प्रकट होता है उसे क्षायिक भाव कहते है । क्षायिक भाव आत्माका शुद्ध भाव है, क्योकि कर्मोके नाशसे अपने आप आत्मामें स्वय उत्पन्न होता है । तो जो क्षायिक भाव है वह स्वाभाविक भाव है ।

क्षायिक भावके अभावमे सांसारिक विडम्बनाओंकी वर्तमान चर्चा—क्षायिक भाव न होनेसे इस जीवकी सारी दुर्गतियाँ चल रही है । कैसी कल्पना बनाता है यह जीव । भीतरमे कल्पनाओका कैसा भण्डार भरा पडा है ? समझमे नही आता । खाली ही नही हो पा रहा । कितने सनचाहे ही काम कर लो, करते तो इसलिए है कि यह दुःखदायी कल्पनाओका भण्डार खत्म हो जाय, आरामसे रहे, लेकिन कुछ भी कर डालो, कल्पनाओका भण्डार समाप्त होता ही नही । उन कल्पनाओकी गिनती प्रकार, क्या बताया जाय ? बच्चोके भी कल्पनाओकी कमी नही, जवानोके भी कल्पनाओकी कमी नही, बूढोके भी कल्पनाओकी कमी नही । अभी बच्चे है, पढते-लिखते है, विवाह हुआ, सोचते है कि फिर हमे फुरसत हो जायगी, फिर कुछ बच्चे हो गए, कुछ नाती-पोते भी हो गए, लो और भी मोहमे फस गए । यो फसाव-फंसावमे ही सारी जिन्दगी गवा देते है । कैसा कल्पनाओका यह भण्डार भरा है ? जैसे यहाँ किसीने घटा बजाया तो उससे शब्द निकल पडते है । खूब बजाते जावो, उससे शब्द निकलते ही जायेंगे । तो जैसे कितने ही शब्दोका भण्डार यह घटा है, ऐसे ही यह मोही जीव कल्पनाओ का भण्डार है । अरे इन समस्त कल्पनाओके कारण ही तो यह जीव निरन्तर दुःखी रहा करता है । कल्पनाओकी तरङ्ग यदि इस जीवमे न उठे तो फिर इसे दुःख किस बातका ? और इन मोहमयी कल्पनाओमे ऐसा लगता है कि ठीक ही तो है, मेरा ही घर है, मेरे ही लडके है, मेरी ही स्त्री है, मेरे ही माता-पिता है, वे सब झूठ कैसे है ? सब कुछ सच लग रहा है । लेकिन इस अशरण, असहाय, अकेले आत्माका जरा भान करके तो विचारो कि इस जगतमे क्या कुछ है ? जब देह ही अपना नही है तो ये धन वैभव सोना चाँदी आदिक तो अपने होगे ही क्या ? लेकिन ममता किस ढंगकी लगी है कि क्या कहा जाय ? अब बताओ

यह जीवकी गदगी नही है तो फिर क्या है ? क्या भगवान ऐसे ही हो लिया जायगा ? कुछ थोडासा पाठ कर लिया, मन्दिर आ गए, कुछ धर्ममार्गमे चलने लगे है तो इससे कही भगवान तो न बन लिया जायगा ? अरे जरा कुछ सोचो तो सही कि अपने भीतरमे कितनी गंदगी भरी है ? भगवानकी भक्ति भी करते जाते, सबसे मोह ममता भी करते जाते तो फिर भला बतलाओ काम कैसे सरे ? आजकल तो कोई-कोई प्रेमको भी धर्म कहने लगे ? सो देखो—एक तो वैसे ही सारा जगत अंधा बन रहा है । इसे कुछ मार्ग ही नही सूझता, और फिर उसको आँखोमे धूल झोक दे तो अब उसे मार्ग क्या मिलेगा ? तो यह सोचो कि मेरेमे जो कुछ भी भाव उठते है रागके, प्रीतिके, किसी भी प्रकारके, तो ये तो इस संसारमे रुलानेके ही कारण बनेंगे । यदि अपने आपके विभावोसे प्रेम नही है तो फिर आपका आत्मा स्वच्छ है, साफ है, सम्यक्त्व जगा है, और संसारसे पार हो जायगा ।

क्षायिक भावकी शाश्वत निर्मलता—इस प्रसङ्गमे अपने आपकी परख चल रही है सब । क्या-क्या भाव होते है जीवमे ? अरे किस-किस प्रकारके भाव चलते है ? विपक्षी कर्मों का जब क्षय हो तब क्षायिक भाव रहता है और जब विपक्षी भावकर्म ऊधम मचाये रहते हैं तो संसारमे भटकना रहता है । जब कर्मोंकी अत्यन्त विरक्ति हो जाय तब जो आत्माका भाव होता है उस ही को क्षायिक भाव कहते हैं । क्षायिक भाव ऐसा पवित्र भाव है जहाँ मलका नाम नही । जैसे किसी शीशोमे तेल भरा हो, उसमे तेलकी सारी गंदगी नीचे बैठ गई हो, साफ स्वच्छ तेल रह गया हो, उस साफ स्वच्छ तेलको किसी दूसरी शीशीमे भर लिया जाय तो उसमे कोई गदगी नही रहती, वह अत्यन्त निर्मल होता है । ऐसे ही समझो कर्मके क्षयसे क्षायिक भाव भी अत्यन्त निर्मल होता है । कर्म ही नष्ट हो गए, आत्माका विशुद्ध भाव प्रकट हुआ है, फिर यह परिणाम, फिर यह निर्मलता कभी भी नष्ट नही होती, क्योकि निर्मलताको नष्ट करनेका कारण है कर्म । वह कर्म रहा नही तो वह सदा निर्दोष है, निर्मल है ।

यो भावः सर्वतो घातिस्पर्धकानुदयोद्भवः ।
क्षायोपशमिकः स स्यादुदयाद्देशघातिनाम् ।।९७०।।

क्षायोपशमिक भावका परिचय—इसके क्षायोपशमिक भावका स्वरूप कहा है । जैसे कोई आदमी घरमे रह रहा है और घरको समझ नही पा रहा है तो जैसे वह पिचका हुआ सा रहता है, ऐसे ही क्षायोपशमिक भाव तो रोज बन रहे है, धड़ाधड चल रहे हैं और उनको नही समझ पाता कि यह क्षायोपशमिक भाव है । तो यह भी एक पिचका हुआसा यत्र-तत्र डोलता है, अपनी कल्पनायें बनाता है । किसीसे प्रीति दूर करनेका उपाय क्या होता है कि उसके अवगुण समझमे आने चाहिएँ, प्रीति दूर हो जायगी । तो इसी प्रकार आवश्यकता है

हमे कि आत्मामें जो ये भाव उत्पन्न हो रहे है क्षायोपशमिक भाव, इनसे हमें प्रीति हटाना चाहिए । जैसे इन्द्रियजन्य ज्ञान—देख लिया, सुन लिया, सूंघ लिया, स्वाद लिया, छू लिया और उस ज्ञानमे मस्त रहते हैं, लोग आनन्द मानते है, सनीमा देख रहे है, बडे खुश हो रहे है और कितनी प्रेमभरी बातें सुन रहे है, जो अपने दिलको सुहाती जाये, तो रागसे हटनेकी जिसमे बात हो न की जाय, राग ही सुहाता रहे, कोई सुगध या कोई वातावरण हो तो बडा सुहाता है, स्वाद बडा सुहा रहा है, ये इन्द्रियज्ञान बहुत सुहा रहे है । ये सुहानेके लिए नही बने । इनसे हटनेका भाव बनाये रखें । इस क्षोभका कारण इन्द्रियज ज्ञान है । मेरी बरबादीके करने वाले ये ज्ञान है जो इन्द्रियके द्वारा उत्पन्न होते है । जो विचार बनता है, जो ज्ञान जगता है, जो कल्पनायें उठती है इन सबसे निवृत्त होनेकी भावना होनी चाहिए और यह निवृत्त होनेकी भावना किस बलपर हो ? स्वभाव और विभावमे भेदज्ञान करो । आत्माका स्वभाव भाव केवल प्रतिभास मात्र है, एक अविशेष जानन ज्ञातादृष्टा रहना है, परापेक्ष ज्ञान मेरा स्वभाव नही है । जिसकी उत्पत्तिमे इन्द्रियकी अपेक्षा हो वह ज्ञान मेरा स्वभाव नही । यदि मै इनकी प्रीति छोड दूं तो मै स्वाभाविक भावका अधिकारी बन जाऊँगा । किसीसे कोई पुरुष खुश हो जाय, प्रसन्न हो जाय, और मानो इतना प्रसन्न है कि वह राज्य तक देनेको तैयार है और उससे कहा जाय कि तू माँग जो चाहता है, और वह माँग ले १००-५० रुपये, तो उसे ये मिलना कुछ कठिन बात है क्या ? अरे इतना माँगनेसे वह कितना घाटेमे रहा सो समझ लीजिए । मेरा स्वभाव है अनन्तज्ञान, अनन्तआनन्द । कुछ धर्म किया, कुछ पुण्य हुआ, कुछ भावना जगी, बात बनी, प्रसन्नता बनी, ऐसी योग्यता आयी हममे आपमे कि अगर चाहे तो मोक्षमार्ग बना सकते, सदाके लिए ससारसकटोसे छूटनेका उपाय बना सकते, पर यह माँग बैठा थोडीसी कोई विद्या, थोडीसी कला, यह इन्द्रियज्ञान, रुचि कर बैठा इसकी ही । तो बस इतना ही रह गया वह । अनन्तआनन्दके लाभसे वचित हो गया । तो इन्द्रियजन्य ज्ञानोमें हमारी प्रीति जो हो रही है, यह हमारी बडी हानिका कारण है ।

क्षायोपशमिक भावकी वैकृतता व हेयता—यह छद्मस्थोका ज्ञानादि क्षायोपशमिक भाव है और वह बनता किस तरह है कि सर्वघाती स्पर्धकोंका तो उदयाभावी क्षय हो अर्थात् उदयमे आये तो तुरन्त एक समय पहिले ही अन्य-अन्यरूप प्रकृति बनकर खिर जाय, वह अपना फल ही न दे सके तथा उन्ही सर्वघाती स्पर्द्धकोका उपशम हो और देशघाती स्पर्धकका उदय हो तब क्षायोपशमिक भाव होता है । जैसे हम आप लोगोके जो मतिज्ञान बन रहा है, श्रुत-ज्ञान बन रहा है वह कैसे बनता ? उसके निमित्तका विश्लेषण कीजिए । मतिज्ञानावरण कर्म जैसे कि सभी ज्ञानोके आवरण कर्म होते है—५ ज्ञान है तो ५ आवरण कर्म है, तो मति-ज्ञानावरण कर्ममे अनेक वर्गणायें पड़ी है । कुछ तो है सर्वघाती, कुछ है देशघाती । सर्वघाती

स्पर्धकका तो काम है कि सर्वघात कर देना, कुछ भी गुण न रहने देना, यदि सर्वघातीका पूर्ण उदय हो जाय तो यह जड बन जायगा। ऐसा होता नही कभी। तो सर्वघाती स्पर्धकोका तो उदयाभावी क्षय है, लेकिन देशघाती आदि ज्ञानावरण है, उनका उदय है तब मतिज्ञान बनता है। जिस ज्ञानपर हम इतना गर्व करते है, अपना बडा कौशल दिखाते हैं। मेरे समान कौन है जगतमे। अरे वह ज्ञान ऐसा हेय ज्ञान है, उसकी जो प्रीति करता हो, उसके मिथ्यात्व है। भूल होना भूल है और भूलको सही मानना यह भी तो भूल कहलाती है। सबसे बडी भूल क्या है बतलावो ? दो चीजें सामने रख लो–(१) भूल जाना, (२) भूलको सही मानना। इन दो भूलोमे सबसे विकट भूल क्या है ? भूल जाना बडी भूल नही कहलाती, पर भूलको सही मानना यह सबसे बडी भूल कहलाती है। तो भूल तो कहलाती है राग और भूलको सही मानना कहलाता है मिथ्यात्व, जो भूला हुआ है वह जल्दी सही बन सकता है, पर जो भूलको सही मान रहा है उसका सही बनना बडा कठिन है। तो ऐसा प्रकाश पाइये कि जो ये नाना भाव उत्पन्न होते हैं ये मेरे लिए मल है, दोष है, उनमे प्रीति नही करना है। रुचि बनायें तो अनादि अनन्त शाश्वत शुद्ध चैतन्यस्वभावकी। क्षायोपशमिक भाव क्षय और उपशमकी एक मिश्र अवस्था है। तब ही इसका नाम मिश्रभाव भी है। यो समझिये कि जैसे ताजे तेलकी शीशीमे निर्मली डाल दी तो उसमे कुछ गाढ बैठ रही है और कुछ उभड रही है। ऐसी जो स्थिति होती है वह है एक मिश्र दशा, ऐसे ही क्षायोपशमिक भावमे जो क्षय हो रहा है उदयाभावी क्षय अथवा उन ही का उपशम तो इतना तो ठीक है और जो उदय चल रहा है देशघाती प्रकृतिका, उतना वह मैल है, ऐसी मिश्र अवस्था क्षायोपशमिक भावमे होती है।

कर्मणामुदयाद्य. स्याद्भावो जीवस्य ससृतौ।
नाम्नाप्यौदायिकाऽन्वर्थात्परं बन्धाधिकारवान् ॥९७१॥

औदयिक भावका परिचय और उसके दुःखरूपत्वकी घोषणा—इस श्लोकमे औदयिक भावका स्वरूप कहा जा रहा है। औदयिक भावकर्मके उदयसे जो भाव जीवके होता है उसे औदयिक भाव कहते है। औदयिक भावसे कर्मबन्ध होता है। औपशमिक भावसे कर्म नही बँधता, क्षायोपशमिक भावसे कर्म नही बँधता। क्षायिक भावसे कर्म बँधता। कर्मका हेतु औदयिक भाव है। जो अपने दुःखका हेतु है। जो स्वयं दुःखमय है, ऐसे भावोके बारेमे कुछ जानना चाहिए या नही ? जिस आगसे हम जल रहे है, जिस आगपर हमने पैर रख दिया है उससे हमे हटना है कि नही ? जानना है कि नही ? लो यहाँ तो जबरदस्ती जानना ही पडता है। आगपर पैर रखा तो जबरदस्ती मुझे जानना ही पडेगा। सब जानते है। खूब तेज गर्म पानी या दूध हो, गिलासमे भर दिया, तुरन्त ही पी लिया, नही पिया गया, जीभ

जल रही, लो उसे तो जानना ही पडेगा कि यह बहुत तेज गर्म है, मगर ये जो औदयिक भाव जीवके बन्धके कारण है, दुःखके कारण हैं, दुःखरूप है उनको जाननेकी ओर प्रमाद कर रहे है कि वास्तवमे क्या है ये औदयिक भाव ? ये क्रोध, मान, माया, लोभ आदिक कषायें ये सारे भाव औदयिक भाव है। जिस समय कषाये जगती है उस समय यह जीव खुद दुःखी हो जाता है, और कषाये होनेसे आगामी कालके लिए कर्म भी बँध जाते है, और कषायें जब जगती है तो बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है। क्रोध कषायमे सारे गुण भस्म हो जाते है। मान कषाय मे क्या उपमा दी जाय कि क्या बन जाता है ? उसे बेवकूफ शब्दसे कह लीजिए। उसको तो इस देहमे ही आत्मीयताकी बुद्धि है उसे तो आत्मस्वरूपकी कुछ खबर ही नही है। स्वय दुःखी हो रहा, उसके सगमे और भी दुःखी हो रहे, अरे कुछ परोपकारी भी हो, किसी दूसरेके कुछ काम आये तो थोडा बहुत मान फब भी जाय, मगर कामका भी नही, किसीके काममे भी नही आता और मन ही मन अभिमान बनाये रहता है तो वह मानमे समझ रहा है शेख-चिल्लीकी भाँति कि मै सब कुछ हू, लेकिन बनता कुछ है, नही तो दुःखी होना पडता है। कर्मबन्धन कितने होते है ? मायाचार जिसके जगता है उसने बोलभर दिया वहाँ शान्ति नही मिलती, और लोभकी दशाका तो बखान ही क्या करें, निरन्तर दुःखी रहता है, अन्याय भी कुछ नही गिनता, जिससे व्यवहार चलता हो, जिसमे कुछ भी सम्बध बना हो उसपर अन्याय किया जाय और चित्तमे जरा भी विचार उत्पन्न न हो। निर्दयताका कारण तो वह लोभ कषाय है। तो ये सब कषायें कितनी अपवित्र है, कितना दुःखके कारणभूत है ? यह सब क्या है ? औदयिक भाव ही तो है। इन औदयिक भावोसे हमारी रुचि न जगे। द्वेष औदयिक भाव है, प्रेम औदयिक भाव है, मोह औदयिक भाव है। इसमे रुचि बने तो इसका कल्याण हो ही न सकेगा। वह मिथ्यात्व है। भूल हो जाय और भूलमे सहीका अनुभव करे तो उसे फिर क्या गुजाइश है कि वह सम्हल सकेगा। ऐसे जो विचित्र नाना प्रकारके कर्मके उदयसे होने वाले भाव है इसे कहते है औदयिक भाव, महा दुःखरूप अपवित्र भाव है। ऐसे भावोसे संसारमे जन्ममरण भोगना पड रहा है।

कृत्स्नकर्मनिरपेक्ष प्रोक्तावस्थाचतुष्टयात्।
आत्मद्रव्यत्वमात्रात्मा भावः स्यात्पारिणामिक ॥६७२॥

पारिणामिक भावका परिचय व महत्त्व—जीवके भावोका वर्णन चल रहा है, किसका चल रहा है ? अपने आपका। मेरेमे अपने आपमे क्या भरा हुआ है उसकी यहाँ प्रसिद्धि की जा रही है। देखो किसी भी पदार्थमें दो तरहकी बातें हो सकेंगी। एक तो स्वयं उस पदार्थके सत्त्वके कारण अपने ही आप अपने आपमे जो भी एक सहजभाव हो, एक तो वह, दूसरी बात हो सकती है कि किसी अन्य पदार्थका निमित्त पाकर, संग पाकर कुछ अपने स्वभावके

विरुद्ध भी बन बैठता हो, ऐसी दो ही बातें सम्भव हो सकती है। तो जीवके सम्बधमे इन्ही दोनो बातोंपर प्रकाश डाला जा रहा है। जीवमे ५ भाव होते है—(१) औपशमिक, (२) क्षायिक, (३) क्षायोपशमिक, (४) औदयिक और (५) पारिणामिक। इनमे से चार भावोंका वर्णन कुछ किया जा चुका है। अब यहाँ पारिणामिक भावकी चर्चा कर रहे है। पारिणामिक भाव कहते है उसे कि कर्मके उदय, उपशम, क्षय, क्षयोपशमकी अपेक्षा न रखकर स्वय अपने आपमें जो भाव हो सकता हो उसका नाम है पारिणामिक भाव। इस भावकी इस जीवको दृष्टि नही मिली, आज तक इस भावका यह दर्शन न कर सका। और यही कारण है कि धर्मके नामपर बहुत-बहुत बातें करनेपर भी, बहुत श्रम करनेपर भी न तो मोह मिटा और न कषायें मिट सकी। और जैसे कि लोग कहते है कि देखो अमुकको पूजा करते हुए बीसो वर्ष गुजर गए, मगर उसे गुस्सा बहुत अधिक आता है। देखो—अमुकको स्वाध्याय करते हुए इतने दिन हो गए, मगर उसकी कषायें अभी तक नहीं गईं। अनेक तरहकी बातें लोग करते है। त्याग मार्गमे आये हुए देखो बीसो वर्ष हो गए, मगर अभी तक इसे शान्ति नही मिली। तो ऐसी घटनाका कारण क्या है ? अरे जो शान्तिका आधार है अपना सहज स्वभाव, पारिणामिक भाव, उसकी दृष्टि इसे नही मिली। अपने आपमे अन्त प्रकाशमान कारणप्रभुका दर्शन न हो सका। आखिर जैसा सग होगा वैसी ही तो बुद्धि बनेगी। जीवोने इन विभावोका सग किया। इन विकारोसे आत्मामे जो रागद्वेष भाव हुए, उनका संग किया, पर पारिणामिक भावका संग नही किया। तो अज्ञानियोके सगसे तो बुद्धिबल विघटता है और जो ज्ञानमय तत्त्व है, सहजस्वभाव है उसका सग यदि यह उपयोग पा गया होता तो ससारके सारे सकट समाप्त हो गए होते। एक बार भी ऐसे अमूल्य नरजीवनको पाकर यदि साहस न किया जाय, इस बातका कि मैं तो अपने आपके अन्तःप्रकाशमान प्रभुके दर्शन करके ही रहूंगा, इस साहस के बिना नर-जीवन व्यर्थ है। इसके लिए कितनी तैयारी करनी है ? यह तैयारी करनी है कि इस प्रभुसे अतिरिक्त अन्य कोई भी जो भाव है, पदार्थ है, उनमे मैं लगाव न रखूगा। मेरी रुचिका विषय होगा तो मेरा यह ज्ञायकस्वभाव ही, मेरी दृष्टिका विषय हो तो यह ज्ञायकस्वभाव ही।

बाह्यमें शरण ढूंढ़नेकी व्यर्थता—अब तक जगतमे बहुतोकी शरण ले लेकर देख डाला। पर लाभके बदले हानियाँ ही मिली। मित्रजन परिजन कितने ही ढूढ़ डाले और व्यग्रता कर डाली सोच-सोचकर इनका शरण और जब-जब भी कोई कषाय उमडती है, किसीका भी बाह्यमे शरण ढूढने जाते है, मगर हालत क्या होती है जैसी कि एक फुटबालकी हालत होती है। जिस लडकेके पास फुटबाल जायगा, शरण लेनेके लिए बस वहीसे ठोकर लगेगी। बस जगतमे यही तो हो रहा। ये जीव मोहरूपी मदिराका पान किए हुए है ना, तो उस ठोकरको

प्रसाद मान रहे हैं । दुःखी होते, कष्टमें होते, आकुलित होते, और यों ब्रह्मस्वरूपके दर्शनसे वंचित रहे । ये जीव बाह्य पदार्थोंसे प्रीति करनेमें ही अमृत मानते रहे । ये यह न समझ सके कि यह प्रेम एक ऐसा पाप है कि जिसके बलपर द्वेष भी आता है और ससारकी अनेक विडम्बनायें बनती हैं । वीतराग धर्ममें रुचि न हुई, राग रागमें ही इन्होंने मौज माना । फल क्या हुआ कि जो आज प्रत्यक्ष दिख रहा है । जैसे कोई तेज शराब पिये हो अथवा प्रेमका अंध है, कुछ नहीं दिखता, कष्ट अनेक होते हैं, फिर भी सुहाता है । मदिरापायी उन्मत्त पुरुषोंकी यह ही हालत है । कामियोंकी यह ही हालत है तो ऐसे भावोंमें तो इसने प्रीति रखी, मगर विशुद्ध पारिणामिक भाव याने आत्मामें अपने आप ही सहज जो भावस्वभाव है जानन देखन मात्र, उसकी दृष्टि तक नहीं की, अनुभवनेकी बात तो दूर रही । कुन्दकुन्दाचार्य बताते हैं कि इस जीवने जो कि रागद्वेषकी कीलीपर चाककी तरह चक्कर लगा रहा, इसने काम भोग सम्बंधी, इन्द्रियके विषयसम्बंधी कथायें सुनी, उनका ही परिचय किया और उनका ही अनुभवन भोगना किया, पर अपने आपमें प्रकाशमान उस प्रभुताका यह दर्शन न कर सका । अहो, ऐसे परम पवित्र प्रभुताके दर्शन करनेके लिए हमें बाहरी इन्द्रियविषयोंकी प्रीतिका बलिदान करना होगा । यहाँ तक बताया है आचार्यदेवने कि मनुष्यसमागम भी इसके लिए बाधक है । लोगोंका प्रसंग होगा तो उससे वचनव्यवहार होगा, उससे आत्मामें तरङ्ग होगी, उससे मनमें विभ्रम बनेगा और उस विभ्रमके कारण इस जीवको प्रेममें या द्वेषमें, पापमें लगना पड़ेगा । हालत यह ही होती जो संसारमें होती ।

धर्मकी, लाभकी, पार होनेकी एक कुञ्जी—एक आप कुञ्जी पकड़िये, किसी भी परका आश्रय किया जायगा तो उसमें कर्मबन्ध होगा और किसी भी परका आश्रय न होगा, तो वहाँ कर्मोंसे मुक्ति प्राप्त होगी । कुञ्जी एक है, सब जगह घटा लो—जो भक्तिकी बातें हैं, जिसे कि लोग धर्म कहते हैं, यह भक्ति धर्म कहलाती है, पर किस अंशमें क्या होता है, इसका मर्म देखो । विषय कषायोंसे निवृत्ति हुई, प्रभुके वीतराग स्वरूपकी ओर दृष्टि हुई, इतना तो धर्म है, पर जितना अपने आपके सहजस्वरूपका आश्रय छोड़कर कहीं परमें उपयोग लगा, इतने मात्रसे तो वहाँ भी बंध हो रहा है । एक कुञ्जी है जहाँ परकी ओर उपयोगका आश्रय लिया वहाँ बंध है । जहाँ परका बंध नहीं है वह स्वानुभवकी स्थिति है । एक अपनेको दुनियामें असहाय जान लो, मेरा कोई सहाय नहीं । मेरा मात्र मेरा ज्ञान सहाय है । ज्ञानको छोड़कर अन्य कोई सहाय नहीं । अन्यकी ओर तो जहाँ तक हो बुद्धि न जाय, उनसे निवृत्ति रहे, ऐसे अपने कार्यक्रममें चलें । अपनी कुञ्जी देखिये—पारिणामिक भाव क्या हुआ कि मेरा जो सहज स्वरूप है, स्वभाव है, जो उदयसे नहीं, उपशमसे नहीं, क्षयसे नहीं, क्षयोपशमसे नहीं वह पारिणामिक भाव मेरेमें अनादि अनन्त अहेतुक असाधारण है । इसका आश्रय करो, संसारसे

पार हो जावोगे।

स्वयंका सृष्टापन—लोग कहते है कि इस सृष्टिको करने वाला कोई एक ईश्वर है। अरे यही मेरेमे विराजमान जो यह एक स्वरूप है, यही मेरा ईश्वर है, और इसीसे सारी सृष्टियाँ उत्पन्न होती है। अब चूँकि यह आत्मस्वरूप, यह सहज ज्ञानस्वरूप सर्वजीवोमे एक समान है। एक समान होनेके कारण सब जीवोको व अपनी सुध भूल गये और यह रह गया कि एक ज्ञान एक ब्रह्म ही सारे जगतमे है। अच्छा और आगे चलो—इसकी भी सुध भूल गये, फिर कुछ समय बाद और वह ब्रह्म, वह ईश्वर जो सृष्टिका करने वाला है वह हम ही स्वय है। यहाँ ही है, ऐसी बात भूल गए, तब यहांके धामको छोडकर कही बाहर दृष्टि गडा ली है—कोई एक ईश्वर है जो सबकी सृष्टि कर रहा है। देखो जब किसी घटनामे छान-बीन करने चलेंगे तो वहाँ आपको तथ्य मिल जायगा। क्या तथ्य निकाला? मेरा जो स्वरूप है यह ही ईश्वर है और इसमे उत्पाद व्ययका स्वभाव पडा हुआ है यह तो एक भी समय खाली नही रह सकता। न परिणमेगा कभी तो वह अवस्तु ही रहेगा। वस्तुस्वरूपका सम्यग्ज्ञान होना एक ऐसा अलौकिक वैभव है कि जिसके समक्ष तीन लोककी सम्पदा भी तृणवत् है। सपदा क्या काम आनेकी है। मोह मोहमे मनुष्य अपनेको बरबाद कर लेता है, मलिन किए है। यह विपरीत समझना है। अपने दादा बाबाकी ओर देखो—उन्होने अपनी सारी जिन्दगी मोहमे बितायी, क्या लेकर गए? क्या मिला उन्हे? जहाँ होगे, जिस पर्यायमे होगे वैसी नई बात चलने लगी होगी। उनको मिला क्या? तो उनके उदाहरणसे अपन खुद शिक्षा ले लें। पुरखोपर बीती हुई बातोसे एक शिक्षा ले लो। जो हाल उनका हुआ, सारी जिन्दगी मोह मोहमे रहे और अन्तमे वे रीते गए और रीते ही नही गए, बल्कि उल्टे बनकर गए। ऐसे ही इस जीवनमे मोह मोहमे ही समय गुजारेगे तो रीते ही जायेंगे, उल्टे जायेंगे, खोटे होकर जायेंगे। इन विपदाओसे बचनेके लिये धर्मामृत पियो। कैसा है यह धर्मामृत जो एक अपनी दृष्टिके द्वारा अनुभवमे आता है, पीनेमे आता है, यही तो है प्रभु। अत.विराजमान जो एक शान्तस्वरूप ज्ञानमात्र तत्त्व है वही है मेरा रक्षक, वही है मेरा पालनहार। मेरे उपयोगको सुखी शान्त आनन्दमग्न कर सकनेका यदि सामर्थ्य है तो एक मेरे इस ही स्वरूपमे है, बाहरमे कही नही है।

ज्ञानीका अभय निजधाममें निवास करनेका पौरुष—जैसे सावनके महीनेमे तेज वर्षा हो रही हो, बिजली चमक रही हो, बादल कडक रहे हो और कोई एक अच्छे आरामके कमरे मे पड़ा हो तो वह उसमे बाहरकी ओर जरा सिर उठानेमे भी विपत्ति समझता है। झंझा-वात चल रहा है, बड़ी-बडी बूद बरस रही है, गर्जनके शब्द चारो ओर उठ रहे है और वह बैठा है अपने कमरेमे तो वह कमरेसे बाहर झूकनेमे भी विपत्ति समझ रहा है। ऐसे ही इस

विरत्तिभरे ससारमे जहाँ जन्ममरण इष्टवियोग, अनिष्टसयोग, सम्मान अपमान आदि नाना प्रकारकी जहाँ विपत्तियाँ है, ऐसी विपत्तियाँ जहाँ खूब बरस रही हों और मिल जाय उसे अपने आत्माका निजधाम, जिन, शिव, ईश्वर, ब्रह्मा, राम, विष्णु, बुद्ध, हरि जिसके नाम, ऐसा मिल जाय निज धाम तो वह पुरुष अपने धामसे बाहर उपयोगको जरा भी झूकनेकी बातको विपत्ति समझता है। आप जब उपसर्ग और परीषहोका वर्णन सुनते है—अहो, सुकुमालने इतने उपसर्ग सहे। गीदडी खा रही है, जरा भी ललकार देते तो गीदडीका कितना बल ? भाग जाती। गजकुमार मुनिपर उनके स्वसुरने सिरपर आग जला दी, अगीठी रख दी, क्या व सिर नही हिला सकते थे, लेकिन उन मोक्षगामी पुरुषोने उन ऊर्ध्वगामी पुरुषोने अपने सच्चे धामसे बाहर उपयोगका झाँकना विपत्ति समझा। वे क्यो उधर उपयोग देते ? वे क्यो उधर झाँकते ? अरे वे तो अपने आपके निजधाममे पवित्र आनन्दका अनुभव कर रहे थे। तो जिसको अपने पारिणामिक भाव, जिसको इस कार्यप्रभुके दर्शन हुए है, बस ससार उनका ही मिटेगा। एक ही उपाय है—बाह्यका आश्रय छोड़ें, स्वयमे स्वयका आश्रय मिल जायगा। यह है जैनधर्मका मर्म। कितने ही कैसे-कैसे रत्न पडे है, हमपर आचार्योंने कितनी बडी करुणा की है, कैसा ही अपना अनुभव यहां ग्रन्थोमे छोड गए है, कितना उनका उपकार है, और यहाँ ये मनुष्य प्रायः इतने उन्मत्त है कि उनका लाभ नही ले सकते। सारा वैभव एक ओर, आत्मदर्शनकी बात एक ओर। आप बताओ रुचि किस ओर आपकी अधिक है ? धन वैभवका रखना, जोडना, उसको देख-देखकर खुश होना, यही रुचिकर हो रहा है तो फिर कह देना चाहिए कि मुझे मनुष्य मत बनाते, मेरा एक भव मनुष्यभवकी गिनतीमे व्यर्थ चला जायगा तो मेरे इस त्रस पर्यायमे कमी एक नरभवकी हो जायगी। सोच लो—आपको क्या रुचिकर है ? होना चाहिए आत्मदर्शनकी बात रुचिकर। उसके सामने सारी बातें न कुछ होनी चाहिएँ। लेकिन जिसको आत्म-अध्ययनकी बात न कुछ सी रह गई है और ये बाहरी धन वैभवके प्रसग सब कुछ हो गए, बस वहाँ हाल क्या होगा ? उसके लिए ससारके ये अनन्ते जीव-जन्तु उदाहरण पडे हुए है। उपेक्षा बनाओ धन वैभवकी, तुम इस धन वैभवको नही कमाते हो। पूर्वकृत पुण्यका उदय है तो धन आ जाता है, तुम्हारा दिमाग उन्हे पकडकर नही लाता, और मै अपने दिमागसे इतना धन कमा लेता हू, इतना काम कर लेता हूं, इस प्रकारका जो भाव बना, अध्यवसान बना यह तो बरबादीकी बात है, उत्थानकी बात नही है। तो इस पारिणामिक भावमे जो मेरे लिए सर्वस्व है, जिसके बिना मेरेको मुक्ति मिल न सकेगी उस अन्तःविराजमान प्रभुके दर्शनके लिए उद्यमी हो जावो।

सहजपरमात्मतत्त्वकी उत्कृष्टता जाने बिना धर्मलाभका अभाव—जिसके चित्तमे यह भाव नही भरता कि इस धन वैभवसे बढकर मेरा सहज भाव है उसको धर्मकी बात मिल ही

नही सकती। यो तो दिल बहलाना, तफरी आदिक करना यह तो कुलपरम्परासे चला आया है। मन्दिर जाना चल रहा है, आदत बनी हुई है, कर रहे है धर्मकी बात, मगर मोक्षमार्गका लाभ नही मिलता। मोक्षमार्गका लाभ जगतके सारे वैभवोकी उपेक्षा जब तक न हो तब तक आत्मरुचि क्या? और जब आत्मरुचि नही तब मोक्षमार्ग भी नही। जितने दिखने वाले लोग है, जिनके बीच आप कुछ व्यवहार करते है, सबके सब ये मूर्तिया आपको यह जचने लगें कि ये तो मायामय है, ये तो असमानजातीय द्रव्यपर्याय है, वास्तविकता इनमे क्या है? जब तक हम यो न समझें तब तक समझो कि हमने अभी धर्म का मार्ग नही पाया। मेरे लिए मैं ही हू इसीको ही निगाहमे रखकर बोलो—तुम हीं माता हो, तुम ही पिता हो, तुम ही गुरु हो, तुम ही बन्धु हो, तुम ही रक्षक हो, सर्व कुछ तुम हीं हो, ऐसी अपनी ओर दृष्टि करके अपने आपमे विराजमान प्रभुकी भक्तिमे तो आयें। हमारे पूज्य परमात्मदेवकी दिव्यध्वनिमे यह ही उपदेश हुआ है। उन्होने यह कभी उपदेश नही किया कि तुम मेरी ही भक्तिमे रहो, मेरेसे ही गिडगिडाते रहो, मेरेसे प्रार्थना करते रहो नो तुमको सुख मिलेगा, मुक्ति मिलेगी। जब कि अन्य लोगोने डटकर केवल यह ही कहा कि तुम बस मेरेको भजो, जरा भी और कुछ मत सोचो, तुमको मुक्ति दिला देगे। कैसा यह निष्पक्ष अनुशासन है, इसे पाकर भी यदि जडसे प्रीति नही मिट रही और अपने चैतन्यस्वरूपसे प्रीति नही जग रही तब क्या ठिकाना होगा? देखो—अपने आपमे अपने प्रभुको। यह है पारिणामिक भाव। आत्मद्रव्यकी जो निज सहज प्रकृति है, स्वभाव है, स्वरूप है वह है पारिणामिक भाव। यह भाव न उदयसे है, न कर्मके उपशमसे है, न क्षयसे है, न क्षयोपशमसे है।

शिवसृष्टिमें कारणसमयसारकी भूमिका—दो तीन मिनटको, कुछ कठिन भी हो तो भी ध्यान लगाकर सुनो एक मर्मकी बात, जो प्रभु भी हो गए है उनमे भी जो निरतर केवलज्ञान अनन्त आनन्दकी परिणतियाँ उठा करती है वे प्रतिक्षण इस कारणसमयसारको, इस कारणप्रभुको, इस परमपारिणामिक भावको उपादान करके, ग्रहण करके वे तरगें वे शुद्ध तरगें वहाँ उत्पन्न होती रहती है। ऐसा ही यह शाश्वत कारणभूत पारिणामिक भाव है जो कभी भी नही छूट रहा तो जिसका आलम्बन लेकर केवलज्ञान अनन्त आनन्द और प्रभुताका विकास हो रहा है वह कही मुझसे भागा नही है, यह बडा कृपालु है, निरन्तर रह रहा है। सदा इस बाटमे रहा करता है कि यह प्राणी, यह उपयोग मेरी ओर जरा तो दृष्टि करें, मुस्कराकर प्रसन्न होकर इसको सदाके लिए आनन्दमग्न कर दूगा। ऐसा यह प्रतीक्षामे निरन्तर पड़ा हुआ है, अलकार भाषामे इसे सुनो। साराश यह है कि मेरेको आनन्द देने वाला, विकास करने वाला, समृद्ध बना देने वाला, इस उपयोगको सम्पन्न बना देने वाला प्रभु निरन्तर मेरे समीप है, मेरेमे है। बस जरा अपने उपयोगको थोडा अपनी ओर मुडनेकी जरूरत

है । मुडता क्यों नही ? बाह्यमें आशा लगायी है पुत्रमे, स्त्रीमे, धन वैभवमे । ५० हजार कमा लिया, लाख होना चाहिए, लाख हो गए तब क्या ? तब भी ऐसा नही है कि वहाँ तक रह जायेंये, आगेकी इच्छा बन जायगी । मन डोला ही करेगा और हो गए करोडपति, हो गए, अरबपति । जब तक अपने आपका इन बाहरी पदार्थोमे प्रेम रहेगा तब तक इस पापके फलमे इस आत्माको आकुलता ही रहेगी, अनाकुल नही रह सकता । तो यह उपाय करना है, दृढ संकल्प बना लो, थोडा भी ज्ञान जगा हो तो उस ज्ञानका भी लाभ मिले । इतना भी ज्ञान यदि बना है कि सचमुच किसी भी बाहरी पदार्थसे मेरे आत्माको लाभ नही है । तो यह दृढ सकल्प कर लो, यह ही अपना निश्चय बना लो । पर यह ऊपरी बात नही हो ऐसी कि जो किसी मुर्दाको फूकने मरघटमे जाय तो वहाँ वैराग्यके परिणाम होते है । लगता है ऐसा क्योकि मर गया, चला गया, और जैसे ही फूंककर आये, किसी तालाब या नदी वगैरामे नहा डाला तो मानो साथ ही साथ वह वैराग्य भी धो डाला । वे मानो इमलिए धो डालते है कि कही मेरे साथ वह वैराग्य चिपटा न रहे । यदि यह वैराग्य चिपटा रहेगा तो घरमे रहते हुएमे हैरान करेगा । अरे भैया ! ऐसा ही एक दृढ निर्णय बना लो, ससारका एक भी परमाणु मेरे आत्महितके काममे न आयगा । मेरा ही आत्मा मेरा ही यह परमात्मप्रभु मेरे लिए शरण है ।

इत्युक्त लेशतस्तेषा भावाना लक्षण पृथक् ।
इतः प्रत्येकमेतेषा व्यासात्तद्रूपमुच्यते ॥६७३॥

भावोके नाम एवं सामान्यस्वरूपके निर्देशनके बाद औदयिक भावोके भेदोंके परिचय के कथनकी सूचना—अब तक इस प्रसगमे ११-१२ गाथाओमे जीवके भावोका नाम निर्देश किया गया है और उन भावोका सामान्य रूपसे स्वरूप बताया गया है । अब उन भावोमे से प्रत्येक भावके स्वरूपको कुछ विस्तारपूर्वक कहेगे । ५ भावोका विस्तारपूर्वक वर्णन चलेगा, ऐसा ग्रन्थकार यहाँ सकल्प करते है । यह एक आराम देने वाली गाथा हो गयी है, क्योकि इसमे और कुछ नही बताया जा रहा । श्रोता अब आराम कर ले और वक्ता भी गल्पकर्ता भी बहुत-बहुत कहनेके बाद आराम कर ले, ऐसी इस गाथामें केवल सूचना मात्र है । सूचना देनेसे कोई कष्ट तो नही होता । सूचनाका प्रोग्राम बनानेमे और फिर जिस बातकी सूचना दी गई उसका काम निभानेमे ज्यादा काम करना पडता है । सूचना देना तो आसान है, मगर सूचना देना भी आसान नही । सूचना देनेका अधिकारी वह है जो पहिले बहुत बडी तैयारी कर चुका हो और सूचना देनेके बाद जो कुछ करना पडेगा उसकी बात वह पहिले समझ चुका हो तब ही तो सूचना दे सकता है । यह गाथा सूचना देने वाली है । इसके अब तक ५ भावोका साधारणतया स्वरूप और उसका नाम कहा है । अब उन भावोंका लक्षण पृथक्-पृथक् कहेगे । भाव बताये गए है ५ । किसके ? जीवके । जो जीवमे ही रहे और मे न रहे

वे ५ बताये गए थे—औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक, औदयिक और पारिणामिक। इन ५ भावोंमे से पहिले किस भावका वर्णन करना चाहिए ? ग्रथकारको जिसका कि पहिले नाम लिया है, लेकिन इस क्रमकी परवाह न करके ग्रन्थकार अब औदयिक भावकी बात कहेगे। ऐसा क्यो किया जा रहा है ? उसके भी कई कारण हो सकते है। नाम निर्देशमे जो क्रम रखा गया था उसका कारण तो बता दिया। अब वर्णनका क्रम देखिये। औदयिकका पहिले वर्णन कर रहे है। इसका कारण सुनो—पहिला कारण तो यह है कि औदयिक भाव विभाव रागद्वेष इनकी शकापर ही यहाँ ५ भावोका खुलासा करना पडा। स्मरण कर लेना चाहिए कि इस प्रसगसे पहिले इस चर्चापर छोड दिया गया था कि विभावशक्तिका विभावपरिणमन रागद्वेषादिक है। तथा इस भागमे सर्वप्रथम यह बात पूछी गई थी तो वह वैभाविक भाव क्या है ? तो उनमे औदयिक भावकी प्रधानता थी। तो मूल प्रसग जिस पर कि बात चली है वह है औदयिक भाव, इसलिए उसका वर्णन पहिले किया जा रहा है। दूसरा कारण यह समझिये कि समझने वाले तो हम लोग है ना ? तो हम लोगोको जो पहिली बात जिसमे बस रही है उसकी बात सुनानी चाहिए, उसके बाद फिर और और बात भी सुनिये—पहिले अपनी गंदगीका पता तो लगा लो कि मेरेमे क्या गदगी बसी हुई है ? फिर उसे धोयेंगे तब औपशमिक भाव वगैरा आयेंगे। तो दूसरा कारण यह भी मालूम होता है कि जीव इन भावोमे अनादिसे खूब चले आ रहे है और वे अहितमय है, जिनसे मुझे दूर होना चाहिए उन भावोका पता लगावो। इस कारण सर्वप्रथम यहाँ औदयिक भावका वर्णन करेंगे।

> भेदाश्चौदयिकस्यास्य सूत्रार्थादेकविंशति।
> चतस्रो गतयो नाम चत्वारश्च कषायका ॥९७४॥
> त्रीणि लिङ्गानि मिथ्यात्वमेकं चाज्ञानमात्रकम्।
> एकम्वाऽसयतत्वं स्यादेकमेकास्त्यसिद्धता ॥९७५॥
> लेश्याः षडेव कृष्णाद्या क्रमादुद्देशिता इति।
> तत्स्वरूपं प्रवक्ष्यामि नाल्पं नातीव विस्तरम् ॥९७६॥

औदयिक भावके भेदोंका संक्षिप्त नामनिर्देशन—औदयिक भाव किसे कहते है ? जो कर्मका उदय होनेपर भाव बने उसका नाम औदयिक भाव है। परेशानी करने वाला भाव औदयिक भाव हैं। औपशमिक भावसे बन्ध नही होता, क्षायोपशमिक भावसे बन्ध नही होता, क्षायिक भावसे बध नही होता, और पारिणामिक भाव तो ऐसा मध्यस्थ है कि वहाँ बधका सवाल क्या, मोक्षकी भी कल्पना नही। वह तो केवल एक शाश्वत भाव है। बध होता है तो औदयिक भावसे होता है। यहाँ इतनी बात जान लेनी चाहिए कि औदयिक भाव तो मोक्षमार्गमे साधन है ही नही। औदयिक भावसे मोक्षमार्ग नही चलता। मोक्षमार्गके साधन

है सही ढंगसे तो वह है औपशमिक व क्षायिक। और क्षायोपशमिक कोई मोक्षमार्गके साधन है, कोई सामान्य है, लेकिन मोक्षमार्गके साधनभूत भाव बनते है कैसे ? पारिणामिक भावके आलम्बनसे। तो पारिणामिक भावका कितना अधिक महत्त्व है कि जिसकी दृष्टि पाये बिना हम मोक्षमार्गमे न चल सकेंगे। खैर, प्रकरण यहाँ यह है कि औदयिक भाव बधका हेतुभूत हो सकता है। वे औदयिक भाव कितने होते है ? उत्तर होगा—असख्यात होते है, अनगिनते होते है। अच्छा अनगिनते होते है तो जरा उनका नाम तो बताओ। अजी उनका नाम बताने से क्या फायदा ? क्योकि पूरे तो न कहे जा सकेंगे वे तो अनगिनते है। तो अधूरे क्यो रख रहे ? है वे असख्याते, पर नाम जाननेकी चर्चा यहाँ न करे तो फिर उन असंख्याते भावोको जाति अपेक्षासे सकोच कर दें। कैसा सकोच करना है ? भाव बताये गए है २१, वे २१ भाव क्या है ? गति ४, कषायें ४, वेद ३, मिथ्यात्व १, अज्ञान १, असयत १, असिद्ध १ और लेश्या ६, इनमे वही क्रम बताया गया है जो तत्त्वार्थसूत्रमे बताया है—गतिकषायलिङ्गमिथ्यादर्शनाज्ञानासयतत्वासिद्ध लेश्याश्चतुश्चतुत्र्येकैकैकषड्भेदा। औदयिक भाव २१ है, इसका वर्णन आयगा स्पष्टरूपसे। उसे भली-भाँति समझना है। समझमे भली प्रकार आयगा, क्यो आयगा समझमे अच्छी तरहसे ? अच्छा आपको यदि शरीरमे फोडा हो गया तो उसका दर्द आपको अच्छी तरह समझमे आता कि नही ?·· आता है। क्यो समझमे आता ? आपमे वेदना है, आपको उसका अनुभव है तो वह बात आपकी समझमे आ जायगी। तो भाई शरीरके फोडेकी तरह आत्माके कुछ फोडोका वर्णन कर रहे है। वह बात क्या आपकी समझ मे न आयगी। जल्दी आ जानी चाहिए। यह बहुत आसानीसे समझमे आयगा थोडा ध्यान बनाओ और भली-भाँति समझो।

धर्मपालनसे ही मनुष्यजन्मकी सार्थकता—मनुष्यजीवनकी सार्थकता इसीमें है कि हम धर्ममार्गमे कुछ चल सकें, अन्यथा मनुष्य होनेकी जरूरत क्या थी ? कुछ थोडा बहुत दान पुण्य किया होगा पूर्वभवमे तो उसका श्रम व्यर्थ किया समझिये। क्योकि मनुष्य होकर फायदा कुछ न मिला। जिसके धर्मकी धुन न हो, श्रद्धा न हो, आत्महितका चिन्तन न हो ऐसा मनुष्य होना व्यर्थ है। उससे उसको कोई लाभ नही ? कोई कहे कि लाभ क्यो नही है ? यहाँ मौज आ रहा है, लडके है, स्त्री है, भोजन है, खाते है, मस्त रहते है, इज्जत है तो लो सुनो—जितनी बातें अभी कही गईं उतनी बातें तो पशुओमे भी हो सकती है। मनुष्यको यदि हलुवा बडा मीठा लगता है तो गाय, भैस आदिक पशुओको हरी घास अच्छी लगती है। उनके लिए हरी घास आपके हलुवासे कम नही है। मौज ही तो चाहिए। जिससे मौज मिले उसके लिए वह बडी चीज है। आपको अपना बच्चा भला लगता है तो क्या पशुओको उनको अपना बच्चा नही भला लगता ? जितना सुख आप अपने बच्चेको देखकर मानते हो

उतना ही दुःख वे पशु भी अपने बच्चेको देखकर मानते हैं। और बल्कि उस सुखसे भी अधिक सुख गाय, भैंस, घोडा, गधा, कुत्ता, कुतिया आदिक पशु लूट सकते है। कुछ थोडा रिवाज नही है इन तिर्यञ्चोमें। इन पशुओकी दुनियामे कि बच्चे हो जाये तो उनका मर्द भी प्यार करे। यह रिवाज तो है मनुष्योमे। मनुष्योके अगर बच्चा पैदा हो जाय तो उससे स्त्री भी प्यार करती और पति भी प्यार करता। पर सतान और बच्चेके प्रेममे अगर कोई सुख है तो उससे ज्यादा सुख तिर्यञ्चोमे है। ज्यादा सुख हम इसलिए कह रहे कि गायने बछड़ेको देख लिया, जरा सूंघ लिया और चाट लिया और फिर आरामसे खडा रहती है, अपना मुख चलाती हुई एक वह निश्चिततताका आनन्द लेती है, मगर मनुष्योमे देखो—तो बच्चेका प्यार तो करते, पर वे एक निश्चिततताका क्षण नही पाते। कितना अन्तर है? और किसका मौज आप बतावेंगे? इज्जतका। इज्जत उन पशुओमे भी है। अगर पशुओमे कोई किसीकी जरा भी बेइज्जती करे तो वे भी लडने लगते है। तो मतलब यह है कि इज्जतके लिये अगर आप मनुष्यभवमे जी रहे हैं तो मनुष्यभव पाना व्यर्थ है। खानेके लिए जी रहे हो तो मनुष्यभव पाना व्यर्थ। उससे तो पशुओका जीवन बहुत अच्छा। और काम सेवनके लिए जी रहे हो तो इसमे जितने लोग आसक्ति रखते हो उससे अधिक आसक्ति और सुख वे पशु भी लूटते है। आपको लग रहा होगा ऐसा कि मनुष्य तो मनुष्य है, बडे अच्छे है और पशु तो ये अटपटे हैं, चार पैरोसे चलते हैं, पूंछ नीचे लटकती है, सींगें लगी है, मगर गाय, भैंस जैसा दिल बनाकर उनकी ओरसे यदि जानना चाहो तो उन्हे ये आदमी अटपटे लग रहे—ये कैसे दो पैरोके बल खडे है, ये चलते-फिरते हुएमे कितने अटपटेसे लग रहे है" तो किस बातमे आप बढ़कर कहला सकते है सो बताओ। धर्म नाम किसका? आत्माका जो सहज स्वभाव है उसकी दृष्टि होना। धर्मका इतना ही रूप है, बाकी तो सब बवण्डर पडा रखा है अनेक मजहब वालोने और जुदे-जुदे सबके मजहब हो गए, हो जावें मजहब, लेकिन इस व्यवहारके क्रियाकाण्डोको करते हुए भी यदि स्वभावदृष्टि है तो वह धर्मका पात्र है।

औदयिक भावोंका नातिसंक्षेपसे नातिविस्तारसे वर्णन करनेका संकल्प—बात यहाँ यह कही जा रही है कि यहाँ औदयिक भावोका वर्णन चलेगा और वे सब आपको बहुत अच्छी तरह समझमे आयेंगे, क्योकि वे आपके ही फोडे है, आपके क्लेश है, आपकी बरबादी की बातें है। उन्हे तो जरा ध्यानसे सुनना ही होगा। क्योकि उनसे हमे निवृत्त होना है। ऐसे ये २१ भाव यहाँ बताये जायेंगे। उनके सम्बधमे ग्रन्थकार कहते हैं कि मैं उनका स्वरूप कहूगा। न तो उनका सक्षेप ही होगा और न विस्तार होगा। जो वर्णन करेंगे वह बहुत थोडा न करेंगे और बहुत ज्यादा भी न करेंगे। अच्छा बताओ आप लोगोकी पसंदगी किसमे है? थोडा वर्णन करें कि विस्तारसे। तो जिन्हे सुननेमे ऊब आयगी वे तो यही कहेंगे कि

ज्यादा वर्णन न करो। (एक श्रोता वकील बोले—कि वे तो चाहेगे कि कुछ भी न कहो, ... हँसी) तो देखो भाई थोडा सुननेसे पूरी बात समझमे न आ पायगी। और विस्तारसे कहनेमे ऊब आ जायगी। तो ग्रन्थकार भी कितना दयालु होता है कि श्रोताके हितकी बात चित्तमे रखता है और श्रोताके हितकी बात कहता है। श्रोताओकी अपेक्षा ग्रन्थकारपर अथवा वक्ता पर कितना बोझ होता है, इसका जरा अंदाज कर लो। श्रोताको क्या है ? आँखें मीचो सुनो और आनन्द लूटो और भीतर अपने जो हितकी बात है वह रखते जावो, उनको एक ही काम है, ज्यादा काम नही है। ग्रन्थकारको या वक्ताको तो अपनेको भी सम्हाल ले, दूसरेको भी सम्हाल ले ऐसा उद्यम करना पडता। दूसरे-दूसरेके ही सम्हालनेसे मेरा भला क्या ? और अपना ही मात्र सम्हाले तो सभामें बैठे क्यो ? ग्रन्थकारकी भी ऐसी ही परिस्थिति है। उनका भी ध्येय जीवोके हितका है। आखिर ग्रन्थकार भी भाषण ही तो दे रहे है वह लिपिबद्ध है तो ग्रन्थकार यह कह रहे कि मै उन औदयिक भावोका वर्णन करूँगा जिनका न अत्यन्त संक्षेप होगा, न अत्यन्त विस्तार होगा।

गतिनामास्ति कर्मैक विख्यात नामकर्मणि।
चतस्रो गतयो यस्मात्तच्चतुर्धाधिगीयते ॥६७७॥

कर्मोकी १४८ प्रकृतियोमे चार पकारकी प्रकृतियाँ है—१ नरकगति नामकर्म, २. तिर्यक्गति नामकर्म, ३. मनुष्यगति नामकर्म, और देवगति नामकर्म। ये चार प्रकारके गति-नामकर्म है। उनके उदयसे जो अवस्था प्राप्त होती है उसे नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य, देव कहते है अथवा कर्मोकी ओरसे समझमे न आता हो तो अपनी ओरसे देखो—ससारमे जीव चार प्रकारके पाये जाते है—नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य, देव, ये चार गतियाँ है। तो ये चार गतियाँ जीवके स्वभाव तो नही है। कैसे माने कि स्वभाव नही है। स्वभावकी पहिचान है यह कि जो सहज हो, शाश्वत हो, निरपेक्ष हो वह स्वभाव कहलाता है। सहज हो, जबसे वस्तु है तब ही से वह भाव है। शाश्वत हो, अनादि अनन्तकाल तक रहता हो और निरपेक्ष हो, किसी परकी अपेक्षा न रखता हो, यह बात इन चारो गतियोमें है ही नही। क्या जबसे यह मनुष्य है तब ही से यह जीव है ? अरे जीव तो अनादि अनन्त है। क्या यह दिखने वाला मनुष्य सदा रहने वाला है ? नही, क्या निरपेक्ष है ? नही। कर्मका उदय हुआ तब ये धन वैभव मिले, व्यवहारकी चीजे इकट्ठी हुईं, माता-पिता हुए। जो-जो साधन हुए वे वे मिले तो है, ये गतियाँ मिली तो गति नामक जो ये स्थितियाँ हैं वे स्थितियाँ नामकर्मके उदयसे हुई है, इस कारण वे औदयिक भाव है।

कर्मणोस्य विपाकाद्वा दैवादन्यतम वपुः।
प्राप्य तत्रोचितान् भावान् करोत्यात्मोदयात्मनः ॥६७८॥

गतिभावका परिचय—जो ये चार गति नामकर्म बताये गए हैं। इस गतिनामकर्मका विपाक होनेसे यह आत्मा अपने ही उदयवश उन नामकर्मोमे किसी एकके उदयका निमित्त पाकर नरक, तिर्यंच, मनुष्य, देव—इन चार गतियोमे से तदनुरूप किसी भी एक गतिको प्राप्त होकर उस गतिके योग्य भाव करता है। कोई आदमी पहिले घोडा था तो उसे तो घास अच्छी लगती थी, आदमी बन गया तो उसे हलुवा अच्छा लगने लगा। जब गाय, भैंस था तब तो अपना बछडा बछिया इसे प्रिय लगते थे। अब मनुष्य हो गया तो इसे ये दो पैर वाले बच्चा बच्ची प्रिय हो गए। जिस गतिमे जीव जाता है उस ही गतिके योग्य उसके भाव बनते है। सूकरको कीचड सुहाता है, वही सूकर अगर मनुष्य बन जाय तो उसे कीचड नही सुहाता। तो वहाँ परिस्थितियाँ अलग हो जाती है, द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव सामग्रीके अनुसार उनका भाव जुदा-जुदा बन जाता है, उसके लिए दृष्टान्त देते है।

यथा तिर्यगवस्थाया न तद्वद्या भावसन्ततिः।
तत्रावश्य च नान्यत्र तत्पर्यायानुसारिणी ॥६७६॥

गतिभावके परिचयमें तिर्यग्गतिके भावोका उदाहरण—जिस प्रकार तिर्यञ्च अवस्था मे जो उस अवस्थाके योग्य भाव है वह उस पर्यायके अनुसार अवश्य होता है। तिर्यञ्च अवस्थाके योग्य जो भाव है वे तिर्यञ्चके ही होते है। भाव भी उसी रूप होते है, क्रिया भी उसीरूप होती है। जब कोई मनुष्य पहिले कुत्ता था तो उसकी पानी पीनेकी क्या विधि थी, क्या वह गिलास कटोरा आदिसे पीता था ? क्या वह कोकाकोला पाइपकी सीकसे पीता था ? अरे वह तो जलमे जीभ डाल देता था, बस जीभ ही छोटासा कटोरा गिलास आदिका जैसा काम करती थी। भला उस तरहसे कभी कोई मनुष्य भी पीता है क्या ? हाँ हमारी बातको झूठ करनेके लिए कोई ऐसा बनाकर करने लगे तो उसकी बात अलग है (हँसी)। तो जो जीव जिस भवमे पहुंचता उस भवके अनुसार, द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, सामग्रीके अनुसार वहाँ प्रकृतियाँ हो जाती है। यह गति औदयिक भाव है। जैसे तिर्यञ्चमे तिर्यञ्च अवस्थाके योग्य जो भाव सतान चलते है वे तिर्यञ्च पर्यायके अनुसार होते है।

मायाको मायारूपसे पहिचान लेनेका महान् पौरुष—देखो सारे सकटोसे छूटनेका जो उपाय है, उसकी पहिचान क्या है ? जो उस उपायको बना लेता है। उसकी मोटी पहिचान यह है कि जितने मनुष्य दिखे, जितने लोग दिखे उनको वह अपरिचित या उनसे मैं अपरिचित हूं इस तरहका निर्णय रखना है, फिर भी जो व्यवहार करना पडता, जो अनुराग बनाना पडता वह करता है, मगर करना और निर्णय ये दो बातें जुदी-जुदी हैं। विश्वास और चलन ये दो पृथक्-पृथक् बातें है, कमजोरी है ऐसी कि विश्वासके अनुसार चल नही पाते, मगर कोई कहे कि जब चल नही पाते विश्वासके अनुसार तो फिर विश्वास क्यो किया जाय ? देखो

समीचीन विश्वासका इतना महत्त्व है कि उसके अनुसार चलना न बने तो भी सम्यक् विश्वास करनेका लाभ है। आत्मा व परमात्मस्वरूपका विश्वास यदि सत्य हो गया है और उसके अनुसार चाहे चल भी नही पा रहे है तो भी कर्मनिर्जरा है। तो विश्वाससे मत चिगो। सही विश्वास बने। मेरा पहिचाननहार दूसरा न कोई रे। जगतमे मेरा पहिचानने वाला कोई दूसरा नही है। मै मायने आत्मस्वरूप अतस्तत्त्व सहजपरमात्मतत्त्व। यहाँ जितना व्यवहार होता है परस्पर, मायामे मायासे हो रहा है। हम आपसे बातें करते है तो हम भी माया, आप भी माया। जो हमारेमे यथार्थ स्वरूप है, अतस्तत्त्व है, सहज परमात्मरूप है, शुद्ध ज्ञायकस्वरूप है और आपमे भी है, इन दोनोको परस्परमें बात करते हुए किसीने देखा क्या? मायाकी मायासे पहिचान हो रही है। इसमे इतना अन्तर है जरा कि कभी कोई अत्यन्त मुग्ध दशामे रहता है, कभी कोई समझा हुआ रहता है। माया तो न मिटेगी हमारी आपकी, पर विश्वास यदि साथ हो तो कोई समय ऐसा आयगा कि यह माया भी मिट जायगी। लोग तो मायाकी पूजा करते है और कहते भी है कि इसके घरमे बहुत माया है जिसके पास धन वैभव ज्यादा हो, और यहाँ हम कह रहे कि मायाको नष्ट करना है। अरे यह माया नष्ट होगी, चारो गतियो की अवस्थाये दूर होगी तो परमात्मपद मिलेगा, अनन्त आनन्द मिलेगा।

विभावोंकी विपरीतता समझ सकनेपर ही परमात्मत्वलाभका मार्ग पानेकी संभवता—भैया! परमात्मत्वलाभके लिये विभावोकी ही तो एक ओटको छोडना है। परमात्मदशाकी बात भी उन मोहियोकी समझमे न आयगी। जिनको यह जचता है कि धन-धान्य, स्त्री-पुत्रादिक इनसे बढकर दुनियामे है ही क्या, उन्हे परमात्माके आनन्दकी बात कैसे समझमे आयगी? एक भिखारीको जिसको कभी भी अच्छा खाना मिला ही नहीं, पुरानी रोटी मिल जाती है तो उन रोटियोको रख ले झोलीमे, और उसे कोई समझाये कि देखो हलुवा पूडीमे बडा मौज है, हम तुझे देगे हलुवा पूडी, तू इन बासी रोटियोको फेंक दे तो क्या वह फेंक देगा? अरे उसे विश्वास ही न होगा। वह तो यही समझेगा कि यह तो मुझे बहका रहा है। तो जिसको सूखी रोटियोमे ही मौज है उसकी आगे वृत्ति क्या? जिसने इस सम्पदाके मोहमें ही कृतकृत्यता मान ली, संतोष समझ लिया उसके लिए परमात्माके आनन्दकी बात समझमे न आयगी। फिर कोई पूछेगा तो फिर ऐसे लोग भी तो बहुत है। वे दर्शन करने क्यो जाते भगवान्के? तो उनका प्रयोजन बस भीतरमें यही बसा है कि पुत्रादिक खुश रहे, धन बढ़े, बस यही भावना रहती है। और शायद ऐसी पूजा लोग करते हो तो करें, मगर उन्हे वास्तविक लाभ न मिल पायगा। तो परमात्मस्वरूपका आनन्द उन्हे ही अन्दाजमे आयगा जिनको यह जंच गया कि ससारमे कही सुख नही। यह सब व्यर्थ है, मायारूप है उसकी उपासना धर्म है और जिसको दर्शन न हो उसको कैसे-कैसे औदयिक भावोमे रहना पडता है? ये ही

बाते इस प्रकरणमे आयेंगी।

एवं देवेऽथं मानुष्ये नारके वपुषि स्फुटम्।
आत्मीयात्मीयभावाश्च सन्त्यसाधारणा इव ॥६८०॥

औदयिक भावोंका बेकार भार—औदयिक भावोका परिचय कराया जा रहा है। औदयिक भावोके भेदोमे सर्वप्रथम भेद बताया है—४ गति। गतिनामकर्मके उदयसे जीव जिस गतिमे जाता है उस गतिके योग्य भाव बनते है। जैसे उदाहरणमे कल तिर्यञ्चकी बात कही थी। तिर्यञ्चगतिमे पहुचनेपर जीव तिर्यञ्चो जैसा भाव बनाया करता है। जैसे मनुष्योके और पशुओके आहार आदिकमे अन्तर है। अब इस छन्दमे शेष तीन गतियोका जिक्र कर रहे है। देवगतिमे भी अपनी गतिके योग्य भाव होते है। देवोका वैक्रियक शरीर है, वे उस वैक्रियासे कैसे-कैसे भाव किया करते है, उनके लिए क्या-क्या बातें आसान है और उसके अनुकूल उनके भाव बनते है। मनुष्यगतिमे मनुष्यके अनुकूल भाव बनते है। भले ही मनुष्योमे परस्पर भेद हो, पर इतना भेद तो न होगा कि मनुष्योकी आदत पशुओ अथवा घोडो जैसा आहार-विहारकी बन जाय। तो मनुष्योमे मनुष्यो योग्य व्यवहार होता है। नारकी भवमे नारकियो जैसी वृत्ति होती है। वहाँ कृष्ण, नील, कापोत ये तीन अशुभ लेश्यायें होती है। उनका शरीर अशुभ होता है, उनका परिणाम अशुभ रहा करता है। सम्यग्दृष्टि नारकी हो तो उसने कितना बडा लाभ लूट लिया? सम्यक्त्व मिल गया, मोक्षमार्ग उसे मिल गया। मुक्तिमे क्या आनन्द है? उस आनन्दका भी अनुभव कर लो। इतना महान् होकर भी चूँकि नारकी है तो वहाँ मार-काट, छेद-भेद तो उस नरकगति जैसा ही रहता है। उस भवकी बात छूटी नही है। कोई सम्यग्दृष्टि नारकीपर उत्पात करे तो वह भी बदलेमे छेदन-भेदन तो वैसा ही कर रहा, कही वह साधु-सतोकी भाँति बैठकर कुटता-पिटता, छिदता-भिदता रहे, ऐसा नही है। उसके भी विक्रिया है इसलिए वह भी उसी तरह मार-काट करता है। भले ही अन्तः भावोके कारण अन्तर हो जाय, लेकिन गतिके अनुसार भावोसे वह कहाँ छूट पायगा? और सम्यक्त्वकी महिमा देखो—कुट-पिटकर भी और दूसरोको कूट-पीटकर भी उसे अनाकुलताका भान है। तत्त्व क्या है, स्वरूप क्या है और वास्तविक आनन्द क्या है? लोकमे वही वैभववान है जिसको सम्यक्त्व प्राप्त है, बाकी सब बेकार है।

सम्यक्त्व बिना धर्मरूपताका अभाव—सम्यक्त्वकी बात समझाने वाले आपसमे एक दूसरेके नही है इसलिए सब चल रहा है। यदि सम्यक्त्वकी बात एकदम सामने आ जाय किसीके तो वहाँ एकदम घोषणा की जा सकती है कि ऐसे धर्मक्रियाकाण्डमे लाभ क्या है? सम्यक्त्व बिना धर्मका लाभ कैसे लिया जा सकता है? अष्टाह्निकाके दिनोमें अरहदास सेठके घरपर रात्रिमे आपसमे धर्मचर्चा हो रही थी तो उन दिनो राजाका ऐसा कुछ ऐसा विचार

हुआ कि मैं रातको नगरमें घूमकर देखूं तो सही कि कहाँ क्या हो रहा है, सो मंत्रीके साथ रातको राजा घूमने निकला। जब अरहदास सेठके मकानके पास आये तो वहाँ धर्मचर्चा सुनाई पडी। राजा उस चर्चाको बडे ध्यानसे सुनने लगा। चर्चा यह हो रही थी कि हमे सम्यक्त्व कैसे हुआ? अरहदास भी यही बात कह रहा था और उसकी सभी सेठानियाँ भी यही बात कहती थी कि हमको सम्यक्त्व कैसे हुआ? सभी लोग सिर हिला-हिलाकर सभी बातोकी अनुमोदना कर रहे थे, पर छोटी सेठानी यही कहती थी यह सब झूठ। राजा सभीकी बातें सुन रहा था। सोचा कि देखो ये सभी लोग तो ठीक ही कह रहे, यह तो हम लोगोकी जानी समझी बात है, पर यह छोटी सेठानी कहती है कि सब झूठ। सोचा कि कल इसका न्याय करेंगे। दूसरे दिन राजाने छोटी सेठानीको राजदरबारमे आदरसे बुलवाया और पूछा कि रात को जो तुम्हारे घर धर्मचर्चा हो रही थी उसमे सभी लोग तो ठीक ही कह रहे थे, पर तुम क्यो कहती थी कि सब झूठ। तो उसने उत्तर तो कुछ न दिया, सारे आभूषण उतार दिए और एक धोती मात्र पहिनकर किसी अर्जिकाके पास दीक्षा लेने चल पडी और उस समय जनता कह रही थी कि बस सच तो यह है। तो ऐसे ही समझिये कि धर्मके मामलेमे जितना स्वभावाश्रय है उतना तो धर्म है, बाकी धर्म नही जो कुछ श्रम किया जा रहा है।

भयावह चीजोका संग छोड़कर अभय धाममें पहुंचनेका अनुरोध—दसलक्षणके दिनो मे बडे सुबह उठेंगे, नहायेंगे, धोयेंगे, पूजाविधान आदिकमें बहुत-बहुत समय लगायेंगे, मगर अपने आत्मशोधनमे, मोहका भय करनेमे या ज्ञानकी बात सुननेमें बुखार चढ आयगा, न रुचेगा। अरे कहाँका ज्ञान? बडा कष्ट हो रहा, समझमे नही आ रहा, समझमे आये कैसे? जब विषयोकी ओर चित्त है, कषायोकी ओर रुचि है, मोह मोहमें ही चित्त पगा है तो ज्ञान और वैराग्यकी बात रुचेगी कैसे? अगर कोई हँसी ठट्ठा वाली बात कहे तो वह झट समझमे आयगी, मगर ज्ञान और वैराग्यकी बात जिसके बलसे ससारके सकट सदाके लिए दूर हो सकते है उस बातको जी न चाहेगा। भला घरमें भी किसी बडे कामकी अभिलाषासे जिससे चित्तमे परेशानी हो, ऐसे कठिन काम भी कर डालते है। हमारे सिरपर आ ही गयी यह बात। क्या-क्या कष्ट नही करते, पर यह नही सोचते कि अनादिकालसे दुर्गतियोमे भ्रमण करते-करते आज मनुष्यभव पाया है तो सोचें कि बस मुझे करनी ही है ज्ञान वैराग्यकी बात। समय आया है, यह टल जायगा, फिर पता नही मरकर क्या होगे? कैसा भव बीतेगा, क्या परम्परा बन जायगी? भला जब एक ही जीवनमे कोई असत्सग हो जाय, खोटे लोगोका सग हो जाय तो यहाँ ही विश्वास नही रहता कि अब मेरा क्या होगा? खोटा ही परिणाम है उसका। तो भला सारे भव असत्सग रखा। मोहियोका, कषाय वालोका, दुष्ट अभिप्राय वालो का, अज्ञानियोका अगर सग रखा तो इसका परिणाम क्या रहेगा? एक मनुष्यभव ही तो

मिला, अपनी जिम्मेदारी सम्हालनेके लिए । ज्ञान वैराग्यसे मत डरो । आचार्योंकी यह स्पष्ट घोषणा है कि ये मूर्ख लोग जिस चीजसे डरते हैं वही चीज तो इनके निर्भयताकी है । और जिसमे प्रीति करते है, डरते नही हैं, वह महान भयकी चीज है । विषयोमें, कषायोमे, प्रेममे, विरोधमे, गप्प-सप्पमे डर नही लगता, प्रेम जगता । पर भयकी वही चीज है, आपत्तियोका वही स्थान है और जिसमे, ज्ञानमे, वैराग्यमे, सत्सगमे, गुरुकी उपासनामे, जिन बातोमे इस जीवको तत्त्व मिलेगा, सकट टलेंगे, उससे यह डरता है । तो जब ससार और मोक्ष बिल्कुल उल्टी चीजें है—ससारमार्ग और मुक्तिमार्ग वे परस्पर उल्टी चीज है तो मनुष्योमे मोही और ज्ञानी इनकी बात भी तो परस्पर उल्टी होनी चाहिए, सो उल्टी चल रही है ।

औदयिक भावोंमे प्रेम न करके अपने सहजभावमे रुचि करनेका संदेश—भैया ! अपनेको देखो, अपनेमे अपनेको सम्हालो, कुछ रहेगा नही साथ, किसीका पता न पडेगा । अपने आपके अन्तःस्वरूपका, सहज परमात्मतत्त्वका परिचय हो जायगा तो यह साथ रहेगा और आनदामृतका पान कराता रहेगा । उसे निरखो । इन औदयिक भावोमे प्रीति मत करो । ये मागे हुए भाव है, किसीकी कोई चीज माँगकर ले आये, मानो गहना ले आये तो उस मागे हुए गहनेमे उसे मोह तो नही होता, क्योकि वह जानता है कि यह माँगकर लाये है, यह मेरी चीज नही है, यह तो देनी ही पडेगी । यह मेरे साथ रहनेकी नही । तो ऐसे ही समझो कि जो क्रोध, मान, माया, लोभ, इन्द्रिय विषयोका प्रेम है वह भी माँगा हुआ है । कर्मोंके उदयसे माँग रखा है, ये रहनेके नही, ये भी छूटेगे । तो औदयिक भावोसे प्रीति मत करो । एक अपना जो सहज शुद्ध पारिणामिक भाव है उसकी रुचि जगावो । होते है नाना प्रकारके भाव, किन्तु वे भाव इस जीवकी निजकी चीज नही है । जिस पर्यायमे भी यह जीव जाता है उसी पर्यायके योग्य उसको सामग्री मिल जाती है । सामग्री तो सब जगह है, बस अपनी पर्यायके योग्य उस सामग्रीका उपयोग करने लगता है । बस यही है गतिभावका रहस्य ।

ननु देवादिपर्यायो नामकर्मोदयात्परम् ।
तत्कथ जीवभास्य हेतु' स्याद्घातिकर्मवत् ॥९८१॥

गतिनामकर्मोदयमें घातिकर्मवत् भावहेतुतामें शकाका कथन—अब यहाँ शकाकार कहता है कि यदि नामकर्मके उदयसे गतिभाव हुआ तो ठीक है । मगर यह हुआ तो गतिनामकर्मके उदयमे । तो भला बतलाओ—नामकर्म घातियाकर्म है या अघातिया ? अघातिया कर्म है । देखो मन मौजसे रहकर धर्म करनेकी आदतमे जरा फर्क डालो । यदि आपको इतना भी न मालूम हो कि भगवानका क्या स्वरूप है, घातियाकर्म क्या है, अघातिया कर्म क्या है, गुणस्थान कैसे होता है, ऐसी साधारण बातें भी न मालूम हो जैनसिद्धान्तकी तो वे हमे समझायें ।

हम नही जानते कि उन्हे धर्म करनेकी प्रेरणा दे कौन रहा है ? जो इतने श्रम किए जाते है धर्म काम करनेके लिए, उसके लिए प्रेरणा दे कौन रहा हैं सो तो बताओ ? हमको तो इतना मालूम है कि आत्माके सहजस्वभावकी प्रीति है वह धर्म करनेके लिए प्रेरणा देता है। इससे ज्यादा कुछ आप लोगोको मालूम हो तो बता दो कि इतना तो धर्मके लिए कष्ट क्रिया जा रहा है। धन भी लगाते, मन भी लगाते, शरीर भी लगाते और बहुत गा-गाकर पूजा करते, पर यह तो समझा दो कि आपको प्रेरणा किसने दी कि आप इतने काम करे, इतने कष्ट करे ? यदि आपको स्वभावरुचिने प्रेरणा दी हो तो सब काम ठीक बनता चला जायगा। स्वभावरुचि नही है, फिर भी कर रहे है तो हम उसकी क्या बतायें ? हम खुद असमजसमे है। क्यो हो रहा इतना कष्ट ? जब तक अपने आपके अतस्तत्त्वकी सुध न हो, परमात्मस्वरूपकी खबर न हो तब तक धर्मभाव कैसे हो सकता है ? तो प्रसग यहाँ यह चल रहा था कि बताया यह जा रहा कि गतिनामकर्मके उदयसे गतिभाव होता है और उस भावमे यह कला है कि जो जीव जिस गतिमे पहुचता है उसके उस गतिके अनुकूल भाव होने लगता है। शंकाकारको यहाँ यह शका हो गयी है कि जीवमे भावोका बनना तो अघातिया कर्मोके आधीन नही है। अघातिया कर्म तो शरीरको रच दे, शरीरमे जीवको बनाये रखे, ऊँच-नीच कुल मिले, ऐसी बातोमे तो उसकी कला हुई, लेकिन जीवके भाव बन रहे उस तरहके तो ऐसे भाव बननेमे अघातियाका क्या काम ? स्वरूप ही बतलाता है कि घातिया कर्म उन्हे कहते है जो जीवके गुणका घात करें। तो ये जो भाव बन रहे है आहार-विहारके आरामके तो यह तो घातिया कर्मोसे सम्बधित बात होना चाहिए। अघातिया नामकर्मके उदयसे, गति नामकर्म के विपाकमे इस भावका क्या सम्बंध ? इन नामकर्मकी प्रकृतियोमे भावकी सामर्थ्य कहाँ आ गई ? देखो भैया ! शका करनेके लिए भी बुद्धिकी बडी जरूरत होती है। कैसी मर्मभरी शंका की है घातिया और अघातियाका काम जब जुदा है। अघातियाका काम भावरचना नही, भावपरिवर्तन नही, फिर यह गतिभाव कैसे बन गया ? इसके समाधानमे ग्रन्थकार कहते है—

सत्य तन्नामकर्मापि लक्षणाच्चित्रकारवत्।
नून तद्देहमात्रादि निर्मापयति चित्रवत् ॥६८२॥
अस्ति तत्रापि मोहस्य नैरन्तर्योदयोञ्जसा।
तस्मादौदयिको भावः स्यात्तद्देहक्रियाकृतिः ॥६८३॥

मोहके नैरन्तर्योदयसे देहाकारानुरूप भाव बननेका प्रतिपादन करते हुए उक्त शंका का समाधान—समाधानमे कह रहे है कि नामकर्मका काम तो यद्यपि यह है कि रचना किया करे शरीरकी, जैसे चित्रकार नाना प्रकारकी चित्रकारी बना देता है, इसी तरह नामकर्म का उदय इन नाना प्रकारकी शरीर रचनाओका कारण है। सो नामकर्मने किसी तो रचना,

मगर साथ ही लगा हुआ है मोहनीय कर्म। उसका उदय निरन्तर चल रहा है, तब उस देहक्रियाके आकार अनुरूप औदयिक भाव बनता है। अब भला बतलाओ गायसे कहो कि देख तेरे पास भी चार चीजें हैं—दो हाथ, दो पैर। आगेके पैरोंको हाथ मान लो और मनुष्योके भी दो हाथ, दो पैर है। तो रे गाय तू मनुष्यो जैसा पद्मासनमे बैठ तो जा। तो क्या वह उस तरहसे बैठ सकेगी? नही बैठ सकती। करे क्या? जब देहरचना ही वैसी है कि जब वह बैठेगी तो ऐसे ही बैठेगी कि पहिले उसका पेट और बगल लग बैठे। वह और कला लायगी कहाँसे? तो बैठने का भाव भी उसी प्रकारका बनेगा। तो नामकर्मके उदयमे शरीर का आकार बन गया। अब जैसा शरीरका आकार बन गया उस तरहका वह भाव बना। तो जैसे और समझलो—कोई मनुष्यजन्मसे ही पैरका लगडा हो गया, खचुर-खचुरकर चलता है। तो जब उसके चलनेका भाव होगा तो इसी तरह चलनेका भाव बनाकर चलेगा। तो देह का जैसा आकार बना हो उसके अनुरूप चलनेकी बात होती है। यद्यपि भाव बना मोहनीय के सम्बधसे, मगर उसके अनुरूप भाव बने यह बात पायी जा रही है। जो नामकर्मके उदयसे शरीरका आकार मिला उसकी क्रियाके अनुसार औदयिक भाव होता है। नामकर्मका काम एक शरीररचनामात्र है सो ठीक है। शकाकारका कहना सच है कि नामकर्मके भावके परि-वर्तनका कारण नही हो सकता, क्योकि वह अघातिया कर्म है, लेकिन साथ जो मोहनीय कर्म का उदय चल रहा है। उसमे औदयिक भाव अपनी क्रिया करता है और आगे देख लो जहाँ मोहनीय कर्म नही रहता वहाँ तो यह भाव भी नही रहता। तो मोहनीय कर्मका अविना-भाव है इसलिए नामकर्मोंका यह काम बताया गया है।

मोहनीय कर्मकी प्रधानता व जीवके बिगाड़मे कारणता—देखो कितनी विडम्बना है, संसारमे नारकी, तिर्यञ्च, मनुष्य, देव, नाना गतियोमे जन्म लेना होता है। नाना भाव इसे बनाने पडते है। अनेक सुख दुःख सहने पडते है। कितना कर्मबन्ध हो रहा है? इस सबकी मूल जड है मोहनीय कर्म राजा अथवा सेनापति समझ लीजिए। राजाके मरनेके बाद सेना कहाँ टिकेगी? यो समझ लीजिए कि वृक्षकी जड है जैसे मोहनीय कर्म और वृक्ष की डाले पत्ते फूलकी तरह बाकीके कर्म, बाकीके कर्म हरे भरे रहे इसके लिए मोहनीय कर्मकी प्रसन्नता चाहिए। नही तो उन ७ कर्मोंपर भी आफत आ जायगी और वे सब मर जायेंगे। उन ७ कर्मोंके रक्षक, पालन-पोषण करने वाला मोहनीयकर्म है। जैसे कोई घरमे कहे कि हमारा पालन-पोषण करने वाला तो हमारा पिता है, जो कोई भी हो और कहे कि वाह कैसे? हम आज पिताकी कोई परवाह न करेंगे, कोई तकलीफ ही न होगी। अरे तो आज तकलीफ न होगी तुम्हे? कलका दिन कैसे निभा लोगे? माताने रोटी बनाकर खिला दी, पेट भर गया, अब यह ऐंठ बगराता है—मेरा किसीसे क्या मतलब? लेकिन कलका दिन कैसे

गुजारेगा ? जब कल आयगी तब पहुंचकर बोलेगा कि अम्मा भूख लगी। कहाँ तक वह आधारके बिना रहेगा ? ऐसे ही समझ लीजिए कि मोहनीय कर्मका नाश होने पर ७ कर्म रहते तो हैं। आपको मालूम होगा कि १० वे गुणस्थानके अन्तमे मोहनीयकर्म पूरा नष्ट हो जाता है। सम्यक्त्वके होते समय मोहनीयकी ७ प्रकृतियाँ दूर हो गई। रह गयी २१ प्रकृतियाँ, सो २१ मे २० का नाश हुआ ९वे गुणस्थानमे, रह गया सूक्ष्म लोभ, उसका नाश होता है १० वे गुणस्थानके अन्तमे। १२वें गुणस्थानमे पहुंच गया। मोह जरा भी नही है तो वे ७ कर्म डीग मारें कि कौन कहता है कि हम मोहनीय कर्मके वलपर पलते पुसते है। देखो अब भी है हम और मोह नही रहा तो यह डीग कहाँ तक रहेगी ? शेषमें ३ कर्मोको तो १२ वे गुणस्थानमे ही नष्ट हो जाना पडता है। ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय ये १२ वें गुणस्थानके अन्तमे खतम हो जाते है। रह गए चार अघातिया कर्म सयोगकेवली गुणस्थानमें। अयोगकेवलीमे तो वे चार अघातिया कर्म कब तक टिकेंगे ? थोडे समय बाद मुक्ति होगी, वे अघातिया कर्म भी नष्ट हो जायेंगे, पर जब तक मोहनीय कर्म राजी रहा, तब तक इन ७ कर्मोंपर कोई आँच नही ला सका, कोई पुरुष टेढ़ी नजरसे नही देख सका। मोहनीय कर्मके रहते हुए ७ कर्मोमे कोई बाधा पहुचाने वाला नही है। तो यह भी समझ लीजिए कि जितना भी बिगाड है वह सब मोहनीय कर्मसे चलता है। तो इस नामकर्मके साथ जो मोहनीय कर्मका उदय भी चल रहा है उससे ये भाव बन रहे हैं, यह यहाँ समाधानमे कहा जा रहा है।

ननु मोहोदयो नून स्वायत्तोस्त्येकधारया।
तत्तद्वपुः क्रियाकारो नियतोऽयं कुतो नयात् ॥९८४॥

मोहनीय कर्मराजाकी एकधारासे विपाक देनेकी स्वाधीनता होनेपर देहक्रियानुरूप भाव करनेकी विवशताके कारणके बारेमें शंका——शंकाकारका समाधान सुन लिया था, क्या कि गति नामकर्मके उदयके साथ मोहनीय कर्मका भी उदय चल रहा है, इसलिए ये भाव बन रहे है और उन भावोमे सहयोगी बन रहा है नामकर्मका काम। यह समाधान पानेके बाद शंकाकार यह कह रहा है कि मोहनीय कर्मका उदय तो अनर्गल हुआ करता है। वह तो राजा है। उसको दूसरेके सहयोगकी क्या जरूरत है ? मोहनीय कर्मका उदय आये, उसे अपने आपके बलसे अपने अधिकारसे स्वाधीन होकर फल देना चाहिए। उसको यह अपेक्षा क्यो रहती है कि शरीर मिला, देह मिला, उनके अनुकूल हम इसे फल दे, वैसा भाव बनाये, ऐसी अपेक्षा क्यो लगा करती है ? क्या कह रहा शंकाकार कि मोहनीय कर्म तो प्रवल है, स्वतंत्र होना चाहिए, वह काम करनेमें किसीका मुंह क्यो ताक रहा ? जैसा शरीर मिला उसके अनुकूल भाव बनें, ऐसी क्यो पराधीनता है ? भिन्न-भिन्न शरीरोके अनुसार मोहनीय कर्म फल क्यो

दिया करता है ? उसे तो अपनी मर्जीसे जैसा अनुभाग है, जैसा उसका उदय है उसके अनुसार इस जीवको तुरन्त फल डालना चाहिए । इस शंकाके समाधानमे कहते है—

नैवं यतोऽनभिज्ञोऽसि मोहस्योदयवैभवे ।
तत्रापि बुद्धिपूर्वे चाऽबुद्धिपूर्वे स्वलक्षणात् ॥९८५॥

उक्त शंकाका समाधान देनेके लिये मोहनीय कर्मकी फलदानकी रीति नीतिके कथन की सूचना—उक्त शंकाका बहुत छोटा संक्षिप्त समाधान है । शंकाकार यह जानना चाहता था मोहनीय कर्म तो स्वायत्त है, उसकी तो निरर्गल वृत्ति है, उसको फल देनेमे शरीर आदिककी अपेक्षा क्यों करनी चाहिए ? समाधानमे कह रहे है कि देखो शंकाकार, तुम मोहके उदयके विभावमे जानकारी अधिक नही रखते । जब तुम मोहनीयके उदयका विभाव जानोगे और उसकी रीतियाँ-नीतियाँ जानोगे तो इस शंकाका समाधान स्वयं हो जायगा । घरमे यदि किसी को गुस्सा करनेकी अधिक आदत है तो नौकर-चाकर बड़े समझदार होते है । कोई नौकर उस समय उसके सामने जाय या उसका उत्तर दे या उससे कुछ कहे तो समझदार नौकर कहता है—अरे तुमको इस मालिककी आदतका अनुभव नही है, इसकी प्रकृतिका तुम्हे परिचय नही है । कैसा इसका वैभव है, कैसा ठाठ है, कैसा इसका प्रताप है ? इस समय क्या कर सकते है इसको तुम नही जानते । तो ऐसे ही मोहनीय कर्मके उदयका वैभव नही जानते हो शंकाकार । वह सब जब बताया जायगा तब स्वयं परिचय पा लोगे कि मोहनीय कर्म है तो निरर्गल, मगर उसकी रीति-नीति क्या है ? किस तरहसे वह फल देती है—इस बातको समझनेकी आवश्यकता है । प्रसग यह चल रहा है कि मोहनीय कर्म तो अपनी एक बडी शक्ति रख रहा है, निरर्गल है, वह स्वच्छन्दतासे क्यो न चले ? क्यो नही स्वय अपना प्रभाव जमा पाता ? उसे नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य देवके देहका मुख क्यो ताकना पड़ता है ? उसके समाधानमे सामान्य रूपसे यह बताया था कि देखो—मोहनीय कर्मकी नीति-रीति समझो, तब यह समाधान अपने आप हो जायगा कि मोहनीय कर्म किस तरह जीवको बिगाड़ता है ? तो उस ही मोहनीय कर्म के विवरणमे कुछ श्लोक आयेंगे ।

मोहनान्मोहकर्मैकं तद्द्विधा वस्तुतः पृथक् ।
दृङ्मोहश्चात्र चारित्रमोहश्चेति द्विधा स्मृतः ॥९८६॥

मोहनीय विपाकमें जीवके मोहनका दिग्दर्शन—यहाँ चर्चा चल रही है अपने आपको बरबाद करनेके निमित्तभूत मोहकर्मकी । देखो—आपको क्या चाहिए ? सुख शान्ति या दुःख । सब यह उत्तर देगे कि हमे तो सुख शान्ति चाहिए । तो जरा ढगसे ठिकानेपर अपना चित्त ले आये । जैसे सुख शान्ति मिलती हो उस तरहसे अपनेको ढालो । अपनी-अपनी परम्परासे आयी हुई बुद्धिके अनुसार तो सभी अपनेको चतुर समझते है । जो मै कर रहा हूं, ठीक कर

रहा हू । अरे ठीक कहाँ कर रहे हो ? अगर तुम दुःखी हो, भीतरमे आकुलित हो तो सीधा निर्णय है कि तुम ठीक नही कर रहे हो । लेकिन मोहका एक ऐसा नशा होता है कि दुःखी भी होते जाते है और मानते है यह कि मै तो बहुत चतुर हू, बडे मौजमे हू । ऐसा ही इसे अपनी पर्यायका रूप दिखाई देता है । सुख शान्ति चाहते हो तो दोनो बातोका निर्णय कर लो, दुःखका कारण क्या है और शान्तिका आधार क्या है ? जगतमे कोई भी जीव किसीका जिम्मेदार नही है । बालक पैदा होते, छोटी उम्रमे गुजर जाते, उनको किसने सहाय दिया ? कौन मददगार है ? बडे भी तब दुःखी होते, जो मनमे भाव आया, अपनी स्वच्छन्दता, विषयो की वृत्तिका भाव जगा, दुःखी हो गए, उनके लिए कौन मददगार है ? इस जीवका इस जगत मे कोई मददगार नही है, लेकिन यह जीव स्वय अपने आपका मददगार हो सकता है । ज्ञान-प्रकाशमे अपनेको लगाओ, बस स्वयका मददगार है । अब हम ज्ञानप्रकाशमे कैसे आ सकें ? जैसे कोई किसीको पकडकर खोटी जगह रखे हो तो वह विवशता अनुभव करता है कि मै कैसे अच्छी जगहमे पहुचू ? चाहता तो वह भी है कि मै अच्छे स्थानपर रहू, आराममे रहू, मगर विवश है । किसीने जकड रखा है । यो ही समझिये कि आत्माके आनन्दका धाम तो यही स्वय आत्माराम है, ज्ञानप्रकाश है । उस ज्ञानप्रकाशमे कैसे पहुचें ? क्यो भाई मोहने जकड रखा है ? अरे विवशताका अनुभव मत करो । वैसे तो उस आदमीको किसी दूसरेने जकड रखा है, लेकिन यहाँ उसके आत्माको किसी दूसरेने पकड नही रखा । वह ही कल्पनायें बनाकर मोहकी रचना कर कर अपने आपको अपने जालमे स्वय फसाये रहता है । जैसे मकडी जाल बिछाकर स्वय उस जालके अन्दर फसी रहती है इसी तरह यह जीव स्वय कल्प-नाये बनाकर कल्पना-जालके अन्दर फसा रहता है । कैसे हम परेशान है, जरा इसकी चर्चा सुनो—तुम किसी तरह पराधीन हो गए, क्या कारण रहा ? वह कारण है मोहनीय कर्मका उदय । जब यह जीव भ्रम करता है, कषाये करता है तो इस जीवके कर्मका बन्धन होता है । ८ प्रकारके कर्म बँधते हैं ।

सकर्मता व निष्कर्मताकी स्थिति समझ लेनेका अनुरोध—भैया ! कर्मोकी ८ सख्या तो सामान्यतया सबने सुन रखी होगी, किन्तु कर्म क्या चीज है, उनमे कैसा प्रभाव है, कैसी रचना है और कर्मका क्षय होनेपर आत्माकी क्या निधि प्रकट होती है ? इसका परिचय इने-गिनोको ही होगा, किन्तु जरा गम्भीरतासे सोचो । जैसे हम समझते है कि यह ज्ञानी है, विद्वान् है, क्या उन जैसी योग्यता हम सबमे नही है ? सबके वह क्षयोपशम पड़ा हुआ है, पर कुबुद्धि ऐसी छायी हुई है कि उस ज्ञानप्रकाशके लिए जी नही चाहता । योग्यता सबमे है । आत्माके अन्तःप्रकाशमान ब्रह्मस्वरूपको देख ले, समझ लें, अनुभव कर लें, ऐसी योग्यता सबमें है । उसका प्रमाण क्या ? मनुष्य हुए, मन मिला यही प्रमाण है, और प्रमाण देखो तो

जो अपना व्यापार, दूकान, हिसाब बडी-बडी बातोंमें इतनी चतुराई रखते हुये करते वे अपने आपके ऐसे सुगम साधारण स्वाधीन, जिसमे प्रयासकी आवश्यकता नही, उसे न समझ सकेंगे, पर पहिले हिम्मत हार ली, जिसे कहते है कधा डाल दिया तो जिसका मनोबल न हो, साहस न हो, रुचि न हो तो वह कैसे मार्गमे लग सकता है ? ससारके दु.खोसे कितने सतप्त हो, पद-पदपर दुःख आता रहता है, बच्चोसे कोई प्रतिकूल बात बोल दे, कोई बालक अनुकूल न चले, अपनी कषाय इच्छाके अनुसार दूसरेकी परिणति न हुई, लो क्रोधमे आ गए, दु.खी हो रहे और उस क्रोधमे, दुःखमे अपने आत्माके गुण नष्ट हो रहे। इतनी बडी विपत्ति तो पसद करते हो, मगर ये सारी विपत्तियाँ एक क्षणमे एक साथ ध्वस्त हो जायें, ये सारे सकट मिट जायें, ऐसे इस ज्ञानामृतके लिए रुचि नही जगती। तो यह ही निष्कर्ष निकला कि मनुष्य होना न होना बराबर है। मनुष्य होकर काम तो यही किया जानेका था कि ससारके सकटो से सदाको छुटकारा पानेका उपाय बना लिया जाता, पर कर रहे उल्टा काम, व्यर्थका काम। जो आगे मदद भी न करेगा और जीवनके ये दिन व्यर्थ गुजर जायेंगे, ऐसी बात बनेगी। तो थोडा रुचि करो, चित्त लगाओ, मोहसे चित्त हटावो। मोहसे कुछ न मिलेगा, अपना ऐसा निर्णय बनाओ। सब बात समझमे आयगी, क्यो न समझमे आयगी ? बाहरकी बात जानना कठिन है, पर अन्दरकी बात जानना कठिन नही है। जो जड पदार्थ है, अपनेसे भिन्न है, बाहर पडे हुए है, जिनसे मेरा सम्बध नही उनका जानना कठिन है, और जो खुद ज्ञानमय है, ज्ञानस्वरूपसे लबालब भरा हुआ है ऐसे ज्ञानस्वरूपको जान लेना कुछ भी कठिन नही है, अत्यन्त सरल है, और मोहियोको यो बात जंच रही कि अपनी बात जानना कठिन है और दुनियाकी बात जानना सरल है। जैसे होते है कुछ कैदी ऐसे कि जिनको कैद ज्यादा पसद है, और वे जब आपसमे बात करते है तो कितनी बार कैदमे पहुचे, उसकी डीग मारते है। तो ऐसे ही ये ससारी जीव मोहमे ये अपनी चतुराई प्रकट करते है, पर हो क्या रहा है ? मोह-कर्मके उदयमे यह जीव अत्यन्त परेशान होता है। न घर रहता है, न प्रसग रहता है, न वैभव रहता है, न देह रहता है, सब कुछ छूट जाता है, मगर जो अध्रुव चीज है, भिन्न चीज है, मतलबकी चीज नही, उन चीजोमे तुम्हारे मोह प्रेम बसा हो तो इस पापका फल कौन भोगेगा ? इन सब परेशानियोका कारण है मोहकर्म।

मोहनीय कर्मकी मोहनदृष्टिसे एकरूपता कार्यप्रकारदृष्टिसे द्विविधता—इस मोहकर्मका विवेचन चल रहा कि मोह तो एक प्रकारका है। मोहन कर देना, बेहोश कर देना, अब जैसे तम्बाकू खाये-पिये तो उसका नशा और तरहका है और गांजा वगैराका नशा और तरहका है, मदिरा पिये तो उसका और तरहका। तो भले ही उनमे भेद हो जाय, मगर दशाकी दृष्टिसे देखो तो नशा तो सब है ही। तो जितने प्रकारके ये मोहन है, प्रेम पैदा होना, भ्रम पैदा होना

आदि मोहन पैदा करने वाला है, बेहोश करने वाला है। तो बेहोश करनेकी दृष्टिसे मोहनीय कर्म एक प्रकारका है। इस मोहका परिवार, इस मोहका प्रभाव मेरेमे रंचमात्र मत हो। मेरेको तो अन्तःप्रकाशमान इस चिदानन्दघन अन्तस्तत्त्वके दर्शन हो। जैसे बीहड़ जगलमे छिपी हुई कोई संकरी गली है जिस गलीको यह पा ले तो जगलसे निकल भागेगा, ऐसे ही विभावोंके बीहड जंगलमे कोई समीचीन एक संकरी गली है, जिसका सहारा ले कोई तो वह इस जगलसे पार हो जावेगा और जब तक गली नही मिली तो कुछ तो मूर्ख ऐसे होते है कि उन्हे परवाह ही नही कुछ, जो जगलमे ही बने रहेगे और कुछ ऐसे मूढ़ है कि जो गलीका ख्याल तो करेंगे कि लोकमे मिलना चाहिए कोई ऐसा रास्ता कि जिससे पार हो जायें और उसके लिए प्रयत्न भी करते, पर उन्हे वह गली नही मिल पाती, पर ज्ञानी पुरुप ऐसे है कि जिनको रास्ता सही ठीक मिल रहा। अब उसे बहकाने वाला, भुलाने वाला कोई नही मिल सकता। भला आपने अपना घर अब तक खूब देखा, रोज-रोज खूब जान लिया घरको, तो आप घरको तो नही भूल रहे। जान लिया सो जान लिया, भूलनेका क्या काम ? सोचते हो ना ऐसा, तो ऐसे ही अपने अतस्तत्त्वकी बात देखो—जान लिया सो जान लिया। अब उसके भूलनेका क्या काम ? तो इस गलीको न देखने दे, मोहित कर दे, बेहोश कर दे, इसका नाम है मोहनीय कर्म। तो इस मोहनीय कर्मका सामान्य रूप तो एक है, फिर भी इसके कुछ भेदकी निगरानी करें तो यह दो भेदोमे विभक्त हे—(१) दर्शनमोह और (१) चारित्रमोह। दर्शनमोहका काम है सम्यक्त्वको प्रकट न होने देना, बिगाड देना, विपरीत कर देना। चारित्रमोहका काम है चारित्रको विपरीत कर देना। मोहनीय कर्मकी २८ प्रकृतियाँ होती है। जिनमे तीन प्रकृतियाँ तो दर्शनमोहकी है—(१) मिथ्यात्व, (२) सम्यग्मिथ्यात्व, (३) सम्यक्प्रकृति। मिथ्यात्वके उदयमे यह जीव स्पष्टरूपसे मिथ्यादृष्टि है। उसमे कुछ गुजाइश ही नही है। सम्यग्मिथ्यात्वके उदयमें जीव तीसरे गुणस्थानमे होता है। जहाँ परिणाम मिश्र जैसा, कुछ सम्यक्त्व, कुछ मिथ्यात्व जात्यतर और सम्यक्प्रकृतिका उदय होता है क्षायोपशमिक सम्यक्त्वके साथ। सम्यक्प्रकृतिके उदयमे यह सामर्थ्य नही कि सम्यक्त्वको मिटा दे, लेकिन सम्यक्त्व भी रहे और थोड़ेसे कुछ दोष भी आते रहे, बस यह काम है सम्यक्प्रकृतिका। ये तीन है दर्शनमोह, और २५ हैं चारित्रमोह। जो कषायें २५ है वे ही नाम चारित्रमोह प्रकृतियोंके है। यो भेद प्रभेदोमे यह मोहनीय कर्म इस प्रकार अपना अनुभाग लिए हुए रहता है।

एकधा त्रिविधा वा स्यात् कर्ममिथ्यात्वसञ्ज्ञकम्।
क्रोधाद्याद्यचतुष्कञ्च, सप्तैते दृष्टिमोहनम् ॥६८७॥

दृष्टिमोहन प्रकृतियां—उक्त श्लोकमे बताया है कि मोहनीय कर्मके दो भेद हैं—(१) दर्शनमोह और (२) चारित्रमोह। तो दर्शनमोहका इसमें विवरण चलेगा। दर्शनमोह

एक ही किस्मका है मूलमे, सम्यक्त्वमे कोई मोहन कर देना और भेद करें तो ३ प्रकारका है। मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्प्रकृति—ये तीन है दर्शनमोहकी प्रकृतियाँ और चारित्र मोहकी २५ प्रकृतियाँ है। उनमे पहिली चार प्रकृतियाँ अनन्तानुबधी क्रोध, मान, माया, लोभ है। इनमे दो प्रकारकी आदत पडी है। पहिली प्रकृति है सम्यक्त्वको उल्टा कर देना और दूसरी प्रकृति है चारित्रको भी उल्टा कर देना याने अनंतानुबंधीसे दोनो तरफ मोहन है। सम्यक्त्व और चारित्रका घात करे। तो अब ध्यानमे आया होगा कि सम्यग्दर्शनका घात करने वाली प्रकृतियाँ ७ हैं। दर्शनमोहनीयकी तीन, चारित्रमोहनीयकी चार, अनन्तानुबधी क्रोध, मान, माया, लोभ—इन ७ प्रकृतियोको दृष्टिमोहन कहते है। सम्यक्त्वको मोह ले, उल्टा कर दे, सम्यक्त्वका घात करे। यह काम इन ७ प्रकृतियोका है। मूल प्रसग यह था कि गति नामकर्मके उदयमे जीवको नारक, तिर्यंच आदिकके देह मिले और उन देहोके योग्य उनके भाव जगे तो भावोके सम्बंधमे प्रश्न था कि ऐसा भाव बने तो मोहका काम है नामकर्मको कैसे बता रहे हो ? इसी प्रश्नोत्तरके सिलसिलेमे मोहनीय कर्मका विवेचन किया जा रहा है।

सम्यग्मिथ्यात्व व सम्यक्प्रकृतिका बन्ध न होनेपर भी सत्त्व हो जानेका कारण— देखो मोहनीय कर्ममे जो दर्शन मोहकर्म है, तो जीव जब गडबड़ भाव बनाता है तो बध होता है एकका, मिथ्यात्वका। प्रकृतियाँ है तीन—(१) मिथ्यात्व, (२) सम्यग्मिथ्यात्व, (३) सम्यक्प्रकृति। पर बध होगा तो एक मिथ्यात्वका। आप लोग यह सोच रहे होंगे कि जब बध एक मिथ्यात्वका होता है, सम्यग्मिथ्यात्व व सम्यक्प्रकृतिका बध नही होता तो ये आत्मा मे आ कैसे गए ? बन्ध न हो, आस्रव न हो तो इसकी सत्ता कहासे होगी ? तो लो सत्ताका अर्थ समझ लीजिए। अच्छा आप बतलाओ—खेतमे जब मूग पैदा होती है तो बतलावो एक तरहकी होती है या दाल और चूनी भी होती है। चूनी कहते है चूरा हो जानेको। खेतमे से मूगको दाल साबुत पैदा होती है या दाल और चूरा भी पैदा होते है ? वहाँ तो शका नही करते कि जब खेतमे मूँग साबुत पैदा होती तो यह दाल चूरा कहाँसे आयगा ? वह दाल व चूरा कैसे आया सो सुनो। उन्हे चक्कीमे दला और उस दलनेके प्रसगमे यह प्राकृतिक बात है कि दाल बनेगी और साथमे चूरा बनेगा। एक बात और साथमे लगी है कि कुछ साबुत मूँग भी निकल आयगी। चक्कीसे दलनेपर तीन चीजें निकली। साबुत मूग, वह तो पहिलेसे ही थी। दाल और चूरा और बन गया तो ऐसे ही बध तो होता है केवल मिथ्यात्वकर्मका और सत्ता भी जीवमे पहिलेसे पडी है। मिथ्यात्वकी, दो की सत्ता नही है, लेकिन जब कभी ऐसा अवसर आया, सम्यक्त्वका भाव जगे तो मिथ्यात्व और अनन्तानुबंधी चार, ये ५ ही तो थे सत्तामे। सम्यग्मिथ्यात्व, सम्यक्प्रकृति तो सत्तामे थी ही नही, क्योकि बँधी ही नही। तो जब उपशम सम्यक्त्व हुआ इस जीवको पहिली बार तो ५ प्रकृतियोका उपशम होनेसे, दबनेसे

उपशम सम्यक्त्व हुआ, लेकिन उपशम सम्यक्त्वके होते ही इस उपशम सम्यक्त्वकी चक्कीने ऐसा पीस डाला मिथ्यात्वको कि कुछ बन गई दाल मायने सम्यग्मिथ्यात्व। जैसे मूंगके दो दाने हो जाते ऐसे ही दो दाने इसके निकल आये—सम्यक्त्व और मिथ्यात्व याने मिश्र—सम्यग्मिथ्यात्व और कुछ हो गए चूरा, वह कहलाया सम्यक्प्रकृति। इस तरह इसकी सत्ता आती है, ऐसी ये तीन प्रकृतियाँ और चार अनन्तानुबंधी ऐसी ७ प्रकृतियाँ दृष्टिमोहन कहलाती है।

दृङ्मोहस्योदयादस्य मिथ्याभावोस्ति जन्मिनः।
स स्यादौदयिको नून दुर्वारो दृष्टिघातकः॥६८८॥
अस्ति प्रकृतिरस्यापि दृष्टिमोहस्य कर्मण.।
शुद्धं जीवस्य सम्यक्त्व गुण नयति विक्रियाम्॥६८६॥

दर्शनमोहनीय कर्मके अनुभाग प्रभावकी चर्चा—यह तो भेद प्रभेदोका वर्णन उक्त गाथाओमें कहा—अब उनके अनुभाग क्या, प्रभाव क्या? इसका वर्णन इन दो श्लोकोमे चलेगा। दर्शनमोहनीय कर्मके उदयसे इस प्राणीका मिथ्यात्वरूप भाव होता है। सो मिथ्यात्व औदयिक भाव है। मिथ्यात्व प्रकृतिके उदयसे हुआ, इसलिए औदयिक भाव है। देखो चित्तमे यह बात आनी चाहिए अनेक बार कि जो मेरेमे भाव पैदा हो रहे है—मिथ्यात्वका होना, रागद्वेषका होना, ये भाव मेरी सम्पदा नही है, ये भाव मेरे निजी भाव नही है, ये औपाधिक भाव है, कर्मके उदयसे आये हैं। इनमे प्रीति करनेमे हित नही है। बच्चोमे प्रेम करनेसे हित कुछ न मिलेगा, मुखसे तो कह देंगे, पर ऐसा चित्तमे भी उतरना चाहिए कि जब यह जीव अनादिसे अकेला है, अकेला ही जायगा, अकेला रहेगा तो इसका कुछ क्या है? तो पुत्र मित्रादिकमे प्रोति करना अहित है और पुत्र मित्रादिकमे प्रीति करनेका जो भाव पैदा हो रहा है वह भाव भी अहित है। मेरेमे सम्यक्भावका उदय हो, मिथ्याभाव मत रहो, दर्शन मोहनीयके उदयसे इस प्राणीके मिथ्याभाव जगता है, वह औदयिक भाव है और यह भाव दृष्टिका घात करने वाला है। इस दर्शनमोह कर्मकी ऐसी प्रकृति है कि जीवका जो एक शुद्ध सम्यक्त्व गुण है उसको विकृत कर डालता है। तो मोहका प्रभाव बताया जा रहा है। ऐसे कर्म जीवको सताये हुए है, कर्म नही सताये हुए है। कर्म तो पौद्गलिक है, उनका तो उदय आता है। ऐसा निमित्तनैमित्तिक योग बन रहा है कि यह जीव अपने ही भाव बिगाड़कर अपने आपको दुःखी कर रहा है।

समीचीन भावसे ही आत्माकी भलाई—एक निर्णय कर लो जीवनमे कि सबसे ऊँची चीज मेरे लिए है तो क्या है? सम्यक्त्वके सामने कोई कितना ही प्रलोभन दे, उन प्रलोभनोमे मत आवो। उन प्रलोभनोंमे आसक्त मत हो। एक सम्यक्त्वभावको प्राप्त करो। सम्यक्त्व ही आपका रक्षक है। बाकी और सब धोखा है। कोई एक नगा पलंग हो, जिसपर कुछ

बुना न गया हो निवाड अथवा रस्सी, खाली माटी भिरवा लगे हो और उस पलंगपर चादर तान दे और चादरके चारो कोने चारो पायोपर कच्चे धागेसे बाँध दे, खूब अच्छी तरह चादर तान दे, और जिस किसीसे आपकी बडी दोस्ती हो, जिसे कहते है वडे हिले-मिले लगोटिया यार। उसका आप सत्कार करे। आइये साहब बैठिये। यदि वह उस पलगपर बैठ जावे तो उसकी क्या हालत होगी? उसके हाथ पैर और सिर एक हो जायेंगे। मानो अपने पैरोको वह नमस्कार करने लगेगा। क्या हुआ? अरे वह तो धोखेका पलग था, तो ऐसे ही ये सब पाये इन्द्रियके विषय और मनके विषय ये सब धोखा भरी बाते है। जो इनमे मोहित होगा, जो इनसे प्रीति करेगा बस वह इस तरह बरबाद होगा। कुछ ध्यानमे तो लावो। यह आपके आत्माके उत्थान की बात है। यदि किसीके चित्तमे यह आती हो, जैसे कि कुछ लोग पहिले से ही भाग गए, कही ऐसा न हो कि महाराजकी बात मनमे बैठ जायें तो हमारा घर ही छूट जाय। तो जो अपनी कल्पनामे वडे चतुर थे वे जैसे पहिलेसे ही भाग गए ऐसा डर आप लोग मत मानें, क्योकि अगर ऐसी बात आती हो कि आपको आत्महितकी बात चित्तमे उतरती हो तो यह ही बात अपने घरमे लोगोमे भी उतार दो तो तुम्हारा सम्बंध फिर अच्छा कहलायगा। खुद भी पार हो रहे और दूसरोको भी पार होनेका उपाय बना दिया। तब जितनेसे प्रीति है सभीका उद्देश्य एक हो जायगा। आत्महित करना, विषयोसे अलग हटना, फिर क्या तकलीफ रहेगी? थोडा बहुत कष्ट घरमे तब ही तो होता है कि आप तो बन रहे विरक्त और घरके सब है अत्यन्त मोही, तब ही तो फिर घरमें गुजारा होना कठिन लगता है। तो ऐसा ही ज्ञान, ऐसा ही वैराग्य आप घरमे कर लें, सब एकसे हो जाये तो सारा आनद ही आनन्द है।

यथा मद्यादिपानस्य पाकाद् बुद्धिर्विमुह्यति।
श्वेतं शखादि यद्वस्तु पीत पश्यति विभ्रमात् ॥६६०॥
तथा दर्शनमोहस्य कर्मणोस्तूदयादिह।
अपि यावदनात्मीयमात्मीयमनुते कुदृक् ॥६६१॥

विपरीत बुद्धिकी महद्विपत्तिरूपता—प्रसग यह चल रहा है कि दर्शनमोहके उदयमे जीवके मिथ्यात्व भाव होता है। जीवकी श्रद्धा विपरीत हो जाती है, उसी सम्बधमे दृष्टान्तपूर्वक कहा जा रहा है कि जैसे मदिरा पीने वाले पुरुषकी बुद्धि मदिराका नशा चढ जानेपर भ्रष्ट हो जाती है तब ही तो मद्यपायी पुरुष या धतूरा खाने वाला पुरुप शख आदिक सफेद चीजोको पीला समझता है, उसकी बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है, उल्टा जानता है और कदाचित् कभी कुछ ठीक भी कह दे तो भी मदिरापायी पुरुषकी बात सही नही मानी जाती। सूत्रजी मे बताया है कि उन्मत्त पुरषकी भाँति विपरीत ज्ञानोंमे बुद्धि हो जाती है। वह कभी स्त्रीको माँ भी कह देता,

कभी माँको स्त्री भी कह देता और कदाचित् माँको माँ भी कह देता तो भी वह मिथ्या ही माना जायगा, क्योंकि वहाँ दृढ़ता नही है, स्वच्छता नही है। तो जैसे मदिरापायी पुरुष यथार्थ बुद्धि नही रख पाते इसी प्रकार दर्शनमोह कर्मके उदयसे यह जीव यथार्थ बुद्धि नही रख पाता। बस संसारमे दुःख है तो इतना ही है कि हमारा ज्ञान व्यवस्थित नही रह पाता। कष्ट और कुछ है ही नही। घर गिर गया तो गिर जाने दो, दुनियाके सभी घर गिरा करते है। कोई परिजन गुजर गया तो क्या करें, सब जीव यहाँ गुजरते ही है, संसारकी रीति ही यह है। खुद गुजर गए, देहसे अलग हो गए तो यह तो होना ही पड़ेगा। आयु कर्मका उदय जब तक है तब तक देहमें है, जब न रहा तो देहसे निकल भागे। इसमे कष्टकी क्या बात? घर छूट गया तो क्या नुक्सान? छूट गया तो आगे कही जायेंगे। तो संसारमे दुःख किसी बातका नही है। दुःख है तो एक इस विपरीत बुद्धिका। विपरीत बुद्धि कहो अथवा मोह कहो, सारा दुःख मोहका है, और इसी कारण जिसने मोहपर विजय पायी है वह ही संत कहलाता है, वह ही उत्तम पुरुष कहलाता है। देखो—मोहियोके पैर मोही भी नही पड़ते और निर्मोहके पैर निर्मोह भी पड़ते और मोही भी पडते। भले ही मोही कुदेवोकी पूजा करने वाले कुछ लोग है, लेकिन यह मोही है, ऐसा जानकर वे भी नही पूजते, वे उन्हे भगवान समझते है, कुछ भली बात मनमे रखते ही है। भले ही उन्होने स्वरूप सही नही जान पाया इसलिए मिथ्यात्व है, लेकिन बात यह कही जा रही कि मोह अच्छी चीज नही होती अन्यथा मोहियों की पूजा होती। प्रभु पूजा ही क्यो है कि निर्मोह अवस्था उत्तम चीज है।

दर्शनमोहके उदयमें जीवको विपरीत बुद्धिका योग—जब दर्शनमोहका उदय रहता है तो जीवको तत्त्वमे विपरीत बुद्धि होती है, अतत्त्वमें तत्त्वबुद्धि होती है, शरीरमे आत्मबुद्धि होती है, शरीरको यह अपना मानता है। इस लोभकषायकी और इस मोहकी कितनी भीतरी चोट है इस जीवपर, जिससे ये हैरान हो रहे है, बुद्धि व्यवस्थित नहीं रख पा रहे। मेरा तो मात्र मै ज्ञानस्वरूप ही हू, ये धन वैभव आदिक कोई भी परपदार्थ मेरे नही, यह झांकी नहीं ले पाते। यदि धर्मका कोई काम सामने आ जाय तो साहसपूर्वक अपनी हैसियत माफिक उसके दान करनेका भाव रहे। उस दान करनेसे कही आपका टोटा न पड़ेगा, किन्तु लोभकषायमे आत्माका हनन हो जाता है। यदि पुण्यका उदय है तो उसकी पूर्ति स्वयमेव होगी। और मान लो गरीबीकी स्थिति है तो उसमे भी प्रसन्न रहे, एक तत्त्वज्ञानको न छोड़ें, उसके लिए तो निरन्तर प्रयत्नशील रहें, और बाकी सब कुछ छोड़नेका साहस रखें। यह साहस तत्त्वज्ञानी पुरुषके होता है। सभी जीवोके यह साहस क्यों नही होता? मोही जीवोको तो लोगोंके बीच अपनी शान बगरानेका, ढगसे शानसे रहनेका, कितनी ही तरहके मोह होते रहते हैं। उससे अन्तः कितना आघात होता है उसे ये सह रहे हैं, उससे अलग होनेका चित्तमे भाव

ही नही लाते । तो दूसरोंका क्या सोचना ? खुदकी सोचें । एक झलक सहज ज्ञानज्योतिस्वरूपकी लावें तो सही । अनन्त भव पाये, उनमे बड़े-बडे राजपाट भी पाये, पर आज पास कुछ न रहा । आज भी जो कुछ आपको मिला हुआ है वह भी आपके पास न रहेगा । आज मनुष्य हुए है, श्रेष्ठ मन मिला है, योग्यता जगी है तो एक इसका भी तो स्वाद लीजिए, अनुभव कीजिए कि मै अकिञ्चन हू । अपनेको सबसे निराला अनुभव करें, अन्य सबकी याद छोड दें । कैसा विचित्र आनन्द है, उसका भी तो एक बार स्वाद लीजिए । भला कोई नई चीज हो तो उसको खानेको जी चाहता है, अगर स्वाद उसका अच्छा नही है तो उसे फिर कभी नही खाया जाता । ऐसे ही जो एक नई चीज है, जिसका कभी अनुभव नही किया, ऐसा एक अध्यात्मरस सहज ज्ञानस्वरूप, ज्ञानमे ज्ञानको रमा देना, जहाँ सिर्फ जानन ही जानन रहे अथवा कुछ भी न रहे, ऐसे परमवैराग्य सहित एक ज्ञानकी सामान्य स्थिति बने, उसका स्वाद तो ले लीजिये—अगर आपको पसद न आये तो छोड देना, लेकिन जहाँ अनेक कष्ट किए जाते, अनेक स्वाद लिए जाते, अनेक शान्तिके लिए प्रयत्न किए जाते, वहाँ एक वह भी प्रयत्न करके देख लो—उसमे बडा ही विचित्र आनन्द है । लेकिन मोहमदिरापायीको सुमति कैसे जग सकती है कि वह शुद्ध ज्ञान बनाये । इस मोहने इस जीवको झकझोर दिया । इसमे कायरता आ गई है, विषयोके आधीन बन गया है । किसीसे प्रेम करना, प्रेमकी आशा रखना, यह कितनी बडी कायरता है, कितना महान् पाप है । पापको पाप न समझ सकना और उसे धर्मका रूप दे देना, यह इस जीवके लिए कितनी अनर्थकी बात है । अहा, एक अविकार शुद्ध सहज ज्ञानज्योतिरूप अवस्था, यह आपके लिए हितकर है, यही धर्म है, इसके सिवाय और कुछ धर्म त्रिकाल हो ही नही सकता । अपने आपकी झलक आये, यह बडा स्वाधीन काम है बडा सरल काम है, बडे मजेका काम है, इसमे आकुलताका नाम नही । धीरेसे प्रवेश कर रहे है, अपनी ही समृद्धि है, उसकी ओर आयें, अन्य बाहरी बातोकी उपेक्षा करे । जो होता है होने दो । हाँ घरमे रहते है, इस नातेसे थोडा प्रतिकार करें, मगर चित्तमे इतना मत बसाओ कि आपको अपने आत्माका ध्यान ही न रहे और यह सारा जीवन व्यर्थ हो जाय । यही तो अब तक हो रहा है दर्शनमोहके उदयसे । जब दर्शनमोहका उदय होता है तो यह जीव बेमुध और विपरीत बुद्धि वाला हो जाता है । जो पदार्थ अनात्मीय है, अपना कुछ उसमे नही है उसमे मानता है कि यह मेरा है ।

चापि लुम्पति सम्यक्त्व दृङ्मोहस्योदयो यथा ।
निरुणद्ध्यात्मनो ज्ञानं ज्ञानस्यावरणोदय ॥९९२॥

अज्ञानीके सम्यक्त्वलोपके साथ ज्ञाननिरोधका भी संकट—एक ही ऐब रहे, ऐसी स्थिति नही हो पाती मोहीकी । जहाँ एक ऐब है वहाँ साथ अनेक ऐब है । जैसे दुर्जन, गुड़े-

जन ये अकेले कही नही रहते। जहाँ एक होगा वहाँ उसके आगे पीछे उसकी पार्टीके अनेक लोग लगे होगे। कोई सोचे कि एक दर्शनमोहका उदय आया, उससे अगर श्रद्धान विपरीत बने तो बनने दो, एक ही ऐब तो है, पर ऐसा नही है, उसके साथ अनेक ऐब लगे है। एक अज्ञानका ऐब लगा है। हालाकि जैसे जो गुडोका बादशाह है, सारी डोर उसके हाथ है, मगर अकेला रहकर वह बादशाही नही पा सकता, इसी तरह दर्शनमोहके उदयसे हुआ मोहभाव व दर्शनमोह कर्म, यद्यपि कर्मोका बादशाह है, यह ही सारा बिगाड कर रहा है, सारी योजना यही बनाता है, करने वाले साथ-साथ और है, मगर प्लान, झुकाव, दिशाका दर्शन देने वाला यह दर्शनमोह कर्म है। लेकिन अकेले वही रहे तो इसकी बादशाही रह नही सकती। होता ही नही ऐसा। अज्ञान भी साथ चल रहा, आसक्ति चल रही, अनेक ऐब साथ-साथ चल रहे। तो जैसे दर्शनमोहका उदय सम्यक्त्वको लुप्त कर देता है, इसी तरह ज्ञानावरणका उदय आत्मा के ज्ञानको रोक देता है। दर्शनमोहके उदयमे सम्यक्त्वका लोप होता है अर्थात् सम्यक्त्व दब जाता है, छिप जाता है, विपरीत परिणम जाता है, और ज्ञानावरणके उदयमे ज्ञान रुक जाता है, उसका विकास नही होता। यह स्थिति है अज्ञानी जनोकी, मोही जनोकी। जरा अपने आपकी स्थितिपर ध्यान भी दो। हमे जीवनमे कितने काम करनेको पडे है? और इस समय हम किस स्थितिमे हैं? एक विडम्बना और विपत्ति यह भी लगा रखी है कि वर्तमान स्थिति मे रुचि रखना, उसमे मौज मानना, अजी मेरा सब कुछ ठीक है, धन दौलतसे भी कोई तकलीफ नही है, बाल-बच्चोसे भी कोई तकलीफ नही है, इज्जत प्रतिष्ठाकी भी कोई कमी नही है और अपना मनमाफिक धर्म भी कर रहे, पूजा कर रहे, गप्पे करते, लोकमे अच्छे भी कहलाते। बहुत ज्ञान है, बहुत सुलझे है, बहुत समझदार हैं, हम तो बहुत ठीक हैं, अच्छी स्थितिमे है। अरे इस स्थितिमे जरा भी सन्तोष न करे, सन्तोष लायक यह स्थिति नही है। तो ससार विडम्बनाको देखो—इस स्थितिके पानेपर भी जो मोह हो रहा, गल्ती हो रही, भीतरमे प्रमाद बस रहा उसके फलमे हो गए कीडे-मकोड़े, पेड-पौधे तो फिर इस कल्पित सन्तोष वाली स्थितिको पानेसे क्या लाभ रहा?

बाह्यवृत्तिसे हटकर अन्तर्वृत्तिमे आनेका संदेश—भैया! अभी बहुत काम पडा है अपने आपका। यह तो स्थिति सन्तोषके लायक नही है। वर्तमान पर्यायमे खुश मत हो, इससे हटे हुएसे रहो। जैसे कोई किसीपर बैठा हो तो वह नीचे वाला ऊपर देखता है, नीचे तो नही देखता, इसी तरह आप पर्यायपर बैठकर देखो, ऊपर देखो, नीचे मत देखो, पर्यायको मत देखो। यद्यपि पर्यायसे हम छूटे नही है, और देखनेका ढग भी हमारा पर्यायके अनुकूल है, लेकिन दिशा ऊपरकी बताओ। जो अध्रुव है उसे मत देखो—अपनेको मनुष्य मत देखो—इससे ऊपर देखो—आत्मत्व देखो, परमात्मत्व देखो—उस ज्ञानज्योतिस्वरूप परमधामको

देखो – इस पर्यायमें तृप्त मत हो, यहाँ क्या स्थिति है ? ज्ञानावरणका उदय ज्ञानको रोक रहा है, दर्शनमोहका उदय सम्यक्त्वका लोप कर रहा है। कौनसी यहाँ मौज माननेकी स्थिति है ? इसको तो यो समझो—जैसे कि ससारके अन्य जीव, ये कीडे-मकोडे। सन्तोप लायक स्थिति है तो ब्रह्मज्ञान, आत्मज्ञान, ज्ञानकी ओर झुकाव, दृष्टि। ये वैभव क्या है ? वै मायने निश्चय से। सस्कृतमे वै शब्द बहुत-बहुत आया करता है। और भव मायने ससार। जिसे लोग वैभव कहते है वह निश्चयसे दुःख है, ससार है। इन सोना-चाँदी, पैसा, ईट पत्थर आदिक जड पदार्थोमे धरा क्या है ? इनसे हमे मिलता क्या है ? थोडा यह सोच लो कि बहुतसे लोग अच्छा कह देते है, बहुतसे लोग जो चाहे कह देते है वे मूर्ख ही तो है। मूर्खोंसे अपनेको अच्छा कहलानेकी कल्पना करना, इसका अर्थ क्या है कि मूर्खोमे बादशाह बननेका प्लान बनाया जा रहा है। यह ही तो अर्थ है, स्थिति है, ठीक है, पर भीतरमे श्रद्धा तो पवित्र बनाओ—वर्तमान स्थिति सत्य नही है, सन्तोषके लायक नही है, तृप्तिके लायक नही है। दर्शनमोहका उदय सम्यक्त्वका लोप कर रहा और ज्ञानावरणका उदय ज्ञानका निरोध कर रहा। अब क्या रहा इस व्यक्तिके पास ? ज्ञान है तो उसकी यह दशा और स्वच्छता है तो उसकी यह दशा। कोई पुरुष कूडा-करकट जोडकर अपनेको धन्य माने तो उसे आप क्या कहेगे ? इसी तरह जो पुरुष अपने विशुद्ध ज्ञानानन्दस्वरूपको तजकर जड पदार्थ पाषाण जड चीज, जिसमे ज्ञान नही, आनन्द नही, कुछ बात नही उसको छोडकर अपनेको धन्य माने तो उसकी क्या स्थिति है ? इसे भी अज्ञानी क्या समझेगा ? ज्ञानी जानता है और इस दृष्टिमे देखो तो अज्ञानियोने ऐसा मोह लगा रखा है कि जिसे वे खुद नही समझ सकते। उस दुःखको तो ज्ञानी पुरुष जानता है, तब ही तो उनके करुणा उत्पन्न होती है। कितना कष्ट है एक ज्ञानमय ब्रह्मस्वरूपके बोध बिना। यह स्वयकी बात स्वयमे निरखनेकी है। सकल्प होना चाहिए इस जीवनमे, एक मोड लेनो चाहिए कि मैंने सब समझ लिया, बाह्य सारे पदार्थ सारहीन है, मेरे लिए कुछ भी कामके नही है। उनकी ममता न रखें, उनका लोभ न रखे और अपनी इस ज्ञानज्योतिको निरखनेमे अपना समय लगायें, तन, मन, धन, वचन, इन सबका उपयोग करें और इस ज्ञानस्वरूपकी उपासना करें।

यथा ज्ञानस्य निर्णाशो ज्ञानस्यावरणोदयात्।
तथा दर्शननिर्णाशो दर्शनावरणोदयात् ॥९९३॥

सम्यक्त्वलोप व ज्ञाननिर्णाशके साथ दर्शननिर्णाशका भी अज्ञानीको संकट—उक्त श्लोकमे दो ऐब बताये थे—एक तो दर्शनमोहका उदय होनेसे सम्यक्त्वका लोप हो जाता है और ज्ञानावरणका उदय होनेसे ज्ञानका निरोध हो जाता है। अब यहाँ तीसरा ऐब और बता रहे है। जसे ज्ञानावरणका उदय होसे ज्ञानका विनाश हो जाता है, ऐसे ही दर्शनावरणका

उदय होनेसे दर्शनका भी विनाश हो रहा है। जैसे यह आत्मा अनेक पदार्थविषयक ज्ञान नही कर पाता, ऐसे ही ज्ञान करने वाले आत्माका दर्शन भी नही कर पाता। पदार्थको जाना और पदार्थके जानने वालेको हमने समझ लिया. ये दो कलायें है इस आत्मामे, पर ज्ञानावरण और दर्शनावरणका उदयका निमित्त पाकर इस जीवने कलाओका उच्छेद किया है, तो जैसे इसके सम्यक्त्वका लोप है, ज्ञानका निरोध है, इस प्रकार दर्शन गुणका भी निरोध है। दर्शनगुण अपनी ऐसी विशिष्ट कला रखता है कि दर्शनका दर्शन यदि हो जाय तो सम्यग्दर्शन हो जायगा। ज्ञान और दर्शन सभी जीवोमे सदाकाल पाये जा रहे है। जानना, और जो जानना है उसका प्रतिभास होना। पर प्रतिभास होकर भी उसे ग्रहण नही कर पाते कि यह है दर्शन और यह है प्रतिभास। तो दर्शनगुण भी बडा महत्त्व रखता है, उसका भी विनाश हो गया इस दर्शनावरणका उदय पाकर। इस तरह इस जोवने गरीबी हो गरीबी पायी है। यो तो सूकर, भैंसा आदिक कीचडमे लोटकर और अपने शरीरमे खूब कीचड लपेटकर मस्त रहते है, उससे वे अपनेको बडा महान् सुखो अनुभव करते है और गर्व करते है। उनकी पर्याय ही ऐसी है कि वे उसमे मस्त है, खुश है, इसी तरह मोहकी पर्याय ऐसी है कि लग रहा यह सब मैल, बाह्य पदार्थोमे आशा लगाना, ममता जगना यह मोह नही है क्या? यह तो आत्माका दोष है। पर इसमे मस्त है, बडे खुश हो रहे है, बडा आकर्षण है और इसपर भी उस प्रेमकी बडी प्रशसा करते है। दूसरोसे प्रेम रखना यह क्या है? यह तो कीचड लगाना जैसा है और उससे ही ये अपनेमे गर्व अनुभव करते है। अरे अपने भीतर निष्कलक ज्ञानज्योतिमात्र, जिसमे कष्टका काम नही, जो कभी अधूरा नही, जिसमे किसी परका प्रवेश नही, उस अन्तस्तत्त्वको नही अपना पाता। तो इस तरह यह जीव मोही है, अज्ञानी है और अद्रष्टा है।

यथाधारावराकारैः गुण्ठितस्यांशुमालिन.।
नाविर्भाव· प्रकाशस्य द्रव्यादेशात् स्वतोपि वा ॥६६४॥

अन्तस्तत्त्वकी अन्तःप्रकाशमानता—जैसे मेघोसे आच्छन्न सूर्य उसका प्रकाश नही है, लेकिन सूर्यमे स्वयमे प्रकाश है कि नही? मेघोकी घटा आ गई। अब यहाँ प्रकाश रुक गया, तो रुक तो गया प्रकाश, लेकिन सूर्यमे स्वयमे क्या यहाँ जैसा अंधेरा है? वह अपनेमें प्रकाशमान है। तो इसी तरह द्रव्यदृष्टिसे यदि निरखें तो आत्मा अपने स्वभावसे स्वयं ज्ञानस्वरूप है, पर आ गया है ज्ञानावरण, तो यह ज्ञानस्वरूप आत्मा प्रकाशमे नही आ रहा है। जैसे इन बादलोके ऊपर हवाई जहाज चलता है, बादल बहुत नीचे रह जाते है, ऊपर हवाई जहाज से चलने वाले लोगोको क्या तकलीफ है? बल्कि उसमे बैठे हुए तो नीचेके बादलोका नजारा देख-देखकर खुश होते चले जाते है। उन्हे कष्ट क्या? तो इस तरह इन सब कर्मकलंक आवरण, इन सबसे परे जो आत्माका निज ज्ञानस्वरूप है उस ज्ञानस्वरूप तक जो पहुच गया,

वहाँ जो निहार कर रहे उनको क्या अडचन है ? वे तो कर्म और कर्मफलका दृश्य देखकर ज्ञातादृष्टा रहते है। तो यो इन सब आवरण कर्म, नोकर्म इन सबसे परे जो मेरा अन्तःज्ञान-ज्योतिस्वरूप है उस स्वरूप तक पहुचनेका पौरुप कर लें। ये दिखने वाले मायामयी दृश्यमान पदार्थ तेरे साथ सदा न रहेगे। इनके परिचयमे तथा मन, वचन, कायकी जो क्रियायें होती है उनमे भी यह आस्था मत रखें कि ये मेरी चीज है। तत्त्वज्ञानी पुरुप जानता है कि मैं जो कुछ कर रहा हू या जो कुछ मैने अब तक किया वह एक अज्ञानमय चेष्टा है। कैसा निराला है यह ज्ञान ? सामायिक भी करते है, वदना भी करते है, सिर भी भुकाते है, पर विवेक है कि यह तो सब अज्ञानकी लीला है। यो करना, यो चलना ये सब अज्ञानकी चेष्टायें है और भीतर जो एक ज्ञानज्योतिस्वरूप अतस्तत्त्व है, उसकी जो किरण है, जो जगमगाहट है वह है एक ज्ञानचेष्टा। यहाँ तक जिसकी विरक्ति है, उपेक्षा है धर्मका मर्म तो उसने पाया, और यहाँ थोडा बहुत धर्मकी बात सीख लेने वाले या कुछ ऊपरी बात करने वाले यही खुश हो रहे। समझ लेते कि मैने बहुत धर्म कर लिया और दूसरोको मै बहुत धर्ममे लगा देता हू, अरे धर्ममे लगना क्या और लगाना क्या—पहिले तो यही जानो। कितना गम्भीर और कितना शान्त मै अन्तस्तत्त्व हू। तो वर्तमान पर्याय जो कुछ भी है वह सतोपका साधन न कबूल करे। इससे तो हटना है। यह पर्याय—इससे हटकर आगे बढना है, यह कोई मेरा परमधाम नही है।

यत्पुनर्ज्ञानमज्ञानमस्ति रूढिवशादिह।
तन्नौदयिकमस्त्यस्ति क्षायोपशमिक किल ॥६६५॥

ईषत् ज्ञानरूप अज्ञानकी क्षायोपशमिकता—जिस ज्ञानको लोग अज्ञान कह देते है, जैसे कि किसीके थोडा ज्ञान है अथवा कुछ उल्टासा ज्ञान है ऐसे ज्ञानको लोग अज्ञान कह देते है, पर वास्तवमे ऐसे अज्ञान शब्दसे कहा हुआ भी यह भाव औदयिक भाव नही है, किन्तु क्षायोपशमिक भाव है। यहाँ औदयिक भावोके वर्णनका प्रकरण चल रहा है। अज्ञान भी औदयिक भाव है, जिसका विवरण आगे किया जायगा, लेकिन थोडेसे ज्ञानको जो लोग अज्ञान कह देते है, उसका अर्थ यह नही है कि जैसे भीत, पत्थर आदि ज्ञानरहित है इसी प्रकार यह भी ज्ञानरहित है। अज्ञानका अर्थ है थोडा ज्ञान होना। जैसे किसी कन्याका पेट बहुत पतला होना है, जिसे सस्कृतमे अनुदरा कहते है और हिन्दीमे कह देते है कि इसके तो पेट ही नही है तो क्या पेटका अभाव है। इसी तरह अज्ञान कह दिया, इसके ज्ञान नही है, तो क्या ज्ञान है ही नही ? बहुत थोडा सूक्ष्म ज्ञान है, इस कारण कह देते है कि अज्ञान है, लेकिन यह अज्ञान क्षायोपशमिक भाव है, औदयिक भाव नही है। औदयिक भावरूप जो अज्ञान है उसका आगे वर्णन किया जायगा। तो जो कुछ भी थोडासा लोगोके ज्ञान पाया जाता है वह ज्ञानावरणके क्षयोपशमसे होता है, इस कारण वह क्षायोपशमिक भाव है, ऐसा अज्ञान औदयिक नही है।

अथास्ति केवलज्ञान यत्तदावरणावृतम् ।
स्वापूर्वार्थान् परिच्छेतु नाल मूर्छितजन्तुवत् ॥८६६॥

केवलज्ञानावरणके उदयमें होने वाले ज्ञानाभावरूप अज्ञानकी औदयिकता—अब अज्ञानकी बात बतायेंगे कि किसे अज्ञान कहते है ? उसी सिलसिलेमे प्रथम यह बात बतला रहे है कि केवलज्ञान नामका एक विशाल ज्ञान होता है । प्रभुके केवलज्ञान होता है, जो तीन लोक तीन कालकी समस्त द्रव्यपर्यायोको यथार्थ जानता है, ऐसे केवलज्ञानका आवरण करने वाला कर्म केवल ज्ञानावरण कहलाता है, सो जब केवल ज्ञानावरणसे आवृत है, ऐसा ज्ञान जब स्व और अन्य अर्थको जाननेके लिए यह जीव समर्थ नही है । जैसे केवलज्ञानमे जाने जाते है समस्त लोक और कालके पदार्थ, उनको जाननेमे यह समर्थ नही है । जैसे कोई प्राणी किसी चीजको सूँघकर मूर्छित (बेहोश) हो जाय तो वह स्व और अन्य अर्थका ज्ञान नही कर पाता, इसी तरह केवल ज्ञानावरणसे आवृत केवलज्ञान हो गया है अनादिसे ऐसा आवृत चला आ रहा है तब उसके विषयभूत स्व और अन्य अर्थको जाननेमे यह जीव समर्थ नही हो पाता । कौनसा अज्ञान औदयिक हे, यह बात केवल ज्ञानावरणसे उठाकर बताते जायेंगे । देखो केवल-ज्ञानावरण होनेसे जिन पदार्थोका ज्ञान हो ही नही पाया है ऐसा जो अज्ञानभाव है वह है औदयिक भाव और ऐसा औदयिक अज्ञानभाव १२ वें गुणस्थान तक रहता है, क्योकि जहाँ तक केवलज्ञान नही हुआ है वहाँ तक अज्ञान कहा गया है ।

यद्वा स्यादवधिज्ञान ज्ञान वा स्वान्तपर्ययम् ।
नार्थक्रियासमर्थं स्यात्तत्तदावरणावृतम् ॥८६७॥

अवधिज्ञानावरण व मनःपर्ययज्ञानावरणके उदयमें होने वाले ज्ञानाभावरूप अज्ञान की औदयिकता—ज्ञान ५ प्रकारके बताये गए है—(१) मतिज्ञान, (२) श्रुतज्ञान, (३) अव-धिज्ञान, (४) मन.पर्ययज्ञान और (५) केवलज्ञान । केवलज्ञानावरणसे आवृत केवलज्ञान वस्तु को जाननेमे समर्थ नही है । केवलज्ञान वहा है ही नही, वहाँ वह अज्ञान है । तो उसके बाद इस श्लोकमे बता रहे है कि वहाँ अवधिज्ञानावरण और मन पर्ययज्ञानावरणसे आवृत्त ज्ञान भी पदार्थको जाननेमे समर्थ नही है । अवधिज्ञान जिन पदार्थोको जान सकता है अवधिज्ञाना-वरणसे आवृत्त हो जाय तो उन्हे जान तो न सकेगा तो उस अपेक्षासे वह
प्रकार मन.पर्ययज्ञान जिन पदार्थोको जान लेता है, मनःपर्ययज्ञानसे आ
नो न सका । तो जो न जान सका ऐसा जो ज्ञानका अभाव है वह है
विषय है कुछ भूत-भविष्यके, वर्तमानसे रूपी पदार्थोको जान
पहिले भवमे क्या थे, अगले भवमें क्या बनेंगे ? जो कुछ भी
को जान सकता है उसे कहते है अवधिज्ञान । तो अव

तो न बन सकेगा। मनःपर्ययज्ञान जानता है दूसरेके मनकी बात, जो उसे विचारा हो, पहिले विचारा हो, आगे विचारेंगे, विचारते थे, आधा ही विचार पायें तो उन सब बातोको मनःपर्ययज्ञान जान जाय, यह ज्ञान साधु जनोके होता है। तो जब मन पर्यय ज्ञानावरण छाया हो तो ऐसा ज्ञान जीव नही कर सकता है तो इस आवरणके होनेपर जो ज्ञान नही होता है ऐसा अज्ञान भाव औदयिक ज्ञान कहलाता है।

मतिज्ञानं श्रुतज्ञान तत्तदावरणावृतम्।
यद्यावतोदयांशेन स्थित तावदपन्हुतम् ॥६६८॥

मतिज्ञानावरण व श्रुतज्ञानावरणके उदयमे आवृत अंशोमें होने वाले ज्ञानाभावरूप अज्ञानकी औदयिकता—मतिज्ञान और श्रुतज्ञान ये दो ज्ञान समस्त ससारी जीवोके नियमत. है। किसीको अवधिज्ञान हो गया उसके भी ये दो ज्ञान है। किसीके मनःपर्ययज्ञान हो जाय उसके भी ये दो ज्ञान हैं। केवलज्ञान हो जानेपर, अरहत अवस्था प्रकट हो जानेपर मतिज्ञान, श्रुतज्ञान नही रहता। मतिज्ञानका अर्थ है कि इन्द्रिय और मनसे पदार्थको जान जाना वह मतिज्ञान है। काला, पीला, लाल, सफेद आदिक रगोका ज्ञान होना, खट्टा, मीठा, चरपरा आदिक रसोका ज्ञान होना, ठंड गर्मी आदिक स्पर्शोका ज्ञान होना, सुगध, दुर्गन्ध आदिक गधोका ज्ञान होना, इस तरह मन और इन्द्रियसे जो ज्ञान होता है उसे मतिज्ञान कहते है। और मतिज्ञानसे जानकर उसी पदार्थके बारेमें कुछ और बाते जानना वह श्रुतज्ञान है। जैसे मतिज्ञानसे जान लिया, जो कुछ सामने रखा है, अब यह बैन्च है, पुरानी है, मन्दिरकी है आदिक जो कुछ बातें जानते गए वह सब श्रुतज्ञान है। मतिज्ञान और श्रुतज्ञानमे फर्क यो समझ लीजिए कि मतिज्ञानसे जो ज्ञान होता है उसमे विकल्प नही होता है, ख्याल नही बनता। उसका विश्लेषण नही हुआ करता। बस जान लिया। जैसे बच्चा पैदा हुआ तो १०-५ दिन वह आँखोसे सब कुछ देखता तो रहता है, लेकिन यह बोध नही कर पाता कि यह भीत है, यह माँ है, यह अमुक है। यह एक दृष्टान्त दिया है। इसी तरह मतिज्ञानसे जान तो लिया सब कुछ, लेकिन सब कुछ जो जाननेमे आया उसके सम्बधमे विकल्प नही है। बल्कि यहाँ तक समझिये कि देख तो लिया, मगर यह पीला है, यह काला है, यह लाल है, इस तरहका विकल्प होना श्रुतज्ञानका काम है। जाना यद्यपि पीलेको पीला ही, मगर यह पीला है, इस तरहका बोध मतिज्ञानमे नही होता। अब समझ लीजिए कि जितने ख्याल है, जितने विकल्प है, विचार है वे सब श्रुतज्ञान हैं। मतिज्ञान तो निर्विकल्प है। तो ये दोनो ज्ञान जितने अशोमे है, आवरणसे आवृत है उतने अशोमे इसका भी ज्ञान नही रहता। जैसे अवधिज्ञानावरण, मनःपर्ययज्ञानावरण, केवलज्ञानावरणसे यह ज्ञान पूरा आवृत रहता है और कुछ नही समझ पाते अपने विषयको, लेकिन मतिज्ञान व श्रुतज्ञानपर पूरा आवरण नही

आता। कितना ही छोटा जीव हो, एकेन्द्रिय हो, निगोद हो, पर उसपर पूरा आवरण नही आ सकता। अगर मतिज्ञान श्रुतज्ञानावरण भी जीवपर पूरा छा जाय तो पुद्गलकी भाँति अन्य अजीव द्रव्यकी भाँति जड बन जायगा। कोई भी जीव ऐसा नही है कि जिसमे कुछ न कुछ ज्ञान प्रकट न हो। इसी कारण मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरणका आवरण जीवपर पूरा नही होता। जितने अशोमे होता है उतने अशोमे ज्ञान ढका हुआ रहता है और उतने अंशोमे वहाँ औदयिक अज्ञान है।

यत्पुनः केवलज्ञान व्यक्तं सर्वार्थभासकम्।
स एव क्षायिको भावः कृत्स्नस्वावरणक्षयात् ॥६६६॥

इस श्लोकमे केवलज्ञानकी बात बतायी जा रही है। केवलज्ञान क्षायिक भाव है, क्योकि केवलज्ञान प्रकट रीतिसे सम्पूर्ण पदार्थका जाननहार है और ऐसा होना ही है, क्योकि समस्त ज्ञानावरणका क्षय हो चुकता है तब केवलज्ञान प्रकट होता है याने समस्त ज्ञानावरण न रहा तो अपने आप ही समस्त ज्ञान प्रकट हो गया, ऐसा जो केवलज्ञान है वह क्षायिक-भाव है। जो भाव कर्मके क्षयका निमित्त पाकर प्रकट होता उसे क्षायिक भाव कहते है। इन ५ प्रकारके ज्ञानोमें केवलज्ञान ही क्षायिक भाव है, शेष ४ ज्ञान क्षायोपशमिक है। उन शेष चार ज्ञानावरणोमे सर्वघातीस्पर्धक और देशघातीस्पर्धक दोनों प्रकारके स्पर्धक है, तब ही क्षयोपशम ज्ञान कहलाता है। किन्तु केवलज्ञानावरण तो सर्वघाती है, और आवरणमे तो ऐसा होता है कि कुछ आवरण हट गए, कुछ न रहे, लेकिन केवल ज्ञानावरण तो ऐसा नही है। केवल ज्ञानावरण मिटा तो पूरा मिट गया। न मिटा तो पूरा रहा। इसो तरह जब केवल-ज्ञान होता तो पूरा होता और जब नही है तो नही है, ऐसा समस्त ज्ञानावरणोके क्षयसे प्रकट हुआ केवलज्ञान क्षायिक भाव है। यहाँ कुछ भावोंकी चर्चा चल रही है। मूलमे बताया था कि औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक और पारिणामिक ये पाँच भाव है। इन भावोमे सबसे पहिले औदयिक भावोका वर्णन कर दिया गया और उस प्रसगमे यहाँ ज्ञानकी चर्चा चल रही है। तो कैसे आवरण होता है, कैसे औदयिक भाव बनता है, कैसे उनका क्षय होता है और क्षय होनेसे क्षायिक भाव बनता है, यह सब समझनेके लिए थोड़ा कर्मोका वर्णन किया जा रहा है।

कर्माण्यष्टौ प्रसिद्धानि मूलमात्रतया पृथक्।
अष्टचत्वारिशच्छत कर्माण्युत्तरसज्ञया ॥१०००॥

कर्मोके भेद प्रभेदकी संख्या—बारह भावनामे आप लोग पढते है—"ज्ञानदीप तप तैल भर, घर सोधै भ्रम छोर। या विधि बिन निकसै नही, पैठे पूरब चोर॥" तो वे कर्म-चोर अपने आत्मामे पड़े हुए है। उन चोरोंकी बात कही जा रही है। वे कैसे है चोर सो

बताओ। तुम्हारे घरमें कोई चोर छिपा हो तो उसको देखनेकी तुम्हारी इच्छा होती कि नही ? क्यो इच्छा होती कि अगर उस चोरको न देखें और घरमें वह चोर बना रहेगा तो वह तो रात भरमें कुछने कुछ नुकसान कर देगा। शामके समय जीनाके नीचे देख लिया, यहाँ वहाँ देख लिया, चोर तो नही छुना, अगर नही देखते तो वह नुकसान कर देगा। उसे देखो और निकालो। चोरको निकाल देना कितना सरल है ? जरासा देख लिया निकल जायगा, जरा खांस दिया निकल जायगा। चोरके कितनी दम ? ऐसे ही जरा अपने घरके चोरकी बात देखो—आत्मामे कर्मचोर घुसे हुए है। कोई डरपोक हो तो उस चोरसे डर जायगा, उसे बलवान समझ लेगा और वह चिल्लायेगा, पर इतनी हिम्मत न करेगा कि उसे खांस दे, डांट दे, ऐसे ही जो विषयोके कायर पुरुष हैं वे इन कर्मचोरोसे डर गए। खांस भी नही सकते, जरा दृष्टिसे देख भी नही सकते, डर बसा हुआ है तो कर्मचोर इसपर हावी है। वैसे इन कर्मचोरोमें ताकत कुछ नही है। जरा अपने इस ज्ञानप्रभुको देख लो और थोडासा खांस दो। खाँसनेके मायने यहाँ मुखसे खांसना नही, किन्तु जरा विवेकपूर्वक अपने आत्माकी ओर झुककर इन विषयोंको झकझोर दो, ये कर्मचोर बहुत जल्दी भाग जायेंगे। तो अब इन कर्मचोरोके सम्बन्धमे बात यह कही जा रही है कि कैसे-कैसे है ये चोर ? ये कर्म ८ प्रकारके बताये गए है—(१) ज्ञानावरण, (२) दर्शनावरण, (३) मोहनीय और (४) अन्तराय, (५) वेदनीय, (६) आयु, (७) नाम और (८) गोत्र। तो मूलमे तो ये कर्म ८ प्रकारके बताये गए—आठ काठकी खाटपर आरामसे सोते कि नही ? देखो खाटमे ८ काठके आठ लगते है ना, ४ पाये, २ पाटी, २ सिरा, तो इन ८ काठकी फसी हुई खाटमे बडे मजेमे सोता है आदमी। यहाँ भी देख लो ये सब जीव ८ कर्मके सयोग वाली खाटमे बेहोश होकर सो रहे है। यहाँ कोई ऐसा बुद्धू न मिलेगा जो उस खाटपर सोये हुए व्यक्तिको भी खाट कह दे। लेकिन यहां ये बहुत बुद्धू मिलेंगे जो आठ कर्मोंके सयोगमे सोते हुए पुरुषको ही कह देंगे कि यह कर्म है, जीव है। उस शुद्ध ज्ञायकस्वरूपको पहिचाननेमे कठिनाई पडेगी। ऐसे ये कर्म ८ है और इनके उत्तर भाव है १४८। ज्ञानावरणकी ५, दर्शनावरणकी ६, मोहनीयकी २८, अन्तरायकी ५, वेदनीयकी २, आयुकी ४, नामकर्मकी ९३ और गोत्रकी २। ये सब मिलकर १४८ प्रकृतिया होती है।

दृश्य पदार्थोंकी प्रकृतिधर्मता व प्रभुलीलारूपता—देखो प्रसिद्धि इस बातकी हो रही है अनेक दार्शनिकोमे कि जो कुछ जगतमे है वह सब प्रकृतिका धर्म है। पुरुष तो एक चैतन्य-स्वरूपमात्र है। वह न करता है, न भोगता है। वह तो एक साक्षी है। नयदृष्टिसे देखो तो बात उनकी सत्य है। यहां यह सब जो कुछ दिख रहा है यह प्रकृतिका धर्म है, पर उन कहने वालोसे यह तो पूछो कि प्रकृति किसे कहते है ? प्रकृतिका आकार क्या है ? ढग क्या

है ? मुद्रा क्या है ? तो न बता पायेंगे। जैसे कि आजकल भी लोग कुदरत शब्द तो जल्दी बोल देते है—"यह सब कुदरतका खेल है" और उनसे पूछो कि वह कुदरत क्या है ? जैसे बैन्च है, भीत है, ऐसे ही कुदरत क्या चीज है ? जबानमे सबके चढा है कुदरत, प्रकृति, पर चीज क्या है वह कुदरत, इसका स्पष्टीकरण जैनशासनमें है। क्या है वह प्रकृति, जिसका कि यह धर्म है। किसी बागमे बडे सुहावने फूल है, एक फूलमे ६-६ रंग है। एक पेडके फूलोमे कोई लाल हो रहा, कोई सफेद, कोई किसी रगका, और उनसे पूछो कि यह क्या माजरा है ? पेड तो यह एक है और एक ही डालीमे पास ही पासमे एक फूल लाल हो गया, एक सफेद हो गया। अच्छे-अच्छे बागोमें जाकर देख लो, यह क्या मामला है ? जब समझमें नही आता तो कोई कह देते कि यह तो ईश्वरकी लीला है, उसका कौन पार पा सकता ? कोई कहता कि यह तो कुदरतका खेल है तो वह कुदरत क्या चीज है इसे कोई नही जानता ? ये सब प्रकृतिके धर्म है, प्रकृतियां है १४८ और अनुभाग ऐसा पडा है कि जिसका उदय आये तो ऐसे-ऐसे शरीरोकी रचना हुई। ये प्रकृतियाँ १४८ नही है। आगेके श्लोकमे बतावेंगे कि अनगिनते प्रकृतियाँ होती है, पर अनगिनती प्रकृतियाँ बताकर कोई समझानेकी बात तो न चल सकेगी। उन अनगिनते प्रकृतियोको सूक्ष्म करके, संक्षेप करके उन्हे १४८ कहा जाता है। जैसे १४८ का संक्षेप करके बताया गया है ८ और ८ का संक्षेप करके बताया जाता है २—घातिया और अघातिया। ऐसे ही प्रकृतियाँ अनगिनती है और उनके अनुभागका उदय होता है तब ऐसी-ऐसी रचनायें होती है। वह चीज सूक्ष्म है, किसीको समझमे आती नही। युक्ति, अनुभव, आगमसे जरूर गम्य है। तब लोग कभी कुदरत कह देते है, कभी ईश्वरकी लीला कह देते है। बात दोनोकी सच है। कुदरत मायने प्रकृति, उसकी एक लीला है और ईश्वर मायने यह ज्ञायकस्वरूप जीव, जिसने जन्म लिया है उसकी भी लीला है, पर किस नयसे क्या वचन है, इसे न जानकर लोग अपनी कल्पनाकी बात कह देते है। तो जिसकी प्रकृतियाँ, जिसके धर्म ये सब कुछ है, जो आज निर्जीव है ये भीत, पत्थर, बैन्च आदिक, इस समय इनमें जीव नही है, लेकिन ये बने किस तरह थे ? जब इनमे जीव था, काठ था, पृथ्वी थी, उनका शरीर बना था, अब नही है जीव तो आखिर इनमे जीवकी करतूत तो वे। यो है ईश्वरकी लीला। कोई यो माने कि कोई एक ईश्वर बैठा है, उसके मुनीम लगे है, खाता बही हो, सिपाही आ रहे है, उनको मारने जा रहे है। किसीसे भूल हो गयी, उसे मारना न था, मार दिया तो उन्हे डाँट पडती है—इसे क्यो मार डाला ? जावो उस दूसरेको लावो, ऐसी कोई लीला नही है। प्रकृति लगी है, जीवके साथ उन कर्मोंका उदय है और निमित्तनैमित्तिक इसी प्रकारके भाव चल रहे हैं, सारी व्यवस्था बन रही है। तो ऐसे ये कर्म मूलमें ८ प्रकारके है और उत्तर भेदोमे ये १४८ प्रकारके है।

उत्तरोत्तरभेदैश्च लोकासंख्यातमात्रकम् ।
शक्तितोऽनन्तसंज्ञं च सर्वकर्मकदम्बकम् ॥१००१॥

शक्तिकी अपेक्षा कर्मोकी अनन्तता—उक्त श्लोकमे बताया है कि कर्म ८ प्रकारके हैं और उनके भेद १४८ है। अब इस श्लोकमे बतला रहे है कि १४८ के भी और उत्तरभेद करे तो कितनी तरहके कर्म है, कितनी तरहकी प्रकृतियाँ है ? लोकके असख्यातवे भाग प्रमाण है। सुनकर तो यो लग रहा होगा कि बहुत थोडे है, लोक तो इतना बडा है कि ३४३ घन-राजू प्रमाण और उसका असंख्यातवाँ हिस्सा भर बताया है, लेकिन ये थोडे नही है। सूईकी नोक एक कागजपर गाड दी तो उससे जो गड्ढा बन गया उसमे अनगिनते प्रदेश है। तो लोक के जो असख्यातवें भाग बताये है वे भी अनगिनते है, इतने होते है कर्म और प्रकृति। तो यह तो है प्रकृतिकी अपेक्षामे, लेकिन शक्तिकी अपेक्षासे तका जाय तो अनन्त हैं। एक ऐसा अन्दाज कर लो—केवलज्ञानमे कितनी शक्ति बतायी गई है, कितने अविभाग प्रतिच्छेद हैं ? सारे जीव, सारे पुद्गल, सारा आकाश सबको जोड लो, उससे अनन्ते गुना केवलज्ञानकी शक्ति अश है, जिसके लिए यह कहना पडता कि सारा लोक, जीव परिणाम आकाशके प्रदेश और भूत भविष्य वर्तमान कालके समय आदि आदि। इन सबका जितना जोड हो उतना केवलज्ञान के अविभागप्रतिच्छेदोमे से घटा दो, जो बचा उसमे यह ही जोड दो, उतना है केवलज्ञान। कहनेका और ढग नही मिल सका, इसलिए यो कहना पडा। तो ऐसे अनत शक्ति वाले केवल ज्ञानको जो प्रकट न होने दे उस केवलज्ञानावरणमे आप कितनी शक्ति समझेंगे ? और नही तो बराबर की तो मानो—तो इन कर्मोमे अनन्त शक्तियाँ पडी है। यद्यपि थोडा फर्क रहता है कि केवलज्ञानावरणका एक स्थान केवलज्ञानके अनेक स्थलोको आवृत कर दे, उस दृष्टिसे थोडा अन्तर आ गया, लेकिन कर्मोमे शक्तियाँ अनन्त है, इसमे अन्तर नही आता।

तत्र घातीनि चत्वारि कर्माण्यन्वर्थसंज्ञया ।
घातकत्वाद्गुणाना हि जीवस्यैवेति वाक्स्मृतिः ॥१००२॥

जीवगुणोंका घात करनेसे घातिया कर्मोकी अन्वर्थसंज्ञता—औदयिक भावका वर्णन करते हुए यह बताना आवश्यक समझा कि जिनके उदयसे औदयिक भाव होता है उन कर्मोकी जानकारी भी तो होनी चाहिए। औदयिक भावका क्या अर्थ है ? जो भाव कर्मका उदय पाकर हो उसे औदयिक भाव कहते हैं। तो वे कर्म क्या चीज है, उनका यह वर्णन चल रहा है। कर्म ८ प्रकारके बताये गए थे—उनमे ४ घातिया है और ४ अघातिया है। घातिया कर्म है ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय। इनका नाम घातिया क्यो पडा कि ये जीव के गुणोका घात करते है। जीवके गुण है ज्ञान, दर्शन, सम्यक्त्व, चारित्र, शक्ति आनद आदि। इन सब गुणोका घात करनेके निमित्तभूत हैं ये घातियाकर्म। सो इनका नाम बिल्कुल सही

रखा गया है। जीवके गुणोंकी हिंसा करें, विनाश करें, दबा दें, विकास न होने दें उनका नाम है घातियाकर्म। घातियाकर्म मूलमे ४ है। और उत्तरभेद देखो तो ५+९+२८+५ ये ४७ प्रकृतियाँ घातियाकी कहलाती है। इनके अतिरिक्त १६ प्रकृतियाँ और है जो घातिया-कर्मके नही है, किन्तु केवलज्ञान होनेसे पहिले जिनका विनाश हो जाता है। ३ आयु तो पहिले से नही, शेष १३ प्रकृतिका व्युच्छेद होता है, ऐसी ६३ प्रकृतियोके नाशसे अरहंत अवस्था प्रकट होती है। जयमालमे कहा ही है कर्मकी ६३ प्रकृतिनाश अथवा घउ कर्मसु त्रेसठ प्रकृति-नाश। ४ कर्म है घातिया उनका सबका विनाश है और १३ अन्य कर्मप्रकृतियाँ है उनका विनाश है। ३ आयु थी नही, सो अरहत अवस्था प्रकट होती है। तो ये ४७ प्रकृतियाँ जीवके गुणोका घात करती है। अतः ये घातिया कहलाती है।

तत शेषचतुष्कं स्यात् कर्माघाति विवक्षया।
गुणाना घातका भावशक्तेरप्यात्मशक्तिमत् ।।१००३।।

अघातिया कर्मोका कर्मत्व—वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र, ये चार कर्म अघातिया कहलाते है। घातियाका काम था गुणोका घात करना। जैसे ज्ञानावरण जीवके ज्ञानगुणका घात करता है, दर्शनावरण कर्म दर्शनगुणका घात करता है, मोहनीय कर्म सम्यक्त्वका, चारित्र का, आनन्दका घात करता है। अन्तराय कर्म आत्मशक्तिका घात करता है और ये अघातिया कर्म जीवके गुणोका साक्षात् घात तो नही करते, लेकिन घातिया कर्मको जीवगुणोका घात करनेमे सहूलियत मिले, इसमे सहयोग देता है अघातिया। जैसे दो बच्चे लड रहे हो और एक कोई तीसरा आदमी जिसकी एक बच्चेपर प्रीति हो वह आकर बीच-बिचौनिया करे तो इस तरह करे कि दूसरे बच्चेको हाथसे पकड ले। पकड ले तो उस बच्चोको मारनेमे कितनी सुविधा मिलेगी? तो यद्यपि उस दूसरे आदमीने बच्चेको सीधा नही मारा, लेकिन उस मारने वालेको मदद कितनी अधिक मिल गई? ऐसे ही ये अघातिया कर्म सीधे जीवके गुणका घात नही करते, लेकिन इनका ऐसा काम है कि उन घातिया कर्मोको मदद मिलती है अपना काम करनेमे। नामकर्मके उदयसे शरीरकी रचना हुई तो लो बस सारी आफत लग गई। इस जीवके लिए शरीर ही आफत है। जिस शरीरको देखकर लोग हाले-फूले फिरते है, बडा हर्ष मानते है, सब ऐबोकी जड यह शरीर है। तो नामकर्मने शरीररचना कर ली। गोत्रकर्मने ऊँच-नीच कुलका विभाग बना लिया। तो अब देखो—दुःखी होनेका कारण ही तो बन गया। हालांकि नीच कुल होनेसे कोई दुःख नही, मगर मोहनीय कर्मका उदय है तो दुःख तो मानेगा ही। तो यह अघातिया कर्म जीवके गुणोका साक्षात् घात तो नही करता, किन्तु उनको मदद करता है, फिर भी यह नही कि अघातिया कर्म कोई नुक्सान न पहुंचाता हो। अघातिया कर्म यद्यपि अनुजीवी गुणोंका घात नही करते, लेकिन प्रतिजीवी गुणोंका तो

घात कर रहे । तो किसी रूपमे जीवकी बरबादी कर रहे है, इसलिए इनका नाम कर्म कहलाया । देखो जीवकी स्वाभाविक स्थिति है यह कि वह सूक्ष्म रहे । किसी भी तरह किसीके बिगाडमे न आये, लेकिन यहाँ तो किसीके शरीरको जकड लो, निरोधमें आ गये, विकल्पमे आ गए । हाथ पकड़कर कही फेंक दे, जीवकी ऐसी दशा होने लगी, भला बतलाओ कैसा अमूर्त सूक्ष्म जीव और उसकी यह हालत बन रही । लोग तो आँखो देखकर बोल देते है कि यह है जीव । तो इतने सूक्ष्म जीवकी जो यह दिशा बनी है वह अघातिया कर्मसे ही तो बनी है । बतलाओ अघातिया कर्म भी कोई गरीब कर्म नही है । यह भी इस जीवकी बरबादीमे पूरा हाथ दे रहा । दूसरी बात—और भी सोच लो । अघातिया कर्म जब तक रहता है तब तक अरहत भगवानको मुक्ति नही मिलती । अघातिया कर्म एक साथ नष्ट होते है, तब शरीर रहित होकर अरहतदेव सिद्धप्रभु बनते है । तो अघातिया कर्मने देखो मुक्ति भी रोक दी, तो अघातिया कर्म जीवगुणका साक्षात् घात न करे तो भी आत्माकी क्षति करता है ।

एवमर्थवशान्नूनं सन्त्यनेके गुणाश्चित. ।
गत्यन्तरात्स्यात्कर्मत्व चेतनावरण किल ॥१००४॥

चेतनावरण कर्मकी दृष्टि—कोई निर्धारण कर सकता है कि आत्मामे कितने गुण है ? जब जैसी दृष्टि बने तब उस प्रकारके उत्तर आयेंगे । देखो—कर्म ८ होते है । तो उन आठो कर्मोकी सख्यासे हम यह निर्णय कर लेते है कि जीवमे ८ गुण है—४ अनुजीवी, ४ प्रतिजीवी । उन गुणोका घात करने वाले ८ कर्म है । ८ कर्मोका जब हम नाम सुनें तो हम जीव के कितने गुणोको सोचते है ? आठ । और जब कहते कि कर्मके भेद १४८ हैं तो हम गुण कितने सोचेंगे ?…१४८ । उतनेका घात किया । कर्मंमे भेद असख्यात है । तो गुण कितने समझे जावेंगे ? असख्यात । और जब यह कहा जायगा कि कर्म तो एक है, चेतनामात्र । जो इस चेतनका आवरण करे उसका नाम है चेतनावरण । तो गुण कितने समझें ? एक चेतन । तो प्रयोजनके वशसे इस चेतन जीवके अनेक गुण होते हैं, और इनमे यदि ज्ञान, दर्शन दो को एक चेतनागुण माना जाय तो ज्ञानावरण, दर्शनावरण ये दोनोके दोनो चेतनावरणमे आ जाते है, फिर ज्ञानावरण और दर्शनावरण अलग-अलग माननेकी जरूरत न रही । तो ये कर्म तो जो है सो ही है और उन कर्मोंके विपाकमे जो निमित्तनैमित्तिक योगमे कार्य होता है सो होता है । अब उसका विभागीकरण करना यह अपनी दृष्टिके अनुसार किया जा सकता है ।

दर्शनावरणोप्येष क्रमो ज्ञेयोस्ति कर्मणि ।
आवृतेरविशेषाद्वा चिद्गुणस्यानतिक्रमात् ॥१००५॥

दर्शनावरणका कर्मत्व—जैसे ज्ञानावरण कर्म ज्ञानका आवरण करता है, विकास रोकता है, सो वह ज्ञानावरण है भेदविवक्षामें । ज्ञानदर्शनको एक चेतना गुण मानकर चेतना

का जो आवरण करता है वह चेतनावरण है। इसी तरह दर्शनगुणको एक स्थापित करके फिर सोचा जाय कि दर्शन गुणका जो आवरण करे सो दर्शनावरण है। इस तरह आत्माके दर्शन गुणका घात करने वाले कर्मका नाम है दर्शनावरण। देखो—अनुभवसे विचारो—आत्मामे दो प्रकारकी प्रकृति है—स्वभाव है, जानना और जानते हुए खुदको भी प्रतिभास लेना। ये दो बातें बराबर चलती है प्रत्येक जीवमे। अनेक पदार्थोको जान लेना और जानते हुएको प्रतिभासना। यदि इन दो बातोमे एक बात हो तो दूसरी बात भी नही ठहरती। कोई कहे कि आत्मामे सिर्फ बाहरी पदार्थको जानने जाननेकी ही आदत है। दर्शन नही है, उस जाननहार को प्रतिभासनेकी प्रकृति नही है तो उसने जाननेकी भी प्रकृति न होगी और कोई कहे कि आत्मामे तो केवल अपने आपको प्रतिभासनेकी प्रकृति है, परको जाननेकी नही है तो वहाँ स्वप्रतिभासकी बात नही बन सकती यानी दर्शनकी बात नही बन सकती। एक मोटा दृष्टान्त ले लो। एक दर्पणमे बाहरी पदार्थको झलकानेकी सामर्थ्य है ना, और दर्पणमे खुदको भी झलकानेकी सामर्थ्य है कि नही। अब कोई कहे कि दर्पणमे खुदको झलकानेकी कोई कला नही है तो देखो भीत और बैन्चमे भी खुदको झलकानेकी कला नही है वहाँ बाहरी तत्त्व तो नही झलक सकते। यो दर्पणमे भी स्वझलक न माननेपर बाहरी प्रतिबिम्व नही आ सकेगा। और कोई कहे कि दर्पणमे खुदको झलकानेकी सामर्थ्य है, मगर बाहरी प्रतिबिम्बको झलकाने की सामर्थ्य नही है। तो खुदकी झलक भी सिद्ध नही हो सकती। इसी तरह आत्मामे खुदकी झलक, परकी झलक ये दोनो साथ दे रहे है। आत्मामे ज्ञानगुण भी है, दर्शनगुण भी है। जो ज्ञानगुणका घात करे सो ज्ञानावरण और जो दर्शनावरणका घात करे सो दर्शनावरण।

एवं च सति सम्यक्त्वे गुणे जीवस्य सर्वतः।
तं मोहयति यत्कर्म दृङ्मोहाख्य तदुच्यते ॥१००६॥

दर्शनमोहनीयका घाति कर्मत्व—ज्ञानावरण और दर्शनावरणका विवेचन करनेके बाद मोहनीय कर्मका विवेचन किया जा रहा है। जैसे ज्ञान और दर्शन आत्माके गुण है, इसी प्रकार सम्यग्दर्शन भी, सम्यक्त्व भी आत्माका गुण है। उस सम्यक्त्वको जो मूर्छित कर दे उसे दर्शनमोहनीय कर्म कहते है। दर्शनको जो मोहित कर दे, बेहोश कर दे उसे दर्शनमोहनीय कहते है। मोहित करनेका अर्थ है बेहोश करना। जैसे पुराणोमे कथा आती है कि सीता के चित्रने भामण्डलको मोहित किया, तो इसका अर्थ है कि भामण्डलको बेहोश कर दिया, बेवकूफ कर दिया। मोहित करनेके मायने है बेवकूफ कर देना। उसकी बुद्धि व्यवस्थित न रहे। तो जब दर्शनमोहनीय कर्मका उदय होता है तो इस जीवकी स्वच्छता, सम्यक्त्व मूर्छित हो जाता है। सर्वकर्मोमे विकट कर्म दर्शनमोहनीय कर्म है। सम्यक्त्व गुणकी ६ अवस्थायें होती है—(१) औपशमिक सम्यक्त्व, (२) क्षायोपशमिक सम्यक्त्व, (३) क्षायिक सम्यक्त्व।

यह तो हुई शुद्ध अवस्था और जब विपरीत परिणमता है सम्यक्त्वगुण, तो मिथ्यात्वरूप परिणमता है यह चौथी स्थिति है। सम्यग्मिथ्यात्वमे मिश्रपरिणति है यह ५वी स्थिति है। सम्यक्त्व मिट गया, मिथ्यात्व न आ पाया, वहाँ जो सम्यक्त्व गुणकी स्थिति है, उसका नाम है सासादन। यह छठी स्थिति है। तो दर्शनमोहनीय कर्मका उदय होनेपर मिथ्यात्वभाव होता है और यदि उसमे सम्यग्मिथ्यात्वका उदय हो तो सम्यग्मिथ्यात्व होता है, तो यह दर्शनमोहनीय सम्यक्त्व गुणका घात करता है इसलिए घातिया कहा जाता है।

नैतत्कर्मापि तत्तुल्यमन्तर्भावीति न क्वचित्।
तद्द्वयावरणादेतदस्ति जात्यन्तरं यतः ॥१००७॥

दर्शनमोहनीयकर्मकी जात्यन्तरता—यहाँ कोई ऐसी जिज्ञासा करे कि अभी-अभी बताया था कि ज्ञान और दर्शन एक चेतना गुणमे गर्भित हो जाते है, इसलिए चेतनावरण कर्म कह देना ही पर्याप्त है। तो क्या इस तरह दर्शनमोहनीयका भी किसीमे अन्तर्भाव हो सकता याने सम्यक्त्व गुणका किसी गुणमे अन्तर्भाव हो जाय तो दर्शनमोहनीयको अलगसे कहनेकी जरूरत न रहेगी। क्या इस तरह दर्शनमोहनीय कर्म किसी कर्ममे अन्तर्भूत हो सकता है? उसका समाधान दिया है कि दर्शनमोहनीय कर्म ज्ञानावरण और दर्शनावरण—इन दोनोंसे जुदा है। ज्ञानगुण, दर्शनगुण इन दोनो गुणोसे सम्यक्त्व गुण जुदा है। ये गुण जुदे-जुदे है, यह पहिचान कैसे हो सकती है? उनकी परिणति देखकर, उनका कार्य समझकर। ज्ञानका काम तो जानना है, दर्शनका काम है जाननका प्रतिभास करना और सम्यक्त्वका काम है स्वच्छता। जिसका कार्य उपचारसे बताया जाता। सम्यग्दर्शन गुण अवक्तव्य है। उसका सही लक्षण, सही स्वरूप किसी शब्दमे नही बताया जा सकता, लेकिन कहनेकी पद्धति यह है कि जिसके होनेपर यथार्थ प्रतीति बने, आत्मरुचि बने, प्रशम, सम्वेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य गुण प्रकट हो, अनुभूति जगे उसे सम्यक्त्वगुण कहते है, पर ये सब स्वय सम्यक्त्व नही है। न स्वानुभूतिको सम्यक्त्व कहते है, न प्रतीति, रुचि, विश्वास, श्रद्धान् किसीका नाम सम्यक्त्व है, किन्तु जिस गुणके प्रकट होनेपर ये बातें आयें उसे सम्यक्त्व गुण कहते हैं, क्योकि जितने भी लक्षण कहे गए हैं सम्यग्दर्शनके वे सब लक्षण और-और गुणकी परिणतिया है। तो ऐसा वह स्वच्छता नामका गुण वह सम्यक्त्व गुण ज्ञान और दर्शन गुणसे निराला है, तो सम्यक्त्वका घातने वाला दर्शनमोहनीय कर्म भी निराला है।

ततः सिद्धं यथा ज्ञानं जीवस्यैको गुणः स्वतः।
सम्यक्त्वं च तथा नाम जीवस्यैको गुणः स्वतः ॥१००८॥

ज्ञानदर्शनकी भांति सम्यक्त्वकी भी गुणरूपता—उक्त कुछ वक्तव्योका साराश यह है कि जिस प्रकार जीवका ज्ञानगुण एक स्वतःसिद्ध है उसे किसीने बनाया नही है, जीवमे अनादि से सहज है उसका घात हो रहा है, यह स्थिति चल रही है, लेकिन जीवमे जो यह गुण है

वह सहज और स्वतःसिद्ध है। इसी प्रकार सम्यक्त्व गुण भी जीवमे स्वतःसिद्ध सहज गुण है। यद्यपि अनादिकालसे सम्यक्त्व गुण कभी अपनी शुद्ध दशामें नही आया, यह जीव मोही बना रहा, मिथ्यात्वी बना रहा, फिर भी गुण तो सम्यक्त्व अनादिसे ही माना जायगा। किसका विपरीत परिणमन है, यह तो कहना ही पडेगा, अन्यथा मिथ्यात्व स्वभाव बन बैठेगा। जीवमें सम्यक्त्व गुण है, सहज है, स्वतःसिद्ध है और उसका विपरीत परिणमन है मिथ्यात्व। तो ज्ञानादिक गुणोकी भाँति जीवमे सम्यक्त्व गुण भी सहज और स्वतःसिद्ध है। तो जब सम्यक्त्व गुण सहज स्वतःसिद्ध हो तो उससे क्या निष्कर्ष निकलेगा ?

पृथगुद्देश एवास्य पृथक् लक्ष्यं च लक्षणम् ।
पृथग्दृड्मोहकर्म स्यादन्तर्भावः कुतो नयात् ॥१००९॥

दर्शनमोहनीयकर्मकी अन्य कर्ममे अनन्तर्भावता—सम्यक्त्व गुण जब पृथक् है, उसका स्वरूप निराला है, भिन्न लक्ष्य है, भिन्न लक्षण है याने ज्ञानसे जुदा है और ज्ञानके लक्षणसे जुदा लक्षण है, उसका सब दर्शनमोहनीय कर्म भी जुदा लक्षण वाला है। इस कर्मका किसी कर्ममे अतर्भाव नही किया जा सकता। किसी भी नयसे दर्शनमोहनीय कर्मको किसीमें शामिल नही कर सकते। यो समझ लो—जैसे कोई सवारी चलती है—मानो जहाज चला तो उसके चल सकनेमे एक दिशा-प्रदर्शक होना चाहिए—चाहे वह नक्शो द्वारा हो, लाइट लगी हो या वडा डडा गडा हो। दिशा प्रदर्शन हुए बिना जहाजका चलना नही बनाया जा सकता। पानी के जहाजका चलना देख लो—उसमे भी दिशाप्रदर्शनके सकेत रहते है। किस ओर ले जाना है जहाजको और ज्ञान भी हो सव बातोका और उसे चलाये भी तो अपने लक्ष्यपर पहुंचता है। इसी तरह जो हमारे लिए दिशाप्रदर्शनकी बात है वह मिलता है सम्यग्दर्शनसे। इनसे चलना नही होता, चलना होता है सम्यक्चारित्रसे। मोक्षमार्गमे चलना, बढना, पर दिशाप्रदर्शन न हो तो चलनेका काम नही बन सकता। चलेगा तो उल्टा चलेगा, खतरा होगा, धोखा खायगा। जब कभी स्टेशनोका फोन खराब हो जाता है, बीचके तार टूट जाते है तब गाडी आगे नही चलती। बीचमे ही किसी स्टेशनपर रोक दी जाती है। और कभी कोई ऐसा ही समय आ जाय और बहुत देर हो जाय तो इंजन वाला दयालु हो तो खुद खतरा मोल लेकर गाड़ीको स्टेशनपर छोडकर खाली इजन आगेके स्टेशन तक ले जाता है। वहां स्टेशनमास्टरसे लिखा लेगा कि कोई गाडी नही आ रही है, न आवेगी तव वह इंजनको वापिस लाकर गाड़ीको जोड-कर ले जाता है, तो यह दिशाप्रदर्शनका, लाइन क्लियरका साधन न रहे तो कोई काम नही बन सकता। तो चलनेमे दिशाप्रदर्शनकी वात कितनी सहायक है ? सम्यग्दर्शन ऐसा ही दिशा-प्रदर्शन करता है। यहाँ चलो, यहाँ रमो, यही स्वच्छता है, यही हित है, बाहरमे सर्वत्र तेरी बरबादी है। इस सम्यक्त्वको ही माता-पिता, गुरु अथवा रक्षक सभी कुछ कह सकते हो।

इस भूले-भटके जीवका सहारा यही एक सम्यक्त्व है । सम्यक्त्वके कारण ही यह समझ बैठती है कि किसी भी बाह्यपदार्थमे सारपनेका विश्वास न करे, किसीमे भी अपना हित न समझें । तुम स्वय एक स्वच्छ ज्ञानस्वरूप हो । अपने आपमे रमो, बैठो, ऊधम न करो । आराम से बैठ जावो—यह उपदेश हमे यह सम्यक्त्व देता है । कुछ लहर उठना, कुछ तरग चलाना, विकल्प करना, चुलबुल मचाना यह सब ऊधम है, पर मोही मोही जहा सारे ऊधम मचा रहे हो तो फिर कौन किसे ऊधमी कहे ? सत्य तो इतना है कि जितना यह ज्ञानमात्र अतस्तत्त्व है । बस जो है सो है । यह दिशा बताता है हमे सम्यक्त्व । ऐसे सम्यक्त्व गुणका जो घात करता है उसे कहते है दर्शनमोहनीय कर्म । अब मोहनीय कर्मके भेदोमे एक है चारित्र मोहनीयकर्म उसका समाचार सुनिये—

एवं जीवस्य चारित्र गुणोस्त्येक प्रमाणसात् ।
तन्मोहयति यत्कर्म तत्स्याच्चारित्रमोहनम् ॥१०१०॥

चारित्रमोहनीयका कर्मत्व—जीवमे एक चारित्रगुण भी है जो प्रमाणसिद्ध है । चारित्र का काम क्या है ? रमाना । यदि यह क्रोधमे रमता है, लोभमे रमता है, घर-द्वार आदिकका आश्रय करके अपने इस विभावमे रमता है तो चारित्रका ही तो काम है यह कि रमा देना । खोटी जगह रमे तो रम जाय, उसका काम तो है रमाना । जब तक खोटी जगह रमेगा तब तक दुख पायगा । सम्यक्त्व गुण हो तो यह अच्छी जगह रमेगा, तब इसका नाम सम्यक्चारित्र कहलाया । यो समझिये—सूझ, बूझ, रीझ । सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र । सूझ हो गयी, आत्माके मोक्षमार्गकी सूझ हो गयी, सम्यग्दर्शन हो गया, अन्तस्तत्त्वकी बूझ बन गई, बोध हो गया, सम्यग्ज्ञान हो गया और इस अन्तस्तत्त्वपर, इस गुणपिण्डपर रीझ गया तो सम्यक्चारित्र हो गया । रीझ जावो । कोई एकदम रीझ गया तो वह सम्यक्चारित्रमे बहुत बढा हुआ है । रम गया तो सूझ, बूझ, रीझ—इन तीनोके बिना कोई काम कर ही नही सकता । चाहे व्यापारका काम हो, भोजनका काम हो, तो उसमे सूझ भी है, बूझ भी है, रीझ भी है अन्यथा ये कोई काम नही किए जा सकते । तो इसी तरह आत्मधर्मका पूर्ण विकास होना, यह एक काम है । ऐसा काम करनेके लिए उसके अनुरूप इतनी सूझ, बूझ, रीझ होनी चाहिए । तो रीझका जो आवरण करे, विपरीत करे उसका नाम है चारित्रमोहनीय । चल नही सकता, आत्मामे रम नही सकता, कषायोमे निवृत्त नही हो पाती, विषयोको छोड नही सकता, ऐसी स्थिति कर सकेगा चारित्रमोह । तो चारित्र नामका भी गुण है ज्ञान दर्शन और सम्यक्त्वकी तरह । उस चारित्र गुणको जो कर्म मूर्छित करता है उस कर्मका नाम है चारित्रमोहनीय । किसी कारखानेमे मशीन चलती है तो एकका काम इतना, दूसरेका काम इतना, तीसरेका काम इतना, यो सारे काम कर रहे, कोई चीज बन

रही । अपने-अपने सम्बन्धपर उनका काम हो रहा है । तो मोक्ष जानेके लिए सम्यग्दर्शनका काम है । विपरीत अभिप्रायको दूर कर देना, लाइन क्लियर कर देना, इस उपयोगमे विषय कषायकी गाडियाँ न चलें, ऐसा यह उपयोग साफ रहे, यह काम किया सम्यग्दर्शनने । और सम्यग्ज्ञान तो सदा चल ही रहा है और फिर उसपर जम गए, उसपर चलने लगे तो यह हुआ सम्यग्चारित्रका काम । तो इसमे जो चारित्र नामक गुण है उसकी शुद्ध बात न होने देवे, ऐसा जिस कर्मके विपाकमे बने उसका नाम है चारित्रमोहनीय कर्म ।

अस्ति जीवस्य वीर्याख्यो गुणोस्येकस्तदादिवत् ।
तदन्तरयतीहेदमन्तराय हि कर्म तत् ॥१०११॥

जीवमें वीर्यनामक गुण और इसका अन्तरायक कर्म—जीवमे गुण है और उन गुणो के घातने वाले कर्म है, इन दोनोंका अस्तित्व सिद्ध किया जा रहा है । अब तक ज्ञान, दर्शन, सम्यक्त्व और चारित्र–इन ४ गुणोकी बात कही गई है, और ज्ञानको ढकने वाला ज्ञानावरण, दर्शनको ढकने वाला दर्शनावरण कर्म, सम्यक्त्वका निरोध करने वाला दर्शनमोहनीय और चारित्रका निरोध करने वाला चारित्रमोहनीय, इस प्रकार ३ कर्मोंका वर्णन किया गया था । अब इस श्लोकमें अन्तराय कर्मकी बात कही जा रही है । ज्ञानगुणकी भाँति जीवके वीर्य नाम का भी गुण है याने आत्मामे शक्ति है । प्रत्येक पदार्थमे शक्ति होती है और आत्माकी तो अद्भुत शक्ति है । भला समस्त लोकालोकको जान जाय ऐसी शक्ति अन्य किस द्रव्यमे है ? इसी कारण सब द्रव्योका राजा जीवको बताया गया है । जीव सबमे प्रधान है । समयसारमें जहाँ समयसार शब्दकी व्याख्या की है, सर्वप्रथम यह बताया है कि समयके मायने है समस्त पदार्थ—जो समस्त अपनी गुण पर्यायोको पाये उसे कहते है समय । प्रत्येक पदार्थमे गुण और पर्याय होती है । सभी समय है और उन समयोमे याने समस्त द्रव्योमे जो सार है याने जीव उसका नाम है समयसार और समयसारमे भी जो सार है उसका नाम है समयसारसार । लेकिन दो बार सार शब्दका प्रयोग नही होता । तो समयसारका अर्थ है शुद्ध जीव । तो जहाँ समयसार की व्याख्या की है वहाँ यह बताया है कि सर्वद्रव्योमे सार है तो जीव है । जीवकी शक्ति भी अद्भुत है । इस जीवके वीर्य नामका गुण है । सो अन्तराय कर्म वीर्यगुणको अंतरित करता है, उसपर अंतराय डालता है, उसे प्रकट नही होने देता ।

आत्मशक्तिका प्रदर्शन—शरीरमे जो शक्ति दिखती है लोकमे उसका तो सबको पता है । बैलमे इतनी शक्ति है, घोड़ामे इतनी शक्ति है, भैंसामे इतनी शक्ति है, पुरुषमे इतनी शक्ति है, पर यह जो शरीरमे शक्ति आयी सो यों ही मुफ्त आ गई क्या ? शरीरके नाते, पुद्गलपिण्डके नाते क्या ऐसी ही शक्ति आ गई ? यह शक्ति क्या है ? यह आत्माकी शक्तिका बिगड़ा रूप है और इस रूपमे प्रकट हो गया है । सबसे अधिक शक्ति किसमें पायी जाती है ?

अब जीवोमे अदाज करो — क्या कहेगे कि घोडेमे शक्ति अधिक है और भैसामे उससे अधिक, हाथीमे उससे अधिक, किसमे शक्ति अधिक है बतलाओ ? ससारी देहधारी पुरुषोकी बात कह रहे है। इन्द्रमे उतनी शक्ति है कि यह कुछमे कुछ भी अनहोना काम कर दे। लेकिन सबसे बडी शक्ति है मनुष्यमे। शरीरकी शक्तिकी बात कह रहे है। भगवानमे तो अन्य प्रकार की ही अद्भुत व अनन्त शक्ति है। तीर्थंकर जब गृहस्थावस्थामे रहते है उनकी शक्तिका अन्दाज बताया है कि कितनी बडी शक्ति है ? तो शक्तिका अदाज लगावो। बकरासे शुरू करो। बकरेमें जितनी शक्ति है, बीसो बकरे बराबर शक्ति एक गधेमे है, बीसो गधे बराबर शक्ति एक भैसामे है और अनेक भैसोकी शक्ति बराबर शक्ति एक हाथीमे है। अनेक हाथियोकी शक्ति बराबर शक्ति एक शेरमे है। अनेको शेरोके बराबर ताकत एक अर्धचक्रीमे है, उससे अधिक चक्रीमे है, उनसे अधिक देवमे है, अनेको देवो बराबर शक्ति एक इन्द्र मे है, और अनेको इन्द्रोके बराबर शक्ति तीर्थंकर महाराजकी एक अगुलीमे होती है। मनुष्योकी शक्तिका कोई लेखा नही है। कोई कायर इतना कमजोर हो सकता है कि उसे एक चूहा भी ढकेल दे, बिल्ली भी ढकेल दे और बलवान इतना हो सकता है कि एक ही पुरुषमे करोडो सुभट जितनी शक्ति बतायी गई है। तो जो यह शरीरमे शक्ति प्रकट हुई है यह किसका प्रताप है ? आत्मशक्तिका प्रताप है। तो ऐसा आत्मामे एक अद्भुत वीर्यगुण है, और अपनी सही हालतमे आ जाय तो अनन्त-ज्ञान बने।

परमात्मत्व शक्ति और उसका विलोप—अब आप एक जिज्ञासा कर सकते है कि भगवानने अनन्तशक्तिका काम क्या ? अरे उसका अगर हजारवाँ हिस्सा भी शक्ति हम लोगो को मिले तब तो हम दुनियामे कुछ कर्तव्य करके दिखलायें। भगवानके अनन्तशक्तिका क्या मतलब ? अच्छा, अब सुनो, हँसी बन्द करो। भगवानमे ज्ञानगुण है ना। वे तीनो लोकालोक का सर्व कुछ जान जायें और दर्शन इतना अनन्त है कि उतने जाने हुएको प्रतिभास ले। तो हमारे अनन्त ज्ञानको बनानेमे सामर्थ्य कितनी चाहिए ? अनन्त। और अपना ज्ञान, अपना स्वरूप अपने आपमे रह सके, अपने स्वरूपको अपने आपमे डाटनेका सामर्थ्य तो एक अद्भुत सामर्थ्य होता है। जिसे लोग समझते है वीरता वह है कायरता। दूसरोको सताना, दूसरोका काम बना देना अथवा बडे-बडे चमत्कार बताना, बडे युद्ध जीतना, इन सबको लोग वीरता कहते है, मगर यह सब कायरता है अध्यात्मदृष्टिमे। आत्मा अपने ज्ञानको अपने ज्ञानस्वरूपमे स्थिरतासे रमा सके, वास्तविक वीरता है यह, और अपने स्वरूपसे चिगे, बाहरी पदार्थोमे कुछ भी विकल्प करे तो वह है इस जीवकी कायरता। तो अपने ज्ञानको अपने ज्ञानस्वरूपमे समाने के लिए अद्भुत बल चाहिए। वीर्यका ऐसा सामर्थ्य है। ऐसे वीर्यगुणको जो कर्म दबा दे, प्रकट न होने दे उसे अन्तरायकर्म कहते है।

एतावदत्र तात्पर्यं यथा ज्ञानं गुणश्चित ।
तथाऽनन्ता गुणा ज्ञेया युक्तिस्वानुभवागमात् ।।१०१२।।

आत्माके अनन्त गुण और उनमें ज्ञानगुणकी प्रधानता—यहाँ तात्पर्य इतना लेना कि देखो बतला रहे है आत्मामे अनेक गुण। जैसे कि चेतनका ज्ञानगुण बताया है उसी प्रकार चेतनमे अनन्त गुण भी है। जो युक्तिसे स्वानुभवसे, आगमसे जाना जाता है। अभी जिन गुणोका वर्णन किया है उन गुणोमे कोई संदेह तो नही है। बराबर है यह गुण। अनुभव बतलाता है, युक्ति बतलाती है, आगम भी कहता है। विश्वास करनेका सब जीवोमे माद्दा है और किसी न किसी ओर रमनेकी सब जीवोमे आदत है और जो जिसमे रमे उसी को कहते है पूजा, उसकी पूजा, उसकी भक्ति, उसकी उपासना। जैसे कोई कहे कि भगवान की उपासना करो तो उसका अर्थ कितना लेना कि भगवानका जो स्वरूप है उस स्वरूपमे रमो, रुचि करो, उसके दीवाने बनो, उसमे लीन हो जावो, भगवानकी पूजा करो। उसका अर्थ यह न लेना कि बर्तन खडभडाना, हाथ चलाना, घटा बजाना आदिक भगवान की पूजा है। अरे यह तो उसने अपना मन लगानेका साधन बनाया है। अब आप देख लो यहाँ सभी लोग किसी न किसीकी पूजा कर रहे है। कोई धनकी पूजा करता, कोई स्त्रीकी पूजा करता, कोई पुत्रकी पूजा करता, कोई भगवानकी पूजा करता, कोई अपने ज्ञानको पूजा करता। पूजा तो सभी लोग कर रहे है पर जिसने जिस ओर अपनी रुचि लगाया है, अपना लगाव लगाया है वह उसकी पूजा कर रहा है। तो मालूम होता है कि कही न कही रमनेका माद्दा इस आत्मामे है। यही हुआ चारित्र गुण। आनन्दगुण भी विकृत होता है तो ऐसे अनन्तगुण है जो युक्ति स्वानुभव और आगमसे पहिचान लिए जाते है। किन्तु यहाँ यह बात विशेष जानना कि सब गुणोमे मुख्य गुण है ज्ञान।

आधार और करण बनकर ज्ञानगुणका स्वानुभवमें वरद हस्त—जब स्वानुभव करनेको कोई पुरुष चले तो उसे अपनेको ज्ञानमात्र सोचना पडेगा। अनुभवका सुगम रास्ता बतला रहे है। अपने को केवल ज्ञानज्योतिस्वरूप अनुभव करो। यह मैं सबसे निराला हू, और यह मैं पूरा हूं। मेरेमे कोई काम ही नही है। मेरेको कही कुछ करना ही नही है। सारा मामला तैयार है। मैं ज्ञानमय हू, पूर्ण हूं। अपनेमें उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य किया करता हू। मेरेको अब तकलीफ क्या है? मेरेको कष्ट क्या है? काम क्या है? विकल्प क्यो है? केवल ज्ञानमात्र अपने आपको देखो तो यह ज्ञान जो उपयोग रूप चल रहा है ज्ञानस्वरूपमे मग्न होगा, एकरस बनेगा, जिसे कहेगे स्वरूपाचरण जैसी स्थिति बनेगी। बस यही है स्वानुभवकी एक सुदृढ स्थिति। तो किसका उपकार हुआ यह सब? इस ज्ञानगुणका। ज्ञान ही भगवान है, ज्ञान ही गुरु है, ज्ञान ही परमपिता है, ज्ञान ही परमेश्वर है, ज्ञान ही मेरा सर्वस्व

है, बस ज्ञानस्वरूपकी आराधना करो, ज्ञानस्वरूप अपने आपको मानो, अपनेमें लीन रहो। कुछ परवाह नही, जो होता हो होने दो बाहरमे। जिसका जो परिणमन है, हो रहा है, तुम उसमे शामिल मत हो, निराले रहो। केवल ज्ञानमात्र अनुभव करो। ज्ञानानुभवका ही नाम स्वानुभव है। स्वानुभव और कुछ नही है। तो ज्ञानगुणका कितना उपकार है इस जीवपर? ज्ञानके द्वारा यह उपकार करता है। ज्ञानका आश्रय लेकर उपकार करता है। ज्ञानके आधार मे उपकार करता है उपकार करने वाला ज्ञान और अपने आश्रयमे हो रहा है उपकार, इसलिए उपकारका आश्रय है ज्ञान। सर्व कुछ ज्ञानकी कृपा है। तो सर्व गुणोमे प्रधान गुण है ज्ञानगुण।

ज्ञानगुण व ज्ञानातिरिक्त अन्य गुण व उनके घातक कर्मोके परिचयका प्रसङ्ग—ज्ञानगुणको ज्ञानमयी मुद्रा है, आकार है, समझ है, बता सकते हैं, पर ज्ञानगुणको छोडकर शेष जो आत्मामे गुण है उनकी न मुद्रा बता सकते, न आकार बता सकते, न समझा सकते। और है अनन्तगुण आत्मामे। मगर उनका परिचय ज्ञान द्वारा ही होता है। अपनेको ज्ञानमात्र मानना, इतना तक स्वीकार कर लें तो अपने आपपर बडी दया होगी। मैं मनुष्य भी नही हू। क्रोध, मान, माया, लोभ तो मेरे है क्या? जो तर्क विचार उठते है, कल्पनायें उठती है वे भी मै नही हूं। यह सब कर्मका नाच है, कर्मकी तरंग है। कर्म उदयमे आये, नव ऐसी तरगे उठती है। मैं केवल ज्ञानमात्र हू। केवल ज्ञानस्वरूप अपनेको अनुभवो और कही डोलो। बाजारमे रहो, घरमे रहो, मन्दिरमे रहो, तुम स्वरक्षित हो। तुमपर न गोले बरसेंगे, न लाठी चलेगी, न नुक्सान होगा, न वियोग होगा, न अनिष्टसयोग है, न वेदना है, न सताना है, न तडफन है, एक ज्ञानमात्र अपनेको अनुभवमे लावो। तो इस जीवमे सर्वगुणोमे प्रधान है ज्ञानगुण। ज्ञानके बिना अन्य सब गुण सत्ता मात्रसे लगते है, एक बेकार जैसे? क्या करते? इसलिए विदित होता है कि सर्वगुणोमे ज्ञानगुण प्रधान है। तो जैसे ज्ञानगुण भली-भाँति समझमे आ रहा है, इस तरहसे अनन्त गुण भी इस आत्मामे पाये जाते है। जिसे भली प्रकार परख करियेगा और जितने गुणमे है आत्मामे उनको आवरण करने वाले, बिगाडने वाले उतने ही कर्म है। यहाँ औपाधिक भावोका प्रकरण चल रहा है। जहाँ यह जानना आवश्यक था कि किन कर्मोमे उदयसे कौनसे भाव होते है, जिन्हे औदयिक भाव कहा गया है। उस सिलसिलेमे यहाँ घातिया कर्मके वर्णनके प्रसगमे गुणोका वर्णन करना आवश्यक हुआ और उन गुणोको घातने वाले कर्मका भी निर्देश करना आवश्यक हुआ।

न गुणः कोपि कस्यापि गुणस्यान्तर्भवः क्वचित्।
नाधारोऽपि च नाधेयो हेतुर्नापीह हेतुमान् ॥१०१३॥

वस्तुकी अनन्तगुणमयताका रहस्य—आत्मामे अनन्त गुण कहे गए है। क्या वे गुण

इस प्रकार है कि कोई एक आत्मा है और उसमें अनंत गुण भरे है ? नही, किन्तु प्रत्येक गुण-मय आत्मा है और एक गुणके द्वारा आत्माको कहेंगे तो सारा आत्मा ज्ञानमे आ जाता है। कही ऐसा नही है कि एक गुणकी बात बोले तो आत्माके अनन्त गुण छूट गए, और एक अधूरा आत्मा ज्ञानमे आया। जो आत्माके स्वरूपका रहस्य जानना है वह इस बातसे भली-भाँति परिचित है कि आत्माकी एक शक्तिमुखेन भी यदि दृष्टि की जाय तो उसमे समस्त आत्मा दृष्टिमे आता है। इसका कारण यह है कि गुणोमयी आत्मा है, एक वैशेषिक दर्शन है। उसका यह सिद्धान्त है कि आत्मा तो एक पदार्थ अलग है और बुद्धि, ज्ञान, सयोग, विभाग आदिक गुण कोई अलग है। फिर यह आत्मा गुणी क्यो कहलाता है और ये बुद्धि आदिक गुण क्यो कहलाते हैं ? तो उसका समाधान दिया है कि आत्मामे बुद्धिका समवाय सम्बंध है। वस्तुके स्वरूपको न समझनेके कारण कितनी कवायद करनी पडी दिमागको। गुण अलग है, द्रव्य अलग है, फिर उसका सम्बध अनादिकालसे है। उसके कारण समवाय सम्बंध है। अरे द्रव्य ही तन्मय है तब ज्ञानगुणके द्वारा आत्माका कथन हुआ। आत्मा ज्ञानमय है। आनद गुणके द्वारा आत्माका कथन हुआ तो आत्मा आनन्दमय है। तो ये समस्त गुण एक दूसरेमे अन्तर्भूत नही है, फिर भी ये अलग नही, किन्तु एक आत्मस्वरूप है। जब गुणोके स्वरूपका वर्णन करते है तो ज्ञानका काम क्या है ? जानना और श्रद्धान्का काम क्या है ? विश्वास करना। तो क्यो ये दोनो एक हो जायेंगे कि वही ज्ञानका काम, वही श्रद्धान्का काम ? नही। स्वरूप न्यारा है। तो क्या ये दो चीजे है ? नही, दो चीजें नही है। एक आत्मा ही है। उस आत्माका परिचय करनेके लिए एक विभाग बनाया गया है। दृष्टान्त ले लो—जैसे आग है तो बताओ उसकी कितनी तारीफ है ? यह प्रकाश भी करती है, चीजोको जलाती भी है, रोटियाँ भी पकाती है। तो भला उसमे ये तीनो काम क्या अलग-अलग पड़े हुए है ? प्रकाश किसी और जगहसे करती हो, जलानेका काम किसी और जगहसे करती हो या रोटिया पकाने का काम किसी और जगहसे करती हो, ऐसा कुछ है क्या ? अरे वह तो अपनी ओरसे जैसी है तैसी है। और उसका कार्य देख करके हम परिचय करते है कि यह प्रकाशक है, यह पाचक है और यह दाहक है। ऐसे ही आत्मा तो एक स्वरूप है, एक स्वभाव है, चैतन्यमात्र है, किन्तु इसकी कला, इसकी परिणतिको देख करके बोध होता है कि आत्मामे ज्ञानगुण है, दर्शन है, चारित्र है। तो जब गुणोके स्वरूपको देखते है तो वे गुण परस्पर अन्तर्भूत नही होते। ज्ञानमे आनन्द अन्तर्भूत नही, आनन्दमे ज्ञान अन्तर्भूत नही। आनन्दकी मुद्रा है आल्हाद, ज्ञानकी मुद्रा है जानकारी, ये एक कैसे हो जायेंगे ? लेकिन आत्मतत्त्वको देखो तो सब मामला एक है। वहां आल्हाद अलग नही है, जानकारी अलग नहीं है। आत्मा एक है और उसका परिणमन प्रतिसमय एक-एक रहता है।

स्याद्वादका संकेत—यहाँ स्याद्वादकला देखिये—गुण एक भी है, अनेक भी है, एकमेक

भी है, जुदे-जुदे भी है। है भी, नही भी है, कैसी स्याद्वादकी दृष्टि है ? इन सब बातोको परख-कर एक जो निर्विकल्प बोधकी बात आती है वह है तत्त्व। "कोई कहे कुछ है नही, कोई कहे कुछ है, है और ना के बीचमें जो कुछ है सो है।" वस्तुके ऐसे अन्दरूनी स्वरूपके जो ज्ञाता रुचिया तत्त्वज्ञानी है वे है अन्तरात्मा, वे है महात्मा, जिनका सत्संग ही अनेक पापकर्मोंका विनाश कर सकता है। जो धर्ममूर्ति है, जो धर्मस्वरूप है वह है महान्। ऐसे ये आत्मामे अनन्त गुण है। वे परस्परमे अन्तर्भूत नही होते। एक गुण दूसरे गुणमे मिल नही जाता। स्वरूपको देख रहे है। बडे हैरानीकी बात है कि जो कहा जाता है ऐसा भी नही है। फिर कहा क्या जाय ? जैसा कहते है वैसा भी नही है। धन्य है स्वरूपकी महिमा। उसके देखनेका ही आनन्द है, बोलनेमे आनन्द नही। अन्तस्तत्त्व, कारणप्रभु जो घट-घटमे विराजमान है, आनन्द तो उसके देखनेका है, बोलनेका नही। देखनेमे तो पूरा आ जाता है, बोलनेमे आता ही नही है। आत्मामे जो यह अनन्त गुण सामर्थ्य बताया है वह परस्पर भिन्न है तिसपर भी बात एक द्रव्यरूप ही है। कोई भिन्नताकी बात नही है। जो ही प्रदेश एक गुणका है वही प्रदेश सब गुणोका है। जो ही गुण एक प्रदेशमे है वही गुण सब प्रदेशोमें है। फिर क्या है ? गुणकी बात क्या ?

निर्गुण ब्रह्मका रहस्य—वस्तुमे यह सब गुण वर्णन परिचयके लिए कहा गया है, भेद किया गया है। भेद करके बढ़ा दिया यही गुणका काम है। गुणका अर्थ ही यह है कि बडे विस्तार बना देना, गुणा कर देना, विशेष कर देना, अनेक कर देना। ऐसा यह अन्त-स्तत्त्व गुणमय है, ऐसा कुछ ध्यानमे तो आया, पर कुछ और गहरी दृष्टि की तो समझमे आया कि ब्रह्म निर्गुण है। तब ही अनेक दार्शनिकोने परमेश्वरको निर्गुण मानकर उसकी बडी तारीफ गायी है। निर्गुण ब्रह्म और सगुण ब्रह्ममे सगुण ब्रह्मके परिचयको नीचे दर्जेका ज्ञान कहा और निर्गुण ब्रह्मके ज्ञानको ऊँचे दर्जेका ज्ञान कहा। उनसे पूछा जाय कि वह निर्गुण ब्रह्म क्या है ? तो इसका सतोपजनक उत्तर चाहे उनसे नही मिल पाये, किन्तु स्याद्वाद विधिसे निरखते जावो—सगुणब्रह्मको खूब परखो—परखनेके बाद तत्त्वको छूने वाला पुरुष अघा जायगा और उसे विदित होगा कि यह तो निर्गुण है। शास्त्रोमे तो भली-भाँति बताया है कि आत्मामे अनन्त गुण है, निर्गुण कैसे है, लेकिन जब उन गुणोके विश्लेषणमे जाते है कि क्या ये सारे गुण दुनियामे इस तरह पडे हुए है ? ओह, वस्तु तो एक स्वभाव है, तो वहाँ विदित होता है कि वह द्रव्य निर्गुण है, अपने रूप है, एक स्वभावरूप है, ऐसा विदित होनेपर भी जब इस ओर देखते है तो अनन्त गुण मौजूद है ? एक गुण दूसरे गुणमे नही, आधार-आधेय परस्पर नही, हेतु हेतुमान परस्पर नही। ज्ञानके कारण दर्शनगुण हो सो नही, ज्ञानका कार्य दर्शन हो सो नही। दर्शनके कारण ज्ञान हो, सो नही। सर्व गुण स्वतत्र नजर आते है, लेकिन

कुछ नजर नही आते । गुणकी स्वतंत्र सत्ता ही नही है । वस्तु है एक और वह जैसा है सो है । यहाँ आत्माके इन अनन्त गुणोंका वर्णन किया है, फिर भी—

किन्तु सर्वोपि स्वात्मीय स्वात्मीयः शक्तियोगतः ।
नानारूपा ह्यनेकेपि सता सम्मिलिता मिथ. ॥१०१४॥

सर्वगुणोकी एक सत्स्वरूपता—उक्त श्लोकमे यह बताया गया है कि आत्मामे ऐसे अनन्त गुण है, समझमे भी आया और गुणोके बिना कुछ समझमे भी नही आता । आत्मामे ज्ञान है, श्रद्धान है, चारित्र है, आनन्द है, वीर्य है, कहते जावो । न मालूम होगा तो रुक जावोगे और मालूम होगे गुणोके नाम तो यह सारी जिन्दगी खतम हो जायगी, पर पूरे नाम नही कह सकते । ये गुण अनन्त है, परस्पर भिन्न है, क्योकि अपना स्वरूप रख रहे है लेकिन देखो तो मजेकी बात कि सत्ता इनकी रहती नही, गुण अनेक विदित हो रहे, पर सत्त्व किसी का नही । यह विचित्रता कैसे आयी ? यो आयी कि वे गुण सत् नही किन्तु सत्के अश है । सदश है, सत् नही है । अगर सत् होते तो प्रदेशबान भी होते । आपको मालूम होगा कि द्र०यमे ६ साधारण गुण होते है—(१) अस्तित्व, (२) वस्तुत्व, (३) द्रव्यत्व, (४) अगुरुलघुत्व (५) प्रदेशवत्व और (६) प्रमेयत्व । इसी तरह गुणमे ५ बातें किसी भी तरह घटित कर लो गुण है, मालूम तो हो रहा, जबरदस्ती मान लिया है, सत् है, क्योकि परिणमन चल रहा और वे अपने स्वरूपसे है पररूपसे नही, यह भी समझमे आया और अपनेमे निरन्तर परिणमते रहते है, अपनेमे परिणमते दूसरमे नही परिणमते । उसमे अगुरुलघुत्व भी समझमे आया । और देखे जा रहे है ना, ज्ञानके विषय है ना ? प्रमेयत्व भी ध्यानमे आय । अब प्रदेशत्व घटावो तो यहाँ गाडी रुक जाती है । गुण प्रदेशवान कहाँ और अगर है प्रदेशवान तो ज्ञान अपने पदेश वाला है, श्रद्धान अपने प्रदेश वाला है, अनन्तगुण अपने-अपने प्रदेश वाले है । तो लो यहाँ तो अनन्त पदार्थ बन गए । तो गुणोकी इतनी चर्चा करते-करते, बडे खुश होते होते, खूब समझमे आते आते जहाँ एक सत्त्वकी बात आयी तब वहाँ यह लगा—कि अरे इतना तो पढा लिखा, इतनी तो मेहनत किया, इतनी तो समझ बनाया, पर यहाँ तो निर्गुण नजर आया । उन गुणोंकी ओर से तो निर्गुणता समझमे आयी । यह आत्मा निर्गुण है, यह ब्रह्म निर्गुण है । तो ये गुण अपनी-अपनी भिन्न शक्तिको धारण कर रहे है । इसलिए ये निराले है, अनेक है, लेकिन वे सारे गुण सबके सब परस्पर सकर होते हुए एकमेक होते हुए एक द्रव्यसे ही तादात्म्यरूपसे रह रहे है । दृष्टि एक ओर जाकर देखती है तो यह विदित होता कि संकर होता ही नही, परस्परमे ये मिलते ही नही भिन्न-भिन्न है । जरा अन्दरकी ओर आये तो यह लग रहा कि ये तो सब एकमेक है, सकर है और नीचे चलो और भीतर आये तो लगा कि ये तो है ही नही । ऐसा यह निर्गुण ब्रह्म है । तो ये समस्त गुण जिनको

घातने वाले ये कर्म बताये गए ये गुण परस्पर अपना स्वरूप निराला रखनेके कारण भिन्न हैं, लेकिन एक द्रव्यसे अपना तादात्म्य सम्बन्ध रखते है, अतएव ये भिन्न नही हैं।

गुणाना चाऽनन्तत्वे वाग्व्यवहारगौरवात् ।
गुणाः केचित् समुद्दिष्टा. प्रसिद्धा पूर्वसूरिभि ॥१०१५॥

आत्माके कुछ प्रसिद्ध गुणोकी वर्णनीयताका कारण—गुण अनन्त है और वे सब गुण कहे नही जा सकते। उनमे से कुछ कहे भी जा सकते है, लेकिन अधिक बोलना वचन गौरव को बनाता है। इसलिए बहुतसे गुणोका वर्णन न करके कुछ प्रसिद्ध गुणोका वर्णन किया गया है। और उन गुणोमे जो गुण इसके लिए उपकारी है, जिनका आलम्बन करके, आश्रय करके आत्माका हित बने उन गुणोका वर्णन किया है। जैसे अभी तक ज्ञान, दर्शन सम्यक्त्व, चारित्र और वीर्य—इन ५ गुणोका वर्णन किया गया है। ज्ञानगुण तो सब गुणोमे प्रधान है, याने ज्ञानबलसे ही यह जीव सन्मार्गमे लगता है और इस ज्ञानके शुद्ध स्वरूपके निरखने से जीवको सन्मार्ग मिलता है। तो ज्ञानगुण तो यो उपकारी है, दर्शन गुण भी ज्ञान-गुणके समान अपनी अधिक महिमा रखता है। ज्ञानने जाना और उस जाननहार आत्माका प्रतिभास कर लिया यह है दर्शनका काम। यह काम सब जीवोमे होता रहता है, मगर उस का पता नही करते, उसका लक्ष्य नही रखते। दर्शन हुआ, न हुआ, समान सा रहता है, याने लाभ नही पहुंच पाता। प्रत्येक जीव जब ज्ञान द्वारा जानता है तो जाननहारको सभाले भी रहता है और जाननेसे पहिले अपनी सभाल बनाता है। जैसे अभी चौकीको जाना तो चौकीका ज्ञान छोडकर भीतको जानने चले तो ऐसी एक स्थिति आती है ना। चौकीका ध्यान तो छूट गया और भीतका ज्ञान नही कर पाया, ऐसी बीचमे जो एक थोडे समयकी स्थिति होती है वहाँ उपयोग क्या करता है? दर्शनको सभालता है, अपनी सभाल बनाता है जो कि नये पदार्थके जाननेमें बल प्रकट करता है। जैसे कोई कूदने वाला बच्चा २ फिट कूदे, ३ फिट कूदे तो कूदने वाला पुरुष पहिले अपने आपमे सिमिटता है, जमीनकी ओर वजन देता है फिर उचककर कूदता है, तो सिमिटना, जमीनकी ओर बल लगाना, नीचेकी ओर, अन्दर की ओर बल लगाकर कूदा जाता है। ऐसे ही नई-नई चीजोका जो जानना चल रहा है छद्मस्थ जीवोका वह अपने आपके अन्तर्बलको लगाकर जाना जाता है। यह ही हुआ दर्शनका काम और केवलज्ञान हो जानेपर ज्ञानसे जान रहे है, तत्काल ही उस जाननहारको प्रतिभास रहे है। तो दर्शनगुण भी एक उपयोगी गुण है समझनेके लिए, आश्रय लेनेके लिए। तीसरा है सम्यक्त्वगुण। उसकी महिमाको तो कौन कह सकता है? सम्यक्त्वके समान लोकमे कुछ भी श्रेयस्कर वस्तु नही है और सम्यक्त्व न हो, मिथ्यात्व हो तो उसके समान दुनियामे कोई अश्रेयस्कर नही है। बरबादी करने वाला भाव है मिथ्यात्व और आत्माका एक श्रेय

करने वाला भाव है सम्यक्त्व। तो सम्यक्त्वगुणसे तो मोक्षमार्ग चलता है। सम्यग्दर्शन बिना मोक्षका मार्ग द्रव्य नही वह जाता। सम्यक्त्वगुण ऐसा उपयोगी है। चारित्रगुण--आत्मा अपने आपके गुणोमें रम जाय, उसे वाहरकी ओरका कुछ विकल्प न करना पड़े, इस तरह अपने आपमे रम जानेका नाम चारित्र है। चारित्रसे भी आत्मामे अतुल पराक्रम प्रकट होता है। ५ वाँ वतलाया गया वीर्यगुण आत्माकी शक्ति। आत्माकी शक्ति अपने आपको अपने आपमे डाटे रहनेमें है। कभी देखा होगा---जिस पुरुषमे शक्ति नही रहती वह अपने ही नाक, थूक को खूनको शरीरको अपने आपमें डाटे नही रह सकता। वह निकल जाता है। तो यह भी एक शक्तिका ही काम है जो हम अपने शरीरमे अपने शरीरको डाटे हुए हैं। वहाँ एक ऐसा अनन्त वल होता है प्रभुमे कि जितने अनन्त गुणविकास हुए हैं, वे डटे रहे, बने रहे, अपनेमे ऐसी सामर्थ्य अनन्तवीर्यमे है। आत्मामे ऐसा वीर्यगुण है। ऐसे कुछ प्रसिद्ध गुणोका यहाँ निरूपण किया गया है।

यत्पुनः क्वचित् कस्यापि सीमाज्ञानमनेकधा।
मनःपर्ययज्ञानं वा तद्द्वयं भावयेत् समम् ॥१०१६॥
तत्तदावरणस्योच्चैः क्षायोपशमिकत्वतः।
स्याद्यथालक्षितसद्भावात्स्यादत्राप्यपरा गतिः ॥१०१७॥

अवधिज्ञानमें भावत्वका विश्लेषण---अब इन दो श्लोकोमे अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञानका वर्णन किया जा रहा है। जहाँ कही भी अवधिज्ञान प्रकट होता है वह अनेक प्रकारसे प्रकट होता है। जैसे केवलज्ञानका प्रकार एक ही है, चाहे तीर्थंकर केवली हुआ हो, चाहे सामान्यकेवली हुआ हो। केवलज्ञान होनेपर केवलज्ञानमें जो कुछ चमत्कार होता है वह सबके एक समान होता है। वह केवलज्ञान सवके समान है, किन्तु अवधिज्ञान सबके समान नही है। इसमे असख्याते भेद है। द्रव्यसे, क्षेत्रसे, कालसे, भावसे अवधिज्ञानके अनेक प्रकार है। जैसे कोई कितने मोटेको जान सकता है, कोई उससे सूक्ष्मको जान सकता है। तो ऐसे द्रव्यकी अपेक्षासे अवधिज्ञानके होनेपर नाना प्रकार हैं। कोई कितने ही दूरको वात जान सकता है, कोई और दूरकी जान सकता है। क्षेत्रकी अपेक्षा दूरीके कितने भेद है ? कोई एक अंगुल दूर तककी ही जान सके, पीठ पीछे एक अगुल दूर पर कोई वस्तु हो उसका ज्ञान कर सके ऐसा अवधिज्ञान है तो कोई एक मीलका, कोई १० हजार मीलका। क्षेत्रकी अपेक्षासे अनेक प्रकार है। कालकी दृष्टिसे कोई ५ मिनट आगेकी ही वात जान सकता है, कोई दो दिनकी, कोई हजार वर्षकी। तो कालकी अपेक्षा भी अवधिज्ञानके अनेक प्रकार हैं। भावकी अपेक्षा कोई रूपादिक को वहुत सूक्ष्मतासे जान सकता, कोई मोटे रूपसे जान सकता, कोई नाना पर्यायोको जान सकता। पर्यायमें भी अंशोंसे पहिचान सकता, गुणके अंशोंको

जान सकता। यों अनेक भेद होते है। ये तो है द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावकी अपेक्षा अवधिज्ञानके भेद। फिर कोई थोड़ा ही जानता, कोई सारे लोकको जानता, कोई इतना जानता कि ऐसे लोग यदि असख्याते होते तो उनको भी जानता। इतनी सामर्थ्य रखता है। इस तरह भी भेद है और अवधिज्ञानके अनुगामी आदिककी दृष्टिसे भी अनेक भेद है। कोई अवधिज्ञान अनुगामी होता है। जिस भवमे अवधिज्ञान प्रकट हुआ है उस भवको छोडकर अगले भवमे जन्म लेगा तो वह अवधिज्ञान साथ-साथ जायगा और नये भवमे भी रहेगा, ऐसा भी अवधिज्ञान होता है। मान लो किसीको मेरठमें अवधिज्ञान हुआ और वह मुजफ्फरनगर या अन्य देशमें विहार कर गया तो वहाँ भी अवधिज्ञान रहेगा, ऐसा अवधिज्ञान होता है और किसीके भव वदलने पर भी, क्षेत्र वदलने पर भी अवधिज्ञान बना रहे, यो अनुगामी अवधिज्ञान होता है। कोई अवधिज्ञान ऐसा होता कि भव छूटनेपर, दूसरे भवमे जन्म लेने पर अवधिज्ञान नही रहता, वह पहिले भवका अवधिज्ञान मरणके साथ ही खतम होता है। कोई ऐसा अवधिज्ञान होता है कि मानो—जैसे मेरठमे अवधिज्ञान हुआ और वह यहाँसे ५ मील चला जाय कही, अवधिज्ञान न रहेगा, ऐसा अननुगामी अवधिज्ञान कहलाता है। कोई दोनो दृष्टियोसे अननुगामी होता है। वर्द्धमान, हीयमानके भी अवधिज्ञान अनेक तरहसे होते है। जितने अशमे अवधिज्ञान प्रकट होता है वह उत्तरोत्तर बढता ही चला जायगा। वह बहुत क्षेत्रकी बात जानेगा, वहुत कालकी बात जानेगा। सूक्ष्मसे सूक्ष्म द्रव्यको जानेगा। इस तरह यह वर्द्धमान अवधिज्ञान होता है। तो कोई अवधिज्ञान ऐसा होता कि जितने अंशोमे प्रकट हुआ है-उसके वाद घटता ही चला जायगा। यो अवधिज्ञान नाना प्रकारके होते हैं। कोई अवधिज्ञान अवस्थित है, जैसा पैदा हुआ वैसा ही रहेगा, न घटेगा, न बढेगा। और कोई अनवस्थित है, कभी घट जाता है, कभी बढ जाता है। घट-बढ यह अनियत रूपसे बना ही रहता है। यो अवधिज्ञान नाना प्रकारके होते है। ये अवधिज्ञानावरणके क्षयोपशमसे होते है। यहाँ इतना भेद समझना कि कोई जीव देव अथवा नारकी बनता है तो वहाँ नियमसे अवधिज्ञान होगा। इसे कहते है भवप्रत्यय। लेकिन भवप्रत्ययके साथ यह न समझना कि अवधिज्ञानावरणका क्षयोपशम नही है और हो गया, देव नारकियोका ज्ञान क्षयोपशम तो है, पर वहाँ भवका ऐसा नियोग है कि उन भवको पाकर नियमसे अवधिज्ञान होगा। पर मनुष्य और तिर्यंचोके भवका नियम नही है। हो भी और न भी हो। जिसकी जैसी योग्यता है वैसा उसमे होता है। वैसे मनुष्योमे एक तीर्थंकर भव ऐसा है कि जिसका नियम है कि पहिले भी अवधिज्ञान था, गर्भमे भी अवधिज्ञान है। तीर्थंकर दशाको प्राप्त होने वाले जीवके अवधिज्ञान नियमसे रहता है। यह अवधिज्ञान जब छूटेगा तब केवलज्ञान होगा। प्रकरण तो यहाँ औदयिक भावो का चल रहा है। और औदयिक भावमे यह बताना आवश्यक था कि किस तरह किसके

उदयसे कैसा भाव होता है ? अवधिज्ञान भाव औदयिक नही है, क्षायोपशमिक है, इसलिए अवधिज्ञानावरणके क्षयोपशमकी बात कही गई है। हाँ जितने अंशमें ज्ञान प्रकट नहीं हो रहा जितना अवधिज्ञानावरणका उदय चल रहा उतना अज्ञान है। उसे औदयिक भाव कहेंगे।

मनःपर्ययज्ञानमे भावत्वका विश्लेषण—मनःपर्ययज्ञान कहते है मनके विकल्पको, वस्तुको जानना। कोई मनुष्य जो कुछ भी विचार कर रहा उसको समझ जायेंगे मनःपर्ययज्ञानी जन। यह केवल साधु जनोके होता है, मनःपर्ययज्ञानावरणके क्षयोपशमसे होता है। इसमे भी अनेक भेद है। कोई सरल बातको ही जान सकता है। कोई पुरुष कपटी नही है, सरल है, भला है, जैसा कि यहाँ भी परखमे आता। भले आदमोके मनकी बात झट निकाल सकते है, ऐसे भोले सरलके मनकी बात को जानना ऋजुमतिमनःपर्यय है और कोई कैसा ही कपटी हो, मुद्रा कुछ बनती हो, मनमे कुछ बात हो अथवा उसने पहिले विचार किया था कि आये विचार करेगे, सबको जान जाय, वह विपुलमति मनःपर्ययज्ञान है। यह मनःपर्ययज्ञान भी मनःपर्ययज्ञानावरणके क्षयोपशमसे प्रकट होता है। मनःपर्ययज्ञान औदयिक भाव नही है, क्षायोपशमिक भाव है, किन्तु जितने अंशोमे मनःपर्ययज्ञानावरण देशघातीका उदय चल रहा है उतने अंशोमे जो ज्ञान प्रकट नही है उस अपेक्षासे ज्ञानभाव औदयिक कह सकते है। ५ ज्ञानोमे मतिज्ञान और श्रुतज्ञान तो परोक्ष ज्ञान है, इन्द्रिय और मनकी सहायतासे उत्पन्न होते है, किन्तु अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान प्रत्यक्ष ज्ञान है, है विकल प्रत्यक्ष। सारा नही जान सकता, किन्तु इन्द्रिय और मनके द्वारा नही जानता। हाँ, किसी रूपमे मन उसमे आश्रय पड जाता है, लेकिन जानते है आत्मशक्तिसे, इन्द्रियका कारण बनाये बिना, इस कारण यह भी प्रत्यक्षज्ञान कहलाता है। केवलज्ञान तो प्रकट प्रत्यक्ष है। ये कोई भी ज्ञान औदयिक नही है, किन्तु कर्मोदय होनेपर जितना ज्ञान प्रकट नही हो रहा उतनेको सोचकर कहा जायगा कि अज्ञानभाव है और औदयिक भाव है।

मतिज्ञान श्रुतज्ञानमेतन्मात्रं सदातनम्।
स्याद्वा तरतमैर्भावैर्यथा हेतूपलब्धिसात् ॥१०१८॥

संसारमें मतिज्ञान व श्रुतज्ञानकी सदातनता—मतिज्ञान और श्रुतज्ञान ये दोनो ससार अवस्थामे सदा रहते है। सूत्रजी मे कहा है ना—सर्वस्वं, मतिज्ञान सब जीवोके होता है। अवधिज्ञान हो उसके भी है, मनःपर्ययज्ञानी हो उसके भी है, एकेन्द्रिय जीव हो उसके भी है। एकेन्द्रियके मति श्रुतको कुमति कुश्रुत कहेगे, पर मति-श्रुत बिना कोई ससारी जीव नही है। ये तो वहाँ ही समाप्त होते है जहाँ केवलज्ञान प्रकट होता है। तो ये मति श्रुतज्ञान ससार अवस्थामे सदा सब जीवोके है और इनका निमित्त जैसा मिलता है उस प्रकार इसके भेद बन जाते है। जैसे मतिज्ञानके ३३६ प्रकार है—स्पर्शनइन्द्रियसे जाना, रसनासे जाना, घ्राण,

चक्षु, कर्णसे जाना, मनसे जाना, और यह सब जानना होता है १२ प्रकारके अर्थोंका और ये सब होते हैं—अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा इन ४ रूपोमे। तो ६ × १२ × ४ = २८८ तथा व्यञ्जनावग्रहके ४८, इस तरह विस्तार किया जाय तो १३६ भेद कहे गए है, पर वास्तविक भेद कितने है, उनको बताया नही जा सकता। वे असंख्याते है। अवग्रह, ईहा, अवाय, धारणाका अर्थ यह है कि किसी चीजको जब हम जानते हैं तो सबसे प्रारम्भमे ज्ञान होता है, मगर उस ज्ञानमे दृढ़ता नही रहती और उसके बाद संशयको मौका मिलता है कि यह पदार्थ ऐसा है या नही है। ईहा ज्ञान ऐसे संशयको भेदता हुआ किसी एकका ज्ञान करा देता है, यह होना चाहिए, किन्तु अवाय ज्ञान पूरे निश्चयके साथ बोध कराता है। यह ही अवाय है। अवाय तक सारा काम बन चुका। ज्ञानमे अब कोई कमी न रही, निर्णय पूरा हो गया, मगर अवाय द्वारा पदार्थको जानकर फिर कभी भूले नही बहुत काल तक, याद रह सके, धारणा बनी रहे ऐसी जो और विशेषता बनी रहती है उसे कहते हैं धारणाज्ञान। यो मतिज्ञान अनेक प्रकारका है और श्रुतज्ञान भी नाना प्रकारके है। जैसे सिद्धान्तकी दृष्टिसे ११ अग १४ पूर्व और अग बाह्यका ज्ञान होना, परिकल्प सूत्रादिकका ज्ञान होना—ये सब श्रुतज्ञानके प्रकार हैं। वैसे व्यवहारमे उतनी तरहके श्रुतज्ञान चलते है जितने विकल्प हैं, विचार हैं, निर्णय हैं, बोध हो रहे हैं, ये सब श्रुतज्ञान ही तो हैं। मतिज्ञानमे विकल्प उत्पन्न नही होता। देखनेके साथ जब ऐसा समझा कि यह पीला है श्रुतज्ञान हो गया। पीलेको जाना तो था पहिले मगर जान लिया, पीलेका विकल्प न उठा था तब तक मतिज्ञान था। जहाँ कुछ विशेष बोध किया, श्रुतज्ञान हो गया। फिर यह कहाँका रग है, कहाँसे मिलता है, किसने लगाया आदि अनेक बातें समझते जावो, यह श्रुतज्ञान है। यो व्यवहारतः भी श्रुतज्ञान अनेक प्रकारका है और शास्त्रसूत्रो की दृष्टिसे श्रुतज्ञान अनेक प्रकारका है।

ज्ञानं यद्यावदर्थानामस्ति ग्राहकशक्तिमत्।
क्षायोपशमिक तावदस्ति नौदयिकं भवेत् ॥१०१६॥

मति, श्रुत, अवधि व मनःपर्यय ज्ञानोंकी क्षायोपशमिकता—इस प्रकरणमें ज्ञानके स्वरूपकी चर्चा की है। जो ज्ञान जीवके प्रकट होता है वह ज्ञान किस-किस ढगसे होता है, किस-किस प्रकारका होता है? यह सब वर्णन किया है। अब बतलाते हैं इस श्लोकमे कि जितने भी ज्ञान है वे सब हैं तो जानकारी। पदार्थको ग्रहण करनेकी शक्ति रख रहे हैं समस्त ज्ञान। तो ये सारे ज्ञान जो हम आपको हैं ये क्षायोपशमिक ज्ञान हैं, ये औदयिक ज्ञान या अज्ञान नही है। इनमे भी अगर गम्भीरतापूर्वक विचार करें तो यह छंटनी आप कर सकते है कि ज्ञान क्या है और विकल्प विचार राग मैल तरंग क्या है? वर्तमानमे ज्ञान और राग तरंग ये एक साथ मिल-जुलकर काम कर रहे है और यही आफत है। वहाँ इस जीवको इतना भेद करनेका

अवसर नही रह पाता है मोहके उदयमे कि वह समझ सके कि ज्ञान तो इतना है और यह मेरा स्वरूप है। बाकी ये सब राग है, विकल्प हैं। जैसे हरे बल्बका प्रकाश हो रहा तो वहाँ कोई यह भेद नही कर पाता कि प्रकाश तो इसका नाम है और जो हरा है वह प्रकाश नही कहलाता। कितना कठिन है ऐसा बोध करना ? इससे भी अधिक कठिन है हम आपके जो परिणमन चलते है उनमे भेद करना कि ज्ञान तो यह है, राग यह है। बस ऐसा ज्ञान, ऐसा भेद बोध जिनके हो पाता है उनको ही सम्यग्दृष्टि कहते है, तत्त्वज्ञानी कहते है। मै ज्ञानस्वरूप हू, रागरूप नही। ज्ञानधर्म है, प्रेम अधर्म है। ज्ञान शाश्वत है, प्रेम विनाशीक है। ज्ञान सहज होता है प्रेम कर्मके उदयसे होता है। तो जो प्रेम और ज्ञानमे भेद कर सकता है और भेद करना ही चाहिए। कलंकता और निष्कलंकता इन दोनोंका मेल कैसे किया जा रहा है, प्रेम विरोध मोह यह तो कलक है। संसारमे रुलने वाले तत्त्व है, और जो एक अविकार ज्ञान अवस्था है वह निष्कलक दशा है। अपनेको अविकाररूप अनुभव करे। और देखो जब गृहस्थ जीवनमे रह रहे तो यहाँ राग बिना, प्रेम बिना गुजारा तो न चलेगा। हाँ गुजारा न चलेगा ऐसा समझे, पर श्रद्धा साधुओंकी तरह बनावे कि प्रेमका अश भी, रागका अश भी मेरा बैरी है और पाप है। वह कभी त्रिकालमे भी धर्म नही हो सकता। जिनेन्द्रदेवने घोषणा करके यह बात कही है कि धर्म तो केवल एक अविकार ज्ञानस्वरूप है। जो करते बने सो करे, मगर जो कर रहे उसे ऐसा मत समझें कि यही सत्य है, यही धर्म है और यही ससारसे तारनहार है। धर्म माने केवल एक अविकार ज्ञानज्योतिस्वरूपको। बस मैं धर्ममूर्ति हूँ, ज्ञानमूर्ति हूं, इस ही अविकार ज्ञानस्वरूपका आलम्बन रहे, यही सत्य है, शेप सब असत्य है। यह ही मेरे लिए हितरूप है, शेप अहित है। तो औदयिक भावके प्रकरणमे इस क्षायोपशमिक ज्ञान का जिक्र किया तो गया, लेकिन वह क्षायोपशमिक है, पर श्रद्धा यह रखें कि ऐमा ज्ञान भी मुझे न चाहिए। मेरेको तो सहज जो ज्ञान प्रकट होता हो वह चाहिए। तो भला बतलावो— जो तत्त्वज्ञानी पुरुष है, इस क्षायोपशमिक ज्ञानसे भी विरक्त रहता हो वह प्रेमको, विरोधको कैसे पसद करेगा ? कैसे उसे धर्म कह सकेगा ? कैसी भी स्थितिमें हो, राग और द्वेप तो अधर्म ही है। उनसे हटकर अविकार धर्मस्वरूप इस ज्ञानस्वभावमे आना चाहिए।

अस्ति द्वेधावधिज्ञानं हेतोः कुतश्चिदन्तरात्।
ज्ञानं स्यात्सम्यगवधिरज्ञानं कुत्सितोऽवधिः ॥ १०२०॥

अवधिज्ञानकी सम्यक्रूपता व विपरीतरूपताका निर्देश—अवधिज्ञान दो प्रकारसे होता है—एक सम्यक्त्वके रहते हुए जिसका नाम है अवधिज्ञान, सुअवधि, सम्यक्अवधि, और एक होता है मिथ्यात्वके अभावमे, जिसका नाम है कुअवधि, मिथ्याअवधि। जहाँ

सामान्यतया ज्ञान शब्द कहा जाता है वहाँ अर्थ सम्यग्ज्ञान लिया जाता है और वह ज्ञान कहने के लिए कोई विशेषण लगाया जाता है। तो अवधिज्ञान शब्द जब बोला जाय तो उससे सम्यक्अवधिज्ञान लिया जायगा और जब विपरीत अवधिज्ञानको कहना होगा तो उसके साथ नियमसे कुछ विपरीत आदिक शब्द लगेंगे अथवा इसका दूसरा नाम है। विभगावधिज्ञान। अवधिज्ञानमे भी रूपी पदार्थ जान लिए जाते है। दूर क्षेत्रमे भूत भविष्यमे रहने वाले रूपी पदार्थ पौद्गलिक चीजें ज्ञात हो जाती है सम्यक्अवधिज्ञानमे और ऐसे ही दूर भूत भविष्य मे जो पौद्गलिक पदार्थ है वह ज्ञात हो जाता है। लेकिन आशयका अन्तर है। आशयके अन्तरसे अवधिज्ञान सुअवधि और कुअवधि कहलाता है। जैसे एक दृष्टान्त प्रसिद्ध है कि एक राजा अरविन्दको एक बार खूब तेज बुखार था। उस बुखारमे दाह बहुत थी। अचानक ही भीत पर दो छिपकली लड गई और उनकी पूछ टूट गई। पूछ टूटनेसे खूनके कुछ बूद राजा के शरीर पर पडे तो उसे बडी साता मिली। उसने झट अपने पुत्रोको हुक्म दिया कि जावो अमुक जगलसे पशुओको मारकर उनका खून लावो। खूनसे बावडी भरा दो, हम उसमे नहा कर सन्तुष्ट होगे। राजपुत्र इस बातको सुनकर काँप उठे। सोचा कि इसमे तो कितने ही निरपराध जीवोकी हत्या करनी होगी, पर पिताका हुक्म था, सो पिता द्वारा बताये हुए जगल मे वे दोनो राजकुमर गए। वहाँ उन्हे एक मुनिराज मिले। मुनिराजने उनके आनेपर पहिले ही कहा कि तुम लोग व्यर्थ ही अपने पिताका हुक्म बजाने आये हो। अरे तुम्हारा पिता तो कुअवधिज्ञानी है। वह तो शीघ्र ही मरकर नरक जाने वाला है। उसके कहनेमे आकर व्यर्थ पाप करना क्यो विचार रहे हो? मुनिराजकी ऐसी बातें सुनकर दोनो राजपुत्र दग रह गए। सोचा कि बिना बताये ये जान कैसे गए? तो वे दोनो राजपुत्र बोले—महाराज! हमारा पिता तो अवधिज्ञानी है। उसने ही बताया है कि अमुक जगल जावो—वहाँ अमुक अमुक स्थानपर अमुक-अमुक जानवर मिलेंगे। वह कुअवधि ज्ञानी कैसे? नरकगामी कैसे? तो मुनिराज बोले—अच्छा जावो अपने पितासे यह मालूम करो कि उस जगलमे उन पशुओके अतिरिक्त और भी कोई है या नही। उसका उत्तर मुझे बताना। गये वे दोनो राजकुमार पिताके पास और पूछा कि पिताजी आप यह बताइये कि जिस जगलमे हमे पशु मारने आपने भेजा उसमे और भी कोई रह रहा है या नही। तो वह राजा बोला—हाँ रह रहे है। जंगलके अमुक कोनेमे खरगोश भी है, अमुक कोनेमे बारहसिंहे भी है, सब कुछ बताया पर यह न बता सका कि उस जगलमे कोई मुनिराज भी बिराजे है। राजकुमार वापिस जगल आये और मुनिराजसे कहा—हाँ महाराज आप ठीक ही कह रहे थे। हमारे पिताने और तो सब बातें बताईं पर यह न बता सके कि उस जगलमे कोई मुनिराज विराजे है। तो

वास्तवमे हमारा पिता कुअवधिज्ञानी है। तो कुअवधिज्ञानमे सब खोटी खोटी बातें दिखेंगी, भली बातें, अच्छी बातें न दिखेंगी। आखिर बादमे राजपुत्रोने शिकार तो न किया, पर लाख के रगसे बावडी भरा दी। जब उस राजाने उसमे स्नान किया तो समझ गया कि यह खून नही है, यह तो रंग है। सो क्रोधमे आकर नगी कटारी लेकर दोनो पुत्रोको मारने दौडा। दोनो पुत्र भागे जा रहे थे। वह बीमार हालतमे ही नगी कटार लिए उनका पीछा किए जा रहा था। एक जगह उस राजाको पैरमे ठोकर लगी और गिर गया, उसकी ही कटार उसके पेटमे घुस गयी और मरकर नरक गया। तो कुअवधिज्ञानमे आगे पीछेकी बातोका ज्ञान तो होता है, पर आशय बुरा रहता है, इसलिए वह कुअवधिज्ञान है। यो अवधिज्ञानके दो प्रकार है—सम्यक्अवधि और विपरीत अवधि।

अस्ति द्वेधा मतिज्ञान श्रुतज्ञान च स्याद्द्विधा।
सम्यड् मिथ्याविशेषाभ्या ज्ञानमज्ञानमित्यपि ॥१०२१॥

मति व श्रुत इन दो ज्ञानोंकी भी सम्यक्रूपता व विपरीतरूपताका निर्देश—मतिज्ञान भी दो प्रकारका है और श्रुतज्ञान भी दो प्रकारका है। सम्यग्दर्शनके साथ होने वाला मतिज्ञान, श्रुतज्ञान सम्यक्मति और सम्यक्श्रुत है। सम्यक्त्वके अभावमे होने वाला मति, श्रुत, कुमति और कुश्रुत कहलाता है। ज्ञानका जो लक्षण है वह दोनो जगह पाया जायगा। मतिज्ञान भी इन्द्रिय और मनसे पदार्थको जानता है तो कुमतिको भी इन्द्रिय और मनसे जाना जाता है। जाननेकी जो स्थिति है, उत्पत्तिका जो कारण है वह दोनो जगह समान है। मतिज्ञान भी ज्ञानावरणके क्षयोपशमसे होता है, कुमतिज्ञान भी क्षयोपशमसे होता है, पर सम्यक्त्वके साथ होनेसे कुमति कहलाता है और मिथ्यात्वके साथ सम्यक्त्वके अभावमे होने वाला मतिज्ञान कुमतिज्ञान कहलाता है। मिथ्यादृष्टि जीव भी खूब जानता तो है सब कुछ, बडे-बडे आविष्कारक वैज्ञानिक लोग भी है, वे सब कुछ जान जाते, किन्तु वास्तविकता क्या है, मूलद्रव्य क्या है यह उनके ज्ञानमे नही है, इसलिए वह साराका सारा ज्ञान कुमतिज्ञान है। सापको साप जान रहा है मिथ्यादृष्टि अज्ञानी जीव, फिर भी वह ज्ञान कुमतिज्ञान है, क्योकि उसे यथार्थ बोध नही है कि वह पौद्गलिक पिण्ड है, अनन्त परमाणुओका पुञ्ज है, इसमे तथ्य तो परमाणु-परमाणु है। स्कध तो मायारूप है। उसके सम्बधमे उसे ठीक परिचय नही है और सम्यग्दृष्टि जीव कभी रस्सीको भी साँप जान ले तो भी लौकिक हिसाबसे तो मिथ्याज्ञान है, मगर आत्मतत्वके नातेसे मिथ्याज्ञान नही है। जान लिया रस्सीको साप, कुछ भी समझ लिया, मगर जो ज्ञानमे आया उसके बारेमे सही बोध है कि यह अनन्त परमाणुओका पिण्ड है, स्कध है, यह मायारूप है, परमार्थ तो अणु है ऐसी उसकी द्रव्यदृष्टि है, वहाँ यथार्थ समझ रहा है,

जितने परमाणुवोका यह पिण्ड है वे परमाणु परस्पर भिन्न हैं, बधकी स्थितिमे एक हो रहे है। इस तरह ज्ञानीको भेद अभेदस्वरूप कारण सबका यथार्थ परिचय है तब सम्यक्त्वके साथ होने वाले मतिज्ञान सब सुमति कहलाते है। यही बात श्रुतज्ञानमे घटित करो। मतिज्ञान से जाने हुए पदार्थमे और विशेष जानना सो श्रुतज्ञान है। अब वह और विशेष ऊट-पटाग यहाँ वहाँका जान रहा है। जैसे यह घर है, अमुकका घर है। अब यह अटपट जान लिया। जिसे लोग घरका मालिक कहते है उसका घर कहाँ है? अरे वह तो एक अशरण आत्मा है। ससारमे भटक-भटककर यहाँ पैदा हो गया है, उसका लगता क्या है घर? तो भले ही बहुत-बहुत बातें परख लेवे, श्रुतज्ञान द्वारा बडे-बडे आविष्कार कर ले, लेकिन सम्यक्त्वके अभावमे होने वाला श्रुतज्ञान कुश्रुतज्ञान है और सम्यक्त्वके होनेपर होने वाला श्रुतज्ञान सम्यक्श्रुतज्ञान कहलाता है। बडी-बडी कथायें रचेंगे, पर उनका आशय क्या है और शिक्षा क्या है, इसपर विचार करो। प्रायः करके वे सारे कथानक रागद्वेपके उत्पन्न करने वाले, ससारमे फसाने वाले और भव-भवमे रुलाने वाले है। तो जिन शास्त्रोमे रागद्वेप मोहको बढ़ाने वाली बातें हो वे सब कुशास्त्र है, और उनके द्वारा किया गया ज्ञान श्रुतज्ञान है। और जहाँ थोडा भी कथन हो और वह एकदम ब्रह्मस्वरूपका स्पर्श करा देने वाला हो उस श्रुतज्ञानकी महिमाको कौन कह सकता है?

सम्यक्त्वके होनेपर ज्ञानमें सम्यक्रूपता व सम्यक्त्वके अभावमे मिथ्यारूपता—जैन-शासनका एक छोटासा ही वाक्य ले लो—"समस्त वस्तुयें परिणमनशील है।" देखिये यह वाक्य है तो छोटासा पर इसमे सम्यग्ज्ञानका बहुत बडा प्रकाश आ गया। ओह, वस्तु परिणमनशील है, निरन्तर परिणमती रहे, ऐसा वस्तुमे स्वभाव पडा है और यह स्वभाव उसमे उसके सत्त्वके कारण भरा हुआ है। प्रति समय वस्तु परिणमेगी, परिणमे बिना रह नही सकती। निरन्तर नवीन पर्याय बनेगी और वर्तमान पर्याय विलीन होगी, इसपर भी वह पदार्थ निरन्तर रहेगा। लो कितनी किरणें आ गईं इसमे? पदार्थ कथञ्चित नित्य है, सर्वथा नित्य कूटस्थ अपरिणामी अद्वैतकी जो कल्पना की जाती है वह कल्पना वस्तुस्वरूपके विपरीत है। विपरीत श्रद्धामे मोक्षमार्गकी दिशा न मिलेगी। पदार्थ क्षणिक है, कथञ्चित अनित्य है तब ही तो ये नवीन-नवीन किरणे आयी। और क्या किरणें मिली? वस्तु स्वत सिद्ध है, उसे किसीने बनाया नही। ओह लौकिक जनोने एक महान भ्रममे आकर ऐसा मान लिया कि इन समस्त वस्तुओको किसीने बनाया है और बडे गर्वके साथ कहते है कि कोई एक शक्तिमान ईश्वर है, अनन्त शक्तिमान है, ऐसा मानते हैं। ईश्वरकी कल्पना और मान्यता तो करना चाहिए था इस बातमे कि वह अनन्तज्ञान और अनन्तआनन्दके विलासमे रहना है।

सबसे बडी विपरीतता तो अपने आपके स्वरूपमें टिकनेकी है, विकल्प करनेमे वीरता नही है । यही कठिन लग रहा लोगोको । धर्ममें रुचि नही होती, यद्यपि देखने वाले जहाँ हजारो धर्मात्मा है वहाँ वास्तविक मायनेमे २-४ ही धर्मात्मा मिलेंगे । देखिये फर्क क्या रह गया ? एकको उसकी आदत पड गयी । उसमे उसके बिना चैन नही । एक सुमार्गमे आ गए, रूढिवश धर्म करते है कुछ लोग अपनेको लोगोंमें अच्छा कहलवानेके लिए, लोगोमे अपनी कुछ प्रतिष्ठा बनाये रखनेके लिए धर्ममार्ग करते हैं । यो कितने ही आशय धर्म करनेके हो सकते है अथवा किसीका थोडा आशय कल्याणका भी हो तो भी नामका कल्याण सुन रखा । कल्याण किसे कहते है, इसका स्वरूप ही नही समझा, यों अनेको लोग मिलेंगे, लेकिन वास्तविक धर्मबुद्धि, धर्मरुचि जिसके बलसे ससारसे पार हुआ जा सकता है ऐसी बुद्धि तो उसके ही आयगी जिसने कुछ समझ रखा है कि सारा वैभव सारहीन है, मैल है, कलक है । मुझे तो ससारके जन्म-मरणसे छूटना चाहिए । इस प्रकारकी बुद्धि बनायी हो तब समझिये कि हा धर्मरुचिका पुरुष है यह । तो बहुत-बहुत उपदेश है, शास्त्र है और निर्णय करें कि जिनके सुननेसे, मनन करनेसे ज्ञान और वैराग्यको प्रोत्साहन मिले वे तो है सच्चे शास्त्र और जिनके प्रसगसे राग, प्रेम, मोह, विषय, मौज आदिका प्रोत्साहन मिले वे है कुशास्त्र । वहां देखो एक ही बात है । वस्तु परिणमनशील है—इस श्रद्धानने कितने भ्रमोको नष्ट कर दिया, और गहराईमे चलो तो वस्तु परिणमनशील है, यह उसका स्वभाव है । तब जो दर्शन ऐसा मानते है कि द्रव्य निराला, गुण निराला, वह भेदवाद भी खत्म हो गया । सूक्ष्मसे सूक्ष्म विभिन्न दर्शनोमे उलझने वाली समस्याओका समाधान केवल एक इस वाक्यमे आ गया कि वस्तु परिणमनशील है । कहनेको यह छोटा वाक्य है, मगर इसमे ज्ञानकिरण कितनी आती है ? बहुतसे खोटे मन्तव्योका निराकरण हो जाता है । तो सम्यक्त्वके होनेपर जो श्रुतज्ञान होता है वह है सम्यक्श्रुतज्ञान और सम्यक्त्वके अभावमे जो श्रुतज्ञान होता है उसे कहते है कुश्रुतज्ञान ।

त्रिषु ज्ञानेषु चैनेषु यत्स्यादज्ञानमर्थतः ।
क्षायोपशमिक तत्स्यान्नस्यादौदयिक क्वचित् ॥१०२२॥

मिथ्या ज्ञानोकी भी क्षायोपशमिकरूपता—इतना बडा विस्तारपूर्वक जो प्रकरण चल रहा है वह यह उपदेश देनेके लिए चल रहा है कि जो ज्ञान हम आपको होता है या जिस किसीको भी, मिथ्यादृष्टिको भी, ज्ञानीको भी वे सब ज्ञान औदयिक नही, किन्तु क्षायोपशमिक हैं याने ज्ञानावरणकर्मके क्षयोपशमसे प्रकट हुआ हैं । क्षयोपशम यद्यपि भली बात है, याने कुछ कर्म दब गए, कुछ कर्म अलग हो गए, कुछ कर्म उदयमे आ गए, ऐसी स्थितिका नाम है क्षयोपशम, लेकिन मोहनीयका क्षयोपशम हो तो वह कहलाती है भली चीज और ज्ञानावरण

का क्षयोपशम हो तो वह है एक सामान्य बात। ज्ञानावरणका क्षयोपशम मिथ्यादृष्टिके भी है, सम्यग्दृष्टिके भी है, किन्तु मोहनीय कर्ममे जो क्षयोपशम हुआ तो वह होगा सम्यग्दृष्टि जीवके। तो यहाँ तीन प्रकारके ज्ञानोमे जो अज्ञान बताया है याने तीन ज्ञान सम्यक्रूप भी है, मिथ्यारूप भी हैं, तो इनमे जो मिथ्यारूप ज्ञान है वह ज्ञान औदयिक नही है, किन्तु क्षायोपशमिक हैं याने मिथ्याज्ञान औदयिक नही है तो औदयिक कौनसा ज्ञान है ? यह बात आगे बतायेंगे, पर यहाँ यह निर्णय करना है कि ज्ञानावरणके क्षयोपशममे होने वाला ज्ञान कम भी है तो वह जानता है वह क्षायोपशमिक है। उसे औदयिक न कहेगे। तो फिर औदयिक अज्ञान कैसे होता है ? इस विषयको १५वे भागमे बताते है।

॥ पञ्चाध्यायी प्रवचन चतुर्दश भाग समाप्त ॥

पूज्य श्री गुरुवर्य्य मनोहर जी वर्णी "सहजानन्द" महाराज द्वारा रचित "पञ्चाध्यायी प्रवचन" का यह चतुर्दश भाग समाप्त हुआ।

पंचाध्यायी प्रवचन पञ्चदश भाग

प्रवक्ता—अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्री १०५ क्षु० मनोहर जी वर्णी
"सहजानन्द" महाराज

अस्ति यत्पुनरज्ञानमर्थादौदयिकं स्मृतम् ।
तदस्ति शून्यतारूपं यथा निश्चेतनं वपुः ॥१०२३॥

औदयिक अज्ञानकी मुद्रा—औदयिक भाव २१ बताये गए है । उनमे एक भाव अज्ञान भी कहा है तो वह औदयिक अज्ञान क्या है कि जो ज्ञानावरणकर्मके उदयसे ज्ञान प्रकट नही हो रहा । ज्ञानकी शून्यता रूप है, ऐसा जो ज्ञानका अभाव है उसको कहेंगे औदयिक अज्ञान । उसे यो समझिये कि जैसे मुर्दा शरीर याने उस अज्ञानमे ज्ञानका लवलेश नही । ज्ञानावरण-कर्मके उदयसे जो ज्ञानका अभाव है, ज्ञानाभाव हुआ है वह तो जीव है, ज्ञानका अभाव है । जो ज्ञान बन रहा उसे नही कहा है औदयिक । वह तो एक निश्चेतन शरीरकी तरह है, कुछ नही है और उसे यों समझ लीजिए—हर जगह केवलज्ञान उत्पन्न होनेसे पहिले याने प्रथम गुणस्थानसे १२ वें गुणस्थान तक औदयिक अज्ञान होता है । वह ज्ञान प्रकट नही हु । यही अज्ञानभाव है और जो अनेक संसारी जीव है, जिनके अवधिज्ञान और मनःपर्यज्ञान विल्कुल नही है उनके अवधिज्ञानावरणका और मनःपर्ययज्ञानावरणका डटकर उदय है ना तो उस उदयमे होने वाला जो ज्ञानका अभाव है उसको कहते है औदयिक अज्ञान । इसी प्रकार मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरणका क्षयोपशम होनेपर जितने अशोमे ज्ञान है वह तो क्षायोपशमिक है और जिसके ज्ञानकी लब्धि भी नही है, ऐसा जीरो, शून्यतारूप ज्ञानका अभावरूप जो अज्ञान है वह है औदयिक । तो क्षायोपशमिक अज्ञानके मायने है कुमतिज्ञान, कुश्रुतज्ञान, कुअवधिज्ञान और औदयिक अज्ञानके मायने है ज्ञानका अभाव ।

एतावतास्ति यो भावो दृङ्मोहस्योदयादपि ।
पाकाच्चारित्रमोहस्य सर्वोऽप्यौदयिकः स हि ॥१०२४॥
न्यायादप्येवमन्येषां मोहादिघातिकर्मणाम् ।
भावास्तत्रोदयाज्जातो भावोऽस्त्यौदयिकोऽखिलः ॥१०२५॥

तत्राप्यस्ति विवेकोऽयं श्रेयानत्रोदितो यथा ।
वैकृतो मोहजो भावः शेष. सर्वोपि लौकिकः ।।१०२६।।

वैकृत औदयिक भाव व लौकिक औदयिक भावका विवेचन—इस समस्त कथनका सारांश क्या हुआ कि देखो—दर्शनमोहनीय कर्मके उदयसे कोई भाव होता है । कौनसा भाव होता है ? मिथ्यात्व । और चारित्रमोहके उदयसे कोई भाव होता है, कौनसा भाव होता है ? असयम । तो दर्शनमोह और चारित्रमोहके उदयसे होने वाले भावको औदयिक भाव कहते है और इसको भी तो औदयिक कहते है । जो ज्ञानावरण कर्मके उदयसे ज्ञानका अभाव बना वह भी तो औदयिक है । तो अब देखो ना, दो प्रकारके औदयिक भाव हो गए—एक मोहनीय कर्मके उदयसे होने वाला और एक अन्य कर्मके उदयसे होने वाला । लेकिन इन दोनो औदयिक भावोमे जाननहार औदयिक भाव तो मिथ्यात्व और असयम है । शेष औदयिक भाव यह लोक है, क्या मतलब कि मोहकर्मके उदयसे होने वाला औदयिक भाव बधका कारण है, ससार बढाने वाला है, दु खका हेतुभूत है, किन्तु अन्य जो औदयिक भाव है जैसे ज्ञानका अभावरूप अज्ञानभाव या गति असिद्धत्व, ये सब भाव बधके कारण नही है । इस कारणसे मोह आदिक दर्शनमोह और चारित्रमोह, इनके उदयसे होने वाला औदयिक भाव है प्रथम नम्बरका एक प्रबल अहितकारी दु.खदायी भाव । जैसे लोग गुडोमे छटनी करते है कि यह अव्वल नम्बरका गुडा है, यह दो नम्बरका और यह तीसरे नम्बरका गुडा है । इसी प्रकार अव्वल नम्बरका अहितकारी है मिथ्यात्व और असयमका भाव । तीन घातिया कर्मोके उदयसे होने वाला जो औदयिक भाव है वह है दो नम्बरका अहितकारी भाव । वह बधका कारण नही है, मगर गुण घात कर रहा है । तो तीसरे नम्बरका औदयिक भाव समझ लीजिए नामकर्म आदिकके उदय से होने वाला उदयाभाव । तो इनमे मुख्यता किसकी रही ? दु.ख देनेमे, संसारसकट बढानेमे मुख्यता रही मिथ्यात्व और असयमकी । इसी बातका वर्णन यहाँ चल रहा है कि विवेक कर लो कि जो विकृत मोहज भाव है मोह और असयम वह तो है बडा अहितकारी क्षयोपशमरूप और शेष जो भाव है वे लौकिक भाव है ।

स यथाऽनादिसतानात् कर्मणोऽच्छिन्नधारया ।
चारित्रस्य दृशश्च स्यान्मोहस्यास्त्युदयाच्चित ।।१०२७।।

मोहोदयमे ज्ञानकी विपरीतता—औदयिक भावके प्रकरणमे यह बात बतायी जा रही है कि कर्मोंका उदय होनेपर अनेक भाव उत्पन्न होते हैं, किन्तु उन सब औदयिक भावोमे प्रधान अहितकारी औदयिक भाव है मिथ्यात्व, मोह । दर्शनमोहका उदय होनेपर जो भाव बनते हैं जीवके उसको मोह कहते हैं । दृष्टिमोह । सच्ची बात न देख सके ऐसा पागलपन छा जाय, यह है औदयिक भाव । यह औदयिक भाव तो अश्रेयरकर है । और अज्ञान आदिक औदयिक भाव लगे है । जीवका घात करने वाला, जीवको बरबादीमे ढकेलने वाला भाव है

यह मोह और असंयम, यह औदयिक भाव जैसा है वैसा न मान सकना, उल्टा मानना, इसको तो लोग भला नही कहते। हो कुछ और जानते हो कुछ, जानते हो उल्टा, तो उसे कोई पसंद नही करता। उल्टा जानने वाले भी यह पसद नही करते कि मै उल्टा जानू और न समझकर कोई उल्टा जान सकता है। यदि वह समझ रहा है कि वस्तु ऐसी है और फिर उससे उल्टा जानना चाहे तो नही जान सकता। यदि वस्तुकी सही समझ नही है तो वह उल्टा जानेगा। जैसे कमरेके कोनेमे रस्सी पडी है; उसे देखकर यह समझमे आया कि यह सॉप है तो वह आकुलित होता है, भयभीत होता है। यदि हिम्मत बनाकर उसको देख ले, उठाकर समझ ले कि यह तो रस्सी है, सॉप नही है, ऐसा भली प्रकार जिसे ज्ञान हो जाय और फिर कोई कहे कि जरा वैसा ही ज्ञान तो कर लो जैसा भ्रममे पहिले किए हुए थे। रस्सीको साप जाननेका जो भ्रम था, जो उल्टी जानकारी चल रही थी ऐसा जान तो लो वह जान ही नही सकता। आप कहे—अच्छा हम तुमको ५००) रु० इनामके देते है, तुम वैसा ही जानने लगो जैसा पहिले उल्टा जानते थे तो वह जान लेगा क्या? ज्ञानमे जब बात यथार्थ आ गई तो अब उल्टा कैसे ज्ञान करे?

मोहविलय होनेपर स्वातन्त्र्यका लाभ—मोही जीवको अचरज होता है महापुरुषोके चरित्र सुनकर कि वे क्यो विरक्त हो गये? लो कल तो शादी हुई थी और आज साधु बन गए। भवदेव और भावदेवका कथानक है कि भवदेव तो हो गए मुनि और उनका छोटा भाई भावदेव शादी होकर घर आया तो प्रतिदिन आहारदानका नियम रहता था। रोज-रोज शुद्ध भोजन बनता ही था। दूसरे दिन भवदेव मुनि आ गए, उनको पडगाहा, आहार दिया और पहुचाने चले कमण्डल लेकर तो भवदेव कुछ न बोले, लौट जावो यह भी न कहा। दो-तीन मील तक चले गए, तो कहाँ चले गए जहा एक बडा मुनिसघ था। लोगोको परिचय हुआ कि यह भवदेव इन मुनि महाराजके छोटे भाई थे। बड़े ज्ञान वैराग्यका वातावरण था। अब भवदेवको वहाँसे लौटनेमे झिझक हुई। कहा तो इस मुनिसघमे मेरा भाई मुख्य है, सब लोग जिसे प्रणाम करें, जिसकी आज्ञामे रहे और मैं साथ छोड़कर घर लौटू तो यह बडे लज्जाकी बात है। कुछ यह भाव बना, कुछ वैराग्यका भाव बना सो वह भी वही मुनि हो गया। तो लोगोको (मोहियोको) अचरज होगा कि कैसे हो गया यह? और हो जानेपर फिर कभी अज्ञान आयगा नही, इस स्थितिपर और आश्चर्य होता है। तो मोह जहाँ गल गया वहाँ असली आजादी मिल गई। लोग यहाँ देशकी आजादीको ही आजादी समझते है, पर इसमे कहाँ आजादी? यदि आत्मा आजाद हो, मोहरहित होकर निज ब्रह्मस्वरूपको लख-लखकर तृप्त रहे, किसीके बधनमे न हो, स्वतत्र एक ज्ञानविलासका धनी बन जाय, आजाद तो उसे कहेगे। तो यह वास्तविक आजादी मिलती है मोहका विनाश होनेपर।

मोहविनाशका उपाय वस्तुस्वरूपका यथार्थ परिचय—मोहका विनाश कैसे होता ? लोगोने अपना-अपना रास्ता निकाला है कि मेरा मोह नष्ट हो जाय। किसीने सोचा कि ऐसा सोच ले कि जगतमे मेरा कुछ नही है, सब ईश्वरका है। तो उसका मोह मिट जायगा। मोह मेटनेकी तरकीब प्रायः बहुतोने सोच रखी। कोई सोचता है कि जिसके मोह पैदा होता है उससे बुराई लेनी होगी तो दिल फट जायगा तो मोह मिट जायगा। सोचा सभीने मोह मेटनेका उपाय, लेकिन एक वास्तविक उपाय जो कभी फेल न हो सके और जो प्रारम्भसे अन्त तक निर्मोहताका निभाव कर सके वह उपाय है वस्तुकी स्वतत्र सत्ताका परिचय करना अणु-अणुमे प्रत्येक जीव स्वय अपने आपमे पूर्ण है, अपने आपमे अपना उत्पादव्ययध्रौव्य करता है, प्रत्येक पदार्थ त्रिगुणात्मक है। किसी भी एक पदार्थका किसी दूसरे पदार्थके साथ गुणका, पर्यायका, शक्तिका, कर्तृत्वका कोई सम्बन्ध नही है, स्वतत्र सत् है। ऐसा वस्तुके स्वरूपमे जो प्रवेश कर गया हो उसको मोह नही प्रकट होता। मोहमे क्या होता है आकर्षण ? यह मेरा है, मै इसका हू। जहाँ वस्तुस्वरूप ठीक समझमे आया, जानकारी बनी, कुछ भी किसीका नही होता, सब अपने सहारे है, सम्बन्ध ही नही। घरमे रहने वाले १०–५ लोग ठीक उसी तरह निराले ह जैसे जगतमे और जीव निराले है। जहाँ वस्तुस्वरूपका भली भाँति सही परिचय हो जाता है वहाँ मोह नही रहता। मोह न रहे तो उसे आकुलता नही है। नारकी जीव भी निर्मोह है तो वह भला है और देवगतिका जीव मोहवान है तो वह भला नही है। एक बात और सिद्धान्तसे समझना होगा कि नारकी जीव मरकर तुरन्त नरक मे नही जाता है। वह मनुष्य होगा या तिर्यञ्च बनेगा। बादमे चाहे नरक जाय, पर नरकसे निकला हुआ जीव नरकमे तुरन्त नही पहुचता। वहाँ इतने दुःख है, इतने क्लेश है कि जिन क्लेशोको सहा और सहकर पापकर्म निकाला, अब इतने पापकर्म गाँठमे नही रहे तो नरकमे न जायगा। एक बार मनुष्य बनेगा या पशु-पक्षी बनेगा। तो नरकगतिमे रहने वाला जीव रहता तो निरन्तर कष्टमे है, लेकिन सम्यक्त्वका उदय जिस नारकीके हो, वस्तुस्वरूपका परिचय जिसे हो गया हो, जो निर्मोह हो गया है वह भीतरमे अनाकुल रहता है, मगर शारीरिक दुःखको सहन न कर सकनेसे दुःखी भी रहता है। ऐसा नारकी जीव तो भला है, मगर भोगोमे आसक्त रहने वाला मोही मनुष्य अथवा देव ये भले नही है।

मोहमे उन्नतिका अनुपाय—मोही प्राणियोकी उन्नतिका उपाय नही है। मोह एक ऐसी बला है। जिस मोहने इतना परेशान कर डाला उस मोहको यह प्राणी छोडना नही चाहता। यह भूल कहलाती है भूलको सही माननेकी भूल। भूल हो जाना उतनी बुरी बात नही है जितनी कि भूलको सही मानना बडी भारी भूलकी बात है। भूल करने वाला भूलको मिटा नही सकता। इसीके मायने है मोह मिथ्यात्व। उल्टा रास्ता चल रहे हैं और मान रहे

है कि हम बिल्कुल सीधा चल रहे तो वह तेज चलता जायगा, वह भटक जायगा। तो मोहमे इस जीवको अपना स्वरूप नही नजर आता और जो पर्याय पायी, जो देह पाया उसे माना कि यह ही मै हू। मोहका उदय है, रागकी प्रेरणा है, शरीर रुच रहा है, बहुत ठीक, बहुत सुन्दर, बहुत सबल हू उसका मान हो, उसका अपमान हो, कितने ही प्रकारकी वेदनाये यह जीव इस शरीर व्यामोहके कारण ले लेता है।

ज्ञायकस्वरूप परमब्रह्मकी झांकी पा लेनेके पौरुषका अनुरोध—भैया! इस जीवनमें एक बार भी तो झलकमे शुद्ध अविकार ज्ञायकस्वरूप कारणसमयसार परमब्रह्मकी झाँकी लो। जब यहाँ देखते है कि दसो काम किया, नफा न मिला तो ११वाँ काम कर लिया, उसमे भी नफा न मिला तो १२वाँ काम कर लिया। वहाँ तो ऊबते नही है, अरे जब आप हजारो लाखो कामोमें भी सफल न हुए तो जरा एक यह रोजिगार करके देख लो—सबसे चित्त हटाना, किसीमे मोह न रखना, अकिञ्चन समझकर, मेरा कही कुछ नही है, कहाँ चित्त दें? अपने उपयोगको आराममे रखें, क्लियर करें, कुछ मत सोचें, वहाँ अपने आप ही इस ज्ञानस्वरूप ब्रह्मकी झलक बनेगी, क्योकि यह स्वयं ज्ञानस्वरूप है। और उस अनुभूतिके बाद फिर विदित होगा कि सार है तो यह, आनन्द है तो यह, और उसका प्रोग्राम है तो यह? इसके अतिरिक्त मुझे किसीसे कुछ न चाहिए। क्यो चाहूं? जो परभवमे पूर्वभवमे परिजन मिले वे अब कहाँ साथ है? जो वैभव था वह कहाँ है आज? उसमें सार क्या निकलेगा? और आज जो कुछ मिला है उसमे भी क्या सार निकलेगा? ज्ञानी पुरुष किसी भी चमत्कारमे मुग्ध नही होता। उसकी तो केवल एक धुन है। निज अन्तस्तत्त्वको पहिचानूं और उसमे रम लू। अलौकिक विधानको मोही जन समझ नही पाते। तो मोह है सो ही वास्तवमे औदयिक भाव है बाकी और भाव तो मोहके पिछलग्गू है। एक बडे ऐबके साथ जैसे छोटे ऐब भी भर जाते है। ऐसे ही एक मोह भावके साथ अनेक और भी अवगुण जीवमे घर कर जाते है। तो यह भाव विकृतभाव है, दर्शनमोह और चारित्रमोहके उदयसे होने वाला है, जिसे मिथ्यात्व और सयम शब्दसे कहा गया है। सो यह औदयिक भाव इस जीवके अनादिकालसे परम्परया चलता जाता है। इन दोनो कर्मोके उदयसे अथवा एक मोहनीय कर्मके उदयसे जो जीवकी विकार अवस्था हो रही है वस्तुतः यही एक विकट औदयिक भाव है।

तत्रोल्लेखो यथासूत्र दृङ्मोहस्योदये सति।
तत्त्वस्याप्रतिपत्तिर्वा मिथ्यापत्तिः शरीरिणाम् ॥१०२८॥

मिथ्यात्वका प्रासङ्गिक वर्णन—अत्र उस मिथ्यात्वका और उस दर्शनमोहके उदयका आर्षपरम्पराके अनुसार और जो युक्ति स्वानुभवसे भी सही उतरे उस युक्तिसे उल्लेख किया

जा रहा है। दर्शनमोहका उदय होनेपर जीवके तत्त्वमे प्रतीति नही होती। जैसे पीलिया रोग हो जाने पर मनुष्यको सफेद वस्तु भी सफेद नही दिख सकती। उसे सब कुछ पीला दीखता है। कही गुन्जाइश नही कि सफेदका सफेद दिख जाय। ऐसे ही जिसके मोहका उदय है वह जीव तत्त्वकी यथार्थ प्रतीति नही कर सकता। विपरीत बुद्धि हो जाती है। जीवका अहित करने वाले है ये विषय और कषाय और उनका पोषने वाला है यह मोहभाव। जैसे वृक्ष खडा है, डाली हरी, पत्ते हरे, फल हरे, फूल हरे, तो ये सब किस बलपर हरे है? अरे ये उस पेड की जडके बलपर हरे है। जब तक उस पेडकी जड पुष्ट है, जब तक उसे आहार मिल रहा है तब तक पत्ते भी हरे हो रहे, फूल भी इतरा रहे, फल भी अपना गर्व बगरा रहे, तो ऐ वृक्ष, खूब इतरा लो, लेकिन यह इतराना तुम्हारा कब तक है, जब तक कि तुम्हारी जड मजबूत है। कदाचित वह जड गल जाय, टूट जाय या किसीके द्वारा काट दी जाय तो फिर कब तक वृक्ष हरा-भरा बना रहेगा? मान लो वृक्षके गिर पडनेपर भी कुछ दिन वह वृक्ष हरा-भरा रहता है, मगर कब तक हरा-भरा रह सकेगा? कुछ समय बाद तो अवश्य ही वह सूख जायगा। ठीक ऐसे ही असयम रागद्वेष विचार-वितर्क कल्पना आदि ये इस जीवमे कब तक हरे-भरे बन रहे है, गर्वीले बन रहे हैं जब तक कि इसको मोहजड पुष्ट है। कदाचित् कोई भव्य पुरुष मोहको निर्मूल उखाड दे तो भले ही कुछ समय तक रागद्वेष दिखेंगे, मगर कब तक रहेंगे? ये कुछ ही काल बाद मिट जायेंगे। यदि अपने इस दुर्लभ मानव-जीवनको सफल करना है तो सबसे बडा पुरुषार्थ यह करना है कि एक ऐसा दृढ सकल्प कर लें कि मुझे तो इस मोहको उखाड फेकना है और वर्तमानमे ही उखाड फेकना है। उसका कोई हमे लम्बा प्रोग्राम नही रखना है कि इतने वर्ष तक हम अपनी व्यवस्था बना ले, इतने वर्ष बाद हम मोह को दूर करेंगे। अरे आज मोहका भूत सवार है तब फिर कुछ वर्षो बाद सुध लेनेका मौका कहाँसे देगा? आज मोहसे निपट ले तो निपट लेनेपर आगेका समय रखकर कोई मोहसे निपट नही सकता। आखिर सुखी ही तो होना है। आजसे तुम सुखी होनेका प्रोग्राम नही चाहते क्या? यह चाहिए कि मै २, ४, ६ वर्ष पहिले खूब दुःखी हो लूँ फिर सुख भोगूगा? अरे ऐसा तो कोई नही सोचता। निर्मोह होना वास्तविक सुखी होनेका प्रोग्राम है। रागद्वेषको दूर करनेकी बात अभी नही कह रहे। इसमे न घर छोडनेकी बात है, न व्यापार छोडनेकी बात है, किन्तु तथ्य समझ लें कि अणु-अणु प्रत्येक जीव मेरा इस देहका भी रग-रग, कण-कण तब मेरेसे जुदा है। मैं तो अखण्ड एक ज्ञायकस्वरूप हू, ऐसी श्रद्धा बनावें, ऐसी धुन बनावें तो मोह छूट जायगा। मोह मिटेगा तो ससारके सकट निकटकालमे ही नष्ट हो जायेंगे। सारी विडम्बना तो इस मोह मिथ्यात्व भावसे है। यहाँ वर्णन क्या करना है, इस मिथ्यात्वका साराश रूपमे वर्णन करना है। क्या वर्णन करना है कि सम्यग्दर्शनकी ऐसी विपरीत अवस्था होती है

कि आत्माके प्रदेशमे कलुषता जग जाती।

सम्यक्त्व और मिथ्यात्वके लक्षणकी अनिर्वचनीयता होनेपर भी संकेतोसे उनका परिचय—देखो एक दिन बताया था कि मोहके मिटनेसे आत्मामे जो एक स्वच्छता प्रकट होती है उस स्वच्छताका सही स्वरूप बतानेके लिए कोई वचन नही है, ऐसा ही यहाँ भी समझ लीजिए कि मिथ्यात्वका जो वास्तविक स्वरूप है उसको बतानेके लिए भी कोई वचन नही है। जैसे स्वच्छताका दिग्दर्शन करानेके लिए हम अन्य गुणकी पर्यायोका वर्णन करनेका प्रयत्न करते है इसी प्रकार मिथ्यात्वकी सभी दशायें बतानेके लिए हम अन्य गुणके विपरीत परिणमन की बात कहनेका प्रयास किया करते है। जैसे लोग कहते कि शरीरको आत्मा मानना मोह है, पर बात यह है कि इस शरीरको आत्मा मानना तो खोटा, विपरीत ज्ञान है। मोह क्या ? तो इसमे यह प्रकट किया है कि जिस कलुषताके होनेपर यह जीव शरीरको आत्मा मानता है उसके मायने है मिथ्यात्व, मोह। यह भी कितना दुर्गम्य है कि कोई साधु सन्यासी इतना समताभाव रखता हो कि कोई दुश्मन उसे कोल्हूमे पेल रहा हो और वहाँ दुश्मनसे बैर न करे, उसको बुरा न सोचे, उसपर क्रोध न लावे, इतनी समता हो गई हो किसी पुरुषके और फिर भी उसके मोह ममत्व भीतर बना रह सकता है। तो दर्शनमोहके उदयमे होने वाली कलुषताका आप क्या बयान कर सकते है ? केवल ऊपरी कार्य देखकर हम कलुषताकी बात बताते है कि इसके है मिथ्यात्व, क्योकि यह इतना राग कर रहा, यह शरीरमे इतना आसक्त हो रहा, अनुमानत. बताते है पर कलुषता एक ऐसी भीतरमे है कि जिसके होनेपर सारी बातें औंधी चला करती है। जैसे रसोईघरमे एक डेगची औंधी धर दे तो उसपर बाकी सब डेगची औंधी ही धरी जा सकती है, उसपर सीधी डेगची नही धरी जा सकती, ऐसे ही दर्शनमोहके उदयमें जीवमे कलुषता उत्पन्न हुई है, उसकी बुद्धि विपरीत, श्रद्धान् विपरीत और उसकी परिणति विपरीत, तो अब उसकी सारी बातें विपरीत ही विपरीत होती जायेंगी। जहाँ इन्द्रिय और विषयोंके प्रति प्रीति है, आसक्ति है वहाँ सारी वृत्तियाँ उल्टी होगी, सारा ज्ञान उल्टा होगा। ज्ञान तो सही यह था कि अपनी-अपनी सत्तामे निष्ठ पदार्थोको उतना ही उतना स्वतत्र निरखना, लेकिन ऐसा ज्ञान नही कर पाता और जानते है कि हमने ऐसा किया, इसने मुझे दु.खी किया, इसने मुझे सुखी किया, यो कर्तृत्वकी बात चित्तमे छायी रहती है। मै कर सकता हू, मैं अमुक चीजका परिणमन बना सकता हू—इस प्रकारकी विपरीत बुद्धि छा जाती है। वहाँ यह बोध नहीं हो पाता कि प्रत्येक वस्तु स्वयं परिणमनशील है, सो इस नाते वह प्रतिसमय परिणमती रहती है। किसीका परिणमन मैं नही बना पाता। रही एक विपरीत परिणमनकी बात, तो निमित्तनैमित्तिक योग है, पर परिणमाने वाला मैं नहीं हूं। तो जहाँ चित्तमे कलुषता होती है वहाँ ज्ञान भी उल्टा रहता है, श्रद्धा भी उल्टी रहती है। कोई सम-

भायें—अजी तुम किसीका कुछ नही कर सकते हो। क्यो विपरीत ख्याल करके आकुलित होते हो ? श्रद्धा नही बन पाती कि हाँ मै किसी वाह्य पदार्थका कुछ परिणमन नही कर सकता। वस्तु पूर्ण है, प्रत्येक वस्तु पूर्ण है। और उस पूर्णमे से प्रतिसमय जो भी दशा बनती है वह भी पूर्ण है और पूर्णमे से ऐसा पूर्ण प्रतिसमय निकलता रहता है, फिर भी वस्तु पूर्ण की पूर्ण ही रहती है। वस्तुकी ऐसी स्वतंत्रताको श्रद्धा नही रह सकती। तो दर्शनमोहके उदय मे होने वाली कलुपताका बयान भी नही किया जा सकता। जैसे कि सम्यक्त्वके स्वरूपका बयान नही किया जा सकता। एक शुद्ध परिणमन है, सम्यक्त्व गुणका तो एक अशुद्ध परिणमन है।

अर्थादात्मप्रदेशेषु कालुष्य दृग्विपर्ययात् ।
तत्स्यात्परिणतिमात्रं मिथ्याजात्यनतिक्रमात् ॥१०२६॥

दृग्विपर्यय होनेसे आत्मप्रदेशोमें मिथ्यात्व कालुष्यका जमाव—यथार्थदृष्टिके विपरीत दृष्टि बन जानेपर आत्माके समस्त प्रदेशोंमें कलुषता उत्पन्न हो जाती है। आत्मा उपयोग स्वरूप है, उपयोगमात्र है, उपयोग लक्षण वाला है। तो यह जीव उपयोग ही तो करेगा, दृष्टि ही तो बनायगा। इसकी समस्त क्रियावोका मूल दृष्टि है। जैसे नाव चल रही हो तो वह नाव किस ओर चल पडे, किस ओर मुड जाय—यह सब नाव खेने वालेके हाथमे नही है। खेने वालेके हाथ तो केवल नावका चलाना है। पर नावके पीछे जो कर्णधार करिया लेकर बैठता है उसके हाथ बात है कि वह नावको किस ओर ले जाय। ऐसे ही चलना, प्रवृत्ति होना, चेष्टाये होना, जानना, पढ़ना ये सब चारित्रमोहके उपशम आदिकके हाथ बात है और यह किस ओर ले जाय विषयोमे, कषायोमे, आत्मामे किस ओर इसकी बात बने, यह सब है एक दृष्टिके आधारपर। जैसी दृष्टि बनती है वैसी सृष्टि बनती है, वैसी सृष्टि चलती है। तो जब वस्तुस्वरूपके विपरीत दृष्टि बन गई तो सर्व आत्मप्रदेशोमे कलुषता रहती है। ये जगतके अज्ञानी जीव अपने आपपर एक खेद और आश्चर्य पाते है—हाय मेरा चित्त स्थिर नही, मुझे अमुक कष्ट है, बडी विपत्ति है, सभी मनुष्योके हृदयमे ऐसी बात आती है। अरे जब तक मूलमे कलुपता है तब तक उसका दिल क्या शान्त होगा ? नही, वह तो अशान्त रहेगा। उसकी बुद्धि विपरीत है, बाह्य पदार्थोंकी ओर है, अपना जो रूप पर्याय माना उसपर दृष्टि है, यह अच्छा कहलाये, इसका यश रहे अथवा कुटुम्बी जन, परिजन या बाह्य वैभव इसकी ओर जब तक सस्कार लदा है और अपने आपके ज्ञानस्वरूप आत्माकी सुध नही है, मैं ज्ञानमात्र हू, केवलज्ञानस्वरूप हू, इसकी ओर दृढता नही है तो कलुषता आयगी और जहाँ कलुषता है वहाँ शान्तिके स्वप्न क्यो देखे जा रहे है ? तो दृष्टि विपरीत होनेसे आत्माके समस्त प्रदेशोमे कलुषता जगती है वह कलुषता मिथ्यात्व है। मिथ्या जातिका उलंघन नही है

वहां और वह है केवल आत्माकी एक परिणति मात्र । आत्मामे कोई दूसरा पदार्थ आकर आत्माको हिलाये-डुलाये, परेशान करे, ऐसा कभी सम्भव नही है । यह ही आत्मा दृष्टिमोहके विपाकका निमित्त पाकर स्वयं अपनेमें अपने उपयोगको कलुषित बना लेता है, मिथ्या आशय वाला बना लेता है और उसे दुःखी होना पडता है ।

मिथ्यात्व कालुष्यसे हटनेका कर्तव्य—कर्तव्य तो यह है कि हमारे भीतर कलुषता न रहे । जब किसी बातकी चाह होती है—जैसे मानो धन कमानेकी तेज चाह लगी है तो वह पुरुष कष्ट भी सहता है, दूसरोकी बात भी सहता है, नम्र भी रहता है, भूखा भी रहता है, सब तरहकी बातें सह लेता है, मगर एक बातकी धुन नही छोडता । जिस किसी भी प्रकार हो, मेरे धनका सचय हो, यह धुन उसकी नही छूटती, बाकी धुन चाहे छूट जायें, क्योकि उसने धनसचयमे अपना हित मान लिया, जो कि मिथ्या है । अब कोई सत्य बात समझे और इस तीन लोक तीन कालमे यह मै आत्मा केवल अपनेमे ही अकेला हू, ज्ञानमात्र हू, ज्ञानका परिणमन करता रहता हू । उदय आते है कर्मके । ठीक है । दृष्टिमोह मिट जाय तो उन कर्मोंका कुछ भी भय नहो । अपनेको ज्ञाता रखें तो वहाँ भी जानते रहे कि ये आये है कर्मरस, यह है कर्मलीला । क्या कष्ट है उसे ? अपने ज्ञानस्वरूपकी सुधसे चिगते है और कलुषित बनकर हम दुःखी हुआ करते है । बस दृष्टिविपर्यय ही सारे दुःखजालका मूल कारण है । पदार्थ है कुछ और, मान लेते हैं अन्य तरहसे, बस यह ही तो कष्ट है । अब बतलावो इसमे कोई कष्ट है क्या कि जो पदार्थ जैसा है वैसा ही मान लें, वैसा ही मानते रहे, इसके खिलाफ रंचमात्र भी प्रतीति न रखें, ऐसा परिणाम करे तो इसमे कोई कष्ट है क्या ? मगर दृष्टिमोह जब रहता है तो ऐसा करनेकी बात ही नही सूझती और राग रग कषाय इनमे ही उमग रहा करती है । तो यह जीव अपने आपका स्वय जिम्मेदार है । चाहे ससारमें घूमता फिरे, चाहे ससार-बधनसे मुक्त हो, केवल अपने ही आप जिम्मेदार है । वह भीतरके ज्ञानज्योतिकी बात है । वह दृढ रहे और इस प्रतीतिको अपनेमें समाये रखे कि मैं तो सहज ज्ञानमात्र हू । इसमे परका प्रवेश नहीं, मै स्वय समृद्ध हू, अपने स्वभावको निरखें और स्वभावके निरखनेमे सतोष रखें तो इस जीवका सन्मार्ग है । तो जब दृष्टिमोह होता है, विपरीत दृष्टि बन जाती है तो इन आत्म-प्रदेशोमे कालुष्य जगता है, कलुपता, विपरीत आशय, अज्ञान, उल्टी चाल, और यह है आत्माकी परिणति मात्र जो उस समयका औपाधिक एक मिथ्यात्व भाव है ।

तत्र सामान्यमात्रत्वादस्ति वक्तुमशक्यता ।
ततस्तल्लक्षणं वच्मि सक्षेपाद् बुद्धिपूर्वकम् ॥१०३०॥

सामान्य मिथ्यात्वकी वचनागोचरता—मिथ्यात्वकी बात चल रही । अपने-अपने उपयोगमें मिथ्यात्वकी छटनी बनावें । मिथ्यात्व है क्या ? हम अपने सही स्वरूपको निरख

रहे है या विषयकषायोंमे चित्त जाता है तो जब परीक्षा करनेकी बात चली तो मोटी-मोटी तो परीक्षा हो जायगी, पर एकदम करेक्ट सही परीक्षा नही की जा सकती। यहां मिथ्यात्व है या नही। इतने सूक्ष्म ढगसे मिथ्यात्व बसता है कि उसकी परीक्षा नही बन पाती। मिथ्यात्व सामान्य मात्रसे जो है उसे कहा नही जा सकता। क्या है वह मिथ्यात्व ? भला आप इस उदाहरणसे सोचें—कोई बडे तपस्वी मुनिराज घानीमें पेले जा रहे हो और शत्रुपर जरा भी विरोधकी दृष्टि न रखते हो, समताके परिणामसे रहते हुए मरण करें तो भी रहा वहां मिथ्यात्वका ही मिथ्यात्व। जो मिथ्यादृष्टि हो उनकी बात कह रहे। वह क्या मिथ्यात्व है ? भला बतलावो—जो ११ अङ्ग ६ पूर्वका ज्ञान कर ले, जिसमे आत्मप्रवाद, ज्ञानप्रवाद इन सबका अच्छा ज्ञान हो गया और उसका उपदेश बडे जोशीले ढगका होना है जिसको सुनकर अनेक लोग कहो सम्यक्त्व पैदा कर लें, बात तो वह सब सही कहेगा और कुछ थोड़ा बहुत उसके चित्तमे भी आता होगा, फिर भी उसके मिथ्यात्व बना रहे तो उस मिथ्यात्वको किस तरहसे छांटा जाय ? तो सामान्य मात्र रूपसे जो मिथ्यापन है वह अवक्तव्य है, कहनेमें आ नही सकता। हा, जो बुद्धिपूर्वक मिथ्यात्व है उसका लक्षण बताया जा सकता है, लेकिन जो अबुद्धिपूर्वक है, जिसकी कोई चेष्टायें नही उघरती हैं वहाके मिथ्यात्वको क्या कहा जाय ? निगोदमे मिथ्यात्व, एकेन्द्रिय जीवमे मिथ्यात्व। अब उसको समझावो कैसे मिथ्यात्व है ? बडे-बड़े योगियोमे मिथ्यात्व है। जिनके मिथ्यात्व है उनकी बात कह रहे। अब समझायें कि उनमे क्या मिथ्यात्व है ? आत्मज्ञानकी चर्चा द्रव्य गुण पर्याय सभी-सभी अंशोको जितने कि आजकल कोई बोल नहीं सकता, आजकल उतना कोई परिचय नही कर रहा, भला ११ अग ६ पूर्व जितना ज्ञान अब रखा है क्या ? एक अगका करोडवा हिस्सा भी नही मिलता। है ही नही। तो जो इतने बड़े ज्ञानी हैं, जो सब प्रकारसे आत्माकी बात परिचित करा दें और उनमे रहने वाला जो मिथ्यात्व है उसका पता नही। तो मिथ्यात्व वक्तव्य नही है। जैसे सम्यग्दर्शनको वचनोसे हम क्या कह सकते है ? नही, इसी प्रकार मिथ्यादर्शनको भी हम क्या कह सकते है ? नही। जैसे सम्यग्दृष्टिकी बाहरी चेष्टावोसे हम सम्यक्त्वका अदाज करते हैं। इसी तरह मिथ्यादृष्टियोकी बाहरी चेष्टावोसे हम उनके मिथ्यात्वका अदाज कर लेते है कि इसमे मिथ्यात्व है धर्म करने आते, पूजा पाठ करते, बड़ी-बडी सम्हाल बनाते, व्याख्यान देते, दिलाते, बडी उमग रखते, पूजा भावभीनी करते, पर यह बताया जा सकता क्या कि यहां मिथ्यात्व बिल्कुल नही है ? बात यो कह रहे कि अपने आपको थोडी-थोडी धर्मकी चेष्टायें करके कृतार्थ न समझ ले। बस हम तो पार हो ही गए। कर लिया हमने धर्म। बस हमारी गति सुधर गई। इस तरहका निर्णय न बना लेना। गल्तीको खोज-खोजकर, धुन-धुनकर निकालना चाहिए। अबुद्धिपूर्वक मिथ्यात्व। मिथ्यात्व जो भीतर संस्कारमे पडा है, कलुपता जो संस्कारमे बसी हुई है उनकी ऐसी कठिन चेष्टायें कर रहे हैं कि ये जीव आकुलित

रहते है। इन सबका आ ार कलुष परिणा म है।

स्वानुभवपूर्वक ही सम्यक्त्वकी उद्भूति—भैया ! भेदविज्ञान लावें, उसके बाद सहज-स्वरूपका अनुभव होगा। सहजस्वरूपका अनुभव किए बिना सम्यक्त्व जग नही सकता। जिस जिसके भी सम्यक्त्व हुआ है सहज स्वरूपका अनुभव होकर ही हुआ है। मोटे रूपसे इसकी हर कोई पहिचान क्या करे ? हा जान सकते है, भीतर अनुभव अनुभव कर सकते है, सहज स्वरूपका अनुभव याने ज्ञानने ज्ञानस्वरूप ही समाया हो, अन्य कोई विकल्प रच भी न हो। ज्ञान और ज्ञेय एक बन गया, जरा भी तरग नहो और उस समयमे जो एक अद्भुत आल्हाद है, आनन्द है उसका अनुभव हो रहा। विकल्प नही, कथन नही, सोचना नही, चिन्तन नही, किन्तु एक सहज ऐसी ही परिणति बन गई कि जहा ज्ञान ही ज्ञान रह गया, ज्ञान जानन-मात्र, ऐसी जब कोई स्थिति होती है किसी समय तो वहाँ सारे कष्ट दूर हो जाते है, रच भी आकुलता नही रहती। ऐसा आत्मोत्थ अलौकिक सहज आनन्दका अनुभव हुआ है जिसके, उसको ही तो आत्मस्वरूपका सही निर्णय है और उसके ही सम्यक्त्व है। अनुभव हुए बिना जो ज्ञान होता है वह स्कूलके बच्चोको दुनियाकी नदी, पर्वत आदिकका ज्ञान करानेकी तरह है। उन्होने जाकर देखा तो नही है, अनुभव तो नही हुआ, उनका प्रत्यक्ष तो नही हुआ और पुस्तकके आधारसे खूब बताता है कि यहा है रूस, यहा है अमेरिका, यहां है यह नदी, यहां है ज्वालामुखी पर्वत, यहा है दलदल, यहा है जगल, ये सब बातें बताता और भीतर अनुभवमे नही जच रहा। यद्यपि बता रहा है वह सच सच, जहा जो बात है, जो सीखी है, जिसके नम्बर भी मिलते है, उत्तीर्ण भी होते है, मगर प्रत्यक्ष नही होता। ऐसे ही अपने आतमाका परमात्मस्वरूप, सहजात्मरूप जब तक प्रत्यक्ष नही होता तब तक इसका ज्ञान करना, चर्चा करना, बताना स्कूलके बच्चोको सिखाये गए की तरह है। उस अनुभवको जान ले कि हां इसका अब मोक्षमार्ग बन गया। हुई कभी जीवनमे एक क्षणको भी ऐसी स्थिति कि जहा ज्ञानमे ज्ञानस्वरूप ही समाया है, कुछ विकल्प ही नही है, कहाँ बैठे, कौन बैठे, किस समय बैठे आदिकका भी ख्याल जहा नहीं है। ज्ञानमे ज्ञानमात्र अंतस्तत्त्व ऐसी एक अव्याबाध स्थिति अगर पायी है और अपने आपमे उस सहजस्वरूपका अनुभव हुआ है तब तो ठीक है, मोक्ष-मार्गमे आ गए और यह अनुभव जब तक न जगे और चाहे उसके बारेमे कितना ही परिचित हो तो भी सम्यक्त्व नही है, कलुषता है। भीतर सस्कार पड़ा है चाहे उसका चरित्र अच्छा है, सदाचार है, व्यसनोसे रहित हैं, सयमादिक, तपश्चरणादिक कर्तव्य कर रहा है तो भी मिथ्यात्व है। तो अंतरमे तो कलुषता पडी है और ऊपरसे ये अच्छी चेष्टायें की जा रही है तो संसार-बधन तो दूर न होगा। मूलमे से वह मिथ्यात्व, कालुष्य सस्कार हटना चाहिये। वह हटेगा सहज आत्मस्वरूपके अनुभवसे तभी शान्तिमार्गपर गमन होगा। तो जो मिथ्यात्व है सामान्यरूपसे वह तो कहा जा सकने योग्य है नही, तब फिर उस मिथ्यात्वका जो व्यक्त लक्षण

है बुद्धिपूर्वक है उसके लक्षणको संक्षेपसे इसमे कहा जायगा। यह चर्चा चल रही है संसारके जड़की। जिसको हिलाना है, मिटाना है तो निराकुलता पैदा होगी।

निर्विशेषात्मके तत्र न स्याद्धेतोरसिद्धता।
स्वसंवेदनसिद्धत्वाद्युक्तिस्वानुभवागमैः ॥१०३१॥

युक्ति और अनुभवसे मिथ्यात्वका परिचय—जो मिथ्यात्व सामान्य है याने सब मिथ्यात्व चाहे किसीका जचता हो, चाहे किसीका न जंचता हो वह, बुद्धिपूर्वक हो वह, अबुद्धिपूर्वक हो वह, सामान्यरूपसे जो मिथ्यात्व है, जिसमे विशेषायें न नजर आयें, ऐसे उस मिथ्यात्वको सिद्ध करनेमे हेतु है और उससे सिद्ध होता है। मिथ्यात्व स्वसम्वेदनसे भी सिद्ध है। जैसे सम्यग्दर्शन स्वसम्वेदनसे सिद्ध है, अपने आपमें अपने आपके वेदनसे सिद्ध है तो मिथ्यात्व भी स्वसम्वेदनसे सिद्ध है अर्थात् अनुभवमे तो आ ही रहा है। जब मिथ्यात्व है तो अनुभवमे क्यो न आयगा? अनुभवन हो रहा है। उसका फल पा रहे अशाति निरतर। वह मिथ्यात्व असिद्ध नही है, अपने अनुभवसे सिद्ध है, प्रत्यक्षसे सिद्ध है, युक्तियोसे सिद्ध है। अगर मिथ्यात्व न होता तो यह ससारमे जन्म-मरण क्यो चला करता? मगर इस परमेश्वर आत्मा के जन्ममरण क्या स्वभावमे पडा है? इसका काम जन्ममरण है क्या? नाना शरीरोंको धारण करते रहना है क्या? यह जीव पक्षीके भवमे गया तो ऐसा शरीर फूटा कि दो टांगें निकलीं, पंख निकले, ऐसी लम्बी चोच निकली, देखो यह क्या हो रहा है, कैसा हो रहा है बस उस-उस प्रकारका कर्मोदय होता है और ओटोमेटिक इस शरीर वर्गणाओमे, इस उपादानमें उस-उस प्रकारकी बात बनती है। पशु बना तो किस ढंगका, शरीरका निर्माण बना। टांगें निकली, एक पूछ भी निकली, अज्ञानी जन तो इस बातको देखकर कहते कि यह सब बनाने वाला कोई एक अलगसे ईश्वर है। उस ईश्वरमे इतनी बडी सामर्थ्य है कि देखो कैसे विचित्र देह उसने बना दिये, और सबको जरूरत भी पूर्ण हो जाती है। आदमियोंके हाथ चलते हैं, आगे पीछे। जब कभी मक्खी, मच्छर आदि बैठते तो अपने हाथोसे उडाते। इन पशुओंपर जब कोई मक्खी, मच्छर या कौवा वगैरा बैठ जाय तो वे अपनी पूछसे उडाते। देखो कैसी-कैसी तरकीब निकाली, मगर कोई रचने वाला अलगसे ईश्वर नही है। यह आत्मा स्वयं ईश्वर है और विडम्बना ऐसी आ गई है। तो जैसे कोई बड़ा आदमी कभी किसी विडम्बनामे भी आ जाय तो भी उसमें दम बहुत बताते है। कोई बडे बर्तनमे खिचडी पकायी और सबको खिचडी खिला दी, अब बची नही, फिर भी एक आदमी आ जाय तो उसे खरोच करके उसका पेट भरा जा सकता है। ऐसे ही यह ईश्वर कितनी ही विडम्बनामे [illegible] न कुछ खूबियां [illegible] रहती है। और कुछ ऐसे भी भव हैं आराम नही [illegible] सब कर्मोदयवश ओटोमेटिक

परिणमन चल रहा है। उन कर्मोंको किसी दूसरेने नहीं बाँधा, कर्मोदयवश ये भाव तो बनते, मगर कर्मबंधन इसके विभावोंका निमित्त पाकर हुआ। तो अपनी दुर्गति करनेमें अपने ही विभाव तो साधन बने, दूसरेपर क्या दृष्टि देते ?

अपने कालुष्यपर झल्लानेकी आवश्यकता—जब कुछ पुण्योदयमे योग समर्थ होता है तो जरा-जरासी बातपर दूसरेपर झल्लाया करता है। इसने यो कर दिया। तब ही तो एक कहावत है कि अगर सेठकी गद्दीपर मुनीम चल रहा हो और उसकी लात लग जाय दवातमे, वह दवातकी स्याही बगर जाय तो सेठ झल्लाकर कह बैठता है—अरे दिखता नही क्या ? देखकर क्यो नही चलते ? और मान लो कदाचित् सेठसे ही स्याही बगर जाय और मुनीम भी ऐसा ही कह दे तो···? ऐसे ही जब पुण्योदय होता है तो दूसरोपर क्रोध जगता है। अब जरा पशु-पक्षी बन गए तो फिर इस विडम्बनापर किसपर झल्लावोगे ? यहाँ मनुष्यभवमे तो जीवन मे छोटी-छोटी बातोपर झल्ला उठते है, पर इन खोटी योनियोमे पहुच गए तो वहाँ क्या हाल होगा ? वहाँ तो कैसे-कैसे अटपट बेढगे शरीर मिलते है, उन्हे बडा कष्ट होता है, उनमे बडा दुःख माना जा रहा है। अब बताओ वे झल्लायें किसपर ? तो इन सर्व दुःखोका, जडोका मूल है कालुष्य भाव। दृष्टिका उल्टा होना, उसपर झल्लावें और अपने आपमे अपने स्वरूपकी सही दृष्टि बना ले तो सारी विपत्तियाँ दूर हो जाती है। उसी मिथ्यात्व कालुष्य परिणामकी बात यहाँ कही जा रही है कि सामान्य तौरसे जो मिथ्यात्वका कोई स्वरूप कहना चाहे तो वह कहा तो नही जा सकता, मगर किए बिना भी ज्ञानमे लाया ही नही जा सकता। हा-हो, उसका हेतु दिया जा सकता, उसकी युक्तियाँ बतायी जा सकती, उसका अनुभव किया जा सकता और शास्त्रोमे अनेक विधियोसे उसका उल्लेख है, सो उन उल्लेखोके द्वारा परिचय कराया जा सकता है, मगर मिथ्यात्वकी जो व्यक्त चेष्टायें है, सज्ञी जीवोकी बुद्धिपूर्वक जो-जो कुछ भी मूढताभरी परिणतिया हैं वे है मिथ्यात्वकी बुद्धिपूर्वक रूप। उनको तो भली-भाँति बताया जा सकता, पर मिथ्यात्व सामान्य सब वचनमे आ सके, ऐसा नही किया जा सकता। तो मिथ्यात्वके इस प्रकरणमे मिथ्यात्व सम्बंधी ही सब बाते आयेंगी—कैसे बना, क्यो हुआ, क्या हुआ, उस मिथ्यात्वका सही-सही स्वरूप जानें तो वह मिट जायगा।

सर्वससारिजीवानां मिथ्याभावो निरन्तरम्।
स्याद्विशेषोपयोगीह केषाचित् संज्ञिना मनः ॥१०३२॥

सर्व संसारी जीवोमे मिथ्यात्वकी निरन्तरता—मिथ्यात्वभाव समस्त संसारी जीवोमे निरन्तर रह रहा है। किसीका उपयोग उस मिथ्यात्वमे व्यक्त होता है और किसीका उपयोग उस मिथ्यात्वमे व्यक्त विदित नही होता। दूसरा क्या समझे ? पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु—इन जीवोमे मिथ्यात्व है। पूछा जाय कि कहा मिथ्या-

त्व है, कैमा मिथ्यात्व है, उस मिथ्यात्वमे क्या कोई चेष्टा है ? तो कुछ बता तो नही सकते। सज्ञी जीवोमे ही जिनके मन है उनमे ही किसीका मिथ्यात्व विशेष रूपमे विदित होता है, तब ही तो इन जीवोको कुट-कुटकर वेदना सहनी पडती है। कोई लोग जरासा दु ख पाकर मौज मानते है, पर उनको भी भीतरी चोट उस मिथ्यात्वकी लगी है और ऐसी गहरी चोट है कि भीतर तो कष्ट पा रहे है, कर्मबन्ध हो रहा है, पर ख्यालमे यह बात जरा भी नही आ रही। मान यह रहे है कि मै बहुत सुखमय हू, बहुत ज्ञानमय हू, मगर सस्कारमे, मूलमे उनको चोट न हो, उनके कालुष्य न हो तो कुछ बात भी उनकी चेष्टा बुरी न होनी चाहिए। सब जीवोमे मिथ्यात्व भाव निरन्तर बन रहा है। सज्ञी जीवोमे देखिये—हम आप जो सज्ञी जीव है उन बिरलोको छोड़कर शेप सभी मनुष्य क्या निरन्तर अपने मिथ्यात्वभावको समझ पाते हैं ? उपयोग दे पाते है क्या ? उनमे विशेष उपयुक्त होते है क्या ? चेष्टाओसे समझा जाता है, और जो गृहीत मिथ्यात्व है—कुदेवको मानना, कुशास्त्र, कुगुरुको मानना ये तो किन्ही-किन्हीमे पाये जा रहे है। बात यहाँ यह कही जा रही कि सामान्य मात्र मिथ्यात्व अवक्तव्य है। जैसे शत्रुका अंश भी विशेप हो तो भी वह दूसरेके लिए दु खकारी है, इसी प्रकार अबुद्धिपूर्वक अल्प भी मिथ्यात्व है तो भी वह उसके कष्टका ही कारण बन रहा है। एक मोटीसी बात आप अपने बारेमे यह सोचते कि क्या मुझे इस समय अपने आत्माका सहज चैतन्यस्वरूपमात्र चेतना जहाँ केवल एक प्रतिभासमात्र है वह स्वरूप क्या मेरे ज्ञानमें बना हुआ है ? नही बना हुआ है। न इसका उपयोग है, उसकी सुध ही नही है। कभी उसका ख्याल आता ही नही है तो खोजना चाहिए, जान लेना चाहिए कि मेरेमे वह विपरीत दृष्टि, मिथ्यात्व कालुष्य पडा हुआ है। जब तक यह मिथ्यात्व है तब तक इसका जरा भी भला नही। यह कालुष्य हटेगा तत्त्वज्ञानसे। तत्त्वज्ञान बनेगा उसके निरन्तर अभ्याससे। यह दृष्टिकी विपरीतता ही तो है कि अपने जीवनका सारा समय, दिन रातका सारा समय विपयोमे, कपायोमे, गप्पोमे गुजरता है और जो इस जीवके कल्याणकी बात है, उद्धारका बीज है, अपने आपके अन्तः बसे हुए सहज परमात्मतत्त्वका परिचय पाना उसके प्रयत्नमें इसकी कहाँ धुन है, कहाँ चेष्टा है, कहाँ इसे समय मिलता है, कौन सुनना चाहता है ? कुछ तो विपय कपायके उपयोगके कारण मन नही है स्थिर। मन ही नही चाहता कि मैं कुछ धर्मकी बात करूँ। जब इतना मिथ्यात्वका कालुष्य है।

धर्मकी मुद्रामे भी मिथ्यात्वकी संभवता—जब ही कोई धर्मकी बात करते भी है—दर्शन करना, पूजन करना अपना एक ऐसा मान रखा है कि इसमे दो बातें है—(१) एक तो अपनी इज्जत बनेगी, मेरी कुल-परम्परा चलेगी, (२) इस कामसे जीवन सुखी रहता है, पुण्यरस बढ़ता है, सुख-समृद्धि बढ़ती है, आजीविका अच्छी चलती है। क्या भीतरी इस

धुनसे प्रभुके दर्शन करनेको मन है कि यह ससारसागर दु.खमय है, इसमे मुझे नही पडना है, मै तो अब ससारसे मुक्त भगवान्के गुणोका ध्यान करने जा रहा हू । जैसे झुझलाकर कोई कहीसे कही जाता है, घरमे लडाई हो गई तो झुंझलाकर दूकानपर जाता है—हमे मतलब नही यहाँसे, लो यह चला । तो कभी अपने मिथ्यात्व रागद्वेषसे झुझलाकर आये क्या मन्दिरमे या एक सुख मौजकी वान्छा रखते हुए यो ही आते है ? मुझे न चाहिए ये ससारके जन्म मरण, मुझे न चाहिए इन पौद्गलिक शरीरोका बधन, मुझे न चाहिएँ इस दृश्यमान जगतके प्रति परिचय । ये सब मेरे कलक है । मै तो प्रभुके समान विशुद्ध चैतन्यस्वरूप हू । लो अब उस विशुद्ध चैतन्यस्वरूपकी मूर्तिके समक्ष पहुचूँगा, वहाँ ध्यान धरूँगा और अपने आपके इस चित्स्वरूपका अभ्यास करूँगा—ऐसे प्रोग्रामको मनमें रखकर मंदिरमे आना बनता है क्या ? यह एक मिथ्यात्व कालुष्यकी बात कह रहे । यह मिथ्यात्व सभी ससारी जीवोमे किस प्रकार बस रहा है ? जो धर्मकी बडी मुद्रा दिखाये उदारताका, उपकारका उनमे भी मिथ्यात्व सभव है । जो अजात शत्रुमे रहते है, जिनका कोई विरोधी नही, सब बातकी जानकारी रखे, ऐसी वृत्तिसे रहते हों वहाँ भी मिथ्यात्व सम्भव है । जब बडे बडे मुनियोमे जो बडे-बडे उपद्रव परीषह सहन कर सकते है उनमे भी जब सम्भव है तो फिर औरका दृष्टान्त देनेका श्रम क्यो किया जाय ? सर्वससारियोमे यह मिथ्यात्व कालुष्य बना हुआ है । किन्ही-किन्ही ससारी जीवोमे ही उनका मन इस विषयमे विशेष उपयोगी हुआ है ।

तेषा वा संज्ञिना नूनमस्त्यनवस्थितं मन: ।
कदाचित् सोपयोगि स्यान्मिथ्याभावार्थभूमिषु ॥१०३३॥

अनवस्थित मन वाले सज्ञी जीवोंकी मिथ्यात्वमें कदाचित् सोपयोगिता—जिन सज्ञी जीवोका मन मिथ्यात्वकी प्रक्रियाके बारेमे विशेष उपयोगी हुआ है उनका भी मन कभी-कभी मिथ्या भावकी भूमिमे विशेष उपयोगी होता है । कभी कही मन लगा, कभी कही, स्थिर नही है मन । कभी मदिरमे मन लगा है, कभी पूजामे लगा है, कभी इनमे मन कम लगा है, और-और बाहरी बातोमे लगा है । उस मिथ्यात्वका उपयोग कहाँ देखा जाय ? तो कभी-कभी मिथ्यात्वका भी उपयोग होता है । हमारे गुरुजी कटनी (जि० जबलपुर) की एक घटना सुनाते थे कि कोई दो भाई थे—बडा और छोटा । उनमे बडा भाई तो दूकान धन्धामे मस्त रहे और छोटा भाई अधिकतर मदिरमे पूजा-पाठ, जाप, स्वाध्याय आदिमे मस्त रहे । करीब ६ घटेका समय प्रतिदिन मन्दिरमे उसका जाता था । एक दिन उस छोटे भाईने कहा—भैया तुम धर्मका कुछ काम नही करते, मन्दिरमे पूजा पाठ वगैरामे भी कुछ समय नही देते । तो बडा भाई बोला—देखो तुम अपना अधिक समय मन्दिरमे देते हो, काम-काजमे तुम्हारा अधिक समय नही लग पाता, पर हम तुम्हे तुम्हारे काममे बाधा नही देते तो क्या यह हमारा

धर्मपालन नही है ? तुम अपना धर्म करते रहो। खैर, इस तरहसे कुछ वर्ष बीत गए। जब छोटा भाई गुजरने लगा, बड़ा भाई सामने हाजिर हुआ तो छोटा भाई बोला—भैया ! अब तो हम आपसे विदा हो रहे है, आप हमारे इन बाल-बच्चोका, घर-द्वारका, सब प्रकारके इंतजामका ध्यान रखना। हमारे इन बाल-बच्चोको कष्ट न होने देना···। तो वह बडा भाई मानो उसे डाटकर कहता है—अरे भाई तूने जिन्दगीभर मदिरमे रहकर क्या यही पाठ सीखा। तेरा तो मरण होने जा रहा है, फिर भी मोह ममता चित्तमे बसी है तो इसका फल तो दुर्गति है। इस मोह ममताको अब अन्तिम समयमे तो छोडो। पर काहेको छोड़े, उसी मोह ममतामे ही उसका मरण हुआ। तो भाई इस मिथ्यात्वभावका कुछ पता नही कि कौन तो मिथ्यात्वसहित है और कौन मिथ्यात्वरहित है। जिन जीवोका मन मिथ्यात्वभावकी ओर विशेष उपयोगी होता है उनका भी मन मिथ्याभावोके बारेमे कभी तो उपयोगी होता है ? यह है मिथ्याभाव। जब तक सही दृष्टि न बन पाये तब तक अपने आपके सहजस्वरूपका परिचय नही मिलता।

मिथ्यात्वकी महाविषरूपता—मिथ्यात्व एक बहुत बडी विपत्ति है। एक भवमे विपत्ति आयी, मरण भी हुआ, मानो साँपने काट खाया, मरण हो गया तो एक ही भवका तो मरण हुआ, मगर मिथ्यात्व एक ऐसा विष है कि यह तो भव-भवमे (अनेक भवोमे) जन्म मरण करायेगा। सारा जीवन दुःखमय रहेगा। सर्पका विष मिथ्यात्व विषके आगे कुछ भी विष नही है। उस मिथ्यात्व विषको लिए हुए है और अपनेमे मौजका अनुभव करते जा रहे है। इतनी बडी विपत्ति इस जीवपर छायी है। तो यह मिथ्यात्वभाव निकले बिना इस जीव का कभी भी हित सम्भव नही है। इसे खोजें, चिन्तन करें, मनन करें और यह प्रार्थना करें कि हे प्रभो ! मेरेमे मिथ्यादृष्टि न हो, मेरे खोटा ज्ञान मत जगे, जो पदार्थ जैसा है उसका वैसा ही स्वरूप मेरेपे प्रतीत रहे, इसके अतिरिक्त और कुछ मुझे न चाहिए। जैसे प्रभुकी भक्ति करने लोग प्रभुके पास जाते है तो वे अनेक तरहके भाव लेकर जाते है, उन सब भावोको वे मुखसे वहा कहने तो नही है, पर मनमे वे भाव रहते है। यदि मुखसे वे भाव बोलें तो सुनने वाले दूसरे लोग उन्हे धिक्कारें, बेवकूफ कहे। क्या भाव लेकर जाते कि हे प्रभो ! मुझे पुत्ररत्नकी प्राप्ति हो जाय, इतना धन मिल जाय, मेरी मुकदमेमे जीत हो जाय, मेरी लडकीकी शादी हो जाय यह प्रार्थना करने तो आये है, पर जरा वे मुखसे ऐसी बातें बोलकर तो बताये। मुखसे कोई ऐसा क्यो नही बोलता ? इसलिए कि इस प्रकारकी बाते बोलनेमे शर्म आती है। तो भाई जिन बातोको दूसरोके सामने बोलनेमे शर्म आती वे बातें प्रभुके आगे रखने योग्य है क्या ? नही। अगर अच्छे भाव है तो फिर जोरसे क्यो नही कहते ? जोरसे कहेगे तब तो यही कहेगे कि "छोडा सकल घर-बार हे प्रभु तेरे लिए।" तो देखो कितना कालुष्य छाया हुआ है इन सब संसारी प्राणियोमे ? ये अपना चित्त कहाँ बसाये हुए है ?

कितना ख्याल बनाये है, किस-किस ढंगसे क्या-क्या कलुषतायें पडी हुई है ? यह ही मिथ्यात्व-भाव इन ससारी जीवोको कष्ट देता है ।

ततो न्यायागतो जन्तोर्मिथ्याभावो निसर्गतः ।
दृङ्मोहस्योदयादेव वर्तते वा प्रवाहवत् ॥१०३४॥

जन्तुवोंके निसर्गसे मिथ्याभावकी सिद्धि—उक्त कुछ ५-६ गाथाओमे मिथ्यात्वके सम्बधमे वर्णन किया गया था । उस वर्णनसे यह सिद्ध है, यह न्याय प्राप्त है कि इन पुरुषोमे मिथ्याभाव निसर्गसे पाया जा रहा, स्वभावसे पाया जा रहा, प्रकृत्या ही चल रहा, क्योकि दर्शनमोहनीयका उदय सबपर छा रहा । सो यह मिथ्या झलक प्रवाह रूपसे चलती ही चली जा रही है । जैसे जलके प्रवाहमें यह जल आया, वह जल आया, यो जल ही जल तो आता रहता है, ऐसे ही मिथ्यात्वके प्रवाहमे प्रति समयमे मिथ्यात्वका अनुभव करते हुए मिथ्यात्व मिथ्यात्व ही तो आता रहता है, ऐसा प्रवाह इस उपयोगभूमिपर चलता है । मनुष्य कुछ न कुछ कष्ट सामने रखकर उनके निवारणके लिए चेष्टाये किया करता है । यह कष्ट दूर करना है, यह विपत्ति दूर करनी है, यह असुविधा हटाना है । यो बनना है, यो करना है, विपत्ति दूर करनी है । अरे यह विपत्ति दूर न हुई तो तेरा कोई नुक्सान नही । कैसे ही घरमे रह लो, कैसा ही साधारण खाकर रह लो, किसी भी तरह गुजारा हो सकता है, पर सबसे अधिक विपत्ति तो मिथ्यात्वकी लगी है जिससे जन्ममरणकी परम्परा चलती ही चली जायगी और उस जन्म-मरणमे आज तो मनुष्य है, कल सूकर हो गए तो जिसको देखकर बडी ग्लानि करते, ये सूकर गदे कीचड, मल आदिसे भिडे रहते, विष्ठा खाते, उन्हे देखकर घृणा आती, नाक-भौ सिकोडते । और मरकर कदाचित् सूकर बन गए तो फिर वहाँ क्या हाल होगा ? वहां तो फिर वही क्रिया करनी पडेगी जो यहाँके सूकरोमे दिख रही । वह तो खैर एक सज्ञी पञ्चेन्द्रिय जीव है, मान लो मरकर कीडा-मकोडा या पेड-पौधा आदि बन गये तो वहा क्या हाल होगा ? वहा भी तो घोर दुख सहना होगा । तो ऐसा जो यह कालुष्य मिथ्यात्व पडा है ससारी जीवोमे वह एक भारी विपत्ति है कि नही ? है, पर इसकी ओर किसका ख्याल है ? बस एक वर्तमानके भवमे जिन सुविधावोको सगत माना है उनके लिए तो रात-दिन कमर कसे रहते, पर जो सबसे महान् विपत्ति मिथ्यात्वकी छायी है उसपर कुछ भी अफसोस नही करते । मेरा मिथ्यात्व मिटे, सम्यग्ज्ञान जगे, ऐसा भीतरसे अपनेको कोई आशीष नही देता । एक युक्तिसे, अनुभवसे यह बात समझमे आती है कि इन जीवोके साथ जो मिथ्यात्व परिणाम लगा है वह कालुष्य है, कुज्ञान है, ये निसर्गमे ही इन जीवोमे पाये जाते है ।

जन्तुवोके मिथ्यात्वकी प्रवाहरूपता—देखते जावो—एक नदीके किनारेपर बैठकर देखते जावो—रात-दिन, जीवन पर्यन्त पानी पानी ही तो सारा निकलता जायगा, इसी तरह

इस जोवमे इस मिथ्यात्वका प्रवाह मिलता जायगा। गया, आया, गया, आया, यह मिथ्या परिणति गई, नई मिथ्या परिणति आयी। इस मिथ्यात्वपर अफसोस नही होता। इस शरीरको माना जा रहा कि यह मैं हूं और इस दृष्टिके आधारपर दूसरोको मानते है कि ये मेरे अमुक है, ये मेरे फलाने रिश्तेदार है ··। अरे इस आत्माका भी किसी दूसरे जीवके साथ कुछ रिश्ता है क्या ? शरीरमे बसा हुआ जो चैतन्यस्वरूप आत्मा है उसका किसी दूसरे आत्मा से रिश्ता बन सकता क्या ? यह आत्मा तो अमूर्त चिज्ज्योति है, एक स्वतन्त्र पदार्थ है, उसका कोई किसीसे माता-पिता, पुत्रादिकका नाता है क्या ? इस शरीरको माना कि यह मैं हू तो इस कुबुद्धिके आधारपर यह मेरा इष्ट है, अमुक लगता है, इस तरहसे चित्रण चलता गया। यह अज्ञान जाल, इसपर खेद नही होता कि इस शरीरसे मै आत्मबुद्धि क्यो नहो हटा पाता ? यह तो एक पहाड जैसी विपत्ति है। इस ही दुर्बुद्धिसे, इस मिथ्यात्व भावसे तो जन्ममरणकी परम्परा सहनी पडती है।

कार्यं तदुदयस्योच्चै. प्रत्यक्षात्सिद्धमेव यत्।
स्वरूपानुपलब्धि. स्यादन्यथा कथमात्मनः ॥१०३५॥

कार्यसे सर्व जीवोमे मिथ्यात्वकी सिद्धि—सर्व जीवोमे मिथ्यात्वभाव है। कैसे जाना ? उनका कार्य देखकर। किसीके भावोका पता आप कैसे जान पाते है ? जब उसका कार्य निरखनेमे आता। वचनकी चेष्टा देखकर, शरोरकी चेष्टा देखकर जान जाते है कि यह इस भावका है। तो ऐसे ही मिथ्यात्वभावका परिचय कैसे मिलता ? उसका कार्य देखकर। और उसका कार्य तो आपको प्रत्यक्षसे विदित हो जाता। और वास्तवमे क्या है उस मिथ्यात्वका कार्य ? स्वरूपकी अनुपलब्धि। अब निरखते जावो यह जीव अपने स्वरूपकी उपलब्धि कर रहा या नही, अपना स्वरूप दृष्टिमे है या नही। अपने स्वभावके बारेमे कुछ मनन इसका चलता है या नही ? नही चलता तो बस एक ही निर्णय है—मिथ्यात्वभाव। स्वरूपकी प्राप्ति न होना यह ही तो मिथ्यात्वका कार्य है। तो जोवोमे मिथ्यात्वका उदय प्रत्यक्षसे सिद्ध है। अगर मिथ्यात्वका उदय न हो तो फिर इस आत्माको स्वरूपकी अनुपलब्धि क्यो हो ? क्यो न यह स्वरूप को देखे, तृप्त रहे, आनन्दमग्न हो ? क्यो यह दुखी हो ? जो दुखी होते है उन सबके मिथ्यात्वका अनुमान है। है मिथ्यात्व, तब हो तो कष्ट है। जो ज्ञानो पुरुष है वे कष्टमे भी कष्ट नही मानते। वे जानते है कि कष्ट आया, कर्मरसका यह उदय है, यह रहेगा नही। यह कर्मरस है, आ गया है, यह शीघ्र ही दूर हो जायगा। और कष्ट ही क्या है ? वह तो कर्मरसकी झाँकी है। हम अपना उपयोग बिगाडते हैं, उस तरहकी दृष्टि बना लेते है। ज्ञानी कर्मरसमे आसक्त न होकर अपनेमे आत्मानुभव करते है।

आत्मानुभवके अर्थ अपना मोटा सुगम कर्तव्य—अपनेमे अपना उपयोग न बने, इसके

लिए मोटा-मोटा सुगम कर्तव्य क्या है कि अपना व्यवहार, अपना चरित्र उज्ज्वल रखें और भीतरमे आत्मस्वरूपकी चिन्तना, उसका मनन बनाये रहे । ये दो ही बातें तो करना है अपने आत्माके उद्धारके लिए कि अपना आचरण निर्मल सही बनावे और भीतरमे अपने इस सहज चैतन्यस्वरूपकी उपासना करें । मै यह हू । अपना चारित्र ठीक रखे और अपनी प्रतीति मन मे सही रखे, मै यह हू, भुलावेमे न आवें । कभी भी यह बात मनमे न आये शरीरको निरखकर कि मैं यह हू । कभी भी अपने रागद्वेष विचार-विभावोको देखकर यह मनमे न आना चाहिए कि ऐसी ही बात बने तो मेरा गुजारा है । जैसा राग उठ रहा है वैसा ही कार्य बने तो मेरा गुजारा है, यह बात चित्तमे न आये । राग उठा है, रागकी चेष्टा भी हो रही है, मगर उन सबसे मैं जुदा हू । इनसे मेरा पूरा तो नही पडता । विरक्तिके लिए एक ही तो कुञ्जी है, एक ही तो बात कह रहे कि आप कार्य करते जाये और उन सब कार्योंके समय चित्तमे यह बात उठती जाय कि इससे मेरे आत्माका कुछ पूरा तो नही पडेगा, कर रहा हू, पर इससे मेरे आत्माका पूरा नही पड सकता । ऐसी सुध जब नही है तो क्या कहा जाय ? मिथ्यात्वका उदय । और यह कलुषता ही जन्ममरणकी परम्परा बढ़ाने वाली है ।

स्वरूपानुपलब्धौ तु बन्धः स्यात्कर्मणो महान् ।
अत्रैवं शक्तिमात्र तु वेदितव्यं सुदृष्टिभिः ॥१०३६॥

मिथ्यात्वके कार्य स्वरूपानुपलब्धिमें कर्मका महान् बंध—मिथ्यात्वका कार्य है स्वरूप की प्राप्ति न होना । जिस जीवके मिथ्यात्वप्रकृतिका उदय है उसको अपने स्वरूपकी प्राप्ति नही होती, याने स्वरूप क्या है यह उनके ज्ञानमे नही आ पाता । तो जहाँ स्वरूपानुपलब्धि है, अपने स्वरूपकी सुध नही, प्रतीति नही वहाँ महान् कर्मबन्ध होता है । कर्मोका अधिक बध मिथ्यात्वमे ही होता है । मिथ्यादृष्टि जीवके थोडे समयके तीव्र मोहसे ७० कोडाकोडी सागर तकका मोहनीयकर्म बँध जाता है । एक सागरका बहुत बडा प्रमाण है जिसमे १० कोडाकोडी पल्य समा जाते है । एक पल्य असख्यात वर्षोके समयका है, ऐसे ७० कोडाकोडी सागर तक के लिए कर्म बँध जाते है एक क्षणके मोहमे । देखो मिथ्यात्वके होते सन्ते इस जीवपर कितना विकट कर्मबन्ध होता है जिसके फलमे उसे निरन्तर दुःख भोगना पडता है । यहाँ तो लोग कुछ धन वैभव पाकर ऐसी छटनी करते है कि हमने सबसे अच्छी चीज पा लिया, पर यह धन वैभव कोई अच्छी चीज नही । काफी धन वैभव तो पा लिया, पर अपना स्वरूप नही पाया तो कुछ नही पाया । अपनी दृष्टिमे अपना सहज आत्मस्वरूप अनुभवमे आये तो उससे बढकर कोई समृद्धि नही है, क्योकि इस वैभवके प्रतापसे भव-भवके बाँधे हुए कर्म कटते है और निकटकालमे मुक्ति प्राप्त होती है, जहाँ आत्माका ज्ञान दर्शन स्वरूपका कार्य त्रिकाल अनत काल तक रहता है । तो आत्माके स्वरूपकी अनुपलब्धि होनेसे कर्मोका तीव्र बध होना

है, ऐसी ही दर्शन मोहनीय कर्ममे सामर्थ्य है । इस बातको कौन लोग समझ सकते है ? ज्ञानी सम्यग्दृष्टि जन । अज्ञानी जन क्या जानें कि हमको स्वरूपकी उपलब्धि नही है और उसमे विकट कर्मबन्ध हो रहा है । वे तो विभावोंमे आसक्त हैं । मिथ्यात्व कर्मबन्धका ऐसा विकट कार्य है और उस कार्यसे यह परखा जाता है कि यहाँ मिथ्यात्व हुआ है ।

व्यग्रतासे स्वरूपानुपलब्धिका अनुमान व स्वरूपानुपलब्धिसे मिथ्यात्वका अनुमान— कार्यसे ही पहिचान होती है । सम्यग्दर्शन है या नही, इसकी पहिचान कैसे करते कि देखने मे बड़ी शान्त, संतुष्ट मुद्रा दिखती, विभाव भावोसे हटकर स्वभावकी ओर उन्मुखता करने जैसे मुद्रा दिखती, यो उसकी बाहरी मुद्रा देखकर ही कुछ अनुमान किया जा सकता है कि इसको सम्यग्दर्शन है । इस जगतमे सारभूत पदार्थ कुछ नही है । कुछ भी काम बाहरमे कर लो, उससे शान्ति, संतोष नही होता बल्कि अशान्ति और असतोष होता है । जो अपनेको इष्ट लग रहा—यह अच्छा मकान है, अच्छा परिवार है, अच्छे मित्रजन है, अच्छी सम्पदा है, जो-जो कुछ अपनेको इष्ट लगता हो इससे वे सब भीतरमे आकुलताको ही बढा रहे है, क्योकि उन विकल्पोमे स्वरूपकी सुध नही है, फिर कोई खोटा सयोग हुआ, वैभव कम है, कुछ अड-चनें है, असुविधायें है, आवास ठीक नही मिला, खाने-पीने तकका अच्छा साधन नही, ऐसी कठिन स्थितियाँ है वहाँ भी आकुलता है । जिसको स्वरूपकी प्राप्ति नही हुई उसको हर स्थिति मे आकुलता है और स्वरूपकी प्राप्ति न होना, यह मिथ्यात्वका कार्य है । और यो मिथ्यात्वके वश होकर यह सारा जगत कष्ट पा रहा है । जीव तो स्वभावसे शान्त, ज्ञानमय, बाधारहित समर्थ और आनन्दमय है । इसको कष्टकी क्या बात ? पदार्थ है और अपने स्वरूपमे परिण-मेगा, ऐसी यद्यपि बात होनी चाहिए, मगर अनादिकालसे ही मिथ्यात्व कालुष्य इस जीवके साथ लगा है, सो हर दशाओमे यह बेचैन है । सुखकारी स्थितियाँ हो वहाँ भी बेचैनी, कुछ कष्टकारी स्थितियाँ हो वहाँ भी बेचैनी । जब तक मिथ्यात्व नही हटता, स्वरूपकी प्राप्ति नही होती तब तक इस जीवको शान्ति कभी भी नही मिल सकती । तो जैसे लोग सब कुछ तन, मन, धन, वचन लगाकर सोचा करते कि मुझे तो यह काम बनाना है ऐसे ही तन, मन, धन, वचन प्राण सर्वस्व न्यौछावर करके यदि अपने स्वरूपकी प्राप्तिका काम बनाया जा सकता है तो वह इस जीवके लाभकी बात है । तो मिथ्यात्वके उदयमे स्वरूपकी अनुपलब्धि है और स्वरूपकी अनुपलब्धिमे इस जीवको बडा कष्ट है । सो दर्शनमोहनीय कर्ममे कैसी एक विलक्षण शक्ति है । कर्मकी कर्ममे शक्ति है, मगर वह अपनी शक्तिको उगलता हुआ जब विपाकमे आता है तो उपयोगमे वह सब सब झाँकी प्रतिफलित होती है, उस समय इस जीवकी बडी विड-म्बना होती है ।

प्रसिद्धैरपि भास्वद्भिरलं दृष्टान्तकोटिभिः ।
अत्रेत्थमेवं स्यादलघ्या वस्तुशक्तयः ॥१०३७॥

मिथ्यात्वभावमें कष्टसंतति—मिथ्यात्वसे इस जीवको कष्ट है, इस बातको समझानेके लिए करोडो दृष्टान्त मिलेंगे । यहाँ लौकिक दृष्टान्त भी मिलेंगे व पुरा पड़ौसमे, देश, गावमे, समाजमें ये सब जीते जागते जो दुःखी लोग है वे स्वय दृष्टान्त है । बड़े पुष्ट करोडो दृष्टान्त भी दिए जायें तो भी कम है, वे भी भले प्रकार मिथ्यात्वकी बाधाशक्ति बतानेमे समर्थ नही है । उन करोडो दृष्टान्तोसे भी क्या पूरा पडता है ? इस दर्शनमोहनीयमे तो आत्मस्वरूपको नष्ट करनेकी शक्ति है । स्वरूप नष्ट नही होता, मगर अपने उपयोगमे ही न हो तो वही नष्ट कहलाता है । जैसे किसीके हीरेकी अगूठी उसके ही हाथमे है, अगुलीसे निकालकर मुट्ठीमे रख ली है, कुछ गप्पोमे लग गया, बादमे ख्याल आया कि अगूठी तो है ही नही, तो उस घबडाहटमे वह इतना अधीर हो जाता है कि मै मुट्ठी बाँधे हूँ, यह कोई सुधमें नही, क्योकि उपयोग बिगड गया । जब उपयोग बिगड गया और अगूठी देखनेका प्रयत्न करते, घरमे देखा, सदूक खालकर देखा, तो रोजके रोज तो भले ही वह दाहिने हाथसे सदूक खोलता था, पर आज वह बायें हाथसे खोलता । कैसा अधीर, कैसी बेहोशी और कैसी बुद्धि पलटी कि वह देख नही पाता कि यह है । तो जब उसके ज्ञानमे नही है हीरा रत्न, तो वह तो गरीबसे भी अधिक दुःखी हो रहा है । कोई कहे कि क्यो दुःखी हो रहा, हाथमे ही तो है, क्यो कष्ट पा रहा ? अरे आप कहते हो कि उसके हाथमे हीरा है, पर उसको तो ज्ञान नहीं है इस बात का । तो ऐसे ही आत्माका स्वरूप नष्ट नही होता । किसी भी वस्तुका स्वरूप नष्ट नही हुआ करता, सत्ता कभी नष्ट नही हुआ करती, मगर ज्ञानमे ही नही है अपना स्वरूप तो वह तो उसके लिए नष्ट हो गया । तो इस मोहनीय कर्ममे ऐसी सामर्थ्य है कि वह आत्माके स्वरूप को नष्ट कर देता है याने मिथ्यात्वप्रकृतिके विपाकका निमित्त पाकर आत्मा स्वरूपको भूल जाता है, मिथ्यात्वमे ऐसी शक्ति है ।

मिथ्यात्वकी अलंघ्य लीलायें—मिथ्यात्वकर्मके उदयका सन्निधान पाकर जो जीवमे मिथ्या आशय जगा है उसमे भी शक्ति है, कर्ममे भी शक्ति है । तो शक्तिको कौन हटाये, शक्ति अलघ्य होती है । तो अब समझना चाहिए कि जो यह प्रमाद रखते हो कि हो जायगा क्या है, धर्म बादमे हो लेगा अथवा हो ही तो रहा है, रोज रोज दर्शन करने आते, स्वाध्याय करते, जाप भी देते, कर ही तो रहे है, यो प्रमादमे समय गवाना इस मनुष्यभवका अपना जीवन व्यर्थ समाप्त कर दना है । यो अपने आपपर यह कितना बडा अन्याय है, क्योकि मरकर फिर असज्ञी बने, कीड़ा-मकौडा, पेड-पौधे बने तो अब क्या कर लोगे वहाँ ? जब तक यह जीवन है, जब तक रोग नहीं आता, जब तक बुढापा नही घेरता । जब तक कमजोरी

नही होती तब तक सर्व प्रकार प्रयत्न करके अपने स्वरूपकी प्राप्तिका काम बना ले अन्यथा सब पछताना रह जायगा और इस जीवका संसार-भ्रमण चलता रहेगा। तो जैसे सभी पदार्थों में अपनी अपनी शक्तियाँ हुआ करती है, अजीव हो उसमे भी शक्ति, जीव हो उसमे भी शक्ति। तो यहाँ जो मिथ्यात्व नामक कर्म है उसमे जो मिथ्यात्व प्रकृति पडी है और अनुभाग विकट पडा हुआ हैं तो उसमे ऐसी शक्ति है कि उस शक्तिको, कर्मको कौन दूर करे ? वह तो कर्ममे पड़ी हुई है, और उस वक्तमे वह उसका स्वभाव है। लोग कहते है प्रकृति और प्रकृति शब्द कहकर एक ऐसे भावको लेते हैं—निरपेक्ष स्वाभाविक नेचर। मगर स्वभाव तक पहुचता कौन है ? अज्ञानी जीवको तो कर्मप्रकृतिके उदयमें जो कुछ हो रहा है वही प्राकृतिक जचता है। तब ही तो कहते है किसी फूल वाले जगलको देखकर कि अहा ! कितना अच्छा प्राकृतिक दृश्य है, तो उसका मतलब क्या ? प्रकृति मायने क्या ? उसकी दृष्टिमे तो यह बात लग रही कि किसीने नही किया, अपने आप हुआ। तो बात भी कुछ ठीक है, पर असली बात यह है कि आखिर वे सब जीव ही तो है, फूल हो, फल हो, पत्ते हो, झरने झरने झर रहे, आखिर ये सब एकेन्द्रिय जीव ही तो है और वहा कर्मप्रकृतिका उदय चल रहा तो उनकी प्रकृतिके उदयसे जो स्थिति बन रही उसे कहते है प्राकृतिक। तो प्रकृतियोमें भी जो शक्ति पडी है वह उस समय उसका स्वभाव है। वह ऐसी अमिट है कि उसका कार्य जब वह बौखलाता हुआ दिखता है तो इस जीवको स्वरूपकी दृष्टि नही होती और नाना प्रकारकी यह विकृत चेष्टायें कर बैठता है। उसका फल क्या है ' ' दुःख ही दुःख। जिसमे बल नही होता, कायरता होती, कमजोर होता, पराधीन होता, परमुखापेक्षी होता, ऐसा कोई बूढा अपने पोतो से परेशान भी हो रहा, कोई पोता सिरपर चढता, कोई कंधेपर चढता, कोई मूछ पटाता, वह परेशान होकर रो भी देता है, फिर भी उनकी छोडकर कही जा नही सकता। ऐसे ही मिथ्यात्वकी चोट सहनेके कारण यह जीव इतना कमजोर है, अपने आत्मबलकी ओरसे इतना कायर है कि मिथ्यात्वके उदयमे यह दुःख सहता जा रहा, मोहके कारण कष्ट सहता जा रहा, फिर भी यह मोह नही छोड सकता। अज्ञानका ऐसा ही माहात्म्य है।

सर्वे जीवमया भावा दृष्टान्तो बन्धसाधकः।
एकत्र व्यापकः कस्मादन्यत्राव्यापकः कथम् ॥१०३८॥

समस्त जीवमय भावोंमें से किसीकी बन्धसाधनता व किसीकी अबन्धसाधनतापर चर्चा—यह श्लोक एक अर्थसे शकाके लिए आया है। जीवमे जितने भाव है वे सब जीवमय भाव हैं। क्रोध, मान, माया, लोभ, मोह, कुज्ञान आदिक जो यहाँ छुटपुट हो रहे, विचार तर्कणा आदिक जो कुछ भी भाव हैं ये जीवमय भाव है, जीवसे अलग तो नही हैं, जीवसे अनन्य है, जीवमे रचे हुए है और यहाँ दिख रहा है कि यह जीव बधका करने वाला है।

कोई तरहसे ख्याल आया तो उससे बंध ही तो होता है। कभी घमड आया, क्रोध आया मोह आया, तो उससे बंध ही तो होता है, यों ही जानकारियोंकी बातें है। किसी पदार्थको जान रहे, उस पदार्थमे उपयोग फस रहा, बाहरमे उपयोग गड रहा यह ही स्थिति है तो उस जानकारीके समय बंध है कि नही ? बंध है तो जितने जीवमय भाव है वे बधके साधक देखे गए है, मगर उन जीवमय भावोमे से समझमे यह आ रहा। कथन यह किया जा रहा इस प्रकरणमे कि देखो स्वरूपकी अनुपलब्धि वाले भाव बधको करने वाले है और स्वरूपकी उपलब्धि वाला भाव बंधको नही करता। तो स्वरूपकी प्राप्ति वाला भाव भी तो जीवमय है, इसने बंध नही किया तो क्या। वजह है कि कोई भाव तो बधका कारण है, कोई भाव बधका कारण नही है। यह जीवमय भाव कही बधसाधकतासे व्यापक है, कही व्यापक नही है, यह क्या मामला है ? ऐसी एक शका की गई है। उसका उत्तर संकेत मात्रमे आगे दिया जायगा किन्तु इस छदको अगर ऐसा सुधार कर पढ़ें-कि दृष्टान्तकी जगह दृष्टास्ते और बध साधकः हो जायगा बहुवचन तो अर्थ निकलेगा सिद्धान्त वाला। वहाँ शंका नही है। अर्थ क्या होगा कि ये सब जीवमय भाव तो बधके साधक देखे गए है, फिर भी जीवमय भाव जितने सम्भव है उनमे से देखते है तो किन्ही भावोमे तो बध साधकपना व्यापक है और किन्ही भावोमे बंध साधकपना व्यापक नही है। सो विद्वान् पुरुष उसके कारणोको जानते है कि यह भाव बंधके लिए व्यापक कैसे है, और यह भाव बधके लिए अव्यापक कैसे है ? शंका मे कोई पूछे तो यो पूछेगा कि जीवके भाव है सब मिथ्यात्व, क्रोध, ज्ञान, स्वरूपानुपलब्धि सब जीवकी ही तो चीज है। पर इनमे से कोई भाव बंधमे साधक है, कोई भाव बधमे साधक नही है, क्या कारण है ? तो उसके उत्तरमे कहते है—

अथ तत्रापि केषांचित् सज्ञिनां बुद्धिपूर्वकः।
मिथ्याभावो गृहीताख्यो मिथ्यार्थाकृतिसंस्थितः ॥१०३६॥

असंज्ञी जीवोमें अगृहीत मिथ्यात्वसे विडम्बना—उत्तर तो एक सामान्यतः यह है कि स्वरूपकी उपलब्धि और अनुपलब्धि—इनको बंधके लिए मत देखें कि कारण है या नही ? बध का साधक तो मिथ्यात्वभाव है, अज्ञान, मोहभाव और उस मिथ्यात्वभावके साथ लगे हुए जितने और भाव है वे भी बधके कारण हैं, करने वाले है। तो इस मिथ्यात्वके सम्बधसे ही करने वाले है, और कभी मिथ्यात्व नष्ट हो गया तो चारित्रमोह रह गया, सो चूकि इस चारित्रमोहके प्रभावको मिथ्यात्वकी जडने ही तो बनाया था तो मिथ्यात्वके दूर होनेपर भी चूकि मिथ्यात्वसे हो यह सब जाल बन पाया था तो उसमे भी बध साधकपनेकी बात है, मगर जहाँ मिथ्यात्व नहो वहाँ ससारभ्रामक बंधपना भी नही। स्वरूपकी जहाँ उपलब्धि है वहाँ बध नहो है। बधन भूलका है, जहां भूल नहो वहां बधन नही। जीवमे इसी तरहका बन्धन

चलता है। इस जीवको किसीने रस्सीसे नही बांधा, साँकलोसे नही जकड़ा, और तरहसे बधन नही किया और जो कुछ भी निमित्तनैमित्तिक बधन है इस शरीरमे बधन कर्मोसे बँधा। ऐसा जो निमित्तनैमित्तिक बन्धन है तो यह बन्धन भी एक भूलके कारण बँध गया है। भूल है बस वही बँधन है। जीव अपने स्वरूपको दृष्टिमे नही ले पा रहा और जो इसे पर्याय मिली, दशा मिली, परपदार्थोंका सग मिला, जो कुछ भी इसे दिख रहा है उसमे ही यह अनुभव करने लगा कि बस यह ही मैं सब कुछ हू, इसीसे मेरा बडप्पन है। ऐसा जो पर और परभावमे इसने अपनी दृष्टि की, भूल की, उसका यह बधन बन गया। सारी परतन्त्रतायें भूलकी हैं, अपने आपकी सम्हाल न करनेकी है। सो हो रहा है यह सब। एकेन्द्रियसे लेकर असज्ञी तकके जीव मिथ्यात्वमें तो ग्रस्त हैं, पर मिथ्यात्वकी एक बुद्धिपूर्वक गृहीत चेष्टा उनकी नही बनती और सज्ञी जीवोमे किन्ही-किन्हीके बुद्धिपूर्वक मिथ्याभाव होता है, उसीको कहते है गृहीत-मिथ्यात्व। मिथ्यात्व दो तरहके हैं—(१) अगृहीत मिथ्यात्व और (२) गृहीत मिथ्यात्व। शरीरमे सब जीवोको अपनी कल्पना बनी है कि यह हूं, मैं हूं, शरीरके प्रति मैं हू, ऐसा अनुभव चल रहा है जीव को, सबको देख लो। कोई चीटी जा रही हो, उसे किसीका जरासा धक्का लग जाय तो यह तुरन्त उलटकर दौडती है, पानीकी कही धार बह रही तो चीटी अपने मुखके आगे लगे हुए जो रोम है उनमे जरा स्पर्श हुआ तो तुरन्त वह उल्टी भाग गई। तो शरीरमे उनको व्यामोह ही तो है। और बाहरके दृष्टान्त क्या, सीधे मनुष्योके ही दृष्टान्त ले लो—किसी भी स्थितिमे घबडा बैठते है, अधीर हो जाते है, जरा भी दुःख सहा नही जाता है। शरीरमे रोग हुआ तो हाय मरे करके चिल्लाते है। वहाँ एकदम दृष्टि अपनी गड गई है। सभी विषय प्रसंगोमे यह जीव पर्यायोमे आत्मत्व स्वीकार कर रहा है। सो यह तो है अगृहीत मिथ्यात्व, याने जो सिखाया न जाय, किसी दूसरेकी नकल न की जाय और अपने आप बना हुआ हो वह है अगृहीत मिथ्यात्व। और गृहीत मिथ्यात्व समझानेसे हुआ, देखनेसे हुआ।

सज्ञी जीवोमे अगृहीत व गृहीतमिथ्यात्वसे विडम्बना—किसीकी गृहीतमिथ्यात्ववृत्ति की नकल करने लगे, लो गृहीत मिथ्यात्व चल गया। जैसे कुदेवको मानना, कुशास्त्र, कुगुरुको मानना, किसी चबूतरापर देवोको मानना, पत्थरोके ढेरको देवता मानकर एक पत्थर खुद भी डालना कि हम देवताको तृप्त कर रहे है। किसी वृक्षमे सूत बाधना, गाना, उसकी प्रदक्षिणा देना यह सब गृहीत मिथ्यात्व ही तो है। ये सब देखनेसे, सिखानेसे, नकल करनेसे हुए है। तो किसी-किसीके बुद्धिपूर्वक मिथ्यात्व भी देखा जाता है जिसका नाम है गृहीत मिथ्यात्व। जितने प्रकारके सब मिथ्यात्व है उन सबमे मिथ्यापन पाया जाता है। मिथ्यात्व भाव सबमे है, पर उसकी मुद्रायें, उसका व्यक्त रूप नाना प्रकारके हो गए। दो पुरुष जा

रहे थे—एक तो पेड़ोमे देवी देवता मानने वाला था और एक इस मान्यताको सही न मानता था। तो वे दोनो आदमी एक पीपलके पेडके नीचेसे निकले। उनमे से जो पेडोमे देवी देवता न मानने वाला था उसने पीपलके पेडसे तमाम डाली, पत्ते तोड़-ताडकर नीचे फेंक दिये। इस बातको देखकर दूसरा व्यक्ति नाराज हो उठा—अरे तुमने क्यो ये डाली, पत्ते तोड़कर फेंके, यह तो हमारा देवता है।…अरे होगा तुम्हारा देवता। हमने तोड-ताड़कर फेंक तो दिया, पर वह हमारा कुछ बिगाड तो नही कर सकता। तो वह दूसरा व्यक्ति बोला—अच्छा तुम्हारा देवता कैसा है?…सुनो—हमारा देवता बडा प्रभावशाली है, अगर उसका प्रभाव ही देखना है तो जरा आगे चलो, दिखा देंगे। कुछ आगे बढ़े तो एक खाज खुजली उत्पन्न करने वाला पेड दिखा। उसे देखकर कहा—लो यह पेड़ है हमारा देवता। बस क्या था, उस दूसरेने भी उस पेड़की डाली, पत्ते आदि तोड़-ताड़कर फेंकना शुरू किया। थोडी ही देरमे उसका सारा शरीर खुजलाने लगा। मारे खुजलीके वह इधर-उधर भगा-भगा फिरे, हाथ-पैर झिटकता फिरे। तो वह पुरुष बोला—देख लिया न हमारे देवताकी करामात। इतना विकट देवता है हमारा। तो इस तरहसे जो वहुत दूरकी बातें हैं उनमे भी मिथ्यादृष्टि लोग देवी देवताकी कल्पना करते है और जो निर्मल आत्मा है वही सच्चा देव है, वह शक्ति अपने आपमे है, उस स्वरूपकी उपलब्धि करनेके प्रतापसे ही ये सब मिथ्यात्वभाव दूर हो सकते है।

अर्थादेकविधः स स्याज्जातेरनतिक्रमादिह।
लोकासख्यातमात्रः स्यादालापापेक्षयापि च ॥१०४०॥

असंख्यात प्रकारोके मिथ्यात्वमे मिथ्यात्वजातिकी एकता—शंकाके समाधानमें ही प्रसग चल रहा हे। साधारण स्वरूपमे कहा जा रहा है कि वह मिथ्याभाव जातिकी अपेक्षासे तो एक प्रकारका है याने जितनी तरहके मिथ्यात्व है सव मिथ्यात्वोमे मिथ्यात्वके लक्षणपनेकी बात तो घटित होती ही नहीं है, इस कारणसे उन अनेक मिथ्यात्वोंमे से कोईसा भी मिथ्यात्व हो वह सब एक है, किन्तु भेद प्रभेदकी अपेक्षा अनेक है। शका यह की गई थी कि कही मिथ्यात्व व्यक्त है, कही नही है, कही मिथ्यात्व पाया जाता है कही नहीं पाया जाता। सज्ञी जीवोमे मिथ्यात्व प्रकट रूपमे जाना जाता है। असंज्ञी जीवोमे मिथ्यात्वका परिचय नही हो पाता है, ऐसी एक आशका थी। उस सम्बधमे कह रहे हैं कि मिथ्यात्व नाना तरहके होते है। कोईसा भी मिथ्यात्व हो। एकेन्द्रियका मिथ्यात्व क्या समझमे आये? असज्ञी जीवोके, चलते-फिरते कीडोके कुछ ऐसा समझमे आता है कि वे डरते हैं और संज्ञी जीवोका मिथ्यात्व तो नाना तरहमे दिखनेमे आता है। कोई मनुष्य कुदेवको मान रहा, कुगुरुको मान रहा, किसीकी कुछ भी प्रवृत्ति हो रही। मिथ्यात्व क्या एक तरहका होता? और इस मिथ्यात्वके वश होकर

इस समझदार मनुष्यने क्यासे क्या ढंग नहीं अपनाया । कोई रेतका भदूना बना देते है उसीमे धर्म मानते, कोई पत्थरोका सग्रह करते उसीमे धर्म मानते, कोई पेडमे धागा बाधते उसीमे धर्म मानते, कोई पत्थरमे सिंदूर लगाकर धर्म मानते, यो मिथ्यात्वकी कितनी ही जातियां है। सो किसी भी प्रकारका मिथ्यात्व हो, सभी मिथ्यात्वोमे मिथ्यात्वपना है हो । तो जहां मिथ्यात्व है वहां जीवोको कष्ट है । मिथ्यात्व नही तो जीवको कष्ट क्या ? जीव एक सत् पदार्थ है। जैसे परमाणु सत् है, जीव भी सत् है । परमाणुवोका मिलकर बन गया चौकी वगैरा, ये सत् है, जीव भी सत् है । इन पदार्थोंको कष्ट क्या है ? चौकी है, दरी है, भीत है, इनको क्या कष्ट है ? है, कुछ भी परिणमन हो जाय, उनका उनमे परिणमन है । यहां कोई यह कह सकता कि ये तो अजीव है, जब उपयोग ही नहीं है तो कष्ट क्या मानेगे, उनकी अपेक्षा कुछ कष्ट नही । बस यह ही बात तो जीवमे बताना है कि उपयोगको जब कष्टरूप समझते है तो जीवको कष्ट है और जब कष्ट रूप नही समझते तो क्या कष्ट है ? जीव है, उसका अपना परिणमन हो रहा । परमार्थत जीवका अपना परिणमन कष्टरूप नही है, वह तो कल्पनाकी बात है ।

आत्माके अपने स्वयके परिणमनमें कष्टका अभाव—आत्माका अपना परिणमन तो प्रतिभासनेका, चेतनेका, जाननेका है । अपने परिणमनकी ईमानदारीमे रहे तो इसको कष्ट कुछ भी नही । पर अपने स्वरूपसे चिगकर जो नाना कल्पनायें करना उसने कष्ट है । बताओ किसीकी हवेली इस आत्मामे प्रविष्ट है क्या अथवा घर छोडकर हवेली साथ जायगी क्या ? हवेलीके साथ क्या इस जीवका सुख दु खका सम्बन्ध है ? कोईसा भी वैभव हो, लोग खूब कमानेमे होड मचा रहे है । करोडपति बन गए तो अब अरबपतियोपर नम्बर आ गया । इस महगाईको धन्य समझो जिससे ये हजारपति, लखपति कहलाने लगे और ये लखपति, करोड़पति कहलाने लग गए । चीजें तो सब ज्योकी त्यो है, पर मान्यतासे ही बढ गए । खाना-पीना तो वैसा ही खाते-पीते जैसा कि पहिले । रहो सब कुछ सग, जगतमे कौनसा ऐसा सग है जो इस जीवको सुखसाताका कारण बने ? खूब सोच लो । अज्ञानमे भले ही कोई मान बैठते कि ऐसा मिले तो मेरेको सुख हो, पर वह सब अज्ञानकी बात है । कही बाहरी पदार्थोंके मिलनेसे सुख नही होता । सुख शान्ति पानेका तो एक ही तरीका है कि समस्त बाह्य पदार्थोंका आश्रय छोडकर पदार्थोंकी स्वतन्त्रताका ज्ञान रखें और सबसे उपेक्षा कर अपने आपके सहज स्वभावमे अपना अस्तित्व अनुभव करे । सिवाय इस पद्धतिके कोई दूसरी पद्धति ही नही कि यह जीव सुख शान्तिसे भरपूर, आनन्दमय हो सके, बाकी और पद्धतियां कितनी ही करते जावो, कितनी ही बाते बनाओ, कितना ही सोचो, उन सबमे सिवाय क्लेशके और कुछ नही है । तो यह सब किसका प्रसाद है कि सारा ससार दु:खमय बना हुआ है । यह मिथ्यात्वका प्रसाद है । मिथ्यात्वके बलपर ही ससारी जीव लोक टिका हुआ है । सो ऐसा टिकनेमे

लाभ नही है, कष्ट ही है, उस मिथ्यात्वके छेदनेका उपाय मनमें आना चाहिए। इस जीवन में एक ही बात मनमें आनी चाहिए। ये बाह्य पदार्थ चाहे छिदें, भिदे, कही भी जायें, मगर मेरा आत्मस्वरूप मेरी दृष्टिमें मिल जाय तो समझो कि मैने सर्व समृद्धि पाया। लोग तो दुनियावी मित्रोंको अपना मित्र समझते है मगर उनसे लाभ क्या मिलता ? कोई मित्र कपटी है तो उससे प्रकट क्लेश होगा। और कोई मित्र बहुत अच्छा है तो भी उसमे रमने रचने पचनेसे आत्मप्रदेशोमे क्या मिलेगा ? कोई भी संग समझ लो, अपना आधार तो पचपरमेष्ठियो का है। भगवानकी भक्ति करे तो आत्मस्वभावकी दृष्टि मिलेगी। इन आचार्य सतोकी भक्ति करें तो आत्मस्वरूपकी भक्ति मिलेगी। परममित्र तो हमारे ये साधु सतजन है, जिनकी कृपा से हम आप लोग आत्मस्वरूपकी दृष्टि और उसका मार्ग पा लेते है। यह ही एक श्रेय बात है। बाकी तो सब मिथ्याभाव है जो कि इस जीवको कष्ट ही देते है।

आलापोऽप्येकजातिर्यो नानारूपोऽप्यनेकधा।
एकान्तो विपरीतश्च यथेत्यादि क्रमादिह ॥१०४१॥

एकान्तमिथ्यात्व, विपरीतमिथ्यात्व, संशयमिथ्यात्वके रूपक—मिथ्यात्वके नाना भेद कहे है और उनमे भी-प्रत्येक भेदके और और भी भेद है। तो वे भेद भी अनेक प्रभेदोमे विभक्त है, अतएव मिथ्यात्व अनेक प्रकारके है। जैसे मिथ्यात्व बतलाये है ५ तरहके, और उनमे अगृहीत और गृहीत दो और मिला दो तो ७ तरहके हो जाते है। एकान्तमिथ्यात्व, विपरीतमिथ्यात्व, सशयमिथ्यात्व, विनयमिथ्यात्व और अज्ञानमिथ्यात्व और अज्ञान-मिथ्यात्व। एकान्तमिथ्यात्व कितनी तरहके है, इसकी कोई सख्या बता देगा क्या ? जो पुरुष जिस धर्मका, जिस परिच्छेदका हठ करके कि यह ही है, अन्य कुछ नही तो ऐसे कितने ही एकान्त हो जायेगे। प्रसिद्धी तो ५-७-१० की ही हो पायी। किसीने यह हठ कर लिया कि प्रत्येक वस्तु क्षण-क्षणमे नष्ट होती है, नई-नई वस्तु ही बनती है, नया सत् ही आता है। किसीने मान लिया कि जो सत् है वह अपरिणामी है। उसमे बदल होती ही नही। किसीका नित्यका एकान्त, किसीका अनित्यका एकान्त, किसीका अभावका एकान्त, कुछ नही, यह ही एक तत्त्व है। किसीका भावका एकान्त, सब कुछ एक ब्रह्मस्वरूप है, विधिरूप है, अन्य कुछ नही। एकान्त मिथ्यात्व कितनी जातिके होते है, सबमे मिथ्यापनका लक्षण है। विपरीत मिथ्यात्व वस्तु है और भाँति, मान रहे और भाँति। जीवको बताते कि यह भौतिक चीज है। चार महाभूत मिल गए—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और उनसे ये जीव उत्पन्न हो रहे अथवा आकाश मिलाकर ५ भूत बताये, इनसे जीव पैदा होता है। जीव उत्पन्न करने की बहुत बढिया कुञ्जी बता दिया इन एकान्तवादियोने। अच्छा तो प्रयोग करके कोई जरा परीक्षा तो कर लेवे। मिट्टीकी हांडीमे कढ़ी पकाई जाय तो देखो वहाँ पृथ्वी भी है, जल

उसमे भरा ही है, अग्नि नीचे जल हो रही है और वायु तो उसमे भर ही गई है, तभी तो उसपर रखा हुआ ढक्कन उछलता भगता फिरता है। जब ये चारो इकट्ठे हो गए तब तो उनकी मान्यताके अनुमार रसोईघरमे हाथी, घोड़ा, शेर, वदर, मनुष्य आदि जीवोकी उत्पत्ति हो जानी चाहिए, पर ऐसा तो नही देखा जाता। यदि ऐसा हो जाय तो फिर कोई रसोई ही न बना पायेगा, फिर तो भूखे ही मरना पडेगा। तो ये कितनी ही विपरीत बुद्धियाँ चलती है और उनका बहुत कलाके साथ समर्थन करते है। तो एक-एक मिथ्यात्वमे अनेक-अनेक भेद पड़े है। सशयमिथ्यात्वमे जीव है कि नही, जीव मूर्त है या अमूर्त, जीव ज्ञानस्वरूप है या अज्ञानस्वरूप। देखो संशय भी कितने ही प्रकारके है जिनसे दूना तिगुना एकान्त मिथ्यात्व बन रहा। सशयमे कमसे कम दो बातें तो आती है सामने और उन दो का एकान्त करें तो २ एकान्त हुए। सशय भी कई तरहके है।

वैनयिकमिथ्यात्व व अज्ञानमिथ्यात्वके रूपक—वैनयिकमिथ्यात्व—कोई निर्णय चित्त मे नही कि पूज्य किसे कहते, आदर्श किसे कहते, और उस आदर्श पदके पानेका उपाय क्या है? बस जो मिला वही देव, उसीके प्रति विनय। वैसे आजकल तो लोग इस बातकी बडी प्रशंसा करते है कि सब गुरुवोको एक मान लो और कहते कि आजका जमाना ऐसा है कि इसीमें शोभा है। जितने भी धर्म है सब सही है, सबको मानना इसीमे शोभा है। अरे यह तो आत्माके बन्धन और मोक्षके विचारकी बात चल रही है कि यह आत्मा कर्मोके बधनसे छूटे कैसे? और स्वय कर्म बधे हो, रागमे लिप्त हो, उनको देव मानना, गुरु मानना, उनसे क्या वह मार्ग मिल सकता है कि कर्मके बन्धनसे छूट जायें? इसलिए यह कोई एक जमानेके ससारो जीवोकी बात नही है। यह निर्णय होना चाहिए कि जो वीतराग हो, सर्वज्ञ हो, निर्दोष हो, ऐसा आत्मा ही मेरे लिए आदर्श है, क्योकि इसकी भक्ति होनेमे ही हमारी भलाई है। और जो ऐसा लक्ष्य रखते है, उसी मार्गमे चलते है, वे ही हमारे गुरुजन है, क्योकि ऐसे गुरुजनोंके सगसे हमको भी उस ही प्रकारका भाव बननेमे मदद मिलेगी। मुझे सर्वविकल्पोसे छूटकर एक स्वभावदृष्टिमे ही आना चाहिए। बहुत बडी समस्या यह है कि हम किसको आदर्श मानें और किसको गुरु मानें? अब सच्चे आदर्श और सच्चे गुरुके अतिरिक्त जगतमे कितना माया प्रपच है जिसको कि ऐसे लोग सेवा करके धर्म मानते है। पीपल पूजें, बड़ पूजें, पत्थर पूजें, रेत पूजें, आग पूजे, फल पूजें, करवा पूजे, कलश पूजे···यो आप हैरान हो जायेंगे बता-बताकर किस देशमे कैसा कौन क्या-क्या मानता है? तो वैनयिक मिथ्यात्वके भी नाना प्रकार है और अज्ञानमिथ्यात्व—कुछ पता ही नही, विवेक हो नही। सो देखो सभी मिथ्यात्वोका सस्कार सब मिथ्यादृष्टि जीवोमे है। तो मिथ्यात्व एक प्रकारका नही, वह नाना रूपोमे है, उन सबमे मिथ्यापन पाया जाता है। इस प्रकरणसे हम क्या शिक्षा लेते जायें कि प्रमादमे न रहे

और मिथ्याभावोको निहार-निहारकर उसका छेदन कर लें। जैसे कपास धुनने वाला धुनिया अपने पीजनासे कपासके छोटे-छोटे हिस्सोंको ढूढ-ढूढकर उसको धुनता जाता है। एक किलो रुईको कोई वह दो तीन-चार घटे तक धुनता रहता है, तो ऐसे धुनियाकी तरह अपनेमे इन मिथ्या भावोको निहार-निहारकर उन्हे ज्ञानबलसे धुन लेना चाहिए और धुन-धुनकर साफ कर देना चाहिए। जरासा कोई धार्मिक क्रिया कर ली और उसीमे ही सतोष मान लिया कि मैने तो सब कुछ कर लिया, सब कुछ पा लिया, यह ही मात्र कार्यकारी नही है।

अथवा शक्तितोऽनन्तो मिथ्याभावो निसर्गतः।
यस्मादेकैकमालाप प्रत्यनन्ताश्च शक्तय. ॥१०४२॥

मिथ्यात्वके भेद प्रभेद प्रकारोंकी बहुलता—मिथ्यात्वभावके प्रकार, भेद प्रभेद बताये जा रहे है। अनुभागकी अपेक्षा, जातिकी अपेक्षा, भागोकी अपेक्षा ये मिथ्याभाव असख्यात तरहके है और शक्तिकी अपेक्षा देखे तो ये अनन्त तरहके है। मिथ्यात्व कर्म जो बना हुआ है वह अनन्त वर्गणाओका पिण्ड है। वर्गणा मायने कर्म जातिके परमाणुवोंका समूह और एक-एक वर्गणामे अनन्त परमाणु है और उन वर्गणावोके वर्गमे अनन्त शक्तियाँ है। एक मिथ्यात्व का कोईसा भी विभाग लो, उसमे अनन्त शक्तियाँ पायी जाती है। तो ऐसी अनन्त शक्तियो वाला, अनन्त विभाग वाला यह मिथ्यादर्शन इस जीवपर कैसा छाया है, कैसा सता रहा है कि इस जीवको जरा भी चैन नही मिलती।

मिथ्यात्ववश लोगोकी हास्यास्पद विडम्बनायें—कभी-कभी भेदविज्ञानकी बडी-बड़ी बातें करेगे, समझायेगे, सब भिन्न है, आत्मा जुदा है, कर्म जुदे है, किसीसे कुछ मतलब नही, और मतलब यह रख रहा है। लो मैं कह रहा हूँ, उसी मतलबमे ही मिथ्यात्व आ गया। "यह मैं कह रहा हू" देहमे आत्मबुद्धि है, और आगे बढ़ो—इसको मै बताऊँगा, मै अच्छा कर रहा हू—यो उसे अपनी क्रियापर अभिमान तो है। बडी-बडी चर्चायें कर रहे है, मगर उन चर्चावोकी करतूतपर भीतरमे अभिमान तो छिपा हुआ है। मिथ्यात्व गया कहाँ ? अपने पर दया आयी हो तो ऐसे मिथ्याभावको अपनेमे ढूढ-ढूढकर उनको धुन देना चाहिए और मिथ्यात्वरहित शुद्ध परिणाममे आना चाहिए। जो कह रहा हूं यह ही तो मै हू। लो कितनी अच्छी बात बोल गए। यह भाव आश्रयमे है तो मिथ्या भाव आ गया। मिथ्या आशयको ढूँढो तो सही, यह किन-किन रूपोमे छिपा हुआ है ? दूसरोको जतानेका जहाँ रच भी सम्बध है—इसको मैं बताऊँ, जताऊँ, इनको मै समझाऊँ ताकि ये समझ जाये कि यह बड़े अच्छे धर्मात्मा पुरुष है, मै कितना ज्ञानी हू, कितना अनुभवमे आता हू, इस तरहकी बात ये मेरे बारेमे जान जायें, इतना उसके मनमें लगार है, तो मिथ्याभाव आ गया। भगवानके आगे भक्ति कर रहे, मानो दर्शक भी आये, उनको देख लिया और पूजामे मन्न लग रहा, उपयोग

वहाँ आ गया—मै इनके बीच पूजा कर रहा हू, ये मुझे देख रहे पूजा करते हुए, अहो मिथ्या भाव आ गया। मानो पूजा करने वाले ही १०-५ लोग खडे है, कोई दर्शक वहाँ नही आया तो उनमे ही परस्परमे चित्तमे यह बात बनी है कि मै इससे अच्छा बोल रहा—लो वहाँ मिथ्याभाव आ गया। कहाँ तक कहे इस मिथ्याभावके प्रति ? मानो कोई मुनि बड़ा तपश्चरण कर रहा, उसपर कोई उपद्रव आ रहा, उसे भी वह समतासे सह रहा, उपद्रव करने वालेको वह शत्रु नही समझ रहा, उसपर नाराज नही हो रहा, मगर भीतरमे यदि यह भाव आ गया कि मैं मुनि हू, मुझे क्रोध न करना चाहिए, लो वहाँ भी मिथ्याभाव आ गया। आप सोचते होगे कि इसमे मिथ्याभावकी क्या बात ? मुनियोको तो ऐसा सोचना ही चाहिए। पर नही, यह तो बध मोक्षकी बात कही जा रही है। उसने जहाँ माना कि मैं मुनि हू तो यह तो पर्यायबुद्धि हो गई। जो गृहस्थ पर्याय है, मुनि पर्याय है उसमे मान लिया कि मै मुनि हू, गृहस्थ हू, यह मिथ्याभाव है। अरे उस पर्यायरूप मै नही, मैं तो ज्ञान दर्शनस्वरूप चैतन्य प्रतिभासमात्र अमूर्त हू। कैसा अमूर्त हू, जिसकी उपमा देनेको जगतमे कुछ चीज नही है। यह आत्मा तो स्वानुभवगम्य है। उस अतस्तत्त्वमे अपने आत्माकी प्रतीति न रखे, बाकी अन्य-अन्य भावोमे अपनी प्रतीति रखें तो मिथ्यात्व है। अज्ञानी पुरुष, मिथ्यादृष्टि मनुष्य धर्मकी बडी चर्चायें करते हुएमे क्या तिलमिला जाते ? क्यो कहा मानते, क्यो क्रोध करते, क्यो नाराज होते ? यो कि वे मिथ्यादृष्टि अपनी आदत (कुटेब) नही छोड रहे। वह आदत है पर्यायमे आत्मबुद्धि करना। मिथ्यात्वका बडा व्यापक स्वरूप है, जो उसका जानन चल रहा, क्रिया चल रही, प्रवृत्ति चल रही, उसीमे आत्माका निकास बना है यह मै ही तो कर रहा, मैं ही तो विचार रहा, ये लोग मेरी बात क्यो नही मानते ? यो बातमे आत्मीयता, वचनोमे आत्मीयता, क्रियामे आत्मीयता चल रही है। तो जहा पर्यायमे आत्मबुद्धि है वहा मिथ्यात्व है।

मिथ्यात्वकी उद्धतता—यह मिथ्यात्व जहा है वहा ही कर्मबध है। कही भेष धारण करनेसे मिथ्यात्व डर कर नही भागता कि मैंने कोई धर्मात्माका भेष रख लिया, मुनिका भेष रख लिया, और और बातें कर लिया तो मिथ्यात्व भाग जायगा। अरे मिथ्यात्वको तो आलम्बन चाहिए, होकर रहता है, जो अपना भेष बनायेगा उसको वह मिथ्यात्व सतायेगा। मिथ्यात्वकी गिजा सब जगह भरी पडी हुई है। उस मिथ्यात्वको भूखो मरनेका कहा अवकाश है ? उसका तो सर्वजंतुवोपर राज्य है। तो इसके तो बस कोई भी पर्याय हो, जहा उसमे आत्मत्व स्वीकार हुआ, मै यह हू तो मिथ्यात्व बन गया। कितना प्रसार है इस मिथ्यात्वका ? कितने भेद प्रभेद है इस मिथ्यात्वके ? अनन्त शक्तिया है मिथ्यात्वकी, जिन शक्तियोके वश हुआ यह सारा ससार दुःखमय है। किसीको अवकाश क्लेश है तो किसीको

प्रकट क्लेश है । ऐसे क्लेशभूत मिथ्यात्वसे हटनेका उपाय इस जीवनमें बनाना अति आव-श्यक है । इस उपायको बनानेके लिए कुछ ध्यान दें, कुछ समय दें, कुछ उपयोग दें, साहस बढावें, सत्सग करें और इस बाह्य धन वैभव सम्पदासे उपेक्षा रखें तो वह उपाय अवश्य मिल जायगा जिससे ससारके समस्त सकटोसे छुटकारा प्राप्त हो जायगा ।

जघन्यमध्यमोत्कृष्टभावैर्वापरिणामिनः ।
शक्तिभेदात्क्षणं यावदुन्मज्जन्ति पुनः पृथक् ॥१०४३॥
कारु कारु स्वकार्यत्वाद्बन्धकार्यं पुन· क्षणात् ।
निमज्जन्ति पुनश्चान्ये प्रोन्मज्जन्ति यथोदयात् ॥१०४४॥

मिथ्यात्वकी महावैरिता—प्रकरण यह बताया जा रहा है कि इस मिथ्यात्व महाराज का जगतके सारे जीवोपर कैसा महान् साम्राज्य छाया है ? यह ससारियोमे प्रत्येक जीवोमें यह मिथ्यात्व बसा है किन-किन जातियोका किस किस प्रकारका ? एककी दूसरेसे विलक्ष-णता है फिर भी मिथ्याभावकी, कर्मकी जितनी शक्तियां है वे प्रतिक्षण परिणमनशील है, उदयमे आती है, बदलती है, नाना परिणमन करती है और जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट भावके रूपमे प्रकट होती है । इतने शक्ति भेद है । कैसा एक कीचड़ भरा पोखरा जहां इतनी गद-गिया कहा कहां, कैसे कैसे महती बिदुवोके रूपमे तरंग भवर उठती है, यह सब कलुपता मिथ्यात्वभावकी ही तो है । इस जीवका सबसे बडा बैरी कौन ? मिथ्यात्व । सबसे बडा उपद्रव क्या ? मिथ्यात्व । आश्चर्य है कि जो सबसे महान् उपद्रव है, उसके दूर करनेकी तो बात मनमे ही नही आती और जो कुछ उपद्रव ही नहीं, कुछ कष्ट ही नही, बाहरी बातें है, पौद्गलिक ठाठ है, कुछ आया तो क्या, गया तो क्या, रहा तो क्या, उनमे यह सारा उपयोग लग रहा है, इसका विग्रह करना, इसका अनुग्रह करना । इस जीवका महान् बैरी है मोह-भाव, मिथ्यात्वभाव, जिसने कि दुविधा डाल दी है । यह मेरा है, यह गैर । आज जिन बच्चो को आप गैर मानते वे हा बच्चे अगर आपके घरमे आये होते तो आप उनसे मोह करते और जा जीव आपके घरमे आये है, वे किसी दूसरी जगह आये होते तो आप उन्हे गैर मानते । तो यह जीव वसूलेकी तरह अपनी कल्पनायें ही तो बना रहा है । कुछ रास्ता तो नही है कि यह मेरा है, यह दूसरा । जीव—जीव तो स्वरूपत. सब एक समान है । सो यह मिथ्यात्व-भाव कैसे-कैसे उठ रहा है, इससे ये जगतके जीव क्लेश पाते है, यह उठता है और अपनी कल्पना करके यह व्यर्थ भी अपना कार्य करके शीघ्र शान्त हो जाता है । उनका कार्य क्या ? बन्धन । जैसे कोई मनुष्य इतना कषायवान है कि दूसरेपर कभी विरोध आता है तो वह मनुष्य यह कहकर मरता है कि अभी क्या हुआ, मै मरकर अगले भवमें भी इसे सताऊंगा, याने ये कर्म भी उदयमे आकर मरत हा ता ह । उदय कहते इसको ह कि कर्ममे जो अनुभाग

आया है, प्रकृति पडी है वह सब नष्ट हो रही है अन्तिम समयमे कर्ममे से, यह उदय है, तो मानो ये कर्म कह रहे है कि इतनेमे ही क्या हुआ, हम तो और कर्म बँधाकर मर रहे है। जैसे कोई मरता हुआ पुरुष दूसरेको तैयार करके मरे कि अब तुम बदला इसका लेना, ऐसे ही ये कर्म उदयमे आ रहे, मगर मानो नवीन कर्मोको उत्पन्न करते हुए ये मिट रहे। नवीन कर्म-बन्ध होता रहता है, पिछले कर्म शान्त होते रहते है और उनके दूर होते ही दूसरी शक्तिया अपने उदयके अनुसार फिर प्रकट हो जाती है। इन शक्तियोका कार्य है जीवको बधनमे रखना।

मोहकी उन्मत्तता— लोग कैसी पागलोकी भाँति चेष्टा कर रहे है ? इसको अन्य लोग क्यो नही समझते कि सब पागल है ? अगर १०० पागल बैठे हो तो कोई पागल किसीको पागल मान बैठता है क्या ? जो पागल न हो वह ही तो समझेगा। पागल तो पागलोको पागल नही मानता, ऐसे ही मोहमें उन्मत्त हुए अपने बुद्धि विवेकको खो रहे ये ससारी प्राणी सभीको ही एक सच्चा समझ रहे, ये ठीक कर रहे, आगे-आगे होड़ मचा रहे, यह पागल-पन नही है क्या ? वस्तु तो है और तरह और यह मानना है और तरह, यह पागलपन हो तो है। लोकमे भी तो यह देखा जा रहा है कि वस्तु है और भाँति, मानते है और भाँति सो कह देते—यह पागल। यहाँ जीव-जीव सब एक समान है, उनमे कौन अपना कौन पराया ? पर भीतरमे यह बुद्धि बन जाय कि ये तो मेरे हैं, ये गैर हैं, यह पागलपन है या नही ? मकान, वैभव वगैरा ये साथ लाये क्या ? साथ जायेगे क्या ? इनसे कुछ मतलब है क्या ? यह ज्ञानदर्शनात्मक आत्मा, इसका इस वैभवसे क्या मेलजोल ? लेकिन यह मान रहा कि यह मेरा है, यह अच्छा है, तो यह पागलपन है या नही ? तो मिथ्यात्वसे उन्मत होकर यह जीव कैसी-कैसी विडम्बना बना लेते है। इसका निमित्त कारण क्या है ? कर्मोदय। यह कर्मोदय जघन्य अनुभाग, उत्कृष्ट अनुभाग, उत्कृष्ट अनुभाग, जिस शक्तिको लेकर फल रूपमे सामने आता है उसी रूपसे अपना फल निकालता है और उसका प्रतिफलन पाकर जीव उसी प्रकारको विडम्बना बना लेता है ? इतना ही नही, फल किया और अनत कर्मोका बध करा-कर नष्ट हुए। तो यह परम्परा चलती रहती है। उदय आया, बन्धन हुआ, उदय आयगा, बन्धन होगा। समारमे यह जीव परिभ्रमण करता है। यह परम्परा कब मिटेगी ? जब कभी सुयोगवश कोई अच्छा उपदेश सुननेको मिला, उसमे अपना मन लगाया, तत्त्वको समझा, भेदविज्ञानकी बात चित्तमे आयी तो उन अनन्तानुबधी कषायोमे कुछ फर्क तो आयगा, इसका भाव बढेगा, कषायें क्षीण होगी, इसे सम्यक्त्व होता। सम्यक्त्व हुए बाद फिर इन सब बातो को समझ रहा कि ये सब जीव मोहमे उन्मत्त है।

बुद्धिपूर्वकमिथ्यात्व लक्षणाल्लक्षित यथा ।
जीवादीनामश्रद्धान श्रद्धान वा विपर्ययात् ।।१०४५।।

बुद्धिपूर्वक मिथ्यात्वमें जीवादितत्त्वोंकी अश्रद्धा व विपरीत श्रद्धा—बताया गया था कि मिथ्यात्वसे ग्रस्त सारा जीवलोक है । पर किन्हीमे वह मिथ्यात्व बुद्धिपूर्वक प्रकट है और किसीमें प्रकट नही है । उस बुद्धिपूर्वक मिथ्यात्वका क्या मतलब है ? उसका विवरण इस श्लोक मे दिया जा रहा है । जीवादिक पदार्थोका श्रद्धान न करना, जीवादिक तत्त्वोका उल्टा श्रद्धान करना यह है बुद्धिपूर्वक मिथ्यात्व । बताओ यह बात सब जीवोमे कहाँ देखनेको मिल रही ? जो थोडा बहुत समझदार है, संज्ञी है, कुछ बोल-चाल जानते है तो समझमे आता । जीवादिक ९ तत्त्वोका सही रूपमे श्रद्धान न होना, उसके उल्टे रूपमे श्रद्धान होना यह सब बुद्धिपूर्वक मिथ्यात्व है । कोई लोग मानते है कि जीव कुछ नही है, बस पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु आदिक मिलकर बन गए । शरीर तो उनका जो मिलाप है उसीका नाम जीव है, पर जब मिट्टी, जल वगैरा विघट जाते है, मिट्टीमे मिट्टी, पानीमे पानी, जब ये विघट जाते है तो ये जीव नही रहते । बस जीवका कोई स्वरूप नही । जीव तो एक मान लेने भरकी बात है । इस बारेमें अगर बहुत व्याख्यान दिया जाय, कहा जाय उनकी ओरसे तो ऐसा लगने लगेगा कि यह सब सच है । मगर तत्त्वस्वरूपसे देखो तो जो सत् है वह कभी मिट सकता है क्या ? पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश ये पाँचो ही अचेतन है । अचेतन कितने ही मिल जाये उनके चैतन्य प्रकट हो सकता है क्या ? मगर चूकि पर्यायमे मौजकी बात मनमे आ रही, खूब खाया, खूब विषय सेये, जो कुछ समझ रखा है उसी रूप रहना चाहते तो श्रद्धा वैसी ही होती है । जब जीवके बारेमे सही श्रद्धा नही बनती तो जीवको समझें क्या ? जहाँ जीव अजीव न रहे तो आस्रव बध किसका ? सम्वर, निर्जरा किसकी ? मोक्ष भी कौन पहुचे ? बुद्धिपूर्वक जहाँ मिथ्यात्व है वहाँ कष्ट है, शान्तिका मार्ग वहाँ नही मिल सकता । तो बुद्धिपूर्वक मिथ्यात्वमे कैसी-कैसी विडम्बनाये जगती है जीवको, उनका कुछ वर्णन करते है ।

सूक्ष्मान्तरितदूरार्थाः प्रागेवात्रापि दर्शितः ।
नित्यं जिनोदितैर्वाक्यैर्ज्ञातु शक्या न चान्यथा ।।१०४६।।
दर्शितेष्वपि तुष्टुच्चैर्जैनैः स्याद्वादिभिः स्फुटम् ।
न स्वीकरोति तानेव मिथ्याकर्मोदयादपि ।।१०४७।।

आगमवर्णित परोक्षभूत पदार्थोंमे मिथ्यादृष्टिका निषेधाशय—शास्त्रोमे प्रथमानुयोगमें पुराणपुरुषोके चरित्र है । राम, कृष्ण, भगवान तीर्थंकर सभीके उसमे चरित्र आये । ग्रन्थोमे, शास्त्रोमे सूक्ष्मसे सूक्ष्म चीजें बतायी गई । प्रमाण क्या है, कितने प्रदेश है, कैसा स्वरूप है ? दूर दूरकी चीजें भी बतायी गई है । कितने द्वीप समुद्र है, कैसे स्वर्ग है, कहाँ मेरु

आदिक है, मगर ये मिथ्यादृष्टि जीव उनका श्रद्धान नहीं कर सकते। उसे यह ज्ञान ही नही, उसकी श्रद्धामे ही नही कि ये सब चीजें सूक्ष्म वस्तु, दूरकी वस्तु, ये सब किसीके प्रत्यक्ष हो चुकी है और जिनके प्रत्यक्ष हुई है उनकी दिव्यध्वनिमे सब आया है। जिनेन्द्रदेवके वाक्य उनसे जान, वे अन्यथा नही है, सही है। देखो जिस पुरुषके प्रति आपको यह श्रद्धा हो गई कि यह पुरुष निष्पक्ष है, इसको किसीसे रागद्वेष नही है तो यह जब जब जो जो कुछ भी बात बोलता है तो सही बोलता है, ऐसी कई बातें आपकी ये परिचयमे आयी है ऐसा पुरुष यदि कोई ऐसी भी बात कहे कि जो आपके परिचयमे दूर है तो भी आप उसे नि.शक मानेंगे। इसका कहा हुआ है, झूठ कैसे हो सकता? ऐसे ही जिनेन्द्र वीतराग सर्वज्ञ रागद्वेष रहित समस्त लोकालोकके जाननहार उन्होने जो-जो बात प्रकाशित की है युक्तिमे उतरने वाली जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा, मोक्ष उन तत्त्वोका स्वरूप, आत्माका स्वरूप अनुभवका स्वरूप जो-जो भी बताया है वह सब युक्तिमे सही उतरे, इतना मनने उन्हे स्वीकार कर लिया, ऐसा वीतराग सर्वज्ञ निर्दोष भगवानकी ध्वनिमे परोक्षकी बात नरक, स्वर्गके मेरु द्वीप समुद्र, जिसे हम जाकर देख नही सकते। अतीत कालकी बात, भविष्यकाल की बात, जो जो कुछ भी कहा गया उनको हम प्रत्यक्ष तो नही कर सकते। तो वह भी सही है ऐसा ज्ञानीके निर्णय रहता है, क्योकि बडे कामकी प्रयोजनभूत बातें जब युक्तिसे उतर चुकी और हम मान सकें कि इन सब जीवादिक तत्त्वोका विरूपण बिल्कुल सही है, झूठका रच काम नही है, तो ऐसे ये निर्दोष भगवान द्वीप समुद्र आदिक या भूत भविष्यकी घटना, इनका प्रकाशित करना तो झूठ कैसे हो सकता, किन्तु अज्ञान, ममता, मोह इतना स्वच्छन्द है कि कहते है कि सब एकदम झूठ। हमे आँखो दिखावो। उनसे कहो कि तुम्हारे बाबा दादा और उनके पडबाबा वे थे कि नही? वहाँ तो कहेगे कि थे। पर वह कहता कि हम नही मानते, हमे आँखो दिखावो तो मान लें। तो जैसे आखो नही दिख रहे वे बाबा पड बाबा, परन्तु इनमे तो कोई सदेह नही करता। तो यह कोई बात नही है कि जो आँखो न दिखे वह है ही नही।

आगमवर्णित चरित्रादिसे तत्त्वपथका श्रद्धान—शास्त्रोने भगवानकी दिव्यध्वनिसे चला आया, शास्त्रोमे मोक्षगामी जीवोके चरित्र लिखे, किन्तु मिथ्यादृष्टियो मिथ्या समझ कर सभी शास्त्रोको तालाबोमे फेंक दिया। जैसे लोगोने उपन्यास गढ़ दिया, उल्टी सीधी बातें लिख दी, उसी तरहका विश्वास ये मोहीजन इन शास्त्रोके प्रति करते है। उनके चित्तमे वीतराग सर्वज्ञदेवका कुछ आदर ही नही है। तो जब तक मिथ्यात्वका उदय है, तब तक इस जीवको कल्याणका प्रारम्भ ही नही होता। जहाँ यह मोहविष दूर हुआ, अपने आत्मामे तो सहजस्वरूपकी जानकारी हुई, अनुभूति हुई वहाँ तो इसे इस सारी दुनियाका सही स्वरूप

चित्तमे आता है। इस दुनियासे हटना है, इससे हटना ही योग्य है, यह लगनेके लिए नही है। इससे एक ही निर्णय होता ज्ञानीके। हटना तो सदा बन जायगा, लगना सदा नही बन सकता। हटनेमे तो आनन्द है, लगनेमे शान्ति नही है। तो मिथ्यात्वके उदयमे इसे न देवकी श्रद्धा है, न शास्त्रकी श्रद्धा है और न गुरुकी श्रद्धा है। इसके चित्तमे ही नही आता कि ऐसे निर्दोष आत्महितके अभिलापी आचार्य क्या कही झूठ बात भी लिखते? उनके स्वरूपपर श्रद्धा नही पहुची। एक बात यह भी जाने। कोई ऐसा कहे कि क्या हर्ज है? उपन्यास ही सही, उपन्याससे भी तो शिक्षा मिलती है कि ऐसे पुराण पुरुषोके चरित्र रहे। ठीक है, पर बात यह है कि अस्थायी, थोडो देरको मन खुश होने वाली शिक्षा मिल जाय उपन्यासोसे मगर तत्वपथका निश्चयविधिका ज्ञान कभी नही हो सकता उपन्यासोसे, और पुराण पुरुषोके चरित्र पढे तो शिक्षा भी मिलती है और निश्चयनयका ज्ञान भी होना है। उन्होने क्या सोचा, क्या आराधना की, कहाँ चित्त जमायें, यह सब वर्णन आता है सही-सही निश्चयपथमे। तो शास्त्रो मे जो कुछ लिखा है उससे तो पथ भी मिलता है शिक्षा भी मिलती है। जो सही-सही बात है वहीसे सही पथ मिलता है।

पुराणपुरुषोंके चरित्रसे हितप्रेरणा—रावणने जब बलिपर उपद्रव करना चाहा, बलि कैलाश पर्वतपर तपस्या कर रहे थे उस पर्वतको फेंकना चाहा, पर उठा न सका, दब गया तो रोपमे आकर बोला कि यहाँ कौन दुष्ट बैठा है जिसने हमें तकलीफ दी? सो देखा मुनि श्री बलि महाराज दिखे। देखते ही रावणकी कषाय शान्त हो गई, भक्ति उमड गई, आखिर उनके भीतरका स्वरूप ज्ञानमे आया न? उस समय इतनी उमग हुई कि वही स्तुति गाने लगे। सगीतके जानकार थे रावण। सगीत साज तो कोई साथ था नही, तो हाथके पहुचेकी नसा निकालकर उसीको बजाने लगे। एक कितनी अद्भुत भक्ति थी? बताया है कि वहाँ तीर्थंकर प्रकृतिके बधके कारणोकी प्रक्रिया चली। ऐसी एक घटना है। रामचन्द्र जब निर्ग्रन्थ मुनिराज हुए तो वहाँ सीताके जीव प्रतीन्द्रने सोचा कि ये हमसे पहले मुक्त क्यो हो, इन्हे विचलित करे, थोडे दिन और ससारमे रहे, बादमे हम और वह दोनो एक साथ मोक्ष जायेगे। सो वहा आकर उस सीताके जीवने विघ्न डाला। जहाँ श्रीराम तपस्या कर रहे थे वहा सीताने आकर नाना रूप दिखाये—रावण सीताके केश खीच रहा है, सीता हाय राम, हाय राम कहकर पुकार रही है, यह दृश्य इसलिए दिखाया कि श्रीराम अपनी तपस्यामे विचलित हो जायें, पर वहा क्या था? वहा तो अपने आत्माके स्वरूपका यथार्थ रमण जग गया था। वह अपने आत्मस्वरूपमे लवलीन थे, रंच भी विचलित न हुए। इस दृश्यमे शिक्षा आत्महितप्रेरणा बडी दृढता से घर कर जाती।। अजन चोर जैसे पापी पुरुष जो कि वेश्यागामी था, चोर भी था, चोरी करके भागा, उसके पीछे कोतवाल भागा। कुछ दूर जाकर एक मुनिराज दिखे। अजन चोरने

मुनिराजके सामने हार फेंक दिया इसलिए कि चोर मुनिराज समझे जायें, मैं न समझा जाऊँ। आखिर कोतवालने चोरीका हार मुनिराजके पास देखा, मुनिराजपर क्रोध करके तलवार चलाया, पर वह तलवार फूल बन गई। अजन चोर आगे बढ गया, एक जगह क्या देखा कि कोई सेठ आकाशगामी विद्या सिद्ध कर रहा था, एक पेडपर लटके झूलेपर बैठा था। नीचे बडे बडे शस्त्र रखे थे। वह नमस्कार मत्र पढकर सींक तोडकर आकाशगामी विद्या सिद्ध कर रहा था। वहाँ अजन चोर पहुचा। बोला—महाराज यह साधना हमे भी बताओ। आखिर उस सेठने उस अजन चोरको णमोकार मत्र सिखाया। उसने मत्रकी आराधना की और अजन चोर को आकाशगामिनी विद्या सिद्ध हुई, तो इन दृष्टान्तोसे हम अपने अन्दर एक ऐसी प्रेरणा लायें कि जिससे हम आत्मस्वरूपकी दृष्टि करे और भव-भवके बाँधे हुए कर्मबन्धनको क्षणभर मे ध्वस्त करे।

मिथ्यात्वकी व्यक्त नाना मुद्राओमे अज्ञानीकी दुस्सह चोटें—जिनेन्द्रदेवके परम्परागत शास्त्रोमे जो कुछ भी वर्णन आया है उसपर यथार्थ श्रद्धान करें, उसके अनुसार अपने जीवन मे चले तो इससे आत्मदृष्टि करनेके लिए एक बहुत बडा बल मिलेगा। यहाँ कुछ जरासा धार्मिक काम कर लिया तो उससे सतुष्ट न हो जावें। मान लो कोई व्रत कर लिया, उपवास कर लिया तो इससे कही धर्मात्मा नही बन गए। देखो उपवास करनेका अर्थ है—अपने आत्माके समीप ठहरना, पर देखा क्या जाता है कि उपवास करने वाले लोगोको गुस्सा बहुत आता है। तो वहाँ उपवास रहा कहाँ ? उसने यह जाना ही नही कि यह ज्ञानस्वरूप आत्मा इन कषायोसे भिन्न है। इसका केवल जानन ही कर्तव्य है। जाननके सिवाय यह कुछ नही करता। जानने जाननेकी ही वृत्ति इसमे बनती रहती है। यह जाना ही कहाँ है और लोक-व्यवहारमे चूकि मान्यता बढती है, लोग समझते है कि यह बडे धर्मात्मा है, ऐसी समझ है अन्यथा दसलक्षणमे तो १०–१० उपवास तक कर डालते, परन्तु बाकी समयमे याने बाकी सालभर उसकी सुध भी नही रखते। तो ऐसी विषम वृत्ति तो अज्ञानमे हुआ करती है। पर्यायमे आत्मबुद्धि है इस कारणसे जब अपनी इच्छाके खिलाफ कोई प्रवृत्ति देख ली जाती है तो वहाँ क्रोध जग जाता है। यहाँ मिथ्यात्वकी चर्चा चल रही है कि यह मिथ्यात्व किन-किन भेषोंमे अपना अड्डा जमाये हुए है ? बुद्धिपूर्वक मिथ्यात्व तो यह है कि इसको देव, शास्त्र, गुरुकी समीचीन श्रद्धा नही हो पायी। परोक्ष पदार्थोंमे तो अपनी दृष्टि जाती नही, इन्द्रियका वहाँ कुछ काम नही और भगवानके उस वीतराग सर्वज्ञके स्वरूपकी श्रद्धा नही, उनकी परमऋद्धिके चमत्कारका भान नही तब फिर क्या करेगा यह अज्ञानी ? यह ही तो अपनी बुद्धि रखेगा कि जो हमे आँखोसे दिखे वह तो सच और जो आँखो न दिखे वह मेरे लिए कुछ नही। अरे आँखो दिखे वह भी तो झूठ निकलता। लौकिक दृष्टिमे भी झूठ निक-

ला। देखें आप कुछ और, बात हो और कुछ, ऐसा भी तो होता है। आँखो देखा भी सच कहाँ, मगर यह अज्ञानी, बस जो आँखो दिखा वह तो सच समझना और जो आँखो नही दिखता, जो परोक्ष है उसपर श्रद्धा नही करता। ऐसा विपरीत भाव इस मिथ्यात्वकर्मके उदय से बनता है।

ज्ञानानन्दौ यथा स्याता मुक्तात्मनो यदन्वयात्।
विनाऽप्यक्षशरीरेभ्यः प्रोक्तमस्त्यस्ति वा न वा ॥१०४८॥

मिथ्यादृष्टि जीवको मुक्त जीवके ज्ञान और आनन्दमे संदेह—जिस जीवके मिथ्याभाव छाया है उसकी चर्चा चल रही है कि उसके भाव किस-किस प्रकारके रहते हैं, मिथ्याभाव किस-किस प्रकारके रहते है? मिथ्यादृष्टिको, अज्ञानीको जिसने अपने स्वरूपका परिचय नही पाया, ऐसे मोही पुरुषको इस बातमे ऐसी शका रहती है कि कही सिद्ध प्रभुको ज्ञान और आनन्द भी है क्या? मोही अपनी इन्द्रियसे ज्ञान पा रहा है तो ज्ञानमे इन्द्रिय सहायक है, निमित्त कारण है, आलम्बन है और सुखमे भी यह जीव जान रहा है। इसी कारण इन्द्रियज ज्ञान और इन्द्रियज सुख बताया है। तो इन्द्रियज ज्ञान और इन्द्रियज सुख भोगने वाले इस व्यामोही जीवको इसमे शक रहता है कि जिसके इन्द्रियाँ नही उसे सुख कहाँसे होगा, ज्ञान कहाँसे होगा? मुक्त जीवोका वर्णन सुनते है कि उनके शरीर भी नही रहा, कर्म भी नही रहा, खालिस आत्मा ही आत्मा रहा, उसे मुक्त जीव कहते है, ऐसा सुनकर इनको शक होता है कि कही ऐसे जीवोको भी ज्ञान मिल सकता? इन्द्रिय ही नही तो मुक्त भगवान ज्ञान किस बातसे करें? इन्द्रिय ही नही तो उनको सुख किस बातका है? यहाँ तो स्पर्शनका सुख, रसनाका सुख भोगते। मुक्त जीवोको कहाँ ये सुख धरे? उनके जीभ ही नही है तो खानका आनन्द कहाँ रखा? यहाँके लोग घ्राणेन्द्रियसे कैसे कैसे सुगधित पुष्प या तैल सूघा करते है, वहाँ घ्राणेन्द्रिय नही है तो सुगधका आनन्द भी नही है, रूप देखनेका भी वहा आनन्द नही है, क्योकि उनके आखे नही है। खाली आत्मा ही आत्मा क्या करेगा? जब रूप नही देख पाते, पिक्चर नही देख पाते तो उनको आनन्द किस बातका? उनके कान ही नही है तो सुननेकी बात वे क्या करेंगे? जो मौज यहां बडी-बडी रागरागिनीकी ध्वनिया सुनकर मिलता है वह मौज कहा रखा भगवानमे? यो भगवानके ज्ञान और आनन्दमे ये मोही जन इस प्रकार की शंका रखते है। जब कोई शास्त्र बाचते कि मुक्त आत्मा सबसे महान् आनन्द वाले है, अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तआनन्द, अनन्तशक्ति वाले है तो ऐसा बाचकर वे समझते कि यह तो सब गप्प है, मौज वाले तो हम है। देहरहित मुक्त आत्माओको इस तरहका मौज कहां रखा, ऐसा संदेह ये मोही अज्ञानी जन करते है। मोहियोको यह पता नही कि ज्ञान और आनन्द तो इस आत्माका स्वरूप है, ज्ञान और आनन्दमे ही यह आत्मा रचा है। यह आत्मा

ज्ञानानन्दका पुञ्ज एक अमृततत्त्व है, उसको ज्ञान करनेके लिए इन्द्रियकी आवश्यकता नहीं होती।

शरीर, इन्द्रिय व कर्मोंकी ज्ञानानन्दप्रकर्षमें बाधकता—यहां तो हम संसारी जीवोंको जो इन्द्रियां मिली है वे तो ज्ञानमें बाधक हैं। जैसे किसी कमरेमें, हॉलमें कोई पुरुष खड़ा है तो अब वह खिड़कियोंमें ही बाहरमें देख सकता कि कहां क्या हो रहा है? वहां कोई यह भी सोच सकता कि देखो इन खिड़कियोंसे देखना हो रहा, बाहरमें होने वाले दृश्योंको ये इन्द्रियां देख रही, क्योंकि हॉलमें से खिड़कियोंके सिवाय और कुछ जाननेका उपाय नहीं है। उसे यह पता नहीं है कि ये खिड़कियां तो हमारी सब तरहसे देखनेमें बाधक हैं। न होता यह हॉल, भीत, घर, क्योंकि भीतके बिना खिड़कियां नहीं होती, तो फिर यह चारों तरफके दृश्योंको देखता रहता। उसको तो कोई भूल जाय और यह माने कि यह तो इन खिड़कियोंकी बड़ी कृपा है जो बाहरकी बात देख पा रहे हैं तो उसमें अपने आपके सामर्थ्यका विश्वास तो नहीं किया कि मैं सब तरफसे देख सकने वाला हूं, ऐसे ही इस मोही अज्ञानी जीवने अपनी आत्मशक्तिपर विश्वास तो नहीं किया कि इस आत्मामें तो सर्व ओरसे सर्व कुछ जाननेका स्वभाव पड़ा है। यह इन्द्रियोंसे नहीं देखता। शरीरइन्द्रिय या कहो इस आवरणने इस ज्ञानको ढक लिया तो थोड़ीसी खिड़कियां नाक, आंख, कान वगैरा मिले हैं जिनके द्वारा यह जानता है, अरे जहाँ ये इन्द्रियां नहीं, खालिस आत्मा है, वह ज्ञानस्वरूप आत्मा पूरा ज्योंका त्यों स्वभाव में प्रकट हुआ, अब वह चारों ओरका सब कुछ जानेगा। भगवान मुक्त जीव सब तरहसे मुक्त हैं तो वे सर्व ओरसे त्रिकालवर्ती, त्रिलोकवर्ती समस्त पदार्थोंको जानते हैं। यही बात आनन्द की है। यही मोही जीव समझते है कि हमको इन्द्रियां मिली है उनसे आनन्द मिल रहा। अरे आनन्द तो आत्माका स्वरूप है, सहज आनन्द, सत्य आनन्द, निराकुल अवस्था। यह तो आत्माके स्वरूपकी बात है। केवल चेतनेमें प्रतिभासमें वह निराकुलता बराबर चल रही है। तो सानन्द तो आत्माका स्वरूप है, इस शरीरने तो उस आत्मामें बाधा डाली। सत्य आनन्द मिल नहीं पाता, इन्द्रिय सुख, झूठा सुख, कल्पित सुख कभी-कभी मिलता तो उस सुखका कारण इन्द्रिय नहीं, सुखका कारण भी यह आनन्दस्वरूप आत्मा उपादान है। जैसे रेतमें तैल नहीं है तो उसे कोल्हूमें कितना ही पेला जाय, तैल नहीं निकल सकता, और तिलमें तैल है तो उसको कोल्हूमें पेला जाय तो तेल निकलता है। इसी तरह आत्मामें आनन्द है तो चाहे इन्द्रियसे प्रयोग करें या अपने आत्मध्यानसे प्रयोग करें, विकृत अविकृत थोड़ा बहुत आनन्द प्रकट हो ही जाता है। तो इस आनन्दस्वरूप आत्माकी इस अज्ञानीको सुध नहीं है। सो यही स्वीकार करता है कि हमारे इन्द्रियां है, उन इन्द्रियोंसे हमे बड़ा सुख मिल रहा है। मुक्त जीवोंके इन्द्रियाँ कहां, सो उन्हे ऐसा सुख कहांसे मिलेगा? इस तरह ये मोही अज्ञानी जीव

मुक्त जीवोके ज्ञान और आनन्दकी श्रद्धा नही कर पाते ।

स्वत सिद्धानि द्रव्याणि जीवादीनि किलेति पट् ।
प्रोक्त जैनागमे यत्तत्स्याद्वा नेच्छेदनात्मवित् ॥१०४६॥

स्वतःसिद्ध जीव द्रव्यमे अज्ञानीकी अश्रद्धा व विपरीत श्रद्धा—अज्ञानी जीव आगममे बताये गए द्रव्यके स्वरूप सख्या आदिककी श्रद्धा नहीं कर पाता, उसमे सदेह रखते कि लिख तो दिया है पुराणोमे, पर ऐसा है नही, जब कि वस्तुका स्वरूप निर्बाध है, सब अपना अपना स्वरूप रखे हुए है । पदार्थोकी सत्ता किसने बनाया ? भले ही किसी निमित्तको पाकर कोई पर्याय वन जाय, मगर उस मूलभूत द्रव्यकी सत्ताको कौन मेट सकता ? समस्त पदार्थ स्वत. सिद्ध है । ऐसे पदार्थ ६ प्रकारके है—जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल । इनके बारेमे यह अज्ञानी जीव सही श्रद्धा नही कर सकता । जीवको मानेगा कि बस ये पशु है, पक्षी है, कीडे है, मनुष्य है, ये ही तो जीव है । जो कुछ आँखो दिख रहा है ये ही तो जीव है, इस तरह मानता है अज्ञानी । अज्ञानी यो श्रद्धा नही कर पाता कि जो दिख रहा वह तो पुद्गल जड, रूप, रस, गध, स्पर्शका पिण्ड है । यह जीव नही, किन्तु इसमे जो एक चेतने वाला समझने वाला प्रतिभास वाला पदार्थ है आकाश की तरह अमूर्त, लेकिन यथार्थ स्वरूप को न जाननेके कारण बन रहा है मूर्त, जैसे बन्धनमे पडा, शरीरमे फस रहा । अरे उस वास्तविक स्वरूपको यह अज्ञानी जानता नही है । जीवके बारेमे इसको सदेह है कि कहाँ है जीव ? खुद जीव है और जीवकी श्रद्धा निःसदेह करता है । अब इसे कोई उन्मत्त कहेगा या नही ? जैसे कोई पुरुष मदिरा पिये हुए है और अपनेको कह रहा—अरे फलाने कहाँ गए, ढूँढो किस जगह है, यो अपने बारेमें कहता फिरे तो सुनने वाले लोग उसे पागल कहेगे । यो अज्ञानी मोही जीव जब अपने बारेमे सोचता है कि मैं जीव हू या नही तो उसे क्या कहा जाय ? चेतनका ज्ञान दर्शन स्वरूप है, चैतन्यमय है, परमार्थतत्त्व है उसे तो जान नही पाता और मानता है अपनेको शरीररूप, अनेक चेष्टाओ रूप । अरे वह उससे अनुभव करता है कि मैं सुखी हू, दु खी हू, गरीब हू, अमीर हू आदिक अनेक चेष्टाओ रूप अपनेको मानता है । तो मिथ्यादृष्टि जीवको किसीको तो जीवके बारेमे संदेह है और कोई जीवके बारेमें उल्टी श्रद्धा रखता है ।

स्वतःसिद्ध पुद्गल, धर्म, अधर्म द्रव्यमे मिथ्यादृष्टि जीवके विपरीत श्रद्धा—मिथ्यादृष्टि पुद्गलको भी क्या जाने ? शरीर पुद्गल है । पुत और गल, पुत मायने पूरा हो जाय और गल मायने गल जाय, याने कुछ ढेर मिल जायें तो बडे हो गए, कुछ खिर गए तो गल गए, छोटे हो गए, तो यह मिलावट, यह बदल, यह संघात पुद्गलका है । इससे एक-एक प्रमाणमें सो वास्तविक द्रव्य है । उन द्रव्योका मिलकर जो पिण्ड बनता है वह द्रव्य व्यञ्जन पर्याय

समानजातीय द्रव्य व्यञ्जन पर्याय है, यह सब मायारूप है। यह कुछ सही नही है, यह सदा टिकने वाली नही है। सुन्दर रूप बन गया, सुन्दर आकार बन गया तो क्या है? मायारूप है, अनेक परमाणुओका पिण्ड है, ऐसी श्रद्धा नही है, और इस पदार्थको देखकर ऐसा ही मानता है—वाह-वाह कितना स्वरूप है, कितना भला है? पुद्गलके बारेमे भी इस मूढको यथार्थ श्रद्धा नही है धर्म अधर्मरूप बातको गप्प मानता है। धर्मास्तिकाय सब जगह व्यापक है और उसके बिना जीव पुद्गल चल-फिर नही सकते। अज्ञानी कहता है कि कितनी बडी गप्प की जा रही है? कहाँ धरा है धर्मद्रव्य? वह आँखो दिखता नही, पकडमे आ सकता नही। और अधर्मद्रव्य भी ऐसा ही है। तो धर्म अधर्मके बारेमे शका होना, सदेह होना यह तो बहुत अधिक निर्गणिक बात है। जिसको भगवानके स्वरूपकी श्रद्धा है और भगवानकी दिव्यध्वनिमे जो तत्त्वका स्वरूप दर्शाया गया है जीव अजीव आदिक कैसा आस्रव, कैसा बंध, कैसा सम्वर? आत्माकी ओर अभिमुख हो सो सवर निर्जरा, परकी ओर अभिमुख हो तो आस्रवबध जीव आदिक तत्त्वोमें जब ज्ञानीकी श्रद्धा होती है और भगवानके उस पवित्र स्वरूपकी श्रद्धा होती है तो जिनेन्द्रदेवकी परम्परामे जो कुछ भी कथन हुआ उसमे उसे रच भी सदेह नही। फिर कुछ युक्तियोसे भी समर्थन करता है। जीव पुद्गल गमन करते फिरते है, आखिर कहाँ तक तो फिरते है, कोई उसकी सीमा तो है? अनन्त आकाशमे नही है, उसका कारण क्या है? गमन किसी वातावरणमे होता है। सूक्ष्म ईश्वर शक्ति धर्मद्रव्य वह जहाँ है वहाँ है, जहाँ नही है वहाँ जीव पुद्गलका गमन नहीं है, इसी तरह अधर्मद्रव्य इस गमन करते हुए को ठहराता है, उसमे कारण है। तो अज्ञानी जीव कैसे धर्म, अधर्म जैसे सूक्ष्म पदार्थको मान सके, और जिसे प्रभुकी पवित्रतापर श्रद्धा है वह जानता है कि इनके उपदेशमे मिथ्या बात आनेका प्रसग ही क्या? मिथ्याबात, झूठ बात कब आती है जब या तो अभिप्राय मलिन हो या ज्ञान कम हो। तीसरा और क्या कारण हो सकता झूठ बोलनेका? सो दोष एक भी नही, वीतराग भगवानमे और ज्ञानकी कमी नही। प्रभुमे केवलज्ञान है, वहाँ जो कुछ भी कहा जायगा उसमे असत्यका अवकाश ही नही है। आत्मा शुद्ध ज्ञानस्वरूप है। अब उसके बाधक कर्म साथ है तो जीवकी नाना दशा, विडम्बनायें बन रही है। वे कर्म अगर साथ न रहेगे, हट जायेंगे तो पवित्र दशा अपने आप प्रकट होगी, ऐसे प्रकट स्वरूप परमात्माको यह अज्ञानी नही जानता, इसलिए प्रत्येक तत्त्वमे शका करना।

स्वतःसिद्ध आकाश व कालद्रव्यमे मिथ्यादृष्टिकी अश्रद्धा व विपरीत श्रद्धा—आकाश आकाश वास्तवमे क्या है? एक सत्तावान पदार्थ है, उसमे अगुरुलघुत्व गुण है। आकाश प्रति समय अपना परिणमन करता रहता है। द्रव्य पर्यायात्मक है, वस्तुभूत है। जैसे आत्मा अमूर्त है, फिर भी वस्तुभूत है, इस तरहसे आकाशकी श्रद्धा नही है अज्ञानीको। वह तो देखता

है पोल, आसमान, उसे कहता है यह आकाश। खैर थोडा-थोडा तो ठिकानेपर है, मगर आकाशका जो स्वरूप है उस रूप तो नही समझना। जैसे लौकिक जन जिस तरहसे मानते है उसी तरहसे अज्ञानी मानता है, आकाशद्रव्यकी भी उसको श्रद्धा नही। कालद्रव्य, काल क्या ? जो समय चल रहा यह ही कालद्रव्य है। कुछ निर्णय नही कि समय क्या, समय कैसे प्रकट होता ? अरे घड़ी, घटा आदिक ये समय नही। ये तो समयके समूह है। मिनट, सेकेण्ड ये समय नही है, यह तो समयोका समूह है। समय नाम कालद्रव्यकी पर्यायका है। इतना सूक्ष्म काल है और उसकी ईकाई कितनी सूक्ष्म है यह आप एक दृष्टान्तसे समझ सकते है। एक अगुली प्रमाण बिल्कुल पतली लाइन हो, जो की न जा सके एक-एक प्रदेशकी लाइन याने सूच्यंगुलमे अगुल प्रमाण लाइनमे असख्यात प्रदेश है। जो संख्यासे परे है और एक आवलीमे जो असख्यात समयकी होती है उस आवलीके समय इतने है कि असख्यात सूच्यगुल गुना प्रदेश हो जायेंगे गणनामे याने एक आँखकी टिमकारमें असख्यात आवली होती है याने कोई जैसे बहुत जल्दी पलक दबाता है तो उस झट आँख मीचने बराबर समयमे अनगिनते समय पाये जाते है। उनमे से एक समय, यह कहाँसे उत्पन्न होता ? यह होता है कालद्रव्यसे उत्पन्न, जो कालद्रव्य लोकमे प्रत्येक प्रदेशपर एक-एक मौजूद है। कैसा समय है, कैसा उनका पुञ्ज है, कैसे पदार्थके परिणमनका कारण है, इसे मोही अज्ञानी क्या समझे ? इनको कालद्रव्यपर भी श्रद्धा नही है।

जीवादिक द्रव्योके व आत्महितके विषयमे मिथ्यादृष्टिके विपरीत श्रद्धा—जीवादिक जो ६ पदार्थ कहे गए है जैनागममे वे है या नही, ऐसा सदेह रखता है अज्ञानी मिथ्यादृष्टि और उनको स्वीकार नही करता। कभी कुल-परम्परासे धर्म भी करे, मदिर आये, पूजा-पाठ करे तो उसे भी वह अपना एक शृंगार समझता है। जैसे कोई अच्छे कोट, बूट, सूट पहिन लेता तो वह बडा अच्छा जचने लगता, वे सब चीजें उसके शृंगारके लिए होती है, ऐसे ही मदिर आना, पूजा-पाठ करना ये सब भी इस शरीरके शृंगारके लिए है, इस तरहका भाव रखकर भी तो ये सारी चेष्टायें बन जाती है। आत्माका स्वरूप, प्रभुका स्वरूप, अपने हितका भाव, ये मूलमे नही आ पाये। मिथ्यात्वकी चेष्टाकी बात रही आयी। दूर रहेंगे अच्छे कामोसे और आयेंगे सुकार्योमे तो अपने आपके शरीरका शृंगार समझ करके आयेंगे। जिन्होने मान रखा है पयर्यायको कि यह मै हू, जो समझते है कि इस बातसे मेरी शोभा है, धर्म क्या है ? आत्माके सही परिचय बिना आत्माका उद्धार हो नही सकता। अज्ञानी जीव इस बातको स्वीकार नही करता। आगमकी बातको भी पढ लेता, मगर उसपर विश्वास नही आता। मिथ्यात्वका ऐसा अद्भुत विशाल विराट् है, प्रभाव फैला हुआ है समस्त ससारी जीवोपर। इतना कठिन दु ख है इस जीवपर। इस कठिन दुःखको दूर करनेका भाव लाना चाहिए।

नित्यानित्यात्मक तत्त्वनेक चैकपदे च यत् ।
स्याद्वा नेति विरुद्धत्वात् सशय कुरुते कुदृक् ॥१०५०॥

आत्महितके प्रेरक नित्यानित्यात्मक तत्त्वपरिचयमे मिथ्यादृष्टिके सशय—मिथ्यादृष्टि जीव जैसी चीज है वैसी श्रद्धा नही करता, उल्टी-उल्टी मानता है। जैसे शरीर तो जीव नही है, पर यह मानता है कि यह ही जीव है। आत्मा सदा रहने वाला है, मगर यह मानता है कि आत्मा सदा रहना नही। जब तक शरीर है तब तक आत्मा है। जब शरीर नही है तो आत्मा नही है, इस तरहसे जानता है। जीव हमेशा रहता है और जीवमे पर्यायें बदलती रहती है। दोनो ही बातें है। सदा रहता है और पर्यायें बदलती रहती है याने नित्यानित्यात्मक है। जीव नित्य है और अनित्य भी है, मगर यह अज्ञानी जीव उसमे सशय रखता है, यह बात सत्य है या नही अथवा नित्य नही है, अथवा अनित्य नही है, इस तरहसे अनेक कुतर्क करके एकान्त पकड लेता है। अब जीवकी बात देखो—इतने जीव हैं, ये कहीसे तो आये तो शरीरको धारण किया। जब तक शरीरमे है तब तक यहाँ है। शरीरके बाद आगे जायगा किसी भवमे जायगा, कोई शरीर पायगा, जीव तो नही मिटता। अगर जीव मिट जाने वाला हो तो फिर धर्म किसलिए किया जाय, फिर पूजा-पाठ, विधान ये सब करने की आवश्यकता क्या? धर्म तो तब किया जावे जब ये दो बातें हो कि जीव सदा रहता है और पर्यायें बदलती रहती है। अगर जीव सदा न रहे, सदा रहने वाली चीज न हो तो धर्म क्यो किया जाय? क्योकि जब तक शरीर है तब तक जीव है, सो खूब खाना पीना, मौज उडाना। शरीर गया तो जीव गया, फिर किसलिए बडी तपस्या करना? तो यह श्रद्धा होनी चाहिए कि जीव सदा रहता है तो वह कल्याणमे लगेगा और यह भी श्रद्धा रहनी चाहिए कि यह जीव जैसी करनी करता है उसके अनुसार वह आगे फल पाता है। जिस भवमे गया उसके अनुसार फल पायगा। इस कारण आत्मकल्याणकी बात हमे सर्व प्रथम सोचनी चाहिए। दो बातें श्रद्धामे आनी आवश्यक है कि मै सदा रहने वाला हू और मेरी अवस्थाये बदलती रहती है, ये दो श्रद्धा नही है तो वह अपना उद्धार नही कर सकता। क्योकि कोई यदि मान ले कि मै सदा नही रहता तो फिर धर्म किसलिए करना? और अगर यह न माने कि मै नई-नई अवस्थायें बदलता रहता हू, कोई न कोई पर्याय मिलेगी, जैसा करूँगा वैसा भरूँगा, यह निश्चित है। अगर यह न मानें तो धर्म किसलिए करना? आत्मकल्याणमे जीव कब लग पाता, जब कि जीवके बारेमे उसे यह श्रद्धा हो जाय कि यह द्रव्यदृष्टिसे नित्य है, पर्यायदृष्टिसे अनित्य है। पहले तो यह निर्णय होना चाहिए कि मैं द्रव्यदृष्टिसे सदा रहने वाला हू और पर्यायदृष्टिसे देखे तो मै हर समय नई-नई पर्यायें लेता रहता हू। इन दो बातोकी श्रद्धा हो तब तो वह आत्मकल्याणके लिए चाहेगा कि मैं ऐसा

कार्य करूँ कि जिससे मेरी पर्याय खोटी न हो, संसारमे रुलना न हो, क्योकि पर्याय तो होगी ही।

नित्यानित्यात्मक तत्त्वकी यथार्थ श्रद्धाके महत्त्वको परिचयकी मिथ्यादृष्टिकी अपात्रता—जो भी पदार्थ है उसकी पर्याय तो होती ही रहती है, उसे कोई मेट नही सकता। पर्याय सामान्य याने वह तो द्रव्यका स्वरूप है सो पर्याय होती रहेगी। अब हम कैसा प्रयत्न करे कि हमारी पर्याय खोटी न हो, धर्मके वातावरणमे हमारा उपयोग रहे और कोई निकट समय आये कि शरीरसे, कर्मसे मै सदाके लिए जुदा हो जाऊँ, आनन्दमग्न हो जाऊँ। तो यह बात तब ही तो कर पायेंगे जब कि मूलमे पहले यह मान ले कि मै एक आत्मतत्त्व हू। जो सत् है वह सदा रहता है, मै सत् हू, मै सदा रहूगा और चूकि जो सत् है उसकी अवस्थाये बनती है, मेरी भी अवस्थायें बनती ही रहेगी, तो ऐसी अवस्था बनना है अरहंत सिद्ध जैसी अवस्था प्राप्त हो, जिससे कि ससारके सकट सदाके लिए मिट जाये। नित्य स्वरूप है जीव और अनित्यरूप भी है जीव, दोनोकी इस प्रकारकी श्रद्धा हो गई तो आत्मकल्याणकी बात आ पायी। वह आत्मकल्याण क्या है? अब भेदविज्ञान करके अपने स्वरूप का अनुभव बनाना यह है आत्मकल्याण करना। पूजा करते है तो वहाँ भी भगवानका स्वरूप निहारते है और उससे अपने स्वरूपकी पहिचान करते है और भगवानके उस पवित्र स्वरूपके प्रति आदर करते है ताकि यहाँ हमारी बुद्धि भर जाय कि यह ही पवित्रता है और इसी पवित्र स्वरूपमे आना है, तो नित्यानित्यात्मक पदार्थ है, प्रत्येक पदार्थ एक ही समयमें नित्य है और एक ही समयमे अनित्य। यह नही है कि कुछ दिन नित्य चले और कुछ दिन अनित्य। उसी समय नित्य, उसी समय अनित्य। क्योकि पर्यायें होती है, अनित्य है, चूकि वह सदा रहता है तो नित्य है। तो नित्यानित्यात्मक पदार्थ है, उसमे अज्ञानी जीव या तो सशय करता है या विपरीत बात मनमे सोचता है और अनित्यका एकान्त करता है। नित्य नही रहता, सदा नही रहता, यह तो क्षण-क्षणमे मिटता है, ऐसा एकान्त भी अज्ञानी जीव करता है।

अप्यनात्मीयभावेषु यावन्नोकर्मकर्मसु।
अहमात्मेति बुद्धिर्या दृङ्मोहस्य विजृम्भितम् ॥१०५१॥

आनन्दस्वरूप आत्मामें भी दर्शनमोहके उदयसे कष्टप्रद परात्मबुद्धिका योग—जब दृष्टि उल्टी हो जाती, बेहोशी हो जाती या वस्तुका स्वरूप सही-सही समझमे नही आता तो यह जीव क्या करता कि जितने परभाव है—कर्म हो, शरीर हो, कर्मके उदयमे जो आत्मामे क्रोधादिक कषायभाव उत्पन्न हुए हो उन सबमे यह मै हू, ऐसी यह बुद्धि करता है। जीवको कोई कष्ट नही है। उसका स्वरूप ज्ञान और आनन्द है, मगर भीतरमे प्रतिफलित कर्म छाया

से जो मोह लगाया, मूलमें वहाँ मोह है। फिर उसका फल क्या है कि जो बाहरी विषयसाधन हैं इन विषयसाधनोंमे हमने अपना उपयोग जोडा बस कष्ट हो गया। जीव अगर मोह न रखे तो कष्ट कुछ नहीं। किसी भी वस्तुमें मोह है, किसी भी काममे मोह है, अपनी पर्यायमे मोह है, शान आदिकमे मोह है तो मोहवश यह जीव दुःखी हो रहा। मोह न करे तो दुःख काहेका ? तो यह अज्ञान वस्तुस्वरूपका, सही बोध किए बिना मिटेगा नहीं। उसके लिए पहले वस्तुका स्वरूप समझ लें कि प्रत्येक पदार्थ स्वतत्र सत्ता वाला है, किसीकी सत्ता किसी दूसरेने नही बनायी। और तब सत्ता जुदी-जुदी है, जितने जीव हैं उनकी सत्ता जुदी-जुदी है। किसीकी सत्ता हमने नहीं बनायी, हमारी सत्ता किसीने नही बनायी। हमारा परिणमन दूसरा नही करता, दूसरेका परिणमन मैं नही करता। नाता किस बातका ? फिर बतलावो जब परिणमन जुदा-जुदा है, सत्ता जुदी-जुदी है, फिर बतलावो नाता क्या रहा ? कोई कहता कि मेरा बडा प्रिय बेटा, तो भला बतलावो वह बेटा तुम्हारे आत्माके किसी काम आने वाला है क्या या एक अणु भी मेरे आत्माके किसी काम आने वाला है ? मैं मैं हू। किसी बाह्य पदार्थसे मेरी कोई सत्ता नहीं और फिर मानें कि यह मेरा, तो यह तो बडा अपराध है कि वस्तु तो है और तरह और मानता है यह और तरह। तो इतने बडे अपराधका फल कोई दूसरा भोगेगा क्या ? इस अपराधका फल है जन्ममरण करना, ससारमे रुलना, शरीर धारण करना, हाय हाय हाय करते रहना, बस यह मोहका फल है। सो मूलमे मोह यह है जीवके कि जो कर्म है, शरीर है, कर्मके उदयसे होने वाले भाव हैं उनको यह मैं हू ऐसा मानता है, यह मैंने किया ऐसा मानता है, यह सब मेरा है ऐसा मानता है। तो उसकी उल्टी मान्यता बन गई तो फिर व्यग्रता आती है, उसको शान्ति नही मिलती है।

मिथ्यात्वके उदयमे जीवपर विविध प्रहार—मिथ्यात्वके उदयमे इस जीवपर क्या-गुजरता है सो देखते जावो। मोटे रूपसे जो गुजर रहा वह देखनेमे आ रहा, पर बहुत बारीकी से देखें तो धर्म करनेके समय भी जो यह मानता कि मैं धर्म कर रहा हू उस कालमे भी यह जीव मायाके लोभमे लिप्त है और पर्यायमे अहंबुद्धि है लो मैं धर्म कर रहा हू, मै इनसे अधिक धर्मात्मा हू, मैं इन सबमे उत्तम हू, कुछ ध्यान तो लाता है, लो क्रिया कराया सब बेकार हो गया। तो उसने अपनी पर्यायमे शान बनायी तो मदिरमे आनेको, क्रियाकाण्ड करनेको ही अपना शृंगार समझा, किन्तु आत्माके स्वरूपमे उतरनेका लक्ष्य नहीं है तब फिर जैसे हम धर्मक्रिया करते हैं उन धर्मक्रियावोंके समय भी इसका मिथ्यात्व विष दूर नही होता। और की तो बात जाने दो, व्यापार रोजिगार या अन्य जगह मायाचार चलता है तो वह तो प्रकट है, मगर ऐसा सूक्ष्म मिथ्यात्व अंश है कि पता नही पडता, कार्य अच्छा कर रहा है, तपस्या कर रहा है, मुनिभेष भी धारण कर लिया है, सब बात मनने आ गई है। समिति गुप्ति सब

कुछ क्रिया कर रहा, मगर भीतरमे पर्यायबुद्धि बनी है कि मै मुनि हूँ, इनका गुरु हूं—इस प्रकार पर्यायके वारेमे माने जाय कि मै देह हूँ तो वताओ मिथ्यात्व है कि नही ? मिथ्यात्व ऐसा भीतर सूक्ष्म सूक्ष्म पडा हुआ है जिसकी थाह पाना कठिन है, मगर लक्षण सबका एक है। कर्ममे, शरीरमे और रागादिक भाव कार्योमे आत्माके विकारमें 'यह मै हू' ऐसी श्रद्धा हो उसे कहते है मिथ्यात्व ।

मिथ्यात्व दूर हुए बिना कल्याणकी असंभवता—मिथ्यात्वके दूर हुए बिना जीव कल्याणमें जरा भी नही आ सकता। जैसे मानो कोई मलका घडा है, जिसमे मल भरा है, चाहे वह चाँदीका ही घडा क्यों न हो, ऊपरमे उसे खूब धो रहे है, साफ कर रहे है, पर वह है मलिन। इसी तरह जिसका चित्त मिथ्यात्वसे पगा है, दूषित है वह चाहे शुभ कार्योको करे, दयाकार्य भी करे तो भी आखिर वह है तो मलिन, उसे धर्ममार्ग तो नही मिल सकता। तो मिथ्यात्वने इस जीवको दुःखी किया है, उससे सुलटनेका मनमे उपाय नही सोचता यह जीव। और-और वातोके तो उपाय यह सोच लेता ऐसा घर बना लें, ऐसी दूकान बना ले·· यह तो खूब सोच लेते, मगर मै आत्मा अपने आपके स्वरूपमे रमूँ, व्यर्थक विकल्प-जालोसे अपना मुख मोड लूँ, यह नही सोच पाता यह अज्ञानी। यो इस जीवपर मिथ्यात्वका ऐसा भूत सवार है कि जिससे यह आत्महितकी बात नही सोच पाता।

अदेवे देवबुद्धि स्यादगुरौ गुरुधीरिह ।
अधर्मेधर्मवज्ज्ञान दृङ्मोहस्यानुशासनात् ॥१०५२॥

दर्शनमोहके उदयसे गृहीतमिथ्यात्वके अभ्युदयका दिग्दर्शन—जब दर्शनमोहका शासन होता है, मिथ्यात्वका जब राज्य होता है उस समय इस जीवको बडी विडम्बना हो जाती है। कुछ समझदार हुए तो जो देव नही है उसको देव मानता, पहली गल्ती, जो गुरु नही है उसको गुरु मानता है, जो धर्म नही है उसको धर्म मानता। देव कौन नही है ? जिसके राग-द्वेष हो, अल्पज्ञता हो और अपनेको देवरूपमे निरखता हो। जो देव नही है उसके प्रति यह ध्यान जाय कि देव है, जो भगवान नही है उसे भगवान मानना, यह मिथ्याबुद्धि है कि नही ? जिसके रागद्वेष है वह भगवान नही, वह तो जैसे यहाके लोग है वैसा हो गया। जिस भगवान की ऐसी चर्चा चरित्र बताया हो कि वह उसे मारने गया, उनको उसने मराया, उनकी सहायतामे गया, वह खुद डरकर भागा, ऐसी बात जिसके चरित्रमे आयी या इन्होने शादी की, इनके लड़के बच्चे हुए, भगवान और भगवती कहलाते, ऐसा जिसका चरित्र हो वह भगवान कैसे कहा जा सकता है ? जहां रागद्वेष है वह प्रभु नहीं, अगर उसे ही प्रभु मानें तो यह गलत है। कुदेवमे देवकी बुद्धि करना गलत है। इसी तरहसे कोई गुरु तो नही है, मायने जिसमे दया नही है, जो बडा आरम्भपरिग्रही है, जो जूते पहिनकर चलता हो, समझो कि

उसमे गुरुके लक्षण नही है फिर भी उसे कोई अपना गुरु माने तो वह मिथ्यात्व है, इसी तरह जो धर्म नही है उसे धर्म मानना मिथ्यात्व है। धर्म क्या नही है ? हिंसाके काम, पूजनमें हिंसाके साधन बनाना अधर्म या अमुक नदीमे नहा लो तो सारे पाप धुल जाये या अमुक पर्वतसे गिर पडो तो सारे पाप धुल जायेंगे या देवी देवता, क्षेत्रपाल, इनको माननेसे पाप कट जायेंगे यह सब मिथ्यात्व ही तो है। जो अधर्म है उसमे धर्मबुद्धि करना भी मिथ्यात्व है। मिथ्यात्व हटाना सबसे पहला काम है। देखो भगवानकी मुद्रा जो है वह यह सिखाती है कि इनमे रागद्वेष नही है, ये सर्वज्ञ है, वैसा ही हमे भी बनना है।

धनधान्य सुताद्यर्थं मिथ्यादेव दुराशय.।
सेवते कुत्सित कर्म कुर्याद्वा मोहशासनात् ॥१०५३॥

मोहशासनमे अज्ञानीकी कुकार्यमें प्रवृत्ति—औदयिक भावका प्रभाव बताया जा रहा है। औदयिक भावोमे मुख्य है मिथ्यात्व। मिथ्यात्वके उदयसे इस जीवकी क्या क्या स्थितियाँ बनती है ? यह सब वर्णन चल रहा है। मिथ्यात्व नामक कर्म पौद्गलिक कर्म है। ज्ञानावरणादिक कर्मोमे जिसका मिथ्यात्वप्रकृति नाम आया है वह एक मिथ्यात्वकी प्रकृति स्थिति, प्रदेश अनुभागमे बद्ध है, याने उस कर्ममे मिथ्या आशयका अनुभाग पडा हुआ है और वह अचेतन है। अचेतन होकर भी उसमे किस तरह रह रहा है मिथ्यात्व ? यह मिथ्यात्वसे सम्बधित है, अनुभव नही है उसे, जड होनेके कारण, पर ये सारी गड़बडियाँ मिथ्यात्वमे है। जब इनका उदय होता तो आत्माके उपयोगमे उस उदयकी छाया आती, प्रतिबिम्ब होता, प्रतिफलन होता, सन्निधान होता उस समय यह जीव अपने स्वरूपको भूला हुआ उस छायाको अपना लेता है और यह ही मैं करने वाला, यह ही मेरा स्वरूप, यह ही मेरा सर्वस्व, इस तरहका उस मिथ्यात्वमे उसका सकल्प होता है। यही जीव मिथ्यात्व कहलाता है। तो इस मिथ्यात्वके शासनसे यह जीव धन धान्य पुत्रादिककी प्राप्तिके लिए मिथ्या देवोकी भी उपासना करता है, खोटे-खोटे कर्म भी कर डालता है। जैसे अनेक जगह कथानकोमे भी आया है कि पुत्र प्राप्तिके लिए दूसरेके बच्चेकी बलि दे दी। तो बताओ यह खोटा काम है कि नही ? अरे पुत्र उत्पन्न हो या न हो, कोई इसके आधीन बात तो नही। खोटे खोटे देवोकी उपासना, तुच्छसे तुच्छ लोगोकी सेवा, नाना खोटे कार्य यह जीव मोहमे कर डालता है।

अत्यन्त पृथक् अन्य आत्मावोसे व समस्त अनात्माओमे संबंध माननेका कुपरिणाम—भैया, जरा देखिये यह कि इस मेरे आत्माका किसी आत्मासे कोई रिश्ता सम्बन्ध भी है क्या ? जीवका जो स्वरूप है उस नातेसे किसी अन्य जीवके साथ कोई सम्बन्ध है क्या ? सबका अपना-अपना स्वरूप-किला न्यारा-न्यारा है, सब पदार्थ अपने-अपने स्वरूपमे रहते है,

पर यह क्या पागलपन आ गया, मोह उन्मत्तता आ गई कि जगतके इन अनन्त जीवोमे से दो एक जीवोको इसने अपना मान लिया और समझ लिया कि इसीसे मेरे आत्माका पूरा पडेगा। अरे पूरा क्या पड़ेगा ? सारा जीवन दुःख ही दुःखमे व्यतीत होगा। पुत्र अगर कुपूत निकला तो सारा जीवन दुःखमे जायगा और पुत्र अगर सुपूत निकला तो सारा जीवन दुःख मे जायगा। खूब अच्छी तरह विचार लो, पुत्र अगर कुपूत हुआ तो उससे उतना अधिक दुःख नही होता जितना कि सुपूतसे दुःख होता है। वह कैसे, सो देख लो पुत्र कुपूत हुआ, खोटा निकल गया तो उसे अलग कर दो, ढिढोरा करा दो कि इससे मेरा कुछ प्रयोजन नही, लो वहुत-सी इल्लतोसे बच गए और अगर सुपूत हुआ तो पिताके मनमे यह आता कि मै इसे खूब सुखी कर दूँ, खूब धन जोड़कर रख दूँ ताकि जिन्दगी भर आरामसे रहे। तो आत्माके नातेसे देखें तो सही कि सुपूतसे इसको क्या मिला ? मिला कष्ट, मोह। आत्माकी बेसुधीमे इसे कष्ट ही कष्ट मिलता है। इस आत्माका कोई दूसरा रक्षक नहीं है, इस आत्माको तो अपने सही स्वरूपकी दृष्टि बने और उसमे अनुभव जगे कि मै यह हू बस सारी तारीफ इस की है।

यथार्थ ज्ञानप्रकाशमे ही क्षणोंकी सफलता—इस मनुष्यजीवनमे अगर कोई प्रशसनीय महान सर्वोत्कृष्ट कार्य कहा जाय तो वह है सम्यक्त्वका होना। सही आशय चित्तमे आ जाय सब पदार्थ स्वतत्र स्वतत्र दिखने लगे, सबकी जिम्मेदारी उनकी उनमे है, मेरे पर मेरी ही जिम्मेदारी है, मैं अपने ही परिणमनको कर सकूगा, ऐसा अपने आपका विचार शुद्ध आशय बने तो इस जीवको कष्टसे मुक्ति हो जाय। मोहसे कष्ट होता और कोई कष्ट नही। जब क्षुधा लगी तो उसका उपाय बन जाता, कोई जरासा शारीरिक कष्ट हुआ तो उसका उपाय बन जाता लौकिक दृष्टिसे, मगर इसको कष्ट तो मोहमे आता है। मोह हुआ धनसे, वैभवसे, इतना बढ़ जाय, इतना यह हो जाय, इससे अपनेको महान समझे। भीतरमे जो अपना मलिन आशय है यह ही कष्टस्वरूप है। मलिन आशय क्या ? दो का एक मानना, अपनी सुध ही भूल जाना, बाहरको अपना मानना और अपनी सत्ताकी सुध ही न रहना, इससे बडी विपत्ति और कोई नही इस जीव पर। लोग आँखों दिखी कुछ बातोमे सुविधा-सी समझ लेते है तो यह कौन-सी सुविधा है ? आत्माका पूरा इन बाहरकी सुविधावोसे, बाहरकी बातोसे नही पडने का, इसका तो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्रसे ही पूरा पडेगा। रत्नत्रयको छोड़कर बाकी और किसी विधिसे आत्माका पूरा नही पड सकता। तो मिथ्या आशयमे इस जीवकी कैसी कल्पनाये बढ गई, धन पानेके लिए, पुत्रादिक पानेके लिए बडे बडे मिथ्याकर्म भी कर डालते है। कोई ऐसा सोच ले कि मेरेमें मेरी दुनिया मेरा स्वरूप है, मेरा परभव मेरा स्वरूप है, मेरा सर्वस्व मेरा स्वरूप है, मैं ज्ञानमात्र हू ज्ञान परिणाम, बस यह ही मेरा कर्तापन है,

ज्ञानका अनुभवन बनना यह ही मेरा भोलापन है। ज्ञानके सिवाय कुछ मैं भोगता नही, ज्ञानसिवाय कुछ मै करता नही, ज्ञानसिवाय मेरा कुछ जगतमे है नही। मै ज्ञानमात्र हू, ऐसा अपने आपके स्वरूपसे कोई चिपके तो सही, किसीका उपयोग उस पर जमे तो सही, बस उसने सर्वस्व पाया। जिसने अपने स्वरूपकी सुध नही पायी उसने कुछ नही पाया। भव-भवमे बडे-बडे राजा हुए, आज्ञाकारी बने, बडे-बडे धनिक भी हुए उससे पूरा क्या पडा ? एक भव छोडा दूसरे भवमे आये और कीडा मकौडा किसी भी भवमे पहुच सकते।

स्वरूपपरिचयमे आत्महित—जीवका हित अपने आपके निरपेक्ष सही स्वरूपके परिचयमे है, उससे रिश्ता लेनेमे है, उसकी धुन बनानेमे है और अपनी उस ओर प्रतीति अधिकाधिक रहे, इससे अपने जीवनकी सफलता है। एक स्वरूपदृष्टिके सिवाय बाकी जितनी परमे लगनेकी बाते है वे सब जीवके लिए अहितरूप है। तो जब अपने स्वरूपकी सुध नही है किसीको तो इसके अनेक विचार बनते है—परिवार मेरा भरा पूरा हो तो मै बडे सुखमे रहूगा और उसीसे ही मेरा बडप्पन है, महत्त्व है, बस दुःख। ये सब उन्मत्त चेष्टायें है। पहले तो यह ही बतायें इस लोकमे आप अपना बडप्पन जतानेके लिए विकल्पोकी कमर क्यो कसे हुए है ? दुनियामे जो दिखने वाले लोग है उनमे प्राय. सभी, कुछ हो बिरलोको छोडकर सभी मोही है, मूढ़ है, आत्माकी सुधसे रहित है, स्वय बडे कष्टमे है, मलिन है। इनमे मैं अपना महत्त्व चाहू और इतनोके पीछे मै अपने इस सहज परमात्मतत्त्वकी सुध छोड दूँ, तो समझ लीजिए कि कितना एक निकृष्ट काम है ? मगर जब तक यह विवेक नही करता जीव और अपने आपके स्वरूपकी रुचि नही बनाता तब तक बाहर हो बाहर उपयोग डोलता है और बाहरी पदार्थोके सम्बन्धसे अपना महत्व मानता है। ऐसी दशामे यह जीव धन धान्य, पुत्रादिकके समागमके लिए क्या क्या खोटे कर्म नही करता ? अब देखो कहने सुननेमे कहो भला न लगे, पर यह तो बतलावो कि पुत्रादिककी प्राप्तिकी कामनासे भगवानको पूजना, क्षेत्रपर जाना, बोली बोलना आदिक बाते है—बोलो यह कुत्सित कर्म है कि नही। जहाँ खोटा आशय है कि मेरेको पुत्र उत्पन्न हो, इससे ही मेरा बड़प्पन है, इसके बिना मेरा कोई जीवन नही, यह ही मेरा सर्वस्व है उसकी दृष्टिमे भगवानके स्वरूपको पवित्रता नही आ सकती है। वह तो अपनी धुनपर है, और इस धुनपर प्रभुमूर्तिकी पूजा आदिक करना यह भी कोई भला कार्य नही है, क्योकि आशय खोटा पडा हुआ है। पहले आशयको पवित्र बनावे। मेरे को कुछ न चाहिए, सिर्फ आत्माका जो शुद्ध सहजस्वरूप है उसमे यह अनुभव बना रहे कि मैं तो यह हू, बस यह चाहिए, इस स्थितिमे ये सारे सकट दूर हो जायेंगे।

सिद्धमेतन्नु ते भावा प्रोक्ता येऽपि गतिच्छलात्।
अर्थादौदयिकास्तेऽपि मोहद्वैतोदयात् परम् ॥१०५४॥

मोहके बलपर अन्य औदयिक भावोंकी उद्धतता—कहनेके लिए ऐसे बहुतसे प्रकरण

है, बहुतसी वार्तायें है जिनको हम खोटा बंध करने वाली बोल सकते है, मगर ये सबके सब केवल एक मिथ्यात्व राजाके आधार पर ही जीवित है। जहा मिथ्यात्व नष्ट हुआ वहाँ जितने भी औदयिक भाव है, जितने भी अन्य कर्म है वे सब मुरझा जाते है एक दर्शनमोहकी जड़ कट जानेसे। औदयिक भाव बहुतसे बतलाये है—जैसे नरकगति, तिर्यञ्चगति, मनुष्यगति और देवगति। कहते है ना लोग ? सो गतियोंमे गमन जन्ममरण करना और इन देहोंके सहारे सारे कष्ट बने हुए है। ये चारों ही गतियां दुःखमय है। वर्णन ही आता है—चतुर्गति दुःख स्वरूप है। किन्तु यह सब एक प्रासंगिक वर्णन है। मिथ्यात्व ही दुःख स्वरूप है, गतियां नही। गतियोंमें जो दुःखरूपता आयी है और ये गति जो हमारे दुःखके स्थान बन गए है। वह सब इस मिथ्यात्वपर ही आधारित है।

मोहके निर्बल होनेपर अन्य कर्मोंके उदयमें निर्बलता—मिथ्यात्व न रहेगा तो ये गतिया कब तक चलेगी और मिथ्यात्व न रहे तो गतिया चलनेपर भी कष्ट नही महसूस हो रहा। तब ही तो कहते है कि नरकोमे बडे कठिन दुःख भोगना है यह सम्यग्दृष्टि ज्ञानी, फिर भी कर्मोंकी निर्जरा वहाँ भी चलती रहती है, भीतरमे निराकुलता वहाँ भी बनी रहती है। देवगतिमे सैकडों देवियोंके बीच बड़ा सुख महसूस करने वाला देव अनेक जगह क्रीडा मात्रमे विहार करके अपनी लीलावोमे खुश रहने वाला देव, सारे जीवनभर इस तरहकी मौज मानने वाला देव भीतरमे दुःखी है, क्योंकि तृष्णा उत्पन्न हो रही है, मन स्थिर नही है। जहाँ जहाँ बाहरमे उपयोग लगा है, भीतरके स्वरूपकी सुध छोड़ दिया है तो बाहरमे जहाँ लग्न है वहाँ दुःख ही है। बाह्यपदार्थोंमे उपयोगका फसना ही दुःख है। अब आप देखो, हम आप लोग रात दिन दुःखकी करतूत कितनी किया करते है ? जहाँ सहज आत्मस्वरूपपर दृष्टि न रही, परपदार्थ, परभावमे ही लगन लगा कर रह गए वहाँ सारा कष्ट ही कष्ट है, व्यग्रता है। वहाँ भले ही कुछ हँसे, मजाक करे, मौज माने, मगर भीतरमे तो तृष्णाकी चोट है, उसका हँसना एक सनीमाके चित्रकी तरह है। कोई सुख नही बना। संसारका सुख हो वह भी दुःख है, संसारका दुःख हो वह भी दुःख है। यह बात अगर कोई अभी नही मान सकता तो कुछ नजीक मानेगा कि हाय मैंने सुख क्या भोगा, जिन्दगी यो ही गुजार दी, वह सुख भी दुःख ही था, वह कोई आनन्दकी बात न थी। पीछे पता पड़ जायगा, मगर जो ज्ञानी जीव है, जिसने वस्तुस्वरूपका सही निर्णय बनाया है वह तो सही ज्ञान बनाये हुए है। सुख और दुःख मे कोई भेद नही है। संसारका सुख और संसारका दुःख दोनो ही मलिन अवस्थायें है। दोनोंमे ही नाना रोग बसा हुआ है, दोनोंमे ही कमजोर पड़ा हुआ है, व्यग्रता रहती है, इसलिए संसारकी कोई भी स्थिति न चाहिए। मेरे स्वरूपका दर्शन रहे, मेरे ध्यानमे मेरे उपयोगमें, यह बात दृढतापूर्वक रहे कि मैं हूं यह सहज चैतन्य प्रकाशमात्र और कुछ नही और ऐसा ही मैं दृष्टिमें रहूं, बस इस ही परिणमनमे मेरी भलाई है।

सहज अन्तस्तत्त्वकी सुधसे हटनेपर कष्टोंके अनुभवन—सहज स्वभावकी धुनसे चिगे, बाह्य पदार्थोमे अपना मन फंसाया तो वहाँ कष्ट ही कष्ट है। अब इस कुञ्जीके आधारपर अपनी-अपनी परीक्षायें करें। बहुत अच्छी तरह घरमे रह रह, बडे अच्छे साधन है, मगर आत्माका तो उद्धार नही हो रहा। आत्मा तो शान्ति और आनन्दमे नही आ पा रहा। इस की व्यग्रता है और इतने से ही तो छुट्टी नही मिल गई, जो कर्मबध हो रहा है उसका उदय होगा। आज तो इस मनुष्यभवमे है, यहासे मरण होते ही दूसरे समयमे जैसी करनी है वैसी बात बन जाती है। कोडा मकोडा आदि किसी भी भवमे जन्म हो जाता है। तो इससे विवेक बनाये कि मेरे आत्माकी भलाई किसमे है? कुछ क्षण तो अपने आपके सही धाममे आना चाहिए। अन्तस्तत्वमे मै यह हू ऐसा परिचय कुछ समय होना चाहिए, मगर आत्मपरिचय, आत्मश्रद्धा, आत्मस्पर्श अपने स्वरूपमे आत्माका अनुभव करें, कभी यह बात नही बनती तो बस वह डोलने वाला जीव है। कोई जीव मरा, कही पैदा हुआ, कही रहा, वह कष्ट ही कष्ट है। इन गतियोके रूपसे जो और भाव कहे गए है वे सब भी औदयिक तो है मगर दर्शन मोहनीय और चारित्र मोहनीयके उदयसे ही उनमे यह बात पडी हुई है। मनुष्य शरीर है, पुद्गल शरीर है, यह क्या बाधा दे रहा? मान लो इसमे कोई फोडा, फुसी हो गया, सड गया तो वह क्या कष्ट देगा जीवको? मगर जीवमे जो यह भाव लगा हुआ है कि मेरा यह कष्ट··· । विपत्ति बाहर कही नही है, विपत्ति अपने अन्दर है और वह विपत्ति कर्मके कारण नही है, शरीरके कारण नही है, अपने विकल्पके कारण है। यद्यपि ये विकल्प नैमित्तिक है, कर्मविपाकका निमित्त पाये बिना नही होते, मगर कर्मकी सब बात कर्ममे ही तो है उसका सन्निधान पाकर जो विचार विकल्प बनते है—ये दुःखकर है। अब मुझे नही मानना है अपने को भिन्न-भिन्न रूप, मैं आत्मा तो एक सहज चैतन्यप्रकाशमात्र हू और मुझे इससे नही चिगना है, मै ऐसा ही अपनेको निरखकर यहा ही बसूगा। ऐसा यदि कोई अपने मे भला आग्रह करले तो क्या किया नही जा सकता? यह आग्रह भी किया जा सकता। ऐसे पवित्र आशयमे तो इस जीवका कल्याण है, बाकी बाहरी ममता मोह ये विकल्प ही तो है, बैठे बैठे ख्याल ही बना रहे है। इन ख्यालातोमे जीवका कुछ भी भला नही है।

यत्र कुत्रापि वान्यत्र रागाशो बुद्धिपूर्वक. ।
स स्याद् द्वैविध्यमोहस्य पाकाद्वान्यतमोदयात् ॥१०५५॥

विकट कष्टरूप बुद्धिपूर्वक रागाशके अभ्युदयका निमित्त मोहोदय—जहाँ कही भी बुद्धिपूर्वक रागाश उठ रहा है याने अपनी समझ बना बनाकर, अपने अटपट ख्यालात करके जितने भी राग द्वेषादिक भाव उठ रहे है ऐसे बुद्धिपूर्वक राग ये दो प्रकारके मोहनीय कर्मके उदयसे होते है। देखो अन्य लोगोने बताया है प्रकृति और पुरुष। पुरुष मायने आत्मा और

प्रकृति है जड प्रधान। करने वाली प्रकृति है, भोगने वाला पुरुष है, यह उनके सिद्धान्त की बात बतला रहे है और एक मिलान करते जावो कि किस दृष्टिसे देखें तो यह बात सत्य उतरती है। क्या कहते हैं वे कि करने वाली प्रकृति है और भोगने वाला पुरुष है। उनकी दृष्टि यह है कि रागद्वेष मोहादिक जितने जो कुछ होते है वे सब प्रकृतिके विकार है और चूकि ये प्रकृतिके विकार इस पुरुषके क्षेत्रमे हो रहे है तो चेतन तो पुरुष है इसलिए मुक्तिकी आफत चेतनपर ही आती है। अब इस बातका नयविभागपूर्वक जैनसिद्धान्तसे मिलावें। जीवमे जितने भी रागादिक भाव उत्पन्न होते है वे सब है क्या? रागद्वेष जो प्रकृति है, कर्म है, १४८ कर्मप्रकृतियाँ है, उनमे जो रागद्वेषकी प्रकृतिया है उनका ऊधम है, उनका विपाक फूटा है और उन प्रकृतियोमे ही वे सब विकार बन गए है, मगर वे आत्माके एक क्षेत्रावगाह मे ही तो हैं और आत्मा ऐसा अशुद्ध उपादान है कि वह सब प्रकृतियोका ऊधम इसके उपयोगमे प्रतिबिम्बित हुआ, सो यह आत्मा चेतन है, इसका झट उपयोग बदला और उस मलिनतामे लद गया। इस दृष्टिसे देखें तो उनके कथनमे और जैनसिद्धान्तके कथनमे बहुत कुछ समानता है, पर अन्तर क्या आता है? अन्तरआत्मा भोगता किस तरह है, बस इसके विश्लेषणमे अन्तर है। कुछ दार्शनिकोका कहना यह है कि आत्मा तो अपरिणामी है, जरा भी बदलना नही है। कोई परिणति करता नही है, तिस पर भी भोगता है, जब कि जैन-सिद्धान्त यह कहता है कि आत्मामे परिणमन हुए बिना भोगना आ ही नही सकता। कुछ तो परिणाम हुआ, ज्ञानका विकल्प हुआ, इस तरहका ज्ञान बन गया। ऐसा हुए बिना विपरिणाम नही बन सकता। थोडा अन्तर है, मगर मूल बात यह देखें कि आत्मा तो अपने स्वरूपसे निरपराध है, एक चेतनेको करने वाला, मगर उदयाश जो यहाँ झलका, ऐसी जो एक छाया का प्रतिफलन आया उसमे उलझ गया और यह दुःख पा रहा। तो जितने और बाहरी साधन है असाताका उदय, गतिका उदय, शरीरका मिलना जितने भी और और बाहरी प्रसंग है ये समस्त प्रसंग भी मोहके कारण दुःखरूप बनते है, मोहके बिना दुःखरूप नही बनते।

दर्शनमोह व चारित्रमोहसे हटकर अपनेमे उपयुक्त होनेमें आत्महित—मोह दो प्रकार का है—(१) दर्शनमोह, (२) चारित्रमोह। याने ऐसा विकट मोह कि आत्माकी दृष्टिको ही उलट दे, अपने स्वरूपको न पहिचान सके, बाहरी-बाहरी बातोमे यह अपना स्वरूप मानने लगे, यह तो है दर्शनमोहका विपाक और चारित्रमोहका विपाक है विषयोमे प्रवृत्ति करना। विषयोमे प्रवृत्ति करना दर्शनमोहके बिना भी हो सकता और दर्शनमोहके सद्भावमे भी हो सकता। जहाँ मिथ्यात्वका उदय नही है वहाँ चारित्रके, मोहके उदय होनेसे राग तो होगा, मगर ससारपरम्परा बढ़ाने वाला राग नही है। तो वह राग किसीके बुद्धिपूर्वक है, किसीके अबुद्धिपूर्वक है। एकेन्द्रिय, दोइन्द्रिय आदिकका यह राग, यह मिथ्यात्व यह अबुद्धिपूर्वक चल

रहा है, सर्वथा अबुद्धिपूर्वक नही । ज्ञान उनमे भी है, विकल्प वहाँ भी बनते है, और ऊंचेके गुणस्थान (७वाँ, ८वाँ, ९वाँ, १०वाँ गुणस्थान) मे भी राग चल रहा है, किन्तु अबुद्धिपूर्वक चल रहा है । जहाँ समझ-समझकर राग बने और अपनी बुद्धिमे अनुभूत होवे वह तो है बुद्धिपूर्वक राग और न हो ऐसा तो अबुद्धिपूर्वक राग है, मगर सब रागोका फल चोट है । बुद्धिपूर्वक रागमे व्यग्रता मुख्य है, अबुद्धिपूर्वक रागमे व्यक्त व्यग्रताकी मुख्यता नही है । तो सबसे महान् वैरी हम आप जीवोका है तो मिथ्यादर्शन, मिथ्यात्व वैरी, यह अपने स्वरूपकी सुध नही लेने देता । यह जीव भीतर कुछ विचार ही नही करता, निरखता ही नही, इन चमडेकी आँखोसे बाहर जो-जो कुछ दिख रहे उनमे ही अच्छा-बुरा इस प्रकारका द्वैत भाव करता है । इन चर्म-चक्षुओको बंदकर भीतरमे ज्ञानचक्षुका बल बनाकर कुछ तो अपने हितके लिए विचार करना चाहिए कि मेरेको इस दुर्लभ जीवनमे करनेका क्या काम पडा है ? आत्मा की उपासना । मैं आत्मा सहज अपने आप किस स्वरूपमे हूँ ? केवल एक चैतन्यप्रकाश । जिसमे कोई रागद्वेष नही, आशा विकल्प नही, केवल चैतन्य प्रकाश मै अपनेको अनुभवू कि मै तो यह हू, अन्य विकल्प न सताये, ऐसा अपना अनुभव जगाये तो इस जीवका कल्याण है । मिथ्यात्वके उदयमे इस जीवको आत्मकल्याणका मार्ग नही मिलता । रागरगमे, विषय कषायोमे, इन वासनाओमे यह सारा जीवन लगा दिया जाता । चूकि मिथ्यात्वका उदय है, इसलिए अनन्त जीवोमे से दो-चार जीवोमे यह छाँट कर लिया कि ये मेरे है, बस इन्हीके लिए मेरा तन, मन, धन, वचन सब कुछ अर्पण है, मेरा और धरा क्या, ऐसा अपने आपको रीता समझ लिया, जिसका फल व्यग्रता है, कर्मबन्ध है, आगामी कालमे कष्ट भोगेगा । इस सबका मूल कारण है मिथ्यात्व । सब जीवोका स्वरूप परस्पर एक दूसरेसे भिन्न है, स्वलक्षण-स्वरूप है, अपनेमे याने एक चैतन्यमात्र है । मगर सत्ता जुदी-जुदी है, मेरा सब कुछ मेरेसे ही होता है, मेरा कुछ परिणमन दूसरेमे नही होता, दूसरेमे मै कुछ कर नही सकता । मै अपने को जानू, अपनेको समझू और अपनेमे मग्न होऊँ, यह ही एक विधि है जिससे कि हम अपने को शान्त बना सकते है ।

एवमौदयिका भावाश्चत्वारो गतिसश्रिता ।
केवल बन्धकर्तारो मोहकर्मोदयात्मिका ॥१०५६॥

मंगलमय आत्माका मोहकर्मोदयमे बन्धन—यह जीव अपने स्वरूपसे मंगलरूप है, भगवानके समान स्वरूप वाला है, आनन्दमय है, पवित्र है, सर्व द्रव्योका राजा है, किन्तु अनादिसे ही कर्मसम्बध होनेके कारण आज तक इसकी बडी बिगडी दशा चली आयी है । निगोदमे रहा अनन्त काल, मुश्किलसे निकला, अन्य स्थावरोमे आया, विकलत्रयोमे आया, पञ्चेन्द्रियमे आया घूमते-घूमते अनेक कष्ट उठाये है । आज सुयोगसे मनुष्यपर्यायमे आये,

लेकिन इस भवमे भी यह जीव अपनी शान, इज्जत सब कुछ पर्यायमे समझता है। यह शरीर है, यह एक पर्याय है, इसका आत्मासे कुछ सम्बंध नही। सयोग सम्बध तो है, मगर अनित्य है, छूट जायगा सम्बध। इस शरीरसे आत्माका कोई पूरा नही पडेगा। शरीर छोडकर जायगा, दूसरा शरीर मिलेगा, ऐसी तो स्थिति है मगर यह मोही जीव यहांके मिले हुए वैभवोमे इतना लिप्त है कि उसीकी धुनमे रात-दिनके चौबीसो घटे इसके व्यतीत होते है। अपनेमे बसे हुए सहज परमात्मस्वरूपका यह ध्यान नही कर पाता। ससारमे अब तक जितना भी समय गया वह सब व्यर्थमें ही तो गया, क्योकि औदयिक भावोमें रहा। कर्मके उदयका निमित्त पाकर आत्मामें जो-जो गंदगियाँ हुईं उनमे यह लिप्त रहा। पहले नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य, देव—इन चार गतियोकी बात कही जा रही है। यह जीव शुद्ध चैतन्यस्वरूप है, याने केवल चेतना यह ही जिसका स्वरूप है, स्वभाव है, आकाशकी तरह अमूर्त है, चैतन्यविशेष इसका लक्षण है, मगर यह आत्मा किस दशामे पड गया, राग, द्वेष, मोह जगते। यहाँ किसी पदार्थका किसी दूसरे पदार्थसे सम्बध कुछ नही, सभी पदार्थ अपनी-अपनी सत्ता लिए हुए है, लेकिन इसको मोह ऐसा लगा है कि दूसरोके संगसे अपनेको बडा मानता है, परिवारसे, धन वैभवसे अपनी शोभा मानता है, अपनेको महान् समझता है, इस तरहका मिथ्या आशय बना हुआ है कि यह जीवन भी धर्मरहित बीता जा रहा है और आगे भी न जाने क्या दशा होगी?

मोहके फलमें गतियोंकी विडम्बना—मोह प्रधान औदयिक भाव है, इसके फलमें कीडा-मकौडा, पशु-पक्षी आदिक जन्म पाते रहते है प्राणी। देखो इन जीवोपर कौन दया करता है? अभी कोई चूहा निकल आये तो लोग कुत्तेसे पकडवा देते या उसकी पूछ बाँधकर अग्नि के पास उसे ले जाते। कौन दया करता है इन जीवोपर? इन कुत्ता, बिल्ली, घोडा, गधा, भेड, बकरी आदिककी क्या दशा है, सो आप सब जानते ही है। ये सब कर्मके उदयसे होने वाली दशायें है। मनुष्य हुए तो मनुष्योकी बात देख लो—भिखारी, दीन, गरीब, अधे, लगड़े लूले मनुष्योकी दशायें देख लो, उनपर क्या गुजर रही है, और कोई बडा भी हो, वैभववान भी हो तो वहा क्या वह शान्तिका अनुभव करता है? और आत्माके स्वभावसे अलग हटकर बाह्यपदार्थोमे उपयोग दिए हुए है, उसे क्या चैन है? वह तो कितना कठिन विपत्तिमे है? देवगतिमे गये, खोटे देव हुए तो वहाँ भी व्यर्थका जीवन, अच्छे भी हुए तो भी आखिर वह संसारी जीव ही तो है। यों ये चारो ही गतियां दुःखरूप हैं, ये औदयिक भाव ही तो है और इनके होते कर्मबन्ध भी चल रहा है, मगर यहांकी अवस्थाओंमे जो कर्मबन्ध हो रहा है तो मोहकर्मके कारण हो रहा है। जीवमे मोहभाव होता है, रागद्वेष होता है, उसके कारण बंध चल रहा है। कहीं शरीरके कारण बंध नहीं, मगर ये सब राग द्वेष मोहके उत्पन्न करने मे सहायक है, आलम्बनमात्र है, इस कारण ये कर्मके बन्धन बनाये गए है।

कषायाश्चापि चत्वारो जीवस्यौदयिका स्मृताः ।
क्रोधो मानोऽथ माया च लोभश्चेति चतुष्टयम् ॥१०५७॥

कुदृष्टिकी क्रोध मानमे मग्नता—जीवके उन मलिनभावोका वर्णन चल रहा है जिन मलिनताओंके कारण यह जीव दुःखी है। दुःख क्या है, यह समझे बिना दुःखसे अलग न हो सकेंगे। जिसको दुःखका परिचय ही नही वह दुःखको सुख मानकर रह रहा है, वह अब दुःखसे क्यो हटेगा? देखो ससारके जीव क्रोध करके क्रोधमें ही तृप्त हो रहे, गुस्सा आती तो उस समय भी यह मानता कि मैं बहुत अच्छा काम कर रहा हू, मेरे लायक यह ही काम है, मै बडा हू, ये छोटे लोग है, ये क्यो नही मेरी आज्ञामे चलते? उसे मान अभिमान सुहा रहा है। जब चाह है कि मैं दुनियाके सब मनुष्योसे बडा कहलाऊँ, वह मानमे खुश है, और देखो दुःख है मानमे। जब इस पर्यायको देखकर अपनेको सबसे बड़ा मान रहा तो आप देखो उसे भीतरमे कष्ट हो रहा कि नही। अपने परमात्मस्वरूपकी सुध छोड़कर किसी भी बाहरी पदार्थ मे अपना ख्याल जमाये तो वहाँ नियमसे कष्ट है, अकल्याण है, कर्मबध है। तो कैसा मोह सवार है कि जो चीज दुःखरूप है उसीमे यह मग्न हो रहा है।

कुदृष्टिकी मायाचारमे मग्नता—माया कषाय छल कपट बहुत गदा भाव है। जो छली कपटी पुरुष है वह अपने परमात्मस्वरूपका स्पर्श नही कर सकता। किसीसे कुछ कहा, किसीसे कुछ भिडाया, इस तरह मायाचार सब लिपट गया व्यवहारमे। माया करने वाले पुरुषको टेडकी उपमा दी जाती है। माया कषायके जो चार भाव है, उनकी उपमा टेडसे की गई है। टेडमे धर्म नही। जैसे मालाका दाना होता है, मालामे काँचकी मणिके बीचमे छेद रहता है, जिसमेसे सूत पिरोया जाता है, उन १०८ मणियोको माला बना ली जाती है। अगर किसी मणिमे छेद बिल्कुल टेढा हो गया, सीधा छेद नही है तो क्या उसमे सूत पिरोया जा सकता है? नही पिरोया जा सकता, वह तो बेकार है, फेंकनेके काबिल है। तो जैसे टेढे छेद वाली मणिमे सूतका प्रवेश नही होता इसी तरह मायाचार वाले हृदयमे धर्मका रच भी प्रवेश नही हो सकता, क्योकि उसका चित्त अस्थिर है। किसीसे कुछ कहा, किसीसे कुछ, इस तरह नाना प्रकारके शल्य पडे हुए है, मगर यह जीव मायाचार करने वाला मायामे ही खुश हो रहा है। किसीकी बात किसीसे भिडाया। थोडे समयके लिए कोई लौकिक वस्तु पा लिया तो उससे वह अपनेको बडा महान् समझता है। देखो यह मायाचार कष्टरूप है, ससारमे रुलाने वाला है, मगर इस मायाचारमे ही इस मोही जीवको आनन्द मिल रहा है। उसीने ही मौज मान रहा है। तो ये कषाये दुःखरूप है और उन्हीसे यह सुख मानता है। देखो शास्त्रके उपदेश केवल सुननेके लिए नही हुआ करते, किन्तु जो बात कही जा रही है उसको अपने आपमे घटानेके लिए है उपदेश। यह बात मुझमे पायी जाती है या नही? पायी जाती है तो यह

चाहिए नही, इसको हटाना है, कोई उपाय बनाना है कि इस दुनियावी अधकारसे हटकर मैं सच्चे प्रकाशमे रहू । देखो कषाय जब होती है जीवके तो कितना कष्ट होता है और उस कषाय मे यह मोही मौज मानता है ।

कुदृष्टिकी लोभकषायमें मग्नता—लोभकषायको बताया है कि लोभ पापका बाप बखाना, याने समस्त पापोका प्रधान है लोभ, तृष्णा । बाह्यपदार्थ चाहे चेतन हो, अचेतन हो, कोई भी वस्तु हो, धन वैभव हो उस वस्तुका लोभ आता—यह मेरे पास आये, मै इससे महान् बनूगा, इस प्रकारका जो तृष्णाका रग लगा है यह जीवको बडा कष्ट दे रहा है, मगर यह जीव रात-दिन इस तृष्णामे ही प्रसन्न है । देखो यह चीज जोडी, वह चीज जोडी, अच्छे कपडे पहिन लिया, अच्छे आभूषण पहिन लिया, और-और भी आरामके साधन जोड लिया, यह सब कुछ करके मनमे कुछ ऐसी बात आती है कि लोग मुझे धनिक समझे, तो बताओ यह तृष्णाका रग है या नही ? है । तो जहाँ तृष्णाका रंग चढ़ा है वहाँ इस जीवको कष्ट ही कष्ट है । वहाँ आनन्दका लेश भी नही, मगर देखो लोभको छोडना नही चाहते । वृद्ध हो गए, लडके लोगोने सब काम-काज सम्हाल लिया, फिर भी ये मोही जीव इस तृष्णाको छोड़ नही पाते । आयु तो छूट जायगी मगर तृष्णा नही छूट पाती, क्योकि तृष्णामे इतना मुग्ध हो गया यह जीव कि उससे अपनेको सुखी मान रहा । अरे एक क्षणको भी तृष्णाका रग छूट जाय और अपनेमे बसा हुआ जो शुद्ध सहज चैतन्यस्वरूप है उसका अनुभव जगे, परमविश्राम मिले तो इस जीवका नियमसे भला होता है ।

प्रभुदर्शनमें प्रभुवत् अपने सहज स्वरूपके दर्शनकी महिमा—हम भगवानके दर्शन करने क्यो आते ? एक आदतसी बन गई, एक व्यसनसा बन गया कि लोगोको दर्शन किए बिना चैनसा नही पड़ता और लगता कि आज मैने कुछ नही किया, इस प्रकार मानो दर्शन करनेकी प्रक्रिया तो चल रही है, मगर दर्शन करना किसलिए था और उसका फायदा हम उसी समय उठायें, इस कलाका प्रयोग नही है तो हम धर्ममार्गमे प्रगति तो नही कर सकते । किसलिए धर्म करना ? यह सारा संसार, यह रात-दिनके चौबीसों घटोका वातावरण, गृहस्थी का प्रसग, लोगोका सग यह केवल एक आकुलताका ही करने वाला है, इसमे हम आकुलित होते आये है, इस आकुलतासे बचे है भगवान अरहत सिद्ध प्रभु । इनको रच भी आकुलता नही । कौनसी कला इन्होने पायी जिससे ये भगवान बने, और इनको रंच भी आकुलता नही है ? है तो वह भगवान हमारी ही जातिके । जैसे हम जीव है वैसे ही वह जीव है, वह कोई अजीव तो नही है । जो स्वरूप मेरा है वही स्वरूप उनका है । क्या फर्क हो गया कि वह तो शान्त है, पूज्य है, बड़े-बड़े लोग उनकी आराधना करते है और यहाँ हम आज ससारकी यातनाये सह रहे है । कौनसा कारण है ? वह कारण है यह कि प्रभुने अपने जीवनकी सम्हाल

कर लिया था याने समस्त बाह्य पदार्थोंसे तृष्णा हटा ली थी। किसीमें उनको मोह नही रहा, सबका विकल्प छोडा और अपने आत्माके उस चैतन्यस्वरूपमे ही अपना उपयोग लगाया। उसका फल यह हुआ कि कर्मोको निर्जरा हुई, केवलज्ञान हो गया, समस्त दुःख दूर हो गए, १८ प्रकारके दोष खत्म हो गए, निर्मल पवित्र आत्मा हो गए। अब एकदम आनन्दमय है। है हमारा ही यह जीव। जैसे कोई अपने घरका आदमी मुनि हो गया तो लोग कह बैठते कि यह हमारे ही घरके तो है मुनि हो गए, ऐसे ही यह भगवान हमारे घरके ही तो है, हमारे ही समूहके तो है। जो मै जीवस्वरूप हू, ऐसे ही वह जीवस्वरूप है। पर क्या अन्तर आ गया कि वह सदाके लिए सकटोसे मुक्त हो गए और यहाँ हम आपको दु.खी होना पड रहा है। यह अन्तर आया अपने स्वरूपकी सम्हालसे, सम्यग्दर्शनसे। गाते तो रोज है—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्रको नमस्कार हो, पर यह केवल मुखसे गाने भरकी बात है, इस तरह से काम न चलेगा। अपना उपयोग ऐसा बने कि यह सम्यग्दर्शन मेरी ही तो चीज है, मेरेमे आयगी और मेरेसे भला होगा और मेरे लिए बडा सुगम है सम्यक्त्व पाना। बाह्य पदार्थोसे मुख मोड़े, अपने आत्मस्वरूपकी ओर दृष्टि करें तो आत्मामे एक अद्भुत आराम मिलेगा, सम्यग्दर्शन उत्पन्न होगा। मेरा स्वरूप है सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र, जिसकी हम जाप करते है वह मेरा ही तो स्वरूप है। स्वरूपको सम्हालें और सब संकटोसे पार हो जावें।

स्वरूपकी भूलसे ही कष्टोका आक्रमण—भैया! अब तक जो दु.ख पाये है वह स्वरूप भूलकर ही पाये है। बताते हैं कि हिरणकी नाभिमे कस्तूरी बसी रहती है जो बडी सुगधित होती है। उसकी सुगध हवाके साथ-साथ बहती है। उस सुगधको पानेकी इच्छासे हिरण चारो ओर यत्र-तत्र दौड लगाता है। दौड लगाते-लगाते वह तेज हाँफने भी लगता है अथवा शिकारी लोग उसे मार भी डालते है। तो देखो एक कस्तूरीका परिचय न होनेसे हिरणकी क्या दशा हुई? कस्तूरी बसी थी हिरणकी नाभिमे ही, मगर उसका पता न होनेसे वह जगलमे चारो ओर उसे ढूढता फिरा, अन्तमे मरणको भी प्राप्त हो गया। इसी तरह यह परमात्मस्वरूप यह अनन्त आनन्द परमपवित्रता मेरे ही स्वरूपमे है, मगर इसका परिचय नही है, तो बाहरमे अपनी दृष्टि गड़ाये है, मुझे यहाँसे सुख मिलेगा, यहाँसे ज्ञान मिलेगा यो वह सब तरफकी दौड़ लगा-लगाकर कष्ट पाता है। भले ही कुछ साधन है मगर धर्म तो न मिलेगा बाहरमे, आनन्द तो न मिलेगा बाहरसे। मदिरमे जाकर आप अपने विचार बनायेंगे और अपने स्वरूपका सहारा लेंगे तो धर्म मिलेगा, नही तो मदिरमे कही धर्म नही मिल जाता। आप दर्शन करे, विचार बनायें, प्रभुका सहारा लें तो धर्म मिल जायगा। तो यह आनन्द शान्ति, धर्म सब कुछ अपने आपके अन्दरमे है, मगर इसका परिचय नही है

सो बाहर ही बाहर डोलता रहता है । देखो ये चारो ही कषाय मलिन है, दुःखदायी है, कर्मके उदयसें होने वाली है, एकसे एक बढकर है । जब गुस्सा आता है तो सब गुण भस्म हो जाते है । किसीका आपने कितना ही उपकार किया हों और उसे ऐहसान मानना चाहिए और एक वार आप उसपर तेज गुस्सा हो जायें तो वह आपकी सारी बातें भुला देता है । क्रोध, मान, माया, लोभ ये चारो ही कषायें इस जीवको कठिन कष्टमे डालती है । ये कर्मके उदयसे होते है, इसलिए कर्ममे और अपने आत्माने भेद समझें, कर्मसे चित्त हटावें और आत्मामे चित्त लगावें तो शान्तिका मार्ग मिलेगा ।

ते चात्मोत्तरभेदैश्च नामतोऽप्यत्र षोड्श ।
पञ्चविंशतिकाश्चापि लोकासंख्यातमात्रकाः ॥१०५८॥

अनन्तानुबन्धी कषायमें महान् उपद्रव—कषायोकी बात चल रही है । ये कषायें मूलमे चार प्रकारकी है—क्रोध, मान, माया, लोभ, और इनके भेद अनन्तानुबधी आदिक भेदसे चार-चार बनावें तो १६ हो गए । यह कषायकी बात चल रही है जो जीवको दुःख दे रही है, अपने आत्मस्वरूपकी पहिचान नही है सो कषायोमे लग रहे है और दुःखी हो रहे है । अनन्तानुबधी क्रोध, मान, माया, लोभ ऐसी कषायें जगी कि जिनमे आत्माके स्वरूपकी सुध न रही, उसे कहते है अनन्तानुबधी । जिसके अनन्तानुबधी कषाय है वह ससारमे जन्ममरण करता ही रहेगा । उसकी परम्परा बढती ही चली जायगी । जब तक अनन्तानुबधी है तब तक जीवके सुबुद्धि नही जग सकती, सम्यक्त्व नही जग सकता । भैया ! अनन्तानुबधी कषायसे दूर होवें, किसी जीवके प्रति बैरभाव मत लावें । सब जीव मेरे समान है । किसका मै बिगाड करूँ ? कोई मेरा विरोधी नही है । सब जीव मेरी ही तरह ज्ञानानन्दस्वरूप वाले है । आप जिसे आज विरोधी मानते है वह अनेक बार आपका कुटुम्बी बना है, जिसको आज कुटुम्बी मानते वह अनेक बार आपका शत्रु बना है । बाहरमे न कोई किसीका शत्रु है, न कोई मित्र । केवल ख्यालभर बनाते तो शत्रु अथवा मित्र जचने लगते । यहाँ तेरा बिगाड करने वाला कुछ नही है । तेरा बिगाड करने वाला तेरे ही भीतर रहने वाली कषाय है, तेरा सुधार करने वाला भी बाहरमे कोई नही है । अपने स्वरूपका ज्ञान करें, और उसमे मग्न रहे, इससे सुधार होगा । क्या मग्नता आप जानते नही ? जिसको आप समझते कि यह मेरा सब कुछ है उसमे आप मग्न हो जाते कि नही ? स्त्रीको आप समझते कि यही मेरा सब कुछ है तो आप उसमें मग्न हो गये कि नही ? मगर वह स्त्री आपसे भिन्न है, उसके कर्म अलग है, आपके कर्म अलग है, मगर जब तक सयोग है, जब तक राग लगा है तब तक सद्बुद्धि कहाँ आती ? यहाँ थोडेसे धन-वैभवको पाकर लोग उसमें मग्न हो जाते, मगर उसमे मग्न होनेमे लाभ क्या ? आपकी यह फैक्टरी, आपका यह सारा धन-वैभव आपके साथ जायगा

क्या ? लोग सोचते है कि साथ तो न जायगा मगर मेरे बेटोके काम तो आयगा।…अच्छा तो ये बेटे मरकर आपके साथ जायेंगे क्या अथवा ये बेटे आपकी कुछ मदद कर देगे क्या ?

ये बेटे आपके कुछ नही है, मगर मोहका ऐसा अधकार पडा है कि जिसके कारण यह जीव इस वैभवके खातिर अन्याय करता है, अनेक जीवोको कष्ट पहुचाता है। आज देशमे जो इतना भ्रष्टाचार फैला है उसका कारण क्या है ? बस एक मिथ्याज्ञान। देखो छोटेसे लेकर बडे-बडे अधिकारी तक सब कोई इस रिश्वतखोरीमे मग्न है, सरकारके काम भी बिगड रहे है और परेशान भी सब हो रहे है, मगर मोह ऐसा कठिन छाया है कि किसीके कुछ सुबुद्धि नही जगती। आत्मन्, अपना हित चाहते हो तो एक सच्चा ज्ञान जगायें, इस मिथ्याज्ञानको दूर हटायें। किसीके साथ जरा भी अन्याय न करें। हाँ जीवन चलाना है तो धर्मसे अपनेको ओत-प्रोत करें। धर्मपालन ही जीवनका एक सार काम है, ऐसा भाव यदि जग जाय तो आज देखो देश खुशहाल हो जायगा। देशमे कोई आपत्ति नही, मगर तृष्णाका रग ऐसा चढा है कि आज एक भी व्यक्ति सुखी नही है।

अनन्तानुबन्धी कषायमे बरबादीका नृत्य—अनन्तानुबधी कषाय, अनन्तानुबधी क्रोध, ऐसा क्रोध कि मै दूसरेको बरबाद करके ही रहूगा, ऐसा सकल्प ठान लिया, इस भवमें बदला न चुका सके तो अगले भवमे बदल लेगे। यह अनन्तानुबधी क्रोध, अनन्तानुबधी मान—अपने आपको इतना मान चाहते कि जगतके सब जीवोको तुच्छ समझते, ये जीव कुछ नही है, बस जो कुछ हू सो मैं हू। मेरा ही प्रभाव है, मैं ही समझदार हू, इस प्रकारका जब मान जग रहा तो यही है अनन्तानुबधी मान। इस जगतमे विपयोकी प्राप्तिके लिए मायाचारी करना, चाहे इसमे कोई दु खी हो, किसीकी मौत हो, किसीका कोई हाल हो, पर अपनेको विपयसामग्री पाना है। इस तरहकी मायाचारी यह अनन्तानुबधी माया है। अनन्तानुबधी लोभ—मर जायेंगे, मगर लोभ न छोडेगे। तुम्हारे इस पजाबका ही एक किस्सा सुना है कि कोई किसान दो गाडी अनाज १०००) रु० मे बेचकर आया। जाडेके दिन थे, सो गाँवोमे ऐसा होता है न कि कोई एक गड्ढासा खोदकर उसमे आग जलाकर उसके पास बैठकर तापा करते है, सो उसके घरके सभी लोग जाडेके दिनोमे उस भट्टीके पास बैठे ताप रहे थे। आपस मे गप्पें मार रहे थे। वहाँ उस किसानका कोई दो सालका बच्चा भी खेल रहा था। किसी तरहसे खेल-खेलमे वे १०००) रु० के नोट बच्चेके हाथमे आ गए। उस बच्चेको समझ तो कुछ थी नही सो आगमे डाल दिया। आगमे पडते ही सारे नोट जल गए। वहाँ १०००) रु० के नोट बिगड़नेपर उस किसानको बच्चेपर इतना क्रोध आया कि बच्चेको उस जलती भट्टीमे पटक दिया, बच्चा उसीमे जलकर मर गया। तो देखो यह इस लोभ कपायका ही तो कारण है। यह लोभ कषाय बडो अनर्थकारी है, बडी बुरी चीज है। समाचार-पत्रोमे अनेक हत्याओ

के समाचार प्रतिदिन मिलते है। घरोमे भी हत्याये हो जाती है। यह सब क्या है? यह है परिणामोकी मलिनता। ऐसे मलिन परिणाममे रहकर इस मनुष्यभवको अगर गुजार दिया तो बताओ कोई लाभ उठा पाया क्या?

कषायसे हटकर ज्ञानस्वरूपमें उपयुक्त होनेका महत्त्व—अरे इस मनुष्यभवकी सफलता तो इसमे है कि अध्ययन करे, स्वाध्याय करें, तत्त्वचिन्तन करे, सत्संग करे, प्रभुभक्ति करें, पर गृहस्थ हो तो गृहस्थी चलानेके खातिर ५-७ घंटा नियत समयपर रोजिगार करे। यह जीवन विषयसाधनोके लिए नही है। इस जीवनका सदुपयोग मोक्षमार्ग बनानेमे है, अन्यथा जैसे कीडा-मकौडा या खोटे मनुष्य अनन्त बार होते चले आये है उसी तरह ही यह जीवन भी समझ लीजिए। कोई लाभकी बात तो नही आयी। मोक्षमार्ग बने तो इस जीवको लाभ है अन्यथा जीवन बेकार है। इस तरह अपनी शान्ति चाहो, आनन्द चाहो, निराकुलता चाहो, उसीको पसद करो, कषायोको पसद मत करो। ये तो सब औदयिक भाव हैं। ऐसे ही और भी कपाय है जो अनन्तानुबंधीसे कुछ कम दुःख देने वाली है। आखिर है सब दुःखमयी चीजे। उन कषायोसे हटना और अपने आत्मस्वरूपमे लगना, इसीसे इस जीवनकी सफलता है।

अनन्तानुबंधी क्रोध मानका संताप—कपाय शब्दका अर्थ है जो आत्माको कसे अर्थात् दुःख देवे। सो देख लो—जब क्रोध, मान, माया, लोभ कोईसी भी कषाय उमडती है तो यह जीव बेचैन हो जाता है और उसमे भी चार-चार जातिके है—अनन्तानुबधी क्रोध, मान, माया, लोभ जो मिथ्यात्वका बन्धन कराये, ऐसी कपाय, बडा प्रचड क्रोधी होना, बैरको न छोडना, दुष्ट स्वभावका होना, दया धर्म रच भी चित्तमे न रहना, परिग्रहके प्रति ममता रखना याने ये सब मेरेको मिले और दूसरोकी कुछ परवाह न होना, ऐसी जो भीतरमे खुदगर्जी है अथवा तीव्र कषाय है वह अनन्तानुबधी कषाय है। जहाँ अनन्तानुबधी कषाय है वहाँ सम्यग्दर्शन नही। भला सोचो तो सही, इस कषायसे हम आपका कोई भला है क्या? अगर नही है भला तो फिर जो कषाय उपजती है उसे यह छोडना क्यो नही चाहता? उसे अपनाता क्यो है? इसकी बुद्धि बिगड गई है। अपने आपके सत्य पवित्र प्रभुवत् आनन्दमय स्वरूपकी सुध नही है इसलिए यह बाहर भटकता है। अनन्तानुबधी मान—इतना तेज घमड कि सारे जीवोको तुच्छ समझ लिया। ये कुछ नही है, जो कुछ हूं सो मैं हू।

स्वरूपदृष्टि हुए बिना सब जीवोंको यथार्थतया समान मान सकनेकी असंभवता—भला बतलावो—जितने जीव है उन सब जीवोका स्वरूप एक समान है या उनमे घट-बढ़ है? कर्मका उदय है, इसलिए घट-बढ आता है। कोई धनी है, कोई निर्धन है, कोई राजा है, कोई रंक है, ऐसी बातें आ गई है, पर यह जीवस्वरूप तो प्रभुवत् है, जो अरहतका स्वरूप, जो सिद्धका स्वरूप सो हम आपका स्वरूप। देखा बड़े-बड़े वैभव भी आप पा लें, लेकिन उससे

शांति न मिलेगी और एक अपने आपका सही स्वरूप आपकी दृष्टिमे आ जाय कि मैं तो केवल चैतन्यप्रकाशमात्र हू, इसमे जो गडबडी है वह सब कर्मकी झाकी है। मैं तो स्वय शुद्ध हू, कर्म की झाँकीसे मै अशुद्ध बन रहा हू। अपने सही स्वरूपकी सुध आ जाय तो उसमे शान्तिका मार्ग मिलेगा अन्यथा बडे राजा महाराजा भी बने, बडे धनसम्पन्न भी बनें, फिर भी शान्ति रच नही आ सकती। शान्ति तो अपने आत्माका स्वरूप है, अपने आत्माके ज्ञानसे शान्ति उत्पन्न होती है। जहाँ परवस्तुके प्रति ममता है, तृष्णा है, अज्ञान है, एक मान रहे है परको और अपनेको वहाँ तो बेहोशी है, इसको शान्ति कहाँसे आये ? सच-सच जानें। हम भगवान को पूजते है तो किस कारण ? कौनसी खासियत है भगवानमे ? तो प्रथम खासियत यह है भगवानमे वीतरागता और सर्वज्ञता है। रागद्वेप जन्म जरा मरण आदिक कोई दोष नही रहे, इसलिए पवित्र हो गए, और उनका ज्ञान इतना पूर्ण विकसित है कि तीनो लोकालोक सब एक साथ ज्ञानमे आ रहे है, इतना उच्च आत्मा वह है भगवान। वही हमारा स्वरूप है। जरा ममता त्यागकर देख तो ले, अपना सही-आनन्द चख तो ले कि अपनेमे क्या समृद्धि भरी पडी है ? कषायोसे प्रीति न करें, ये कषाये तो दुःखके लिए ही आयी है, ये मेरे स्वरूप नही हैं। कोई भी पर्याय मिली हो, कोई भी स्थिति मिली हो उससे अपने आपको बडा मत समझें, और मान लो कि इस दुनियामे हम बडे भी हो गए फिर भी इन छोटोके बीच उनको समान मानते हुए अगर उनके बीच रहे तो कितना आनन्द प्राप्त होगा। और जहाँ यह दुविधा मिली कि ये कुछ नही है, मै हू सब कुछ, वहाँ मित्रता बिगड गई, अब आराम न रहेगा, कुछ कष्ट आयगा, इस नाते मान कषाय इस जीवको कठिन क्लेश पैदा करती है।

अनन्तानुबंधी माया व लोभकी कल्मषात्मकता—माया लोभ यह तो बहुत बडा रग है, इसमे लिपटा हुआ प्राणी तो बडा कलकित है, उसे शान्ति कहाँसे आयगी ? तो अनन्तानुबधी कषाय यह ससारकी परिपाटी बढ़ा रही है।

अनन्तानुबंधीका अभाव होनेपर अप्रत्याख्यानावरणके उदयसे होने वाली त्रुटियां—जिन जीवोको सम्यग्दर्शन हो गया, आत्माका और परका सच्चा स्वरूप जिनके ज्ञानमे आ गया उनके अनन्तानुबधी कषाय नही रहती, फिर भी अगर वे कोई व्रत नही कर सकते, कोई त्याग नही कर सकते, सच्चा तो ज्ञान कर लिया, मगर त्यागमे नही बढ सकते तो उनके है अप्रत्याख्यानावरण कषाय याने श्रावकका व्रत भी नही ग्रहण कर सकते, इतनी कमजोरी है। वैराग्य प्रतिमा, सच्चा ज्ञान जगनेपर भी अभी ज्ञानमे निर्बलता है। भला बतलावो इस जीवको किसी भी बाहरी पदार्थका सग शान्ति दे सकता है क्या ? मकान हो, परिवार हो, मित्र हो, कोई भी हो, अपना शरीर भी जब तक शरीरका सम्बन्ध है तब तक इस जीवको शान्ति मिलती है क्या ? यह तो कल्पनाकी बात है कि भूख लगी, दुःख हुआ,

और थोडा शमन कर लिया, उसमे मौज मान लिया, मगर भूखें सदाके लिए मिट गई क्या ? अब भूख रोज रोज न लगेगी क्या ? रोज वही भूख, वही शमन, वही कष्ट। किसी भी पर-पदार्थका संग इस जीवके लिए शान्तिदायक नही है। तो क्या करना ? इन सबसे विरक्त होना, उपेक्षा करना, और अपने आपका जो सहजस्वरूप है केवल ज्ञान जाननमात्र, जिसमें रागद्वेषका प्रसग नही, ऐसा शुद्ध जानन, यह स्थिति बने तो उसे शान्ति प्राप्त हो। हाँ तो अप्रत्याख्यानावरण कपाय जिसमे सयमासयम नही हो पाता, फिर भी यथार्थ ज्ञान है स्व और परका इसलिए भीतरमे व्यग्र नही होता।

अनन्तानुबंधी व अप्रत्याख्यानावरणका अभाव होनेपर भी प्रत्याख्यानावरणके उदयसे होने वाली त्रुटियां—जो जीव ज्ञानबलमे बढ़ गया और वैराग्य उत्पन्न हो गया उसके फिर अप्रत्याख्यानावरण कषाय नही है। श्रावक बन गया, शुद्ध प्रवृत्तिसे रहने लगा, फिर भी पूर्ण सयम ग्रहण नही कर सकता। देखो गृहस्थ भी अगर सही ढगसे गृहस्थीमें रहे तो उसका जीवन सफल है। पहली बात तो यह है कि जो कुछ समागम मिला है उसके प्रति यह भाव रखे कि यह पुण्यफलसे मिला है, यह तो गुजारेके लिए है, यह मेरा कुछ नही है, इन सबका उपयोग गुजारेके लिए है। मुझे किसलिए गुजारा करना ? जिन्दा रहनेके लिए। क्यो जिन्दा रहना ? धर्मपालनके लिए। अगर धर्मपालनका प्रवर्तन नही है तो जिन्दा रहना भी बेकार। वहाँ मरण और जीवन दोनो एक समान है ? क्या ऐसे अनेक जीवन बीत नही चुके जिनमें खूब ममता बसायी, विरोध किया, अपने आपके स्वरूपको भूले रहे। वह जीवन क्या जीवन था ? वह मरण था याने आत्माका जो चैतन्यस्वरूप है वह तो निरन्तर मर रहा है, क्योकि इसका उप-योग विषयोमे, कषायोमे, अज्ञानमे जा रहा है। तो धर्मके लिए जीवो याने सहज ज्ञानस्वरूप की आराधनाके लिए जीवन है और उस जीवनका साधन है यह ही जो गृहस्थीमे कर रहे। तो गुजारा मात्र चलानेके लिए ये सब परिवार है। अगर यह अज्ञान आया कि ये ही मेरे सब कुछ है, इन्हीसे मै बडा हू···तो जीवनकी सफलता नही है। बडे बनकर नम्र रहे, सबको समान समझें, सबका आदर भाव रखे तो एक तो प्रसन्नता बढ़ेगी और जो दुनियासे न्यारा ऊँचे चढ़-चढकर रहेगा उसे तो साक्षात् क्लेश है। तो ये कषायें जैसे-जैसे ज्ञान बढ़ता है कम होती जाती है और यह जीव कुछ शान्तिके मार्गमे बढ़ता है।

अनन्तानुबन्धी अप्रत्याख्यानावरण व प्रत्याख्यानावरणका अभाव होनेपर भी संज्वलन कषायके उदयसे होने वाली त्रुटियां—ज्ञानबलसे बढ़ा तो इसके अन्य कषाये नही रहीं, मात्र सज्वलन कषाय रहती है। मुनि हो गए, तो मुनि होनेका अर्थ क्या ? याने केवल आत्मा आत्माकी ही धुन बनाये रखनेका काम रहे उसे कहते है मुनि। जो समाजमे बैठकर गप्प कर, खेले, मौज माने, और-और बड़ी-बड़ी बातें करे वहाँ मुनिपना नही है। मुनिपनाका अर्थ है

कि अपने उस ज्ञानस्वरूप आत्माकी आराधनामे धुन लग गई तब ही तो उसे घरमे क्या काम रहा ? घर छूट गया, वस्त्रोंकी भी फिक्र नही रहती, कहाँ धरना उठाना ? यह भी उसे बोझ दिखना, क्योकि अपने परमात्मस्वरूपकी भक्तिकी इतनी बडी धुन लगी है कि उसे तो कपडेका बोझ लग रहा, हटा दिये कपडे । खाये कैसे ? अगर खानेका कुछ साधन खुद बनायेगा तो वही चिन्ता, वही शल्य रहेगी, फिर तो आत्माकी धुन खतम हो जायगी, इसलिए जब भूख लगी तो चर्याको निकल गए । कही भक्तिपूर्वक किसीने निर्दोप आहार दे दिया तो क्षुधा मेट लिया और आकर फिर धर्मसाधनामें लग गए । इसे कहते हैं मुनिपद । निर्दोप वृत्ति होनेपर मुनि सज्वलन कपायके उदयसे अपनेमे स्थिरता नही पाता । वह मुनि तत्त्वज्ञानमे बढे, श्रेणीमे पहुचे तो वहाँ कर्मनिर्जरा होती, और श्रेणियोंमे बढे तो वहाँ निर्वाण प्राप्त होता ।

सकल सकटोसे मुक्त होनेकी कुञ्जी अन्तःसहजपरमात्मतत्त्वका परिचय—इस जीव का भला अपने आपके सहजस्वरूपके परिचयमे है । दूसरा और कोई उदय नही है कि इस जीवका कल्याण हो सके । दुनियावी दृष्टिसे जिसके बडा-बडा वैभव है उसे देखकर निर्धन लोग समझते है कि यह तो बहुत सुखी है, मगर जरा उसके हृदयको टटोलकर तो देखो, वह बडा दुःखी है । उसे रात-दिन चैन नही पडता । तो धन वैभवका समागम उस जीवके लिए शान्ति का कारण नही, शान्तिका कारण है आत्माके सहजस्वरूपका यथार्थ ज्ञान । एक जरासा ही तो नुक्ता है, कुञ्जी है सकट मेटने और सुखी होनेकी । यह कुञ्जी जिसने पा ली उसका जीवन सफल है । वह क्या कुञ्जी है ? वह कुञ्जी यही है कि अपने आपके बारेमे विचार करें कि मैं आत्मा सहज अपने आप स्वय किस स्वरूपमे हू ? शरीरका, कर्मका सम्बंध होनेसे जो बन रहा वह मै नही । मै अपने आप जो हू सो ही मैं हू । इस शरीरमे लिपटकर, बँधकर जो हाल हो रहा यह मैं नही, यह तो परिस्थिति मजबूर करा रही, पर मैं यह नही हू । मैं अपने आप अपनेमे अपने ही अकेलेमे क्या हूं—उस स्वरूपकी जिसने दृष्टि बना ली और फिर जब चाहे बस वही दृष्टि रखे कि मै यह हू, उसे सम्यक्त्व जग जायगा । देखिये सब परकी उपेक्षा करके आत्म-स्वरूपकी धुन बनाकर कोई जीवन निभाये तो यह शक न करना कि उसका जीवन कैसे निभेगा ? अरे इसके इतना तीव्र पुण्यकर्मका बन्ध होता है कि उसके जीवननिर्वाहकी सब सामग्री स्वयमेव प्राप्त होती हैं । यहाँ कोई कमाने वाला है क्या ? एक भ्रम लगा रखा है कि मै दूकानमे बैठकर इतना धन कमा डालता हू ? अरे नहीं, य हाथ-पैर चलाने भरसे कहीं कमायी नही हो जाती, किन्तु जिन-जिन जीवोके काममे, उपभोगमे यह सम्पदा आती है उन सबके भाग्यसे (पुण्योदयसे) यह कमायी चल रही है । आपको तो यह ध्यान रखना चाहिए कि जिनके पुण्योदयसे यह कमायी चल रही है, मै तो उनका सेवक हू, मैं कमाने वाला नही, मैं तो ज्ञाता हू, जाननहार हू । बस ज्ञाता रहना, जानना, अनुभवना मेरा काम है । इससे

बाहर मेरा काम नही है तो जिन जीवोको अपने स्वरूपकी सुध हुई है वे जीव धन्य है, महा भाग्यवान है, पुण्यवान है, धर्मात्मा है, उनकी तो मनुष्य क्या, देव भी पूजा करते है। जिसने अपने स्वरूपकी सुध ली वहाँ कषायें नही ठहरती। जहाँ कषाये न रही वहाँ इस जीवको आनन्द है।

कषायकी विविध वृत्तियाँ—ये कषायें जो चार प्रकारकी बतायी थी, जातिभेदसे १६ तरह की हुई और प्रवृत्तिकी बातें और मिलाये तो वे २५ प्रकारकी हो जाती है। हँसना, मजाक करना यह भी तो कषाय है, किसीके प्रति प्रीति उपजना यह भी कषाय है, किसीके प्रति घृणा उपजना, यह भी कषाय है, किसी बातपर रंज आये शोक आये, क्या करें ? बडा नुक्सान हुआ, बड़ा गजब हुआ, वह भीत गिर गई, उस धनमे टोटा पड गया, उसके पीछे शोक करना यह भी तो कषायकी बात है। किसी बातका भय (डर) उत्पन्न होना—हाय अब क्या होगा ? पता नही सरकार कैसे कानून बना दे, कहो सारा धन जिन्दामे ही छिन जाय या मरने पर सारा धन छूट जायगा···आदि अनेक बातें सोच सोचकर भय करना, यह भी कषाय है। देखो इन बाहरी चीजोसे मतलब तो कुछ नही इस जीवका, पर तृष्णाका रग ऐसा लगा है कि यह जीव बडा परेशान हो रहा है। इस तृष्णाके सम्बन्धमे एक घटना आयी है कि कोई किसान एक रुपया कलदार सिक्का अपनी मुट्ठीमें बाँधकर एक आनेका आटा खरीदने दुकान गया। गर्मीके दिन थे सो वह रुपया पसीनेसे भीग गया। खैर, आटा तो ले लिया पर जब वह रुपया देने लगा सो देखा कि रुपया नो रो रहा है, सो कहा—ऐ नोट तू रो मत हम मर जैहे पर तुझे न भजै है। यह तो एक किसीकी घटनाकी बात कही, पर यह तृष्णाकी बात तो घर घरमे है। जहाँ तृष्णा है वहाँ कल्याणका मार्ग नही मिल सकता। तो यह भय होना भी एक कषाय है। ग्लानि होना भी एक कषाय है। जैसे खुदके लडकेके नाक निकल पडे तो लोग अपने कपडेसे पोछ देनेमे ग्लानि नही करते, पर किसी दूसरेका लडका हो तो उसकी नाक बहते देखकर लोग बहुत नाक भौ सिकोड़ते है, बड़ी ग्लानि करते है। यो ही हर एक बातमे, जरा जरासी बातमे ग्लानि करना यह भी एक कषाय है। इसके फलमे बडा विकट कर्मबन्ध होता ? वेद-काम विकार, विषय वासना का चित्तमे बना रहना यह भी एक कषाय है। देखो यह शरीर महादुर्गन्धित चीजोसे भरा हुआ है फिर भी कामवासनाके वशीभूत हुए प्राणियोको यह शरीर बडा रम्य लगता। तो यह कामवासना भी एक कषाय है, तो ऐसी ९ नो कषायें हो जानेसे ये २५ कषाये होती है, और २५ ही क्या, उनके भेद और किए जायें, उनका तारतम्य देखा जाय तो लोकके असख्याते लोक प्रमाण कषायें है। जितने लोकमे प्रदेश है उससे असंख्याते लोक हो, उनके प्रदेश हो, उतनी तरहकी कषायें होती है। यह जीव इन कषायोंसे बच ले और एक यही धुन

बना ले कि मेरेको सम्यग्दर्शन मिले तो वह अपने हितका मार्ग पा जायगा, सुखी हो जायगा। सम्यग्दर्शन क्या ? अपने आत्माके बारेमे यह दृष्टि जग जाय कि मैं तो मात्र चैतन्यप्रकाश हू, रागद्वेष विकल्प विचार सुख दुःख यह तो कर्मलीलाकी झलक है, इनमे मैं क्यो लगूँ ? ये मेरे स्वरूप नही, मेरा स्वरूप केवल ज्ञानमात्र है। ऐसी दृष्टि जगे तो उसके सम्यग्दर्शन होगा।

अथवा शक्तितोऽनन्ताः कपायाः कल्मपात्मका।
तस्मादेकैकमालापं प्रत्यनन्ताश्च शक्तय ॥१०५०॥

शक्त्यपक्षेया कषायोकी अनन्तता—कषाय औदयिक भाव है, कर्मके उदयसे ये विकार हुआ करते है, उनका यह जिक्र चल रहा है कि ये कष्ट दिया करते हैं। इन कपायोको अब तक ४, १६, २५ और असख्यात लोक प्रमाण इतनी तरहसे समझा गया। अब कहते है कि इतना ही नही, इनको शक्तिकी अपेक्षा देखा जाय तो कषायें अनन्त है। इनको अनुभाग फलशक्ति उसकी दृष्टिसे देखें, तो अनन्त प्रकारकी कषाये है। अब देखो आप एक है और कषायें लदी है अनन्त तो कितना अपनेको एक अरक्षित समझा जाय ? और उसपर भी दुनियाकी चीजोको निरख-निरखकर हर्ष मानें—सब कुछ मिला, अहा तो जब तक मिथ्यात्वका विप है तब तक यह जीव कैसे सुखपूर्वक रह सकता ? ये कपाये अनन्त है, ये सारी कपायें कल्मष है, मलिन है, जिनका अधकार जैसा रूप है। जब कभी किसीके क्रोध जग रहा तो उसमे अनत अनुभाग है। मान, माया, लोभ जग रहा तो उसमे अनन्त अनुभाग है, इस तरह ये कपाये अनन्तरूप है।

मै हू के निर्णयका महत्त्व—हम एक है और हमपर बोझ इतना विकट लदा है, लेकिन एक कला ऐसी है हम आपमे कि जिस कलाका प्रयोग करें तो यह सारा भव-भवका बाँधा हुआ कर्म बोझ क्षणभरमे जलाया जा सकता है, हटाया जा सकता है। वह कला क्या है ? अपने स्वरूपकी पकड, मैं यह हू। देखो ये जो विकट दशाये हो रही है—नरक, निगोद, मनुष्य, तिर्यञ्च आदिककी, इनमे जो पर्याय प्राप्त हुई उसको यह जीव मानता है कि मै, यह हू। जीवकी इस मिथ्या मान्यतासे ही ये सब दशायें हो रही हैं, और इस जीवकी यदि ऐसी मान्यता हो जाय कि यह मैं आत्मा अमूर्त निर्लेप ज्ञानमात्र हू, इसमे किसी परपदार्थका रंच भी प्रवेश नही, तो उसकी इस मान्यतासे ही ससारकी सारी भटकना खतम हो जायगी, ससारसे पार हो जायगा। जीवकी मिथ्या और सच्ची मान्यतापर ही उसका पतन और उत्थान है। तो अपना एक यह निर्णय बनाये कि मुझे तो अपने आत्माको समझकर ही रहना है और अपना उपयोग इस परमात्मस्वरूपकी ओर ही अधिकतर रखना है।

अस्ति जीवस्य चारित्र गुणः शुद्धत्वशक्तिमान्।
वैकृतोऽस्ति स चारित्रमोहकर्मोदयादिह ॥१०६०॥

विश्वास, जानन व रमणकी जीवप्रकृति—जीवमे क्या संमृद्धि नही ? फिर क्यों बाहर ढूक-ढूककर रोया जा सकता है—हाय ! मेरे पास कुछ नही । अरे अपने स्वरूपको तो देख, उसमे बहुत बड़ी समृद्धि पड़ी हुई है । स्वरूप ही आनन्दमय है, स्वरूप चैतन्यप्रकाश रूप है । क्या है समृद्धि उसमे ? सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र, दर्शन, ज्ञान, चारित्र ये तीन पुरुषार्थ इस जीवमे स्वभावसे पडे हुए है । किसी न किसी जगह विश्वास, आश्वासन बनाये रखना, पहला गुण जीवमे यह है । किसी भी जीवमे देख लो, कोई घरमे विश्वास बनाये है कि यह घर हितरूप है, कोई कुटुम्बमे विश्वास बनाये हुए है, कोई जड़ धनमे विश्वास बनाये हुए है । तो ज्ञानी जीव अपने आपके सहज चैतन्यस्वरूपमे विश्वास बनाये है कि यह ही हितरूप है । जीवमे यह स्वभाव पडा हुआ है कि कही न कही विश्वास बनाये रखना । अब अपनी-अपनी यह छाँट है कि कहाँ विश्वास बनायें कि अपनेको धोखा न हो, अपने आपकी आराधनामे धोखा न हो । बाहरमे कोई कितना ही सगा हो, कहा नही जा सकता कि यहाँसे धोखा न मिलेगा, पर अपने आपके स्वरूपकी आराधनामे धोखेका काम नही । विकास ही विकास बढ़ता चला जाता है । इस जीवमे दूसरी आदत यह है कि सही-सही ज्ञान बने । झूठा ज्ञान बनानेके लिए कोई जीव राजी न होगा । भले ही कोई मिथ्यादृष्टि है, पर वह भी अपनी बुद्धिके अनुसार सही ज्ञानमे ही प्रीति रखता है । जब जान लेता कि यह तो झूठा ज्ञान है तो उसमे यह प्रीति नही रखता । चाहे झूठको भी सच समझ ले, यह अलग बात है, पर जिसे झूठ समझ ले उसमे वह प्रेम नही रखता । तो सच्चे ज्ञानसे प्रीति रखनेकी आदत इस जीवकी है । तीसरी आदत जीवकी यह है कि कही न कही रम जाना, मग्न हो जाना । चाहे पशु हो, पक्षी हो, कीड़ा-मकौडा हो, ज्ञानी हो, अज्ञानी हो, सभीकी आदत है कि किसी न किसी बातमे रम जाना । देखो कोई घरमे रम रहा, कोई स्त्रीमे रम रहा, कोई पार्टीमे रम रहा, कोई अपना किसी तरहसे नाम समझकर उसमे रम रहा, कोई विषयोमे रम रहा, कोई खानेमे रम रहा, और ज्ञानियोको देखो तो वे अपने आत्माके सहज विशुद्ध स्वरूपको निरखकर उसमे रम रहे ।

रम्य आधारके विवेकका महत्त्व—देखो यह विवेककी बात है कि हम कहाँ रमे कि हमको सदाके लिए शान्ति मिल जाय ? वह स्थान है अपना आत्मदर्शन, चतन्यप्रकाश, उसमें रमे । तो इसको कहते है चारित्र । रमनेका नाम है चारित्र । तो प्रत्येक जीवमे चारित्र नाम का गुण है । जिसकी दृष्टि विशुद्ध है वह सही काम करेगा और अगर चारित्रमोहनीय कर्मका उदय आया है तो वही गुण विकृत बन गया, मायने रमना तो चाहिए था आत्माके सत्य स्वरूपमे, किन्तु रमने लगा यह विषयकषायोमे, ऊल-जलूल घटनाओमे । तो यह सब कर्मका आक्रमण है, कर्मकी झलक है, मेरा स्वरूप नही है । मेरा स्वरूप तो विशुद्ध चैतन्यमात्र है ।

मै अपने इस चैतन्यस्वरूपमें ही आत्मसात करूँगा। इन कषायोसे मै दूर होता हू। ये कषायें मेरे लिए बरबादीकी चीज है, मैं अपने स्वरूपका आदर करूँगा, भगवानके दर्शन करूँगा, उनके स्वरूपको निरख-निरखकर अपने स्वरूपका स्पर्श करूँगा और इस निज परमात्मतत्त्वकी आराधनामे अपना ज्ञान लगाऊँगा, ऐसा ज्ञानी जन किया करते है, यह ही हम आपको करना है तब शान्ति प्राप्त हो सकती है।

तस्माच्चारित्रमोहश्च तद्भेदाद् द्विविधो भवेत्।
पुद्गलो द्रव्यरूपोऽस्ति भावरूपोऽस्ति चिन्मय ॥१०६१॥

द्रव्यमोह और भावमोहके परिचयका प्रसङ्ग—इससे पहले श्लोकमे यह बताया था कि जीवके चारित्र नामका गुण है जिसकी शुद्ध प्रकृति, शुद्ध शक्ति अपने आत्मामे रमण करने की है, किन्तु चारित्रमोहनीय कर्मके बन्धकसे यह चारित्र गुण विकृत हो गया है, जब यह बात पायी गई याने चारित्रमोहनीय कर्मका उदय हुआ और यहाँ आत्माका चारित्र गुण विकृत हुआ तो इसमे यह समझा जा रहा है कि चारित्रमोह दो प्रकारका है—एक पुद्गलरूप चारित्र-मोह और एक चैतन्यमय चारित्रमोह। एक द्रव्यरूप चारित्रमोह, एक भावरूप चारित्रमोह।

द्रव्यमोह और भावमोहका मूलपरिचयपूर्वक वर्णन—बात कुछ प्रारम्भसे समझें कि जितने हम आप जीव हैं उन सब जीवोमे तीन प्रकारकी आदत है। कही न कही विश्वास जमाना और किसी न किसीका हितरूपसे ज्ञान करना और कही न कही रम जाना, ये तीन बाते हर एक जीवमे मिलेंगी। ज्ञानी है उसमे भी ये तीन बातें है। अज्ञानी जीवका शरीरमे विश्वास है—यह मै हू, इसके अच्छे रहनेसे मैं अच्छा हू, और इस ही विषयक ज्ञान चलता है, कैसे शरीरका पोषण हो, कैसे शरीर आनन्दमे रहे, ज्ञान भी चलता है और शरीरमे रमता है, विषयसाधनोमे रमता है। उसके ये तीन बातें है। तो जो ज्ञानी जीव हुआ, जिसने आत्मा के सहज स्वभावका परिचय पाया उसमे ये तीन इस तरह है कि आत्माका जो सहज स्वरूप है, अपने ही सत्त्वके कारण जो अपनेमे अपना स्वभाव है बस यह ही मै हूँ, इस तरहका विश्वास रहता है। मै मैं की धुन सबमे लगी हुई है। मै हू मै हू—इस तरहकी प्रतीति हर एक रखता है, पर क्या हू मैं उसके निर्णयमे सारे भेद पडे हुए है। मै हू का सबको विश्वास है। जो आत्माका निषेध कर रहा कि जीव कुछ नही है, वह भी अपनेमे मै का अनुभव कर रहा मै जो बोल रहा हू वह बिल्कुल ठीक है कि आत्मा नही है। जीवके बारेमें व्यर्थ पोथन्ना रचा है, ऐसा जो मै सोच रहा हू तो ऐसा सोचने वाला मै बहुत होशियार हू। किसी भी रूपसे मैं का निर्णय बना हुआ है, पर मिथ्या रूपमे मै हू का निर्णय रहे उससे जीवका लाभ नही, यथार्थ रूपमें निर्णय बने कि मै वास्तवमें क्या हूँ, परमार्थतः क्या हू और यह बात जब जल्दी समझमें आयी, कुछ ऐसा सोच लेवे कि मै जो हू सो हू, इसका दूसरेसे मतलब नही। कोई

भी चीज, परवस्तु इनका सम्बंध मै नही हूं, इनकी उपाधि मै नहीं हू, और अपने आप इसका जो एक चैतन्यमात्र स्वभाव रहता है वह मैं हूं, ऐसा विश्वास ज्ञानीको होता है। फिर उस ही मै के हित-प्रसंगमे उसका ज्ञान चलता रहता है और इस ही आत्मस्वरूपमें वह रम जाता है। तो यह विश्वास ज्ञान, और चारित्र ये तीन बातें सबमे पायी जाती है। शुद्ध विश्वास तो आत्माके सहज स्वरूपमे है, ये तीनो गुण अब विकृत हो गए तो ये निरपेक्षतया अपने आप विकृत नही हुए। देखो बहुत सम्हलकर जाननेकी चीज है। हुआ तो यह अकेला ही विकृत। जीवमे जो रागद्वेष आया सो अकेले ही उस प्रकारके ज्ञानविकल्प रूप बन रहा है, मगर जीव स्वय ही अपने आपके इस विकारमे निमित्त हो जैसा कि उपादान बन रहा, ऐसा नही है अर्थात् विकारमे यह जीव खुद निमित्त नही है। क्योकि ये परभाव है, नैमित्तिक है, अध्रुव है, स्वभावस बाहरकी बातें है, ये तो पर प्रसग पाकर हुए है। तो जिसका सामना पाकर ये रागादिक विकल्प जगे है एक तो वह पदार्थ पुद्गल कार्माणवर्गणा और एक जो यह मैं उस विकल्पमें आया हू एक मै वह पदार्थ। तो दो चीजें हो गईं ना ? एक तो है कर्म और एक है जीव। जो कर्म है वह तो द्रव्यरूप कहलाया और जो जीव है वह भावरूप कहलाया। तव नाम रखें द्रव्यमोह और भावमोह।

भावकर्मकी परभावताके तथ्यके परिचयका उदाहरण—देखो यह विश्वास बड़ा ही लाभ देगा जैसे कि है भी। अपनेमें यह विचारें कि मेरेमे जो गदगी भावोकी आती है, खोटे विचार, खोटे भाव जो कुछ होते हैं, स्वभावके विरुद्ध रागद्वेष परिणाम जगते है, सो यह सब कर्मविपाकका छाया है, प्रतिफलन है, उसमे मलिन बन रहा हू। ये विकार मेरी गाँठकी, स्वभावकी चीज नही है। ऐसा विश्वास जमा सकें तो इस अभ्यासके बलसे आत्मामें पवित्रता जगती है। हाँ तो जब ऐसी घटनाये है कि जीव तो स्वय विशुद्ध है, केवल स्वरूप मात्र है और यहाँ घट रहा है यह सारा रागद्वेष मोह भाव। तो यह सब इस ढगसे हुआ है। द्रव्यमोहका उदय आया, उसकी झाँकी उपयोगमे हुई। झाँकीसे ही मलिन बन गया और जब यह झाँकीको अपनाता है कि मै - तो यह हू सो यह और अधिक मलिन बन जाता है। तो यहां दो बाते समझना—(१) जीवमोह और (२) अजीवमोह। ऐसा समझे विना विकारकी उत्पत्तिका रहस्य समझमे न आयगा। जैसे दर्पण रखा है और उसके सामने मानो कोई मुकुट रखा है तो मुकुटका सामना पाकर दर्पणमे मुकुटका प्रतिबिम्ब हुआ। यह तो अब अपने सामने रखकर निर्णय कर ले। अब आपको वह मुकुट दो जगह दिख रहा है—एक तो वह चीज जो चाँदी सोना आदिक धातुवोसे बना है और एक दर्पणमे पड़ने वाला फोटो। तो अब मुकुट दो तरहके हो गए—(१) दर्पणका मुकुट और (२) सोना चाँदी आदिक धातुओंका मुकुट। अब यहाँ ५० वि..र करें कि दर्पणमे जो मुकुट प्रतिबिम्ब आया है सो यह कैस आ

गया ? दर्पणमें योग्यता थी झनकनेकी सो आ गया, मगर सदा क्यों नहीं रहता ? जब तक उस सोना चाँदी वाले मुकुटका सन्निधान नहीं मिलता जब तक प्रतिबिम्ब नहीं होता, और इसको और स्पष्ट करनेके लिए उस मुकुटको आप हटा लें, फिर रख दें, हटा लें, फिर रख दें, जल्दी-जल्दी हटायें रखे और दर्पणमें प्रभाव देखते जायें, प्रतिबिम्ब आया, नहीं आया, यह बात देखकर बहुत जल्दी समझमें आयगी कि दर्पणमें जो प्रतिबिम्ब आया है वह नैमित्तिक है, परभाव है, दर्पणकी परिणति होनेपर भी दर्पणके स्वभावसे बाहरकी चीज है।

परभावको हटानेकी विधि—दर्पणका मुकुट परभाव है, दर्पणके स्वभावसे बाहरकी चीज है, फिर भी फोटो रूप मलिनता वह सोना चाँदीके मुकुटकी नहीं है, दर्पणकी है। ऐसा जानने वाला जब यह चाहे कि दर्पणमें यह प्रतिबिम्ब न रहे तो उपाय बना लेता है, मुकुटको हटा लिया तो दर्पण साफ हो गया। तो यहाँ यह प्रयोग बना ले, मगर आत्मामें ऐसा प्रयोग कैसे बन सकेगा कि उस द्रव्यकर्मको, चारित्रमोहनीय कर्मको हटा दें और खुद बडे शान्त बैठ जावें। ये कर्म हटायेसे हटेंगे क्या ? अडते हैं क्या ? कैसे फेंके जायेंगे ? तो उसका उपाय केवल आत्माके विशुद्ध स्वभावमें यह मैं हू, ऐसी प्रतीति रखना, बस यह ही उसका उपाय है। तो यहाँ यह समझना कि दो प्रकारके चारित्रमोह हैं—एक द्रव्यरूप, जो कि पुद्गल कर्म है और एक चिन्मय भावरूप, जो कि जीवकी परिणति है। इन दोनोंको समझना यों जरूरी है कि ऐसा ठीक समझे बिना भेदविज्ञान नहीं होता। बाहरी पदार्थोंमें लौकिक ढंगका भेद करने से पूरा न पडेगा, उसे शान्तिका मार्ग न मिलेगा। भेदविज्ञान इस आत्मभूमिमें करना होगा। मेरेमें क्या गडबडी है और यह गडबडी क्यों आयी है और यह गड़बडी और मेरा स्वरूप इन दोनोंमें क्या अन्तर है ? यहाँका भेदविज्ञान जगे तो इस जीवको विषयसाधनोंसे प्रीति हटे, बाहरी पदार्थोंके विकल्प दूर हों, अपने आपमें विश्राम पायगा और अपनेमें शान्त होगा। उसके लिए भेदविज्ञान दृढ करनेके लिए यह जानना आवश्यक है कि इस आत्मक्षेत्रमें दो चीजें पायी जा रही हैं—(१) द्रव्यकर्म और भावकर्म। पौद्गलिक कर्म और विभाव गडबडी। और ये हो रहे हैं इस निमित्तनैमित्तिक विधिसे, तो उसमें साहस जगेगा कि नैमित्तिक भाव मेरा स्वरूप नहीं है, मैं इनमें क्यों रुचि लू, मैं इनको क्यों मानू ? उपेक्षा करने योग्य है अथवा कहो, इनसे विमुख होना योग्य है। तो यह बात सब ज्ञात होगी दो प्रकारके मोहको जाननेसे कि एक तो है कर्मगत मोह और एक है जीवगतमोह। इस समयमें है जीवका विकार, जब ऐसा योग है।

अस्त्येक मूर्तिमद् द्रव्य नाम्ना ख्यातः स पुद्गलः।
वैकृतः सोऽस्ति चारित्रमोहरूपेण संश्रितः॥१०६२॥

विकारमें उभयत्र विपरिणमन—अब उक्त प्रकरणसे यह जान लेंगे कि अपने आत्मा

में आत्मा तो है ही जैसा भी बन रहा, पर मूर्तिमान द्रव्य पुद्गल कर्म भी इसके एक क्षेत्राव-गाहमे है। देखो पदार्थ दो है, तो दो की परिणतियाँ जुदी जुदी है, कर्मका काम कर्ममे हो रहा है और जीवका काम जीवमे हो रहा है। विकारपरिणमन जीवमे चल रहा है और कर्मविपाक कर्ममे चल रहा है तो ऐसा निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध है कि उस कर्मविपाकका निमित्त पाकर जीवके ज्ञानविकल्प हुआ और चीजे दो है अलग-अलग। जैसे सनीमामे दो चीजें है। हॉलमे एक सफेद पर्दा टगा हुआ है और उसके सामने १००-५० हाथ दूरपर एक कमरेमे फिल्म मशीन चलाने वाला बैठा है। अब उस मशीन वाले कमरेमें तो फिल्म टेप मशीनके मुखपर आती है लाइट फेकती हुई और वहाँ पर्देपर वह चित्रण हो जाता है। अब यह बतलावो कि पर्देपर जो चित्रण है वह तो पर्देमे ही है, वह फिल्ममे नही है और फिल्ममे जैसा चित्रण है छोटा-छोटा उस रीलमे, वह उसका है, मगर निमित्तनैमित्तिक योग देखिये कि यहाँ उस रीलमे फिल्म चल रही है तो उसका सन्निधान पाकर उस पर्देपर वे चित्र आ रहे है। आते है, चले जाते है। जैसे जैसे वहाँ फिल्ममे वह सारा चित्रण चल रहा है वैसे ही उस पर्देपर भी चल रहा है, मगर उस समय पर्देका जो विकार है वह पर्देमे है; फिल्ममे जो रग है वह फिल्ममे है। ऐसे ही उस फिल्मकी तरह तो कर्म है, इनका उदय आता है। और पर्दाकी तरह उपयोगभूमिका है। उन उदयोका, विपाकोका, उन क्रोधादिक अचेतन भावोका इस उपयोगमे अक्स पडता है, प्रतिबिम्ब होता, प्रतिफलन होता और यह जीव अपने उपयोगमे सही स्वभावमे शुद्ध दृष्टि न रखकर उस रूप दृष्टि बना लेगा। मै यह हू। यहाँ भीतरमे यह गडबडी है जिसके कारण जीव ससारमे रुलता रहा। तो यह मूर्तिमान द्रव्य जो इस जीवके साथ लगा है यह विकृत है, क्योकि चारित्रमोहनीय कर्मरूपसे स्थित है। और यहाँ जीव विकृत है, क्योकि यहाँ ज्ञानविकल्प चल रहा है।

विकारकी नैमित्तिकताका दृष्टान्तपूर्वक स्पष्टीकरण—जहाँ विकार है वहाँ दो बातें समझ ले—पानी गर्म हो रहा तो आगका सन्निधान पाकर बटलोहीमे भरा हुआ पानी गरम हो रहा है तो वह पानीकी गरमायी औपाधिक है, नैमित्तिक है, आगका सन्निधान पाकर गरम हो रहा है, लेकिन यह समझो कि आग उस पानीको गरम नही कर रहा, किन्तु वह पानी खुद अपनी शीत पर्यायको छोडकर उष्ण पर्यायमें आ गया है। तो अपने परिणाम में स्वतत्र है वह आग भी और वह पानी भी, पर एक निमित्तनैमित्तिक योग है ऐसा कि ऐसी परिस्थितिमे पानी गरम हो जाता है। ऐसे ही जीवको तो समझिये पानीके स्थानपर और कर्मको समझिये अग्निके स्थान पर। जैसे अग्निमे गर्मी है, सताप है, गडबडी है, ... पन है ऐसे ही कर्ममे अचेतनमे जो कर्मरूप बन गए उन पुद्गल वर्गणाओमे विकार है, ... बनापन है, गडबडी है, क्योकि उसमे अनुभाग बध पहले हो चुका था वह ही तो सामने आया

है, उस स्थितिका सामना पाकर उपयोगमे वही झलका और यह जीव उस रूप अपनेको मान बैठता है तो यह पुद्गल द्रव्यकर्म यह निमित्तभूत है। इन कर्मोंसे हटनेका उपाय इन पर नाराज होना नही, इनको गाली देना नही कि ये कर्म खोटे है, दुःखदायी है, बैरी है, इन्हे हटावो। अरे वे तो अपना काम कर रहे जैसा उनका योग है। यहाँ यह जीव भ्रम कर रहा है कि ऐसा मैं ही करता हू। तो कर्तव्य है वहाँ कि यह तथ्य समझ जायें कि जो जीवमे क्रोधादिक विकार हुए, ज्ञान विकल्प हुए वे जीवके स्वभावसे नही हुए, जीवके मात्र सत्त्वसे नही हुए। हुए जीवमें परिणमन जीवके मगर कर्मोदयका सामना पाकर हुए। फिर इस प्रकार का एक यह पुद्गल कर्म है सो उसकी क्या स्थिति है, अब यह बतलाते है—

पृथ्वी पिण्डसमानः स्यान्मोह पौद्गलिकोऽखिल ।
पुद्गल· स स्वय नात्मा मिथोबन्धो द्वयोरपि ॥१०६३॥

द्रव्यकर्मकी पृथ्वीपिण्डसमानताका चित्रण—जैसे यहाँ यह चटाई पडी, तखत पडा, यह चीज पडी है, ये क्या चीजे है ? ये तो ढेले है, डले है वनस्पतिके पृथ्वीके तो जैसे ये पडे हुए है, कोई चीज है, अजीव है, अचेतन है, अपने स्वरूपमें पडे है, ऐसे ही ये पौद्गलिक कर्म ये अपनेमें पृथ्वी पिण्डकी तरह पडे हुए हैं याने मिट्टीकी तरह पडे हुए है। मिट्टी पुद्गल, कर्म भी पुद्गल। मिट्टी अपने स्वरूपमें, स्वभावमे रह रही है, अपने ढगसे अपनेमे परिणम रही तो ये कर्म भी अपने स्वरूपमे रह रहे, अपने ढगमे परिणम रहे। ये पौद्गलिक कर्म जिनका उदय पाकर जीवके विकार जगता है ये पृथ्वी पिण्डके समान है। सारे ही पौद्गलिक है। वे पुद्गल ही है वे जीव नही है, पर इन दोनोका परस्परमे बन्धन हो जाता है, भिन्न होकर भी बन्धन हो गया। जैसे पिता पुत्र दोनो भिन्न भिन्न जीव है मगर उनका परस्पर बंधन हो गया। रस्सीके गाँठकी तरह बधन तो नही है मगर जहाँ परतन्त्रतात्मकता है उसको ही तो बधन कहते है। पुत्रको छोडकर पिता कही भाग नही सकता और पिताको छोडकर पुत्र कही भाग नही सकता। यह मोही जनोकी बात कह रहे तो पिता और पुत्रमे ऐसा बधन बन गया पर बाहर देखो तो दोनो जीव न्यारे न्यारे है, इनमें बन्धन कुछ दिख ही नहीं रहा। क्या बाप बेटेकी गाँठ लग गई है शरीरमें ? नही। दोनो बिल्कुल जुदे जुदे है। उनका परिणमन जुदा जुदा, उनकी सत्ता न्यारी न्यारी, उनकी इच्छाये न्यारी-न्यारी, सारे काम उनके न्यारे न्यारे हो रहे है, मगर मोहवश वे दोनो बधनमें पडे है। तो उससे भी विचित्र बन्धन जीव और कर्मका है। कर्म पुद्गल है, अचेतन है, उनका उनमे ही सब कुछ है, जीव में कुछ नही है, जीवका जीवमें है, जीव भावके अनुसार है, मगर दोनोमें परस्पर बधन बन गया तो यह जीव भी अपने सही स्वरूपको व्यक्त नही रख सकता और यह कभी भी अपने सही स्वरूपको प्रकट नही कर पा रहा। वह कर्मरूप परिणम रहा, वह अनुभागसे कलुषित

हो रहा तो यहाँ वह जीव अपने विकल्पसे कलुषित हो रहा है। तो इन दोनोंका परस्परमे बंध है।

द्विविधस्यापि मोहस्य पौद्गलिकस्य कर्मण ।
उदयादागतो भावो भावमोह. स: उच्यते ॥१०६४॥

शान्तिका उपाय स्वभावावलम्बन—अब देखो कि जीवमे जितना बिगाड हो रहा है, व्यग्रता हो रही है, आकुलता हो रही है, बिगाड तो ख्यालसे हो रहा, दूसरा कोई इसका बिगाड नही करता आँखो देख लो, दूसरेका तो जीवने प्रवेश ही नहीं है। इसको कोई छू नही सकता, इसको कोई कुचल नही सकता। यह जीव तो अमूर्त है इसको कोई दूसरा क्या दुःखी करेगा ? मगर ऐसा ही अशुद्ध उपादान है कि घटनाओंको देखकर और अपने ख्यालके अनुसार अपनी भावना बनाकर यह दुःखी होता जा रहा है। दुःख दूर करना है तो बाहरमे कोई सुधार बिगाड, निग्रह अनुग्रह न करें, शान्तिके लिये परके निग्रह अनुग्रहका काम नही करना पडता, किन्तु भीतरमे स्वभाव विभावका भाव करना और स्वभावपर दृष्टि करना यह काम पडा है। एक स्वभावदृष्टिका काम होते ही सब कुछ अपने आप हो जायगा। जो बडे बडे ग्रन्थोमे बताया जाता कि श्रेणीमें यो चढता, यो कर्म खिरते, एक एक क्षणकी बात बतायी जाती है। उनको नही जाना किसीने, लेकिन उसका स्वभावालम्बन बन गया तो उसके प्रयोग होता जायगा कि जो ग्रन्थोमे लिखा है वह सब ठीक है और कोई पुरुप जो ग्रन्थोमे लिखा है उसपर दृष्टि रखे, उसकी ही चर्चामे रहे, उसके ही विकल्पोमे रहे—यह कैसे कहा, इस गुणस्थानमे ऐसा क्यो ? यह तो जाननेकी चीज थी ? जानना चाहिए, मगर वैसा ही विकल्प बनाये रखे, वैसी ही दृष्टि गडाये रखे तो वहाँ यह बात नही हो पाती और एक जानता ही नही है कि क्या क्या कर्ममे दशायें बन जाती है और एकस्वभाव दर्शनका उसे मजबूत ग्रहण उस दृष्टिमे चल रहा है तो वे सारे काम इसमे होते चले जायेंगे। कैसे सक्रमण, कैसे कर्मका खिरना ये सब बाते हो जायेंगी।

चर्मचक्षुका माध्यम तजकर ज्ञानदृष्टिसे अतः निहारनेका कर्तव्य—भैया ! कर्तव्य एक एक यह है कि अपने उपयोगको अपने भीतर ले जावें। उसके लिए पहला प्रतिबध है कि इन चर्मचक्षुप्रोको बद कर लो, बाहरमे कुछ न देखो। बाहरमे देखनेसे तो अनेक प्रकारके विकल्प चलते है, अभी इसलिए इन आँखोको बंद करें। भले ही नासाग्रदृष्टिका महत्त्व दिया है, प्रभु नासाग्रदृष्टि है, उसमे बातें दोनो आ गई अर्थात् परम उपेक्षाकी बात आयी, किसीका भी विकल्प न करना, किसीको न देखना, और सहज यह ही दृष्टि है, मगर जहाँ यह आदत बनी है कि जहाँ इस मनुष्यने किसी चीजको इन आँखोसे देखा उसे ही यह अपना लेता है, उसके प्रति विकल्प करता है, उसमे ही चिन्तन बनाना है, तो उसके लिए तो यह औषधि है कि

पदार्थका मेरे आत्माके साथ सम्बन्ध नही, मै चेतन हू, ये दृश्यमान सब पदार्थ अचेतन है, ये मेरे साथ नही आये, मेरे साथ जायेगे नही, इनसे मेरा कुछ सुधार बिगाड नही। वे अपनेमें परिणमते, मै अपनेमें परिणमता। दु:खका कोई काम नही है, मगर दु:ख है। दुःख क्या है? ख्यालात, ज्ञानविकल्प दु:खके अनुरूप अपने विचार बनाना, सोचना, यह ही दुःख है, क्योकि जीव सोचनेके सिवाय कुछ नही कर सकता। सोचेगा, जानेगा बस वही विचार किस रूप है तो दु:ख है, किस रूप है तो सुख है। यह ही फर्क है। तो ऐसे विचार वासनायें, ख्यालात ये मलिनता है, अपवित्रता है। पवित्रता होती है—प्योरमें, केवलमे, एकमें। कोई भी चीज हो, अकेली हो, एक हो तो वह पवित्र होती है। जहाँ दूसरेका सम्बंध है वहाँ अपवित्रता है। अपवित्रता दूसरेके सम्बधके बिना हो ही नही सकती। तो हम अभी अपवित्र हे, अभी मलिन है, नाना तरहके ख्यालात करते है, ये सब मलिनतायें है, ये ही आत्माको दु:ख देने वाली है।

उदाहरणपूर्वक कषायमालिन्यका परिचय—विकारोकी यह मलिनता ऐसी छा गई है जैसे कि जलमे कायी। जल तो पवित्र ही होता है जैसा जल होता केवल स्वच्छ, मगर जलमे कायी पडी हो, सेवार पडा हो तो वह जल हरा हो जायगा, गदा हो जायगा। तो जैसे जलमें कायी, सेवार आदिका सम्बध हो जाता है तो जल मलिन हो जाता है, ऐसे ही मेरे इस उपयोगमे, आत्मामें, इस ज्ञानमे कर्मोकी छाया आ गई है बस उससे यह मलिन है और अशुद्ध उपादान होनेसे कर्मछायामे इसने अपनी अपनायत बना ली, यह ही दु:ख है। देखो सदाके लिए जन्म मरणके सकटोसे छूटनेका उपाय कितना सुगम है। मगर बुद्धि विपरीत हो तो उस उपायके लिए मन नही चलता, और सुगम कितना है? खुद है। खुदके निरपेक्ष स्वरूपको जान ले और वही अपना ज्ञानोपयोग बनाकर तृप्त रहा करे, सकट कटेंगे, कर्म कटेंगे, जन्ममरण मिटेंगे, सब बाधायें दूर हो जायेगी। कितना सरल उपाय है, मगर कुटेव कुवासना भीतर ऐसी बनी है कि उन विषयोसे प्रीति छोड ही नही सकता। कोई लाभ नही है। बादमें पछताता है, मगर कर्मयोग ऐसा है कि सही विधिसे नहीं अपनाते। तो यह है मलिनता कि पहले बाँधे हुए जो कर्म है उन कर्मोका उदय हुआ और उस उदयका विपाकका इस आत्मामे प्रतिफलन हुआ, तो इतनी गदगी तो तुरन्त आयी, मगर उपयोग उस ओर झुक गया, यह और बडी गदगी बन जाती है, दु:खी होते जाते है। सोचते है कि कोई उपाय ऐसा मिले कि जिससे यह दु:ख मिटे और फिर दुःख कभी न हो, मगर उसका वह उपाय जाननेमे नही आ रहा और जाननेमे आये तो भी कैसी वासना है ममताकी कि यह जीव अपनी पुरानी कुटेब छोड नही पाता। कितना उदार बनना है, कितना निष्पक्ष बनना है कि समस्त अन्य पदार्थोसे अपने आपको अकेला निरखना है। मैं ज्ञानमात्र हू, इसका अर्थ भी विचारते जावे,

आया । सुकुमाल, सुकौशल, राजकुमार आदिक मुनियोपर जो उपसर्ग हुए तो क्या बिना पाप-कर्मके उदयके हुए ? पापकर्मके उदय तो बडो-बडोके आये । पापभाव वाला बनना बुरा है, पापात्मा बनना बुरा है, मगर पापोदयी बुरा नही । पुण्यात्मा है भला, पुण्योदयी भला नही । किसीके पुण्यका उदय है, अच्छा ठाठ है तो हम यह निर्णय नही दे सकते कि यह अच्छा जीव है । पुण्य तो नरक गतिके भेजनेमे भी सहायक बन जाता है । पुण्य है, वैभव सम्पदा है, उसमे इतरा गए, लोगोपर अन्याय करने लगे, हत्यायें करने लगे, अत्याचार करने लगे, पापका बंध हुआ, उसके उदयमे कष्ट पायगा । तो कष्ट पाया पापभावके कारण । मगर ऐसा पापभाब उसके आ जाय तो उसके लिए पुण्यविभूति एक मददगार बन गई । तो जगत में सब कुछ तो मिला । गृहस्थी है. करना पडता है, मगर ध्यानमे निरन्तर यह रखे कि मैं आत्मा चैतन्यमात्र सबसे निराला अकेला स्वतत्र हूं, यह प्रतीति मिल गई तो आपका भला है और जब तक यह दृष्टि नही मिलती तब तक सारे अनर्थ होगे, विडम्बना बनेगी ।

आत्मविडम्बना और उससे निवृत्त होनेका अवसर—संसारमे विडम्बना है ? अपने भावोमे परतत्रता आये, परका आश्रयपनेका भाव आये, परतन्त्रताकी बुद्धि जगे, बस वही अनर्थ है । तो जगतमे जितनी भी अवस्थाये है इन सब अवस्थाओमे मूल एक यह ही मोह-भाव है । जैसे हम बाहर देखते है—दर्पणके सामने हाथ किया तो दर्पणमे फोटो बन गई तो वह फोटो हाथकी नही है, दर्पणकी नही है । हाथका निमित्त पाकर हुआ, इसलिए हाथका है और दर्पणमे वह परिणमन हुआ सो दर्पणका है । दोनोका नही, दोनोका है, और तथ्य क्या है ? निमित्तनैमित्तिक भाव है, है किसीका नही । ऐसे ही जो मलिनता है, नाना तरहके विभाव जगते हैं सो यह कर्मकी छाया है, कर्मका प्रतिबिम्ब है इसलिए कर्मंमे है और आत्माका ज्ञान विकल्परूप है । आत्मा ही के उपयोगसे ऐसा परिणमन है इसलिए जीवका है और यह कर्ममे नही है, इसलिए जीवका नही । तो ये रागद्वेष विभाव जिनको अपना कर अज्ञानी ससारकी परम्परा बढ़ा रहा ये तो ऐसा अलग है, तुच्छ है, उन्हे मै क्या अपनाऊँ ? लेकिन जो अपनाते है और इस अन्तरग अपनायतके कारण संसारके जितने बाह्य पदार्थ है इन पदार्थोमे यह लगता है और दु:खी होता है । तो जितने भी अनर्थ है उन सबका यह मूल कारण है और अनर्थके कारणभूत कर्मोका भी कारण है । मोह करेगा, कर्मबन्ध होगा । अब देखो एक सोचनेकी, जानने भरकी बात है, सही जाननेमे आ गया, लो ससारसे पार हो जायेंगे, झूठ जाननेमे आ गया तो संसारमें रुलते रहेंगे । कितना कठिन है बतलावो मोक्षमार्ग ? मोक्ष-मार्गका चलना कहाँ कठिन है ? एक अपने भीतर सही ज्ञान बनानेकी बात है और वह बनायी जा सकती है । सही ज्ञान बने तो मोक्षमार्ग प्रारम्भ हो और ज्ञानमें मलिनता आय, उपयोग मलिन हो तो वह आगे भी अनर्थ, अब भी अनर्थ । तो सब अनर्थोका मूल यह मोह-

भाव है जिस मोहको यह जीव कर करके अपनाता फिरता है ।

> अशुचिर्घातको रौद्रो दुःखो दुःखफलं च सः ।
> किमत्र बहुनोक्तेन सर्वासां विपदां पदम् ॥१०६७॥

मोहभावकी अशुचिता व घातकता—यह मोह, यह रागद्वेष भाव यह अपवित्र है । यह कोई पवित्रताकी बात नहीं है । सो यही देखो—कोई मनुष्य रागी द्वेषी है, पक्षपाती है तो लोगोंकी दृष्टिमें वह ऊँचा तो नहीं रह पाता । जो कदर निष्पक्षकी है लोगोंके मनमें वह कदर पक्षपातीकी, मोहीकी नहीं हो सकती । कोई अगर झगड़ा हो और उसको हल करना है तो वह उसीका ही नाम पेश होता है जो सबकी दृष्टिमें निष्पक्ष पुरुष है । तो पक्ष तो अपवित्रता हुई और निष्पक्ष पवित्र हुआ । ये रागद्वेष मोहभाव अपवित्र हैं और आत्माके प्राणके घातक हैं । आत्माके प्राण हैं ज्ञानदर्शन, ज्ञाता द्रष्टा रहना । यह है आत्माका विलास, शृंगार । अब ज्ञाताद्रष्टा न रह सके और रागी द्वेषी बने, रागद्वेष इसपर छाये रहें तो वह अपने प्राणों का ही तो घात हुआ मायने हमारा ज्ञान सही ढंगसे न रह सका । हम दुःखी हो गए । तो ये जो मोहभाव हैं ये अपवित्र हैं और मेरा ही घात करने वाले हैं । जैसे वृक्षमें लाख लग जाती । छेवलेके पेड़में बहुत जल्दी लाख लग जाती है । तो जिस पेड़में लाख लग गई उसको आप देखते होंगे कि एक वर्षके अन्दर ही उसमें पत्ते नहीं रह पाते, वह पेड़ सूख जाता है । जैसे यहाँ किसीको टी बी का रोग लग जाता तो वह सूख जाता, ऐसे ही लाखका लगा हुआ वृक्ष जल्दी ही सूख जाता है । तो वह लाख वास्तवमें है क्या चीज ? क्या कहीं बाहरसे लायी गई ? अरे वह तो उस पेड़का ही एक रस है जो लाखरूपमें बन गया । तो जैसे पेड़की ही चीज लाख रूपमें बनकर उस पेड़को बरबाद कर देती है, ऐसे ही इस आत्माकी ही चीज ये ज्ञानविकल्प, ये रागद्वेष भाव इस जीवको ही बरबाद कर देते हैं । तो ये रागद्वेष मोहभाव इस आत्माको संकटोंमें डालनेके लिए ही उत्पन्न होते हैं । यहाँ आप लोग मन्दिरमें बैठे हैं तो यहाँ रागद्वेषकी कुछ सुध नहीं हो रही है, मन्दिरमें बैठे हैं, भक्ति भी चल रही है, आरामसे समय गुजर रहा है, लेकिन जहाँ ही कोई बात आयी, जहाँ कोई परपदार्थके लाभ-हानिका ख्याल आया, बस ये रागद्वेष मोहभाव उमड़ पड़ते हैं, और उसमें आप हैरान हो जाते हैं । ये रागद्वेष मोहादि भाव इस जीवके लिए अपवित्रताएँ हैं । इन भावोंमें रहता हुआ जीव धर्ममें नहीं लग सकता । तो ये रागद्वेष मोहभाव इस आत्माके प्राणोंका घात करने वाले हैं ।

मोहभावकी रौद्रता व दुःखरूपता व दुःखफलरूपता—मोहभाव रौद्र है, भयावना है । अभी कोई क्रोध कर रहा हो तो देखो उसका चेहरा कितना भयानक हो जाता है ? वह ऐसा चेहरा हो जाता कि उसका भली प्रकार चित्रण भी नहीं कर सकते । तो ये कषायें भयानक हैं । जब इन कषायोंके होनेपर शरीरकी मुद्रा भी भयानक बन जाती है तो स्वयं

कषायें कितनी भयानक हैं—इसका अनुमान बना लें। वह जीव सुखी है जो परद्रव्योंके मोहमें नहीं पड़ा है। राग भले ही है पर रागमें उतना कठिन अनर्थ नहीं है जितना कि मोहमें है, क्योंकि अपने स्वभावमें उसे रुचि ही नहीं है। तो ये कषायें, यह मोह, यह अज्ञान रौद्र है, भयावना है, दुःखरूप है। कषाय ही दुःखरूप है। यह जो कहते है कि कषायसे दुःख होता है तो यह केवल समझानेके लिए कहा जाता, कषाय हुई यहां और दुःख हुआ यहाँ और कषायसे दुःख निकला हो ऐसा नहीं है, किन्तु कषाय ही दुःखरूप है। जिस कालमें कषाय है उसी कालमें दुःख। जिस समय मोह कर रहे उस समय दुःख है। और मोह करनेका फल है तो आगे भी दुःख मिलेगा। मोह क्या चीज है सो सब लोग जानते ही हैं। दूसरे जीवको माना कि यह मेरा है बस इस परिणामके मायने है दुःख और ऐसा विकल्प जब आया उपयोगमें कि यह मेरे धन दौलत परिवार आदि संपदा है तो नियमसे दुःख है और आगे भी दुःख है।

ज्ञानीका उपयोगसंतुलन—देखो कितना संतुलन है ज्ञानीका जो घरमें रहकर राग भी करे और उसके अज्ञानकी प्रीति नहीं रहती ऐसा होता कि नहीं? मनमें कुछ है, ध्येय कुछ है, लक्ष्य कुछ है और प्रवृत्ति कुछ करनी पड़ रही है ऐसी परिस्थिति होती है। इसका दृष्टान्त सुख वाला दें तो झट समझमें नहीं आता और एक दृष्टान्त कोई वियोग वाला दें, किसीका बहुत प्यारा दादा बाबा जो प्रिय हो उसका वियोग हो गया और वियोग होनेसे उसका रात दिन उसीका ही ख्याल, उसीकी ही धुन, उसी की ही वेदना सब हो रही कि नहीं और भोजन करनेके समय वह भोजन भी करता, मगर उसकी धुन किस बातकी है? वियोग होनेके कारण उस ही आर्तरौद्र ध्यानकी वह धुनि बनाता है। तो यह तो दुःखका दृष्टान्त है। अब सुखका दृष्टान्त दें तो यह बात झट समझमें न आयगी। भाव कुछ है, करना कुछ पड़ रहा। ज्ञानीकी बात देखो—ज्ञानीके भावमें बिल्कुल निपटारा है कि प्रत्येक पदार्थ अपने-अपने स्वरूपसे सत् है, अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावसे है कोई द्रव्य किसी दूसरेका कुछ परिणमन त्रिकाल भी कर नहीं पाता। सो उसे सब यह ज्ञान है तो परिस्थिति है कि भूख भी लगती है, कमाना पड़ता है, यह सब कर रहा है, पर उसकी धुन चूंकि ज्ञानकी ओर है इसलिए उसके निर्जरा चल रहा है तो यह मोह दुःखस्वरूप है, और उसका दुःख फल है। परकी बात क्या कही? यह जो मलिनता है यह [illegible] का ध्यान है, मलिन भाव है, सो यही विपत्ति ही विपत्ति है, क्योंकि बैरी पैदा हो जाती है। भीतर क्रोध बना है तो क्रोध भरी वाणी बोलेगा, भीतरमें घमंड पड़ा है तो मानकी [illegible] करेगा, भीतरमें लोभ पड़ा है तो वह मायाचार करेगा, लोभ करेगा, [illegible] होगा। तो मोह और कषायके दुःख तो है ही। इसलिए दुःखमें [illegible] तो भीतर..

भेदविज्ञान बनायें । इस कर्मसे, कर्मकी छायासे भी निराला हू, केवल ज्ञानज्योतिमात्र हू, ऐसा अपने आपके ज्ञानस्वरूपका आदर बनावें । जीवनमे उसको कोई रोकने वाला नही, कोई बाधा नही दे सकता । हमारा ज्ञान है, हम भीतरमे ज्ञान बना रहे है । तो जो सम्यग्ज्ञान बनायेगा, सही श्रद्धा रखेगा वह निरपने सारके सकटोमे पार हो जायगा ।

कार्यकारणमप्येष मोहो भावसमाह्वय ।
सर्वक्लेशानुवादेन प्रत्ययान्त्रवमञ्चयात् ॥१०६८॥

मोहभावकी सर्वक्लेशहेतुता—जगतके जीव हम आप जो भी दुःखी हो रहे है उसका कारण मोहभाव है । दूसरा कोई कारण नही । जैसे कि यों समझते है कि मेरे धन कम है, मकान टूटा है अथवा लडके अच्छी तरह नही बोलते, और-और भी बाते जो-जो सोचते हैं उनमे दुःख होता है यह बात गलत है । टूटा मकान हो उससे आत्माका क्या सम्बंध ? आत्मा जुदा पदार्थ है, मकान जुदा पदार्थ है । उन जुदे पदार्थसे इसमे दुःख आ रहा क्या ? लडके बच्चे कैसे ही चलें उनकी प्रवृत्ति, उनकी आदत, उनकी कषाय उनमे है, वे अपना काम करते है, उनका इस आत्मामे क्या प्रवेश है ? जिससे कि यह माना जाय कि इसके कारण दुःखी है । व्यापार कम चले अथवा नुकसान हो या और कुछ बातें हो, कोई भी पदार्थ इस जीवके दुःखका कारण नही । मुक्तिका कारण तो मोहभाव है । अगर बाहरी पदार्थ दुःखके कारण हों तो सबसे अधिक दुःख तो भगवानको होना चाहिए, क्योंकि उनके पास और धरा ही क्या है ? केवल आत्मा, उसका ही स्वरूप, और सिद्ध भगवानके पास न शरीर, न कोई चीज अथवा मुनियोंको कहो—वे अकेले है, केवल शरीर है । कुछ दूसरी बात ही नही तो इनको तो दुःखी कहना चाहिए था, पर ऐसा तो नही है । बाहरी पदार्थोंके न होनेमे या किसी तरह का परिणमन होनेसे इस जीवको क्लेश नही । क्लेशका कारण है मोह । और यह मोह वर्तमानमे क्लेशका कारण है, साथ ही आगामी कालमे इस जीवको जो क्लेश पैदा होता उसका भी कारण है । वर्तमानमे भी क्लेश है और भविष्यकालमे भी यह क्लेशका कारण बन जायगा । उस मोहभावसे होता है विकट कर्मबन्ध । उसमे अनुभाग आया, उसका उदय आयगा । सो यह ही चक्की चल गई । तो जीवको दुःखका कारण केवल मोह है, अन्य कुछ बात नही । और जिसको यह भ्रम लगा हो कि मेरे सुखका कारण, मेरा अच्छा परिवार, मेरा धन वैभव या अन्य-अन्य बाते है, और दुःखका कारण है यहांके सग प्रसग कम रहना या इस तरह होना, जिनमे यह भ्रम लगा है उनका उपयोग अपने आत्माके स्वभावसे हटकर बाहरी बातोमे लग गया है इसलिए वह तो अधकारमे है, वह अपना भविष्य भला नही बना पाता । इस मोहभावको दूर करें, क्योंकि यह मोह कर्मबन्धका कारण है, दुःखका कारण है । यह मोह मेरे गांठकी चीज नही, मेरे स्वभावकी चीज नही, किन्तु पहल बाधे हुए कर्मका उदय

आया, उस कालमे यह एक छाया बनी, कर्मलीला चल रही, यह मेरे स्वभावकी वस्तु नही। हो रही मुझमे मलिनता, विकल्प चल रहे, लेकिन मेरे स्वभावकी चीज नही है। यह मोह त्यागने योग्य है। देखो मोह दो तरहका होता है—(१) दर्शनमोह, (२) चारित्रमोह। दर्शन-मोह मायने मिथ्यात्व, सही बात न समझ सकना और चारित्रमोह मायने अपना चारित्र न बन सकना। तो जिसको सम्यग्दर्शन हो गया, चारित्रमोह हो भी तो भी संसार-परम्परा नही बनती और जिसको दर्शनमोह है, मिथ्यात्व है उसके ससारपरम्परा बढ़ती है।

सम्यग्ज्ञानके बलसे आत्मसंकट दूर करनेका उपाय बना लेनेका संदेश—भैया! क्या बात कही जा रही? यहाँ किसी दूसरेकी चर्चा नही है, आत्माकी चर्चा है कि आत्माको दुःख किस कारणसे है? भीतर देखो शरीरसे निराला है यह आत्मा, क्योकि शरीर यही पडा रह जाता है, आत्मा निकलकर आगे चला जाता। तो यह शरीर जुदा है, आत्मा जुदा है। तो वर्तमानमे भी इस शरीरका घमड छोडें, इसका भी ध्यान हटावें, आँखे बन्द करके केवल अपने आपके ज्ञानस्वरूप आत्माको निहारते जावें, पता पडेगा कि मै ज्ञानमात्र हू। जानन, जानना ही मेरा काम है। यह आत्मा निरन्तर जानता रहता है। तो हमारा काम जानना, हमारा भोग जानना, जाननको ही करते, जाननको ही भोगते, उसमें कष्टका कोई काम नही मगर कष्ट जो आ रहे है तो ये विकल्पसे भ्रमसे आ रहे हैं। यह भ्रम हटाये, इसीलिए तो हम आप भगवानकी भक्ति करते है। अपने आत्मामे रमण हो इसके लिए ही धर्मके सब साधना बने है। धर्मकी साधना करते हुए यह गदा भाव न बने कि मेरा यह काम बन जाय, मेरी मुकदमेमे विजय हो, मेरे अमुक कामकी सिद्धि हो, ऐसे संसारके कामोकी बात चित्तमें कभी न सोचे भगवानकी भक्ति करके। उससे नुक्सान है, फायदा नही। नुक्सान क्या कि जो पुण्य आनेको था, इस मिथ्याभावके करनेसे वह पुण्य दूर हो गया कुछ कम मिलेगा। अब अभीष्ट जो विशेप लाभ होने को था धर्मके करनेसे तो उसमे से कमी हो जायगी। लोग यह सोचत है कि हमने भगवानकी पूजा भक्ति की तो उसके फलमे धन धान्य पुत्रादिककी प्राप्ति होगी। अरे यह तो पूर्वकृत पुण्यका उदय है जिससे ये सब चीजें प्राप्त होती है, भगवानकी पूजा भक्तिसे नही। अभी ये रसियन, अमेरिकन आदिक विदेशी लोगो को देख लो वे कहाँ मन्दिर मे आकर भगवानका पूजा पाठ करते, फिर भी बहुत अधिक सम्पन्न देखे जाते। तो भगवान की पूजा भक्ति करके सासारिक चीजोके लाभकी बात न सोचो, किन्तु यह सोचो कि हे भग-वन! जैसा ज्ञानबल आपने प्रकट किया, समस्त कष्टोको हँसकर टाला वैसा ही ज्ञानबल मुझे प्राप्त हो, मुझमे ऐसा ज्ञानबल बढे, मै अपने आत्माके इस सहज स्वरूपको ऐसा अभ्यासमे लाऊँ कि मेरेमे कष्टसहिष्णुता आ जाय, सहनशक्तिता आ जाय, क्योकि यह ससार विचित्र है। एक दुःख दूर करनेका आप प्रयत्न करते तो दूसरा दुःख आपके सामने आ जाता। इस

बातका अनुभव सभीको होगा । अब ये कष्ट कौन मिटायें, कैसे मिटाये ? जैसे कोई पुरुष जिन्दे मेढक तौल नही सकता, एक मेढक तराजूपर रखा, दूसरा रखने लगेगा तो पहला मेढक उछल जायगा, तीसरा मेढक रखेगा तो दूसरा उछल जायगा, यो जिन्दे मेढक तौलना जैसे नही बन सकता, ऐसे ही ससारके दु खोको मन, वचन, कायकी चेष्टायें करके मेट नही सकते । ससार के दुःखोको मेटनेकी कुञ्जी ही दूसरी है । वह कुञ्जी क्या है ? आत्मरमण । आत्माके सहज स्वरूपका श्रद्धान हो, उसका ज्ञान हो और उस ही आत्मामें रमण हो, यह है दुःख मेटनेका मार्ग याने शान्ति पानेका मार्ग । दु ख जब भी खतम होगा तो इसी भेदविज्ञानसे होगा ।

आत्मश्रद्धान आत्मज्ञान व आत्मरमणका उपाय बना लेनेमें दुर्लभ मानवजीवनकी सफलता—आत्मश्रद्धान, आत्मज्ञान और आत्मरमणके उपायसे ही दु ख दूर होगा । चाहे अभी दु.ख दूर न हो तो आगे चलकर हो जायगा, मगर पाये हुए इस दावको यो ही व्यर्थ न खो देना चाहिए । यह मानवजीवन बडी दुर्लभतासे प्राप्त हुआ है । इस जीवनसे अगर हमने धर्मलाभ न लिया, आत्माके स्वरूपका परिचय न किया, अपने आत्मस्वरूपमे तृप्त होनेकी बात न बन सकी तो फिर अपने आपके आनन्दका हम इस जीवनमें अनुभव नही कर सकते । और अगर अपने आनन्दका अनुभव न कर सके तो फिर यह मानवजीवन पानेमे लाभ क्या पाया ? एक बहुत बडी जिम्मेदारीका यह भव है । जब तक इस शरीरमे रोग न घेरे, बुढापा न घेरे तब तक ज्ञानके सचयमे, ध्यान योगाभ्यासमे, धर्मसाधनामे अपना विशेष चित्त लावे । तो यह मोह, ये विभाव, ये रागद्वेष ये पहले बाँधे हुए कर्मके ही तो कार्य है । यह निमित्तदृष्टिसे कहा जा रहा है । उपादान दृष्टिसे तो आत्माकी ही ये परिणतियाँ है, मगर एक बात पहले जाने कि जो चीजें हेय है, जो विभाव है उन्हे हम तब छोड पायेंगे जब यह समझमे आ जाय कि ये तो परभाव है, ये मेरे स्वरूप नही है । तो परभाव समझनेका और कौन सा उपाय है ? अरे यह ही उपाय है कि देखो कर्मका सन्निधान पाकर विभाव हुए न ? हुए विभाव जीवमे । कर्मकी बात कर्ममे, जीवकी बात जीवमे । जैसे दर्पणमे दर्पणके सामने हाथ किया तो हाथका फोटो आया । हाथ हटाया तो फोटो न रहा । हाथ सामने किया तो फिर फोटो आ गया । यद्यपि हाथका काम हाथमे हो रहा और दर्पणका काम दर्पणमे हो रहा, मगर यह प्रकट जान सकते कि यह फोटो तो नैमित्तिक है, पर उस फोटोको हटा नही सकते । जान गए कि हाथका सन्निधान पाकर प्रतिबिम्ब हुआ, हम हाथको हटा दें तो प्रतिबिम्ब हट जायगा । यहाँ तो हाथको हटानेसे प्रतिबिम्ब हट गया, मगर आत्मासे कर्मको हटानेका कोई उपाय नही है । उसपर दृष्टि देकर कि इन कर्मोको यहाँसे पकडकर फेंक दें, मुट्ठीमे दबोच दें, ऐसा तो नही किया जा सकता । यहाँ यह ही प्रकट है कि आत्माका जो सहजस्वरूप है उसका आलम्बन लें, उसमे यह मैं हू, ऐसा अनुभव करें तो ये कर्म दूर हो जायेंगे । तो यह

अब पहले बाधे हुए कर्मका कार्य है निमित्तदृष्टिसे और नवीन कर्मबन्धका कारण है निमित्त-दृष्टिसे। हो ही रहा है ऐसा और यह इसी तरह भिन्न आस्रवका सचय बना रहा, सो कर्म क्या करे ? अपने स्वरूपको सही समझ ले, एक ही काम करना है और सकट अनन्त दूर हो जायेंगे। भला बतलाओ कितनी अच्छी बात है कि काम तो एक करना है और सकट अनत दूर होना है, और फिर भी वह काम करना स्वाधीन है। हमारा ज्ञान हम आत्माको करना है। हम ज्ञानका मुख मोडे रहे अपने आपके स्वरूपकी ओर और पक्का चित्त बना रहे, निर्णय बना रहे कि एक भी अजीव, एक भी परमाणु मेरा कुछ नही है और न करेंगे ऐसा ज्ञान तो दुःख कौन पायगा ? यह ही तो खुद पायगा। जहाँ ऐसी कुटेब है कि मै इस भवमे खूब धन वैभव पाऊँ, खूब मौजमे रहूँ···तो वहाँ दुःख कौन पायगा ? दुःख तो खुदको ही भोगना पड़ेगा, दूसरा कोई दुःख भोगने न आयगा। हम चूके तो हम ही दुःखी होंगे। हम स्वभावमे आयें तो हम ही शान्त, आनन्दमग्न होगे। इससे भावना भरें अपनेमे कि जब मै यह आत्मा अकेला हूँ, अपने लिए जिम्मेदार केवल मैं ही हूँ, अनादिसे अब तक अकेला मैं ही तो जन्मा, मैं ही तो मरा। मैंने अपना यह प्राणघात तो किया, मेरा कोई दूसरा नही। मोहको त्यागें, पर सोचते होगे कि मोहको त्याग दें, फिर घरमे कैसे रहेंगे ? अरे मोहको त्यागकर घरमे रहो तो आपका बडा शृङ्गार बनेगा और मोहको रखकर घरमे रहे तो आपकी कोई इज्जत नही। जब परिवारके लोग यह जान जाते है कि यह ज्ञानी है, मोह इनको नही है तो वे परिवारके लोग उसका भय भी मानेंगे। कोई हमसे ऐसी चूक न बन जाय कि यह घरको छोड़कर ही चले जायें, सो वे सब लोग उसकी आज्ञामे रहेंगे, बड़ा शृङ्गार बनेगा, सुखी रहेगा। जैसे यहाँ कोई लड़का जब जानता है कि मेरा बाप तो वृद्ध है, वह तो हमपर मरा जा रहा है तो वह फिर स्वच्छन्द बनकर उस बापको बहुत तंग करता है और जब यह जान रहे कि यह तो बडे ज्ञानवान पुरुष है, ये विरक्त भावसे रहते है तो वहाँ सोचते कि मुझे बहुत समझ-बूझकर काम करना चाहिए, कही कोई हमसे गल्ती न हो जाय कि ये घर छोडकर चल दें··। तो इस तरहसे वह निर्मोह गृहस्थ भी ठीक रहता, और उसके परिजन भी ठीक रहते। अब घर मे क्यो रह रहा है ज्ञानी कि उसमे इतनी शक्ति नही कि वह भूख-प्यासकी तीव्र वेदनायें सह सके और खूब तप, व्रत, सयम कर सके। तो राग किए बिना कोई घरमे रह सकता है क्या ? नही रह सकता। राग करना उसे आवश्यक है। सो राग करता है, जानता है कि ऐसा किए बिना गुजारा नही, पर भीतरमे मोह उसके जरा भी नही है, तो ऐसा निर्मोह होकर घरमे रहनेकी बात बन रही है ज्ञानीकी।

साम्यभावके आदरका महत्त्व—एक बात और समझो कि बच्चे चेतें वह भी भला, नवयुवक चेते वह भी भला, मगर जिसकी आयु विशेष है और जिसके बाल-बच्चे सब काम

करने योग्य हो गए हैं और जो काम करते हैं उनको तो विरक्तिकी ओर ही अधिक जाना चाहिए। सो भाई एक निर्णय बनावें कि मेरे दुःखका कारण मोहभाव है, विकार है, विभाव है, दूसरा कोई पदार्थ मेरेको दुःखी करने वाला नही है। इसी तरह यह भी चित्तमे आयगा कि मेरा विरोधी दुनियामे कोई नही, कोई मेरा शत्रु नही। सब जीव अपनी-अपनी कषायके अनुसार अपनी इच्छायें बनाते हैं और कुछ कषायको शान्त करनेके लिए प्रयत्न करते है—कोई कैसा ही क्रोध करे, गाली दे, अपशब्द कहे तो उसपर मुझे क्रोध न जगे। उसने ऐसा ही करनेमे सुख समझा तो अपना सुख पानेके लिए उसने ऐसी चेष्टा की, मेरे विरोधसे उसने चेष्टा नही की। सब जगतके जीवोपर उनके स्वभावकी दृष्टि रखकर समानताकी बुद्धि हो और सब सुखी हो, ऐसी भावना बने। आपके ऐसा सोचनेसे वे सुखी हो जायें सो तो बात नही, मगर जिसके कषाय है, जिसको स्वरूपपरिचय है, जिसकी उस तरहकी परिस्थिति है वह सर्व जीवोके सुखी होनेकी भावना रखता है। हां तो यह बतलाया जा रहा है कि दुःखका कारण है मोह। और यह मोह पहले बांधे हुए कर्मका तो कार्य है और अब बँधने वाले कर्मका कारण है, सो बतलाते है।

यदोच्चै पूर्वबद्धस्य द्रव्यमोहस्य कर्मण।
पाकाल्लब्धात्मसर्वस्व कार्यरूपस्ततो नयात् ॥१०६९॥

निमित्तनैमित्तिक भावका निर्विवाद सुपरिचय—जब पूर्व बद्ध द्रव्य मोहकर्मका उदय होता है उस उदयका निमित्त पाकर यह मोह जिसने अपना स्वरूप सर्वस्व पाया है यह कार्य रूप कहलाता है। पहले बांधे कर्मके उदय आये, उस समय जीवमे जो विपरिणमन हुआ, मोह हुआ, विकार हुआ सो वे कर्मके कार्य कहलाते हैं। देखो गल्ती कोई नही और बात सही कही जाती है। जैसे महिलायें रोटी बनाती है तो लोग कहते है कि महिलाके हाथसे रोटी बनती है, मगर कोई यह नही सोचता कि जैसे मिट्टीका घड़ा बनता, आटेसे रोटी बनती, ऐसे ही हाथमे रोटी बनी। सबको सही-सही ज्ञान है कि ज्ञान निमित्तमात्र है, रोटी बनती आटेसे, ऐसे ही कर्मका उदय निमित्तमात्र है और गडबडी हुई जीवमे, गडबडी कर्ममे भी हुई। जैसे कि दर्पणके आगे हाथ रखा, छोटी-बडी अगुली है तो जैसे यहाँ अगुली है वैसे ही तो यहाँ फोटो है दर्पणमे और तरहका फोटो नही है, जैसा रग है वैसा ही फोटो है, मगर हाथका रग, हाथकी अंगुली छोटा-बडापन यह हाथमे ही है, दर्पणमे नही है। दर्पणमे एक नई बात आ गई जो स्वभावके विरुद्ध है, ऐसे ही जितनी भी कषायें जगती है—क्रोध, मान, माया, लोभ वे कर्मके ऊधम है, कर्मके अनुभाग है, कर्मकी गडबडी है, मगर जैसी वह गडबडी है वैसी यहाँ झलक हुई है, और जैसी झलक हुई है वैसा ही यहाँ विकल्प कर रहा, दुःखी हो रहा। तो सीधीसी बात भेदविज्ञानके लिए इतना जान लें कि मै आत्मा तो स्वरूपसे पवित्र

हूं, शुद्ध चैतन्यमात्र हू, मै बेकसूर हूं। स्वभावकी दृष्टिसे देखा जाय तो मै निरपराध हूं, चेतनेका काम है, मगर अनादिसे ही ऐसे ही कर्मउपाधिका सम्बध निमित्त पाकर ज्ञानविकल्प चल रहे है और हम अशुद्ध बनकर अपना दुर्लभ जीवन व्यर्थ खो रहे है।

असम्बद्ध आश्रयभूत पदार्थोके आलम्बनमे व्यर्थ विडम्बना—एक मोटा दृष्टान्त निमित्त उपादानका तो नही, पर आश्रयभूत और निमित्तका कहते है। कोई देहाती पुरुषको किसी कारणसे कचहरी जाना पडा। वह कभी गया तो था नही सो वह जजके सामने पहुंचते ही कांपने लगा, पसीना बहने लगा, उसका दिल बहुत घबडाने लगा। अब भला बताओ उस देहाती पुरुषकी यह दशा उस जजने कर दिया क्या ? नही। अरे वह देहाती खुद ऐसे ही कमजोर ज्ञान वाला था, कम ज्ञान वाला था, सो अपने आपमे विकल्प मचा-मचाकर कांपने लगा, घबडाने लगा, ''हाय अब क्या होगा, न जाने जज क्या कहेगा' यों अपना ही ख्याल बनाकर वह कॉपता है, घबडाता है, जजने उसे दुःखी नही किया। ऐसे ही समझ लीजिए कि जगतके ये जितने पदार्थ है ये कोई भी पदार्थ मुझको दुःखी नही करते, सुखी नही करते, कुछ भी नही करते, पदार्थ हैं, पडे हैं, किन्तु ये मोही जीव खुद ही विकल्प मचाकर पर-वस्तुओका ख्याल कर-करके दुःखी सुखी होते है तो एक अपना अपनेमे सही निर्णय बनाओ।

निमित्तदृष्टिकी अनादेयता—देखो आप लोगोने शेर देखा होगा। कही तो देखा ही होगा, चाहे कटघरेमे, अजायबघरमे देखा हो या फोटोमे देखा हो। और कुत्ता तो आप रोज-रोज देखते ही रहते है। तो जरा यह बताओ कि इन दोनोमे आपके काममे आने वाला कुत्ता है या शेर ? तो काममे तो कुत्ता ही आता न ? वह आपके रोटीके एक टुकडेपर आपके घर की पहरेदारी करेगा, आपकी बडी विनय भी करेगा, आपकी रक्षा भी करेगा। बडा उपकारी होता है कुत्ता। अब शेरको देख लो, वह बडा अपकारी है, वह कही दिख जाय तो कितने ही लोगोका हार्ट फेल हो सकता, टट्टी पेशाब तक हो सकता, वह बडा अनुपमकारी है, कोई काम मे नही आता, तो बताओ कुत्ता और शेरमे आपके लिए अच्छा कौन रहा ? कुत्ता। मगर किसी आदमीकी प्रशंसा कर दी जाय किसी सभामे कि भाई साहबका क्या कहना है, यह बडे उपकारी हैं, इनकी प्रशंसा कहाँ तक करें, यह तो कुत्तेके समान है। तो यह सुनकर वह बुरा मान जायगा, और अगर कहे कि यह भाई तो शेरके समान है तो यह सुनकर वह बड़ा खुश होगा, फूला नही समायेगा। देखो शेर शब्द कहकर यद्यपि उसने गाली दे दी, क्योंकि शेर तो बड़ा क्रूर, अपकारी होता, और उसके समान कहा इसे तो यह तो प्रत्यक्ष गालीकी बात हुई, पर यह सुनकर खुश होता। तो बताओ यह अंतर किस बातका आया कि शेरकी उपमा सुनकर लोग खुश होते और कुत्तेकी उपमा सुनकर लोगोंको बुरा लगता। तो इसका अंतर सुनो। देखो कुत्तेमे सारे गुण है, मगर एक अवगुण ऐसा है कि जिसके कारण कुत्तेकी कोई उपमा

नही सुनना चाहता । और शेरमे सारे अवगुण है, मगर एक कला ऐसी है कि जिसकी वजहसे उसके सारे अवगुण ढक जाते हैं । कुत्तेमे क्या अवगुण है और शेरमे क्या गुण है सो देखो—अगर आप एक लाठीसे कुत्तेको मारे तो वह यह नही समझ पाता कि यह पुरुष मुझे कष्ट दे रहा, वह तो जानना कि लाठी कष्ट दे रही, सो वह लाठीको अपने मुखसे दबाता है, उसे यह अज्ञान है भ्रम है कि इस लाठीने मुझे दु ख पहुचाया और शेरको इतनी समझ है कि अगर उसपर कोई लाठी, तलवार वगैरासे प्रहार करे तो उसे सच्ची समझ रही कि मुझे कष्ट देने वाला यह पुरुष है, ये औजार नही, सो वह सीधे उस पुरुषपर ही हमला कर बैठता है । तो इन दोनोमे कुत्तेकी तो रही निमित्तदृष्टि, याने निमित्त तो होता है, पर निमित्तने मेरा काम किया, मुझे सुखी दुःखी किया, यह दृष्टि कहाँ है, जब कि शेरकी दृष्टि तथाकथित निमित्तपर नही है, सीधे उस व्यक्तिपर है जिसकी वजहसे दु ख हुआ । तो जो ज्ञान और अज्ञानकी बात यहाँ शेर और कुत्तेमे देखनेको मिली, ऐसी ही बात ज्ञानी और अज्ञानीमे मिलती है । ज्ञानी पुरुषको तो यह सुध है कि मेरेको कोई दूसरा दुःखी नही करता, परिवारका क्या कसूर, धन दौलत होने न होनेका क्या कसूर ? और मित्र, बधु, स्त्री आदिक कोई भी हों, उनसे मेरेको क्या होता ? मेरेमे जो मोह परिणाम है, मैं ही जो स्वरूपसे चिगकर बाहरी बातोमे लगता हू बस वह मेरेको दु ख पहुचा रहा है । दूसरा कोई मुझे दु.ख नही पहुचा रहा । जब कि अज्ञानी पुरुप यह जानता है कि अमुक पदार्थने हमे दु.खी किया, सो उस पदार्थपर दृष्टि रखता है । जो पदार्थ निमित्तपर यो दृष्टि रखना—इसने ही मेरी परिणति कर दी, वह तो कुत्तेके समान है और जिसने यह समझा कि मेरा ही विभाव मेरेको दु खी करता···उसकी शेरकी जैसी वृत्ति है ।

स्वातत्र्य और नैमित्तिकताके परिचयका प्रभाव—तत्त्वनिर्णय वडे संतुलनकी बात है । भावुकतामे आकर अगर कोई कह दे कि कुछ नही है निमित्त, सब अपने आप हो जाता है, तो देखो उनकी त्रुटि आ गई । अगर विभाव बिना निमित्तके हो जायें तो वे विभाव सदा होने चाहिएँ, विभाव कभी मिट ही नही सकते और अगर इस ओर बह जायें कि मेरा सब काम निमित्तने किया, यह जीव क्या करता ' तो भी काम नही बनता । अरे निमित्त तो सन्निधानमे है, परिणमा तो बुरे रूप यह जीव । यह जान गया तो यह आग्रह करेगा कि मुझे खोटा नही परिणमना है, मैं तो ज्ञातादृष्टा रहूंगा, ज्ञानरूप ही परिणमूगा । जो ऐसा सोचेगा उसका मोह दूर होगा, शान्तिपथमे आयगा, तुरन्त भी शान्त रहेगा, आगे भी शान्त रहेगा । तो ज्ञानकी बात तो यह है, मगर इसकी ओर तो दृष्टि न रहे और खूब भगवानके दर्शन करें, भक्ति करे, त्यागी साधु सत जनोके सत्सगमे रहे, उनकी वाणी सुनें, इस भावनामे लगना होना गृहस्थ जनोका, मगर भावनामे रहकर भी जानना यह ही है कि हमारी यह सब

साधना अपनें आत्माका ज्ञान करनेके लिए है ।

निमित्तमात्रीकृत्योच्चैस्तमागच्छन्ति पुद्गला ।
ज्ञानावृत्यादिरूपस्य तस्माद् भावोऽस्ति कारणम् ।।१०७०।।

कर्मबन्धमें जीवविभावकी निमित्तरूपताका कथन—पूजन आदिकके समय जो कहा करते है कि अष्ट कर्मोंने दुःख दिया है इन कर्मोका नाश करनेके लिए मै धूप खेता हू । जिन ८ कर्मोकी बात आप कहा करते है वे ८ कर्म क्या है और किस तरह बनते है, यह बात इस छदमे कही जायगी । जीवने रागद्वेप मोहभाव किया । रागद्वेष मोहभाव तो आप जानते ही है । किसी दूसरेके प्रति, धन वैभवके प्रति एक प्रेम जगना, उसे अपनाना, उसमे प्रीति आना यह ही तो राग है और जो हमारे विषयोमे बाधा दे, कल्पनासे मानता है जीव, जिसको माना कि यह बाधक है उससे द्वेष हो जाता है । द्वेषमे भाव होता है कि यह कब टले, रागमे यह भाव आता है कि यह मेरे पास ही रहे । तो ऐसे रागद्वेष भाव होते है और मोहभाव ? मोह के मायने है अज्ञान । जैसे शरीरको मानना कि यह मै हू, यह मोह हुआ । तो रागद्वेष मोह भाव विकार जब जीवमे आते है उस समय उसका निमित्त पाकर जो कार्माणवर्गणाये भरी पडी हैं वे कर्मरूप बन जाती है, बस वे ही कर्म ८ प्रकारके बन गए । जैसे भोजन किया, अब भोजन करनेके बाद कुछ तो उसका खून बनता है, कुछ हड्डी बनती है, कुछ पसीना बनता है, कुछ मल-मूत्रादिक बन जाता है । तो जो भोजन किया, पेटमे गया तो वहाँ पडा-पडा उस भोजनका कितनी तरहका परिणमन होता है, उसे कौन करता ? आप तो नही करते, आपने तो भोजनभर कर लिया । तो जैसे उस खाये हुए अन्नका इस तरहका परिणमन हो जाता इसी तरह आत्माने तो किया भाव विकार, रागद्वेष और उस समय आत्मामे हुई गड़-बड़ी, उससे कार्माणवर्गणाये ग्रहण हुईं, अब अपने आप सब बटवारा हो जाता है । अपने निमित्तके ढगसे कि यह परमाणु ज्ञानावरण बनेगा, यह दर्शनावरण, यह वेदनीय, यह मोह-नीय । याने ८ कर्मरूप वे कर्म बन गए, अब कर्म बँध गए । अब जो कर्म बँध गए वे उदय मे आयेंगे, तो ऐसा ही निमित्तनैमित्तिक योग है कि कर्म उदयमे आयेंगे तो जीव फल भोगेगा, नारकी, तिर्यञ्च, मनुष्य, देव आदि बनेगा, तो ये जो कर्म बँधे है, जिन कर्मोको हम पूजा-पाठ मे बोला करते है कि ये कर्म टल जावें, इन्होनें हमको बरबाद किया आदिक जो बोलते है वे कर्म क्या चीज है ? यह जानना चाहिए, याने अपनेसे सम्बन्धित जो बात है, खुदमें है उसे न जाने तो कुछ भी बातोको जानकर मोह करके यह क्या लाभ उठा सकता है ?

मोहनिद्राके विचित्र स्वप्न—जब शरीर ही अपना नही तो दुनियाकी कौनसी चीज अपनी है ? जब शरीर ही हमारे आत्मामे कुछ सुधार नही करता तो दुनियाकी कौनसी चीज सुधार करेगी ? सब बाहरी चीजे है, सब यो ही मिले है, यो ही नष्ट हो जायेंगे, उनसे इस

आत्माके नाम कुछ नहीं है। यहाँ जो कुछ मिला है उसके प्रति केवल ख्याल वनाते है। जैसे नीद आनेपर स्वप्न आ जाय तो स्वप्न आनेपर जो कुछ नदी, पर्वत, समुद्र, शेर, बाघ आदि दिखते वह सब सच दिखता है। पर वहाँ है कुछ नही परमार्थ। ऐसे ही इस मोहकी नीदमे सोये हुए प्राणीको बाहरमे जो कुछ दिखता है वह सब सच लगता है। वह भी केवल एक ख्याल ही ख्याल है। वहाँ तो था आँखोकी नीदका स्वप्न और यह है मोहकी नीदका स्वप्न। इसमे आँखें भी खुली है, मगर सब स्वप्न ही स्वप्न दिख रहा—यह मेरा घर है, मेरा परिवार है, मेरे लिए हैं यह सब स्वप्न जैसी बात है। सो रहना तो कुछ है नही, सब कुछ विघटेगा जरूर, और है भी कुछ नही। तो जो ख्याल वनाते है, विकार वनाते हैं उन भावो का निमित्त पाकर ये पुद्गलकर्म कर्मरूप वँध जाते है और ज्ञानावरण आदिक ८ रूपोमे ये बँट जाते हैं।

कर्मोंके सक्षिप्त विवरणमे ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय व मोहनीय कर्मका वर्णन—देखो हम आपके एक क्षेत्रावगाहमे कर्म ८ तरहके मौजूद है, सुना भी होगा। ज्ञानावरण—जिसके उदयसे आत्माका ज्ञान प्रकट नही हो पाता, आत्मा ज्ञानस्वरूप है, मगर ज्ञानावरणका उदय छाया है सो है तो वह निमित्त मात्र, वह करता भी जीवमें कुछ नही, पर ऐसा ही योग है कि उसका निमित्त पाकर जीव अपना ज्ञानबल नही बढ़ा पाता। जैसे कोई पुरुष किसीपर जादू-टोना करे तो वह तो अपनेमे ही कुछ कर रहा, उस दूसरे व्यक्तिपर कुछ नही कर रहा, मगर वह अपने आप डर रहा, वैसी चेष्टा कर रहा, तो ऐसे ही प्रत्येक परद्रव्य वे खुद अपना ही करते है कुछ, दूसरेका नही करते। पर निमित्तनैमित्तिक है ऐसा योग कि निमित्तकी अनुपस्थितिमें विकार सभव नही। विकारी काम यो ही हुआ करते। तो यह जो मोहभाव है यह ज्ञानावरणादिक अष्ट कर्मोंके बधका कारण है। एक दर्शनावरण कर्म है जिससे यह आत्मा अपने स्वरूपका दर्शन नही कर पाता। वेदनीयकर्म दो तरहके है—(१) सातावेदनीय, (२) असातावेदनीय। साता वेदनीयका उदय आता है तो यह जीव इन्द्रिय द्वारा सुख भोगता है व इष्टविषयका साधन प्राप्त करता है और असाता वेदनीयका उदय आता तो यह जीव इन्द्रिय द्वारा दु:खका अनुभव करता है व अनिष्ट सग प्राप्त करता है। यह मोहनीय कर्म सब कर्मोमे प्रधान है। एक मोह मिट जाय तो थोडे ही समयमे बाकी सब कर्म मिट जायेंगे। मोहके बलपर ही सब जिन्दा हैं। जैसे सेनामे सेनापतिके बलपर ही सारी सेना जिन्दा है। अगर सेनापति गुजर गया तो सेना तितर-बितर हो जायगी, ऐसे ही मोहनीय कर्म जब तक है तब तक ये सब कर्म उमडे हुए हैं और मोहनीय कर्म मिटे तो सब कर्म मिट जाते हैं। तो मोह एक महापाप है—यह बात ध्यानमे लायें। और अगर अपने आत्माकी दया है, अपनेको अगर पवित्र रखना है, ससारके सकटोसे बचाना है तो मोहभाव न लावें, अज्ञान

मत लावें। देखो जब तक गृहस्थीमें है तब तक सबके बीच रहे तो प्रेमसे, मगर भीतरमे ऐसा ज्ञानबल बनाये रहे कि मेरा तो मेरे आत्माके सिवाय और कुछ नही है। भीतरमे यह विश्वास रहना चाहिए, क्योकि मोहभाव आये तो कोडाकोडी सागरो तकके कर्म बँध जाते है, फिर यह जीव उसी चक्करमें रहता है। मिथ्यात्व रहता है दर्शनमोहमे। चारित्रमोहमे संयम नही बनता।

कर्मोके संक्षिप्त विवरणमे आयु, नाम, गोत्र व अन्तरायकर्मका वर्णन—आयु कर्म—इस समय मनुष्य आयु कर्मका उदय है तो यह जीव मनुष्य आदिके शरीरमें रुका पडा है। अब लोग तो तरसते है कि मै जिन्दा रहू, पर जिन्दा मायने क्या? जीवका शरीरमे रुका रहना। यह रुके रहना मेरा काम नही है। शरीर ही न मिले और मैं अकेला आत्मा रहू और अपने आपमे मग्न रहूं, यह चाहिए इस जीवको। यह ही तो सिद्ध भगवान करते है जिसकी हम आराधना करते है। तो जीव शरीरमे रुका है, यह आयुकर्मका उदय है। नामकर्म—इस नामकर्मके उदयमे नाना प्रकारके शरीर मिलते जाते है। देखो एक शरीर छोडकर जीव गया तो शरीर तो यो पडा रह गया। जीव गया अकेला। उस जीवके साथ सूक्ष्म शरीर भी है, तैजस शरीर, कार्माण शरीर। सूक्ष्मशरीर—जो भीतसे न रुके, पर्वतपर न अड़े, किसीसे न रुके ऐसा सूक्ष्म शरीर होता है। जब पैदा होनेको जगह गया तो वहाँ जो वर्गणायें हैं उनकी नाना रचनायें बन जाती है। मनुष्योमे देखो—एककी शक्ल दूसरेसे नही मिलती। देखो सबकी नाक आँखके बीचसे और मुखपर निकली है, सबकी एकसी बनावट है, मगर एकका चेहरा दूसरेसे नही मिलता। बात एकसी है, मगर उसीमें कितनी भिन्नताये आ गई है। ये भिन्नताये कैसे आयी कि उस-उस तरहके नामकर्मके उदय है और टेढे-मेढ़े शरीर मिल जाते है। देखो ऊँटोंका और तरहका शरीर, घोडोका और तरहका, मेढक मछली वगैराके शरीर और-और तरहके। तो जिस नामकर्मका बंध हुआ उस उदयमें वैसा शरीर बन जाया करता है। तो शरीर नाना तरहके बन जाना यह नामकर्मका काम है। गोत्रकर्म—ऊँच-नीच कुलमे जन्म होना गोत्रकर्मके अनुसार होता है। पशु जितने है उनका नीच कुल है, देवोका उच्च कुल है। मनुष्य जितने है वे कोई उच्च, कोई नीच कुलके है और नारकी जितने हैं वे सब नीच कुलके है। जिस जीवका जैसा उदय है उसके अनुसार उसे कुल मिला हुआ है। ऐसा कुल पाना भी जीवका स्वरूप नही है। जीवका स्वरूप तो अरहंत सिद्धकी तरह पवित्र रहना है। अन्तरायकर्म—जो अन्तराय डाले उसमे निमित्त पडे, किसीके दान करनेके भाव हो रहे कि मैं दान करूँ, मगर उसमें अन्तराय ऐसा आता कि वह दान नही कर पाता। यह एक कर्मका ही तो उदय है। ऐसे लोग बहुतसे देखे गए कि जो चाहते हैं कि मैं दान करूँ। कोई तो लोगोसे कह भी देते कि भाई तुम्हे जो धन ले जाना हो वह जबरदस्ती ले जाओ, हमे

अपने हाथोसे देते नही बनता। याने इस तरहके भाव बनते कि दान देनेका भाव होते हुए भी वह अपने हाथोसे दान नही दे सकता। कोई अधिक पेरणा करके उठा ले, पर वह अपने हाथसे नही दे सकता, तो आखिर इसमे उसके अतरायकर्मका उदय ही तो है। लाभान्तराय— लाभ न हो पाना, लाभमे विघ्न हो जाना लाभान्तराय है। भोगान्तराय भोगनेकी सामर्थ्य न रहना। जैसे बहुतसे धनिक ऐसे देखे जाते कि भरा तो है लाखोका धन पर कोई ऐसा रोग बन गया कि वे कुछ खा पी नही सकते। डाक्टरने मना कर रखा है कि मूगकी दाल और दो रूखे सूखे टिक्कड़के सिवाय और कुछ नही ले सकते। तो आखिर यह भोगान्तराय ही तो है। उपभोगान्तराय—उपभोग सामग्री जैसे मोटर, मकान, वस्त्रादिककी प्राप्ति न हो पाना, उसकी प्राप्तिमे विघ्न आना यह जिसके उदयसे हो वह उपभोगान्तराय है। तो ये जो अष्टकर्मोका बध जीवके साथ हुआ वह जीवके भावोका निमित्त पाकर हुआ। जैसे लोग कहते है कि क्या करे, कर्मका उदय ही है ऐसा। तो भला बतलावो वह कर्मका उदय आया क्यो? ऐसे ही कर्म बधे।…ऐसे कर्म बधे क्यो? ऐसे भाव किया। तो जो भाव किया उसके अनुसार ही तो फल भोग रहा। जैसे भाव किया वैसा कर्मबध हुआ। तो जीवने किया विकार विभाव, मोह और ये कर्म बध रहे, यह उनमे निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध है।

विशेषः कोऽप्यय कार्य केवल मोहकर्मणः।
मोहस्यास्यापि वाधस्य कारण सर्वकर्मणाम् ॥१०७१॥

मोहभावका विचित्र कार्य—मोहनीय कर्मका कोई ऐसा ही एक विशेष कार्य है कि इसके ऐसे-ऐसे विकार भाव उत्पन्न होते है। देखो सम्यग्ज्ञान ही इस जीवका सहाय है, दूसरा कुछ भी सहाय नही। पुराणोमे भी सुना होगा, यहाँ भी देख लिया होगा, कोई किसी का मददगार बन सका क्या? जीव जैसे भाव करता है वैसा ही फल भोगता है, इसका कोई दूसरा मददगार नही है। तो अब हम ही अपनेको शरण है। हम मायने ज्ञान, ज्ञानमात्र आत्मा। जो भीतर ज्ञान है, जागरण है। ज्योति है, प्रकाश है, समझ है, चेतना है सो ही तो आत्मा है। तो हम कैसे चेते, कैसे जानें कि हमको सकट न आयें, दुनिया कुछ कहे। यह ही बात समझ लो। जब शरीरका भी विकल्प छोडकर, पञ्चेन्द्रियके व्यापारको रोककर भीतरमे निहारते है—यह तो हल्का, अमूर्त, ज्ञानमात्र आत्मा है, बस इसमे पूरी समृद्धि है। इसका स्वरूप पूरा बना हुआ है। इसमे कुछ अधूरापन नही है, आनन्दमय है, ऐसा स्वरूप को निरखें तो उसके भव-भवके बाँधे हुए कर्म भी कट जाते है और इस स्वरूपको न देखें, बाहर-बाहरमे ही देखे—यह मेरा लडका है, यह मेरी बच्ची है, यह मेरा अमुक है, यो मोह ही मोह बने तो वहाँ व्यग्रता होती है, कर्मबंधन होता है, ससारमे उसका रुलना होता है। देखो इन समस्त कर्मोका कारण बना है विकारभाव, मोहभाव। जहाँ मोह है वहाँ सारे कर्म

वन्धनको प्राप्त हो जाते है। तो ऐसे समस्त कर्मोंके वन्धका प्रयोजनभूत जो मोह है सो यह पहले मोह किया था उससे कर्मबन्ध है। उसका फल यहाँ आज मिल रहा। आज जिसको कोई दुःख या सुख होता है तो वह पहले बाँधे हुए कर्मोंके उदयमे हो रहा। ये करोडो वर्ष पहलेके बाँधे हुए कर्म आज उदयमे आ रहे, बहुत भवोंका भी उदयमें आ सकता, इस भवका भी उदयमे आ सकता, मगर प्रायः करके हजारो लाखो करोडो भवोके बाँधे हुए कर्मोंका भी हिस्सा निकल रहा है उदयका और इसीलिए चूंकि एक समयका जो उदय है सो करोडो भवो के बाँधे हुए कर्मोंका भी है, लाख भव पहले बाँधे हुए कर्मोंका भी है। उनका जब निषेक नम्बरमे आया उसका उदय है तो उस सबका जो अनुपात होता है, उसका कर्मविपाक होता है तो कर्मपर दृष्टि नही देना है, किन्तु अपने आत्माके स्वभावपर दृष्टि देना है। भूलसे ही तो यह घबडा गया है, भूलसे ही यह बंधन कर रहा है, दूसरेके वशमें पडा है।

भ्रमकी अधेरी—अधेरीके सम्बन्धमे एक कथानक है कि एक कुम्हारका गधा शाम को कही निकल गया। काफी अंधेरा हो गया घर न आया तो वह कुम्हार उस गधेको ढूढने के लिए घरसे निकल पडा और दूसरी जगह क्या घटना घटी कि किसान लोग फसल काट रहे थे, सूर्यास्त हो चुका था तो वहाँ एक किसान उन फसल काटने वालोसे बोला—भाइयों जल्दी जल्दी फसल काट लो, अधिक देर न करो, नही तो अधेरी आ जायगी। जितना डर मुझे शेरका भी नही उससे ज्यादा डर अधेरीका है। (यहाँ अधेरीका अर्थ अधकारसे समझना) इस बातको सुन लिया एक शेरने। शेर सोचने लगा अरे अधेरी भी कोई चीज है जो हमसे भी बलवान है। वह अंधेरीका भय मानकर एक जगह बैठ गया। अधकार तो काफी था ही। उधर वह कुम्हार उस शेरके पास भी गधा ढूँढते हुए पहुचा, कुछ समझमे आया कि यहाँ कोई बैठा है, सो झट अपना ही गधा समझकर उसके कान पकड लिया और झट एक डडा मारकर कहा—अरे तू यहाँ आकर बैठा है, मैं तुझे घटोसे ढूढ़ता हुआ परेशान हो गया। यहाँ तो कुम्हारको गधेका भ्रम हुआ। उधर शेरको यह भ्रम हो गया कि जिस अधेरीकी अभी बात कर रहे थे लो वह आ धमकी। सो अधेरीके भयसे शेर भयभीत हो गया। कुम्हारने कान पकडकर खीचते हुए गधोके बाडेमे ले जाकर बाध दिया। रात्रिभर वह शेर उन गधोके बीच बँधा हुआ अपनेको दुःखी अनुभव करता रहा, पर जब प्रातःकाल हुआ, अपनेको गधोके बीचमे बधा हुआ पाया, अपने भ्रमपर पछतावा हुआ तो झट दहाड़ मारा और छलाग मारकर जगल चला गया। तो यहा देखो कि जैसे भ्रममे आकर वह शेर कायर बन गया, दुःखी हुआ, ऐसे ही ये संसारी प्राणी भ्रममे आकर महाकायर बन रहे हैं, दुःखी हो रहे है। कभी किसीसे दब रहे, कभी किसीसे हैरान हो रहे, मोहमें, रागमे बड़े परेशान हो रहे। देखो अभी कल हम लोग जहांसे आये वहां सबने क्या देखा कि पासमे

कोई तीन मुसाफिर बैठे थे—स्त्री, पुरुष और उसकी बहिन। क्या देखा कि वह पुरुष अपनी स्त्रीके रागमे आकर खूब उसके साथ हँसता बोलता हुआ मौज मान रहा था। पासमे बैठी हुई उस पुरुषकी बहिन बड़े भाईके नाते उससे कुछ बातें करना चाहती, पर उसकी ओर उसका ध्यान कहां, वह बेचारी कुछ उदास-सी रही। तो जिसके जहा राग बसा है उसका वही उपयोग है, और उसके ही आधीन है, उसके ही वश है। दुःखी होता रहता है। भ्रम लगा है ना, उसका फल है। मेरी महिमा बढेगी ऐसा उसके भ्रम बना है तब परवस्तुओंके आधीन है। बड़ी अधेरी छाई है वह अधेरी क्या ? कर्मोदय। कर्म आये, अंधेरी आयी, आत्मामे छाया पडी, विकार हुआ, दु:खी हुआ। जहा यह ख्याल आया कि अरे मैं तो प्रभुके समान स्वरूप वाला हू और यह मैं इन जड़ पदार्थोंके साथ बधनमें पडा हू, मेरा स्वरूप तो ज्ञानानन्दमय है। जहाँ वह अपने स्वरूपको संभाले, ज्ञानप्रकाश होगा तो सारे बंधनोको तोड कर अपने आत्मामे विहार करने लगेगा।

अपने स्वरूपदर्शनसे अपनी रक्षा कर लेनेका अनुरोध—भैया ! अपनेको अपना आत्मा ही रक्षक है, दूसरा कोई रक्षक नही। अपनेको देखें, अपनेको सम्हाले, अपने स्वरूपके दर्शन करें, यह ही एक सारभूत बात है, बाकी तो जितने दिनको यहाँ आये, मोह ममतामें लिपटे, अन्तमे निर्णय होगा कि शरीर छोडकर जाना पडेगा, न जाने कौनसा भव मिलेगा ? इससे यह जीवन पाया है तो दुनियाकी ओर अधिक न देखें कि दुनिया क्या कर रही है, कहाँ-कहाँ क्या क्या हो रहा है ? आखिर दुनियाको भी तो देखना होता है, क्योंकि गृहस्थी है, गृहस्थीमें सब ओर ही बातें देखनी पडती है, मगर जहाँ दुनियाकी सब बातें करते वहाँ घटा-दो घटा अपने आत्माकी बात भी करो। आखिर अपना रक्षक यह ज्ञान ही है। दुनियाका यह संग प्रसग इस जीवका रक्षक नही। तो जो अपना शरण है, प्रियतम है उसकी शरण गहो। अपना प्रियतम कौन ? प्रियतमका अर्थ है सबसे प्यारा। अच्छा अब आप देख लो, यहाँ आपको सर्वोत्कृष्ट प्रिय चीज कौनसी है ? सर्वोत्कृष्ट प्रिय चीज तो वही हो सकती जिसका प्यार कभी मिटे नही। जिन-जिनका प्यार मिटता जाये वे प्रियतम नही। तो सबसे अधिक प्रियतम कौन ? जिसका प्यार कभी बदले नही। अब दुनियामे कुछ भी चीज बताओ जिसका प्यार एकसा सदा रहता हो, कभी बदलता न हो ? शैशवमे माँ की गोद प्रिय, बादमे विद्या प्रिय, फिर परीक्षा आदि बदलते रहते। जब विवाह हो जाता तो स्त्री सर्वोत्कृष्ट प्रिय रहती, कुछ दिन बाद जब बच्चे हो जाते तो सबसे प्रिय लगते, स्त्री प्रिय नही लगती। मान लो लड़की बडी हुई, उसके विवाहकी फिक्र हुई तो अब बच्चे भी प्रिय नही रहते, सबसे प्रिय चीज उसके लिए हो जाती है धन। तो जिस परसे प्यार बदले उसे प्रियतम नही कह सकते। जो प्यार कभी बदले नहीं, प्रियतम तो वह है। मान लो कभी ऐसी घटना घट जाय कि उसके

घरमे आग लग जाय, कोई एक बच्चा घरसे न निकाल पाये, आग तेज बढ जाय तो वह पुरुष दूसरोसे कहता—भैया ! मेरा बच्चा निकाल दो. मै तुम्हे ५० हजार रुपये दूगा । देखो वहाँ उसे अब धन भी प्रिय न रहा, उसे प्रिय हो गई अपनी जान (प्राण) । मान लो उसी घटनामे उसको जग जाय वैराग्य, वह विरक्त हो जाय, अपने आत्मस्वरूपमें मग्न हो जाय, अब उसपर कोई शत्रु आकर उपसर्ग करे, उसके प्राणोंका घात करे तो भी वह कुछ परवाह नही करता, उसकी ओर ध्यान ही नही करता, वह तो अपने ज्ञानस्वरूपमें मग्न रहता है । तो यह ज्ञान ही एक ऐसी चीज है कि जिसकी कभी बदल नही होती । तो सर्वोत्कृष्ट प्रिय (प्रियतम) है ज्ञान । यह ज्ञान ही मेरा शरण है, सर्वस्व है, प्रियतम है । शुद्ध ज्ञानसे बढ़कर प्रियतम चीज जगतमे कुछ नही है, इसलिए उस सबसे अधिक प्रिय चीजसे प्रीति करें, उसमे ही रुचि करें तो उससे कुछ लाभ मिलेगा, और जिनके प्यार बदलते रहते है उनमे दिमाग लगानेसे फायदा कुछ न होगा, सारा जीवन यो ही व्यर्थ निकल जायगा । तो यह जीव मोही बना फिर रहा है । यह मोहभाव ही इस जीवके लिए दुःखकी खान है और यह ही समस्त प्रकारके कर्मबन्धनका कारण है ।

अस्ति सिद्ध ततोऽन्योऽन्य जीवपुद्गलकर्मणो. ।
निमित्तनैमित्तिको भावो यथा कुम्भकुलालयोः ॥१०७२॥

कर्म और जीवमें निमित्तनैमित्तिक भाव—जैसे इस जमीनपर एक हाथ दूरसे ही हाथ करे तो उस जमीनपर हाथकी छाया आती है, तो बताओ वह छाया किसकी है ? हाथकी है या जमीनकी ? अगर कहो कि हाथकी है तो हाथकी जो चीज होगी वह हाथमे होगी या हाथ से बाहर ? हाथकी चीज हाथमे ही मिलेगी । तो फिर वह छाया जमीनसे कोई एक हाथ दूर है, फिर वह हाथकी छाया कैसे रही ? नही रही । तो क्या जमीनकी छाया है ? अगर जमीन की छाया बताओगे तब तो फिर वह छाया बराबर चौबीसो घटे रहनी चाहिए, पर ऐसा तो नही है । फिर वह छाया जमीनकी भी न रही । और है छाया जरूर । सब लोग देखते ही है । तो ऐसे ही यह समझो कि इस आत्मामे जितनी विभावछाया है—क्रोध, मान, माया, लोभ, विकार, विचार, ख्यालात आदिककी वह सब भी तो है, पर वह किसकी है ? कर्मकी छाया है या जीवकी । ऐसा एक प्रश्न है । अगर कोई कहे कि वह विभावछाया कर्मकी है तो फिर यह बताओ कि कर्मकी जो चीज होगी वह कर्ममे ही रहेगी या कर्मसे बाहर ? कर्ममे ही रहेगी । तब तो फिर ये रागद्वेपादिक विकारभाव कर्मके न रहे, और अगर कहो कि जीव के है तो फिर वहा यही प्रश्न खडा हो जायगा कि जीवकी जो चीज है वह जीवमे सदा रहेगी, फिर मिटेगी कैसे ? तो इस उत्तरसे ही स्पष्ट हो गया कि ये विभाव भाव जीवके नही हैं । जीव तो सदा अनादि अनन्त है । यदि जीवके ये विभावभाव होते तब तो ये कभी मिट

ही न सकते, सदा रहते, पर ऐसा तो नही है। तो ये विभाव जीवके भी न रहे। मगर ये हो रहे जरूर। बस यह ही समस्या यहाँ है। जैसे जमीनपर जो छाया आयी वह जमीनका स्वभाव तो नही है, मगर हाथका सन्निधान पाकर वह छाया प्रकट हुई है इसलिए छाया निमित्त है, औपाधिक है और छायारूप परिणमी यह जमीन ही है। इसी तरह आत्मामे जो रागद्वेषादिक भाव आये वे कर्मका सन्निधान पाकर आये। हुए जीवमे ही है, मगर नैमित्तिक है, औपाधिक है। तो जैसे यहाँ जमीनमें पडने वाली छाया आप मेट सकते कि नही? ·· मेट सकते। कैसे?···हाथको हटाया कि छाया खतम। तो इस छायाको तो यो मिटा लिया, मगर आत्मामे जो रागद्वेषकी छाया है, कर्मविपाककी झाँकी पडी है, कर्म रस पडा है उसे आप कैसे मिटायेंगे? वे कोई आँखो दिखते तो नही। वहाँ तो ज्ञान ही मिटायेगा, दूसरा कोई उपाय नही। · कौनसा ज्ञान मिटायेगा?·· स्वभावज्ञान। जहाँ यह समझमे आया कि मै तो सहज चैतन्यमात्र हू, ज्ञानमात्र हू, जाननहारभर हू, इसमे और कुछ नही है और सब भ्रम है। तो जहाँ अपने स्वरूपका ज्ञान होगा वहाँ ये सब विकार दूर होने लगेंगे।

कर्मविपाकके ओटपाये—अब एक ही बात बतलाओ कि आपको जो कुछ वर्तमानमे समागम मिला है, स्त्री, पुत्र, मित्र, धन वैभव आदिकका, जिनके बीच रहकर आप बडा मौज मानते है, वे आपके पास सदा रहेगे क्या?· और फिर वैसा ही सदा रहना चाहते है क्या? हाँ कह दो न, क्या हर्ज है? यदि ऐसा रहना चाहते है तो देखो उसमे दो आफतें है। एक तो ऐसा कोई रह नही सकता। आप अपनी बीती हुई जिन्दगीसे ही यह अनुभव बता सकते कि कभी किसीके सदा एकसे दिन नही रहते, क्योकि वह अपने हाथकी बात नही है। वह तो सब कर्मलीला है। होती है, मिटती है, और फिर दूसरी बात—ऐसा ही बना रहे तो कौनसा आनन्द मिला? अच्छा जितने दिन आप अपने सुखके मानते है उनमे एक भी दिन पूराका पूरा सुख ही सुखमे बीता हो तो बताओ? चौबीसो घटेकी तो बात क्या कहे—दो चार छः घटे भी लगाकर एक जैसी स्थिति नही रहती। लगातार तो दो घडी भी सुख नही है किसीको। मान लो आप किसी दो तीन सालके बच्चेको गोदमे लिए खिला रहे, खूब मौज मान रहे और उसने कर दिया आपके कोट पेन्टपर टट्टी, तो आप झट झुझलाकर उसकी माँ को या अपनी बेटी, बहिन किसीको आवाज देकर बुलाते। अरे जल्दी आवो, देखो बच्चेनें हमारे ऊपर टट्टी कर दिया। तो जरा ही देरमे देखो आपका वह मौज खतम हो गया। तो संसारका यह सारा समागम दुःखरूप है। और यह सब है क्या? जीव और पुद्गलके निमित्तनैमित्तिक सम्बधसे यह सब काम हो रहा है। हो रहा पदार्थका खुदमे खुदका परिणमन, मगर जितने विकार है, विभाव है वे सब उपाधि सम्बध बिना नही होते। जैसे कुम्हारने घडा बनाया तो कही कुम्हार उस घडे रूप नही बन गया, बना उस मिट्टीसे ही। वह

कुम्हार तो उस घडेके बननेमे निमित्त है । मिट्टी अपने आप परिणम रही है घड़ेके रूपमे, वह दृष्टि तो उपादानकी है, मगर कुम्हारके प्रयोग बिना मिट्टी कहीं अपने आप गीली हो जाय, उठ जाये, ऐसा तो नही है । तो जैसे घडेके बननेमे कुम्हार और मिट्टीका निमित्तनैमित्तिक सम्बध है इसी प्रकार रागादिक विभावोके बननेमे जीव और कर्मका भी निमित्तनैमित्तिक सम्बंध है । यह बात सुनकर कभी यह बुद्धि न करना कि कोई परपदार्थ इसको परिणमा देता है । कर्तृकर्मभावकी शंका न करना कि पुद्गल कर्म जीवको रागी बना देते है । वे कर्म तो अपने उदयमे आते है, उनकी गडबडी उनमें होती है, यहाँ प्रतिफलन होता । जीव अपनी गडबडी करता, मगर निमित्तनैमित्तिक सम्बंध अवश्य है । अगर निमित्तनैमित्तिक सम्बंध न होता तो रागद्वेषादिक कभी मिट नही सकते । अगर जीवमे अपने आप हो गए तो उनके मिटनेका फिर साधन क्या ?

अन्तर्दृष्टया कषायाणा कर्मणा च परस्परम् ।
निमित्तनैमित्तिको भावः स्यान्न स्याज्जीवकर्मणोः ॥१०७३॥

वस्तुतः जीव और कर्ममें निमित्तनैमित्तिक भाव न होकर कषाय और कर्ममें परस्पर निमित्तनैमित्तिक भावकी सिद्धि—और अन्तर्दृष्टिसे देखें—याने मोटे रूपमे, तो यह बतलाया कि जीव और पुद्गल कर्मका परस्पर निमित्तनैमित्तिक सम्बध है, मगर और गहरी दृष्टिसे देखे तो यह ही बात नही, किन्तु कषायोका और कर्मोका निमित्तनैमित्तिक सम्बंध है । जीव तो सभी है । सिद्ध भगवान भी जीव है, मगर वहाँ तो कुछ गड़बड़ी नही होती है । जहाँ कषाय है वहाँ ही कर्म बँधते है । जहाँ कर्मके उदय है वहाँ कषाय बनती है, यह झगडा चल रहा है । देखो इस वर्णनसे कुछ अपने आपमे कुछ शिक्षा जरूर लेनी चाहिए । इस तरहके मौजसे धर्म न करें कि रूढिवश मदिर भी आते, सारे क्रियाकाण्ड करते, मन्दिरमे बैठकर खूब गप्पे भी करते, शास्त्र भी सुनते जाते, बाते भी करते जाते, दिल बहलाते जाते और आप समझते कि हम तो बडा धर्म कर रहे, इस ढगसे धर्म नही होता । देखो धार्मिक क्रियाकाड करनेमे कष्ट तो सब करते, मगर उसकी ऐसी उत्तम विधि बना लो जिससे लाभ तो पा लो । खूब श्रम भी करो और लाभ न पावो तो वह श्रम किस कामका ? लाभ तो सम्यग्ज्ञान पानेमे है । अपने अदरमे ज्ञान सही बनाये । और देखो कितना ही वैभव मिल जाय, पर उससे आत्मा मे कुछ लाभ न होगा, बल्कि उसमे मोहभाव जगेगा जिससे जीवका बिगाड होगा । और अगर आत्माके ज्ञानका काम करें, सत्सगति, स्वाध्याय आदिकसे अपने आत्मस्वरूपकी उपासना करें तो इससे आपको अपना सर्वस्व मिल जायगा । अब आपकी रुचि किसमे है सो विचारो । आप मदिर भी जाते, पूजा-पाठ भी करते, त्यागी व्रतियोके समागममे भी रहते, घर-गृहस्थीके अनेक काम करते, पर आपकी रुचि किसमे है ? तो आप जिस चीजको अपना सर्वस्व समझते,

जिसके लिए आप अपने तन, मन, धन, वचन, सर्वस्व न्योछावर करनेको तैयार रहते, रुचि तो आपकी उसमे है। किसीकी रुचि धन वैभवकी ओर विशेष है, किसीकी रुचि बाल बच्चोकी ओर विशेष है, किसीकी रुचि किसीमे विशेष है। तो ठीक है, यह भी आप लोगो का किसी परिस्थितिमे एक कर्तव्य है, मगर रुचिका चिन्ह् बतला रहे कि अपने आत्माके ज्ञानके लिए मेरे आत्माका बोध हो, मुझे कोई मोक्षका रास्ता मिले, सच्चा मार्ग दिख जाय, इसके लिए आपके पास कितना समय है सो तो बतलावो ? अजी एक आध दिनकी बात हो तो घटा भर लगा दें, पर रोज-रोज कोई त्यागी रहे तो रोज-रोज समय कहाँसे निकाला जाय ? तो अपने आपकी दयाके लिए अपने आत्माके ज्ञानके लिए या जगतमे सम्यग्ज्ञानके प्रसारके लिए आप अपना समय तन, मन, धन, वचन, कितना क्या कर सकते ? बस इस तुलनामे आप यह जान जायेंगे कि हमको वास्तवमे रुचि किस ओर है ? जिस ओर रुचि होती है उसके लिए अपना सर्वस्व सौप देते है, परवाह नही करते, कुछ परवाह नहीं करते, होता है ऐसा। तो जैसे ही ऐसा आपका यह भाव बन जायगा कि मेरे आत्माका ज्ञान जगे, इसके लिए चाहे यह सग परिग्रह बिल्कुल चला जाय उसे भी कुछ न समझना, इतना साहस जब जगे तब समझो कि आपको अपने आतमकल्याणकी गहरी रुचि प्रकट हुई। कषाय चल रहे हैं, कर्म चल रहे है, यह रेलगाडी खूब चल रही। कषाय भी चल रहे, विषयोका उपभोग खूब धडाधड चल रहा, तो यह सब कषायका, मोहका प्रभाव चल रहा। द्रव्यसे देखो तो जीव और कर्म—ये परस्परमे निमित्त नही बनते है एक दूसरेके, मगर कर्मका विभाव और जीवका विभाव ये दोनो परस्पर निमित्तमात्र होते है। तो होनेको हो सो ठीक है, पर अपने आत्माका सही विवेक अवश्य होना चाहिए।

भेदविज्ञान व स्वरूपावबोध बिना शान्तिमार्गके पानेकी अशक्यता—आप लोगोको प्रवचन शायद कुछ कठिन लग रहा होगा, क्योकि कहानी किस्सा तो बोल नही रहे, मगर एक बात यह है कि ये राग रागिनीकी बाते या देश विदेशकी बातें तो आप लोगोको सुननेको अनेक ढगोमे मिल जाती है, जैसे रेडियोसे, अखबारसे, मगर आत्माके स्वरूपकी बात, ज्ञान, कर्म ये क्या अपनी स्थिति रखते हैं, भीतर क्या द्वन्द मच रहा है, क्या ढग चल रहा है ? उसका चित्रण जब तक आपके परिचयमे न आयगा तब तक आपको मूलसे धर्मका, ज्ञानका प्रकाश नहीं मिल सकता। यहाँ चाहिए भेदविज्ञान। भेदविज्ञान यह भी धर्मका अंग है ना ? तो आप कहेगे कि यह तो बहुत सरल बात है, गाँवोमे भी जावो तो वहा छोटे-छोटे लोग ऐसी बात बोलते हुए मिलेंगे कि जीव न्यारा है, शरीर न्यारा है, यह जीव इस शरीरको छोड़कर चला जायगा, शरीर यही पडा रह जायगा पर इतना कहनेसे कहा वे ज्ञानी तो नही बन गए। अच्छी बात है, थोडा बहुत कहते तो हैं, मगर जिस ज्ञानसे पार होना है और

जिस ज्ञानके बाद फिर कोई सदेह नही रहता है, नियमसे आत्मतृप्ति होती है वह ज्ञान यह नही है। वह ज्ञान है अपने आत्माके स्वभावका ज्ञान करना और उसका विशुद्ध कार्य समझना। उसके अतिरिक्त जो अन्य बातें हो उनको विभाव, परभाव हेय समझना, यह बात जब परिचयमें आये तब समझिये कि हमको वह ज्ञान मिला है। जिस ज्ञानके कारण नियमसे संसारसंकटोसे छूट जायेंगे। सम्यग्ज्ञानको ग्रहण करे, बाकी तो कुछ रहना है नही, सब कुछ बिछुड़ेगा। बिछुडने दो आपका उसमें धरा क्या है? आखिर शोक करनेसे बिछुडना बंद नही होता बल्कि अनेक बार सयोग होकर बिछुड़नेकी नौबत आयगी। बिछुडने दो, इतनी हिम्मत ज्ञानप्रकाशमे आयगी कि सारा जहान कैसा ही परिणमे, कुछ भी स्थिति हो, मैने तो परमात्मस्वरूपको पाया है और समझा है कि उस तत्त्वके अनुभवमे ही आनन्द है, बस मुझे तो सब कुछ मिल गया और मुझे कुछ न चाहिए।

दृश्यमान संग प्रसंगकी स्वप्नसमता—यहाँके दृश्यमान सर्वसमागम स्वप्नवत् असार हैं, उनसे आपको मिलना-जुलना कुछ नही है, बल्कि उनके समागमसे आपकी बरबादी है। स्वप्नवत् कैसे? एक कथानकमे बताते है कि कुछ घसियारे गर्मीके दिनोमे कडाके की धूपमे घासका गट्ठा लेकर जंगलसे चले। गाँव दूर था तो बोझसे थककर वे रास्तेमे एक पेडके नीचे विश्राम करने लगे। थोडी ही देरमें उनको नीद आ गई। उनमें से एक घसियारेको ऐसा स्वप्न आया कि मै बादशाह बन गया हू, बडे बडे राजा लोग व प्रजाजन सभी हमे नमस्कार कर रहे है, सभी लोग मेरी आज्ञामें है, मेरे पास बडा ठाठ है। अब देखो उस स्वप्नमे वह कितना मौज मान रहा होगा? स्वप्नमे तो उसे सब कुछ सच लगता था। पर था क्या सच, सच तो न था। आखिर हुआ क्या कि उस स्वप्न देखने वालेको किसी घसियारेने जगा दिया कि उठो, चलो, नही तो देर हो जायगी लो उसकी निद्रा भग, उसका स्वप्न भग, कहाँ राज्य रखा, कहा वह मौज रखा। अब वह झगडने लगा—अरे तूने मुझे क्यो जगा दिया, मेरा राज्य क्यो खतम कर दिया? अब भला बतलावो, वह उसकी मूर्खताभरी बात थी कि नही? थी। कहा था राज्य? वह तो एक स्वप्नकी बात थी, मिथ्या थी तो सच समझो कि यहा जो कुछ मिला है यह भी कोरा स्वप्नवत् है। अब जब सभीको स्वप्न आ रहा तो कौन बता सकता कि मुझे स्वप्न आ रहा।

मोहमत्ततामें सही समझकी असंभवता—जहा कही ५० आदमी हो और उन सबने शराब पी रखी हो, शराबके नशेमें पागल सरीखे बन कर अपनी चेष्टायें कर रहे हो तो वहा उनको कौन कहने वाला है कि यह पागल है, मदोन्मत्त या पागल जैसी बात वही कह सकता जो शराब न पिये हो। ऐसे ही ये संसारके सभी जीव मोहमे मस्त है। उनको तो सब कुछ सही-सही दिख रहा। कौन कहता है कि यह घर मेरा नही। नगरपालिकामे रजिस्ट्री की

हुई है या तहसीलमे रजिस्ट्री की है। कौन कहता है कि मेरा घर नही ? सभी लोग ऐसा कहते, मगर जो मोहसे रहित हो, ज्ञानी हो वही तो कह सकेगा कि ये सब लोग परपदार्थको अपना रहे है। है इनका कही कुछ नही। मोह मदिरा पिये है। उसमे एक पागलपनसा छाया है तो परको अपना मान रहे। यह किसी दूसरेकी कथा नही, यह तो खुदकी बात है। खुदमे विवेक लायें, खुदमे प्रकाश लावे और सही-सही बातको समझ लें कि मेरे आत्माका कल्याण किस बातमे है ? मोहमे कल्याण नही, लोग दु.खी होते हैं—हाय मेरे पास धन कम है, मेरा धन घट गया अरे इसमे दुःखी होनेकी क्या बात ? पापका उदय आया सो घट गया, तो जितना धन घट गया उतने धनका और त्याग कर दो, आखिर घटना तो है ही, चलो और घट जाने दो। यों आपकी बुद्धि जगेगी तो आपके पुण्यका प्रवाह तो आयगा। गुरु जी (गणेशप्रसाद वर्णी जी) सुनाते थे कि किसी एक आदमीके एक बार १० हजार रुपये चोरीमे चले गए सो वह पुरुष खूब दुःखी मुद्रामें हमारे" पास आया और बोला—पडित जी बडा गजब हो गया, हमारे तो १० हजार रुपये चोरीमे चले गए...तो वहा गुरुजी बोले—भाई तुम दु.खी न होओ। आखिर पापका उदय आनेपर होना तो था ही ऐसा, इससे भी ज्यादा हो सकता था, सो अब तुम जान-बूझकर बडी उदारतासे १० हजार रुपयेका और दान कर दो, समझ लो कि यह भी उसी १० हजारके साथ चला गया। आखिर जा सकता था ना। उदारतामे आपका पुण्यरस बढ़ेगा और पापकर्मका क्षय होगा। सो उसने वैसा ही किया। कुछ ही दिनोमे ऐसा देखनेको मिला कि किसी न किसी बहानेसे उसका टोटा पूरा हो गया।

तृष्णामे संतोषका अनवसर—देखो—प्राय. करके ऐसा देखा जाता है कि जब किसी की किसी प्रकारकी हानि हो जाती है तो उसकी दृष्टि उस हानिपर तो अधिक रहती है, पर वर्तमानमे जो पास रखा है उसपर दृष्टि नही रहती। जैसे कभी किसी सेठका मानो १ लाखमे से १ हजारका टोटा हो गया तो उसकी दृष्टि उस एक हजारपर अधिक रहती है। बाकी जो अभी ९९ हजार धरे हैं उनपर दृष्टि नही रहती। यही कारण है कि वह अधिक चिन्तित रहा करता। एक घटना है कि एक बुढिया मा के ७ बेटे थे, उनमे से एक मर गया तो वह बुढिया बहुत-बहुत रोती थी। सभी बालक समझाये—माँ तुम रोओ मत, तुम्हारे रोनेसे अब होगा भी क्या ? अभी तो हम ६ बेटे है, हमीको देखकर खुश रहो। तो वह बुढिया माँ बोलती—बेटा क्या करें, जी (मन) नही मानता, हमारी तो दृष्टि उस एकपर ही अधिक रहती है। कुछ दिन बाद दूसरा बेटा मर गया तो फिर बुढियाकी वही हालत। सभी लडके समझाते—मा क्यो इतना अधिक रोती हो, अभी हम ५ बेटे तो है, हम लोगोको देखकर खुश रहो। तो बुढियाने

वही उत्तर दिया—क्या करूँ बेटा, मन तो नही मानता, रोये बिना नही रहा जाता । हमारी तो दृष्टि उन दो बेटोपर ही अधिक रहती है । इसी तरहसे धीरे-धीरे चौथा, तीसरा, दूसरा, पहला, ये सभी बेटें मरते गए, वहा बुढियाकी यही हालत रही कि जो बेटे मरते बस उनपर ही उसकी अधिक दृष्टि रहा करती थी । यही कारण था कि वह सदा रोते ही रोते अपनी जिन्दगी बिताती रही । तो मतलब क्या है कि हम आप अपना यह दुर्लभ मानव-जीवन इसलिए मत समझें कि हमको ऐसा मकान बनाकर लोगोंको दिखाना है, लोगोको इतनी सम्पदा दिखाना है, इतना वैभव दिखाना है । यह तो पुण्यके उदयमे आपका नौकर होकर आयगा, दास बनकर आयगा पुण्योदय हो तो । यह बिल्कुल तथ्यकी बात है, पुण्योदय है तो सम्पदा आयगी, नहीं है पुण्योदय तो न आयगी, बल्कि पापोदय है तो जो कुछ पासमे है वह भी बिछुड़ जायगा । आप तो अपने धर्मसाधनके कर्तव्यसे न चूको ।

धर्मसाधनके प्रवर्तनसे ही नरभवकी सफलता—आपका कर्तव्य यही है कि आप अपना एक यह सही निर्णय बना लें कि मेरा जीवन तो धर्मसाधनाके लिए है, दूसरी बातके लिए मेरा जीवन नही है, क्योकि आज हम है कलका क्या भरोसा ? वास्तविक धर्मपालन यही है कि अपने आत्माका जो सहज निरपेक्ष ज्ञानमात्र स्वरूप है उसे जानें कि यही मेरा सर्वस्व है, अन्य कुछ मेरा कही कुछ नही । ऐसा अनुभव बने, ऐसा ज्ञान चले तो वह है वास्तविक धर्मपालन । वह एक साधन मात्र है । वह इसलिए है कि हम इस तरहके पात्र तो है । उस समयमे हम अपनी सुध तो कर सकते हैं । कही यह न समझना कि हमने भगवानके सामने नेकसे चावल चढा दिया, हाथ जोड दिया सो धर्मपालन हो गया । अरे वास्तविक धर्मपालन है प्रभुके स्वरूपमे लगन । जो आत्माका सहज ज्ञानस्वरूप है उसमे अनुभव बने कि मै यह हू, वह है धर्मपालन । फिर पूजा-पाठका भी कुछ प्रयोजन है कि नही ? "हा है । उस समय ऐसी साधना बनायें कि हम घटा-डेढ घटा प्रभुकी स्तुतिमे तो रह सके और उस बीचमे हम आत्मदृष्टिकी साधना बनाये रहे, इसका एक अवसर तो है, और किसी क्षण वह स्वरूपका अनुभव बने तो यही वास्तविक धर्म है, इसके लिए ही हमारा जीवन है, इसके लिए ऐसा एक निर्णय बना लीजिए कि बस धर्मके लिए ही मेरा जीवन है । फिर आप कहेगे—तो फिर यह सब गृहस्थी बिगड़ जायगी । तो भाई गृहस्थी धर्मसे नही बिगाडती । गृहस्थी बिगडती है व्यसनसे, पापसे, धर्मसाधनासे । धर्मसाधनामे आप लगें, व्यसनोसे दूर हो, पापोसे दूर हो, भगवानकी भक्तिमे रह रहे तो वह भाव तो आपके पुण्योदयमे कारण है । सत्य ज्ञानीको तो पुण्यकी चाह भी नही होती कि मेरा पुण्य बने और मेरेको ऐसी-ऐसी पुण्य-सम्पदा मिले, उसके तो चित्तमे यह चाह भी नही होती । तो यह सब अपने उपयोगकी बात है । चाहे ससारमे रुलते रहनेका प्रोग्राम बनाये रहे और चाहे सिद्ध भगवान बननेका प्रोग्राम बनाये रहे, सब

आपके हाथकी बात है। आपका उपयोग सब कुछ कर सकता है, बस विवेक कर लो। सार अगारकी बात समझ लो कि मेरा हित किसमें है? सिद्ध भगवान बननेके प्रोग्राममें तो हित है और संसारमें रुलनेका प्रोग्राम बनानेमे अपना अहित है। इस दुर्लभ मानवजीवनको पानेका लाभ यह है कि आत्माका ज्ञान बने और संसारसे एकदम पार हो जायें।

यतस्तेऽत्र स्वयं जीवे निमित्ते सति कर्मणाम्।
नित्या स्यात्कर्तृता चेति न्यायान्मोक्षो न कस्यचित् ॥१०७८॥

सुगम स्वपौरुषसे शांतिलाभकी संभवता—अपने सुख शान्तिके लिए कार्य क्या करना चाहिए? अपनी स्थिति क्या होनी चाहिए? किसीके प्रति राग न हो, द्वेष न हो, मोह न हो, अपने सहजस्वरूपका प्रतिबोध रहे, ऐसी स्थिति बने तो वहाँ कष्ट नही होता। अब यह बात ज्यादा घर क्यो नही कर पाती कि अनादिकालसे तो वासना लगी है विषयोकी, बाह्य पदार्थोंमे भ्रमकी। अब एक समयमे, थोडी ही देरमे वे सब कैसे दूर होवें? उसके लिए बडी साधना चाहिए। मगर अधीर होनेकी बात नही। देखो कुएंके बाटपर जो पत्थर धरा रहता है, जिसपर रस्सी आती जाती है तो उस रस्सीकी रगडसे दो चार सालमे वह पत्थर काफी घिस जाता है। तो ऐसे ही अगर अपने स्वरूपकी दृष्टि करनेका अभ्यास बने, बारबार भावना बने तो अपने मोक्षमार्गकी बात भी अवश्य होकर रहेगी। इसके लिए चाहिए सत्सग और स्वाध्याय। सत्सग तो आपके हाथकी बात नही। सत जन मिलें या न भी मिल पायें, कब मिलें, कहाँ मिले कुछ पता नही और आपकी ऐसी स्थिति नही है कि घर छोडकर सत्सगमे रहे आये, रहनेकी आपकी परिस्थिति नही तो स्वाध्याय तो स्वाधीन चीज है। स्वाध्यायमे भी सत्सग मिलता रहता है। जिस आचार्य महाराजका ग्रन्थ पढ रहे उसके प्रति यह रहता यह अमुक आचार्यके वचन है, तो यह ही सत्सग हो गया। सत्संगमे स्वाध्याय शामिल है और स्वाध्यायमे सत्सगका लाभ भी शामिल है। तो ये दो चीजे है जिसके कारण अभ्यास बनेगा। "करत करत अभ्यासके जडमति होत सुजान। रस्सी आवत जात है, सिलपर परत निसान।" कोई सोचे कि हम जब बडे होगे तबसे अभ्यास करेंगे तो जो ऐसा सोचता है वह बुढापामे भी कुछ नही कर सकता। तो कारण क्या है? क्यो नही कर पाता धर्म कि वह निकट बुढापासे पहले ही अपने मनको अत्यन्त स्वच्छद बना डालता है, खूब विषय साधनोमे रह रहकर मौज मानता, उनकी तृष्णामे रहता, विषयवासनाका अभ्यास बनाये रहता, इस लिए बुढापामे ज्ञानाभ्यासकी बात नही बन पाती। इसलिए जिसके जब सुबुद्धि जगे तभीसे धर्मपालन करे। धर्मके लिए उतायत करना, और अन्य कामोके लिए समय टालना। कोई लडाईका काम आता है, द्वेषका काम आता है उससे तो उतायत करना और जो अपने भले का काम है उसके लिए समय न टालना, तभी तो कहते है शुभस्य शीघ्रं याने जो शुभ कार्य हैं,

भले कार्य है उनको करनेके लिए समय न टाले कि अभी हमारी उम्र थोडी है। कुछ और बड़े होनेपर धर्म कर लिया जायगा और जिसको यहाँ ढील है उसे बडी उम्रमे भी ढील हो जायगी। तब बात क्या करना है सुखशान्तिके लिए कि इन रागद्वेषादि विकारोसे अपनेको हटायें और अपना जो सहज चैतन्यप्रकाश है, उसमे अहंका अनुभव हो, मै यह हूं'।

विभावोपेक्षा और स्वभावाग्रहसे प्रगति—आत्महितके लिये दो काम करना है। कौनसे काम ? एक तो असहयोग और दूसरा सत्याग्रह। देखिये जो भी देश स्वतन्त्र होता है वह ये ही दो प्रयोग करता हैं, भारत देशको आजाद करानेके लिए भी दो प्रकारके काम किए गए थे—(१) असहयोग और (२) सत्याग्रह याने उस शासन करने वाले दूसरे देशका माल मगाना, बद कर देना सो असहयोग हुआ और अपने सत्यका आग्रह करना—ये दो बातें जैसे देशकी आजादीके लिए जरूरी है ऐसे ही आत्मामे असली स्वतन्त्रता पानेके लिए, मुक्ति पाने के लिए इन दो बातोकी आवश्यकता है—असहयोग और सत्याग्रह। असहयोग किसका करना ? विभावोका और स्वभावका सत्याग्रह करना। विकारसे तो असहयोग, उपेक्षा, मुख मोडना और स्वभावमे सत्याग्रह—ये दो बाते करनेकी है। तो विभावोसे विकारोसे असहयोग कब बन सकता याने अपने जीवके उपयोगमे जो गडबडी चल रही किसीसे प्रेम किया, किसी से द्वेष किया, किसीसे कैसा ही व्यवहार किया, ऐसी जो परपदार्थोमे प्रीति चल रही है, लगाव चल रहा है इससे असहयोग करना है, याने यह बात न होनी चाहिए। तो उसका उपाय क्या है ? उसका उपाय है सत्यज्ञान। यह जान ले कि मेरे उपयोगमे जो रागद्वेषके विकल्प चलते है सो वे परभाव है, नैमित्तिक है, औपाधिक है, निरपेक्ष होकर मेरे स्वभावसे नही उठे अर्थात् विकारोका मै ही निमित्त होऊँ, मै ही उपादान होऊँ, ऐसा नही है। उपादान तो हू विभावोका, किन्तु निमित्त नही। विभाव नैमित्तिक है, परभाव है, भावना कीजिये—ये राग-द्वेषादिक विभाव मेरेमे न आये, तब ही तो इनसे उपेक्षा हो जायगी। तो युक्ति बतलाती है कि अगर मेरे रागद्वेष मोह अपने आप आ जायें, निमित्तकी बात नही है कुछ तो फिर खुद ही तो कारण बना निमित्त, खुद ही उपादान रहा। तो फिर सदा रागद्वेष करने ही रहेगे, उनका कभी नाश किया नही जा सकता। इसलिए समझो कि विभाव नैमित्तिक है, और दूसरी बात विभावोको करने वाले कर्म पुद्गल भी नही है, निमित्त भी नही है। अगर निमित्त अपनी परिणतिसे, अपनी ताकतसे, अपने बलसे जीवमे रागद्वेष कर दे तो फिर ये रागद्वेष कभी नही मिट सकते, क्योकि ये कर्म रागद्वेषको करते ही रहेगे तो सत्य यह मानना चाहिए कि कर्मका उदय निमित्त है और यह अशुद्ध उपादान है सो ये रागद्वेष होते रहते है, पर ये मैं नही हू, मै तो विशुद्ध चैतन्य प्रकाशमात्र हूं।

आत्मविश्रामकी प्रतीक्षा—जैसे लोग सोचते है ना जीवनमे एक यह आनन्द ले ले,

गरीब लोग भी ऐसा सोचते है । मान लो कही बडे अच्छे पेडे बनते है—खोवेको खूब कडाही मे सेका और उसमे खोवासे आधी शक्कर डालकर अच्छी तरहसे बनाया तो बडे स्वादिष्ट पेडे बनते है । तो वहाँ गरीब व्यक्ति भी यह सोचता है कि चलो अधिक नही खरीद सकते तो छटाँक आधा पाव ही सही, पेडे खरीद कर खायेंगे, सो वह थोडेसे ही पेडे खरीदकर उनका स्वाद लेता है और कोई अमीर है तो वह किलो आधा किलो पेडे लेकर छककर खाता है, पर स्वादकी दृष्टिसे देखो तो स्वाद दोनोको एकसा मिला । तो इसी तरह यह भी तो ध्यान दो कि एक बार आत्मानुभवका आनन्द तो मिला जीवनमे । ये रागद्वेष मोह तो अहर्निश होते रहते है, मगर आचार्य महाराज इतना बताते है कि एक बार इस आत्माका आनन्द जगे जो ऐसा आनन्द होता कि उसकी तुलनाके लिए कोई भी पदार्थ नही है, अलौकिक आनन्द है । सदाके लिए अकलक शुद्ध बन जाय, जन्ममरणके सकट मिट जायें इतना अद्भुत आनन्द आता है आत्मानुभवमे । तो यह बात सुनकर ऐसा तो मनमे साहस भरें कि सारी जिन्दगी तो रागद्वेष करते बीती और रागद्वेष करने पडेंगे, मगर अपने जीवनमे एक क्षण तो सारे विकल्प छोडकर, सारे ख्यालात सारी वासनायें छोडकर आत्माके सहजस्वरूपका दर्शन तो करें, उस अनुभवका आनन्द तो ले ले एक बार, और देखो एक क्षण भी अगर आत्माके विशुद्ध आनन्दका अनुभव बन जाय तो उसका फल है कि सदाके लिए ससार-सकट दूर हो जायें । उसके लिए प्रयास करना है, आत्मोत्थानके लिए प्रयास करना है । कब तक करना है ? सारी जिन्दगी और एक जीवनभरकी ही बात क्या ? जो दो-एक शेष जीवन है वे भी लग जायें आत्मसाधनाके काममे तो ठीक है । तो यह सिद्ध हुआ कि कर्मोका निमित्त प्राप्त होनेपर जीवमे स्वय विकार आते है, जीवकी परिणतिसे आते है । ऐसा है तो जीव अपने स्वरूपको सम्हाले और नैमित्तिक भावोकी उपेक्षा करे कि ये निमित्त पाकर हुए, मेरी चीज नही तो इस जीवके ये रागद्वेष कितनी देर होगे, और यह जीव शान्ति पा लेता है अन्यथा अगर निमित्त ही करने वाला है तो ये सदा बने रहेगे, मात्र जीव ही करने वाला है ऐसा निरपेक्ष होकर, तो विकार सदा रहेगे, वस्तुत ऐसी बात है ही नही ।

इत्येव ते कषायाख्याश्चत्वारोऽप्योदयिका स्मृता ।
चारित्रस्य गुणस्यास्य-पर्याय वैकृतात्मन: ॥१०७५॥

चारित्रगुणकी विकृत पर्यायको बतानेके प्रसंगमे शक्ति और पर्यायका दिग्दर्शन—यहाँ तक यह बात आयी कि चार प्रकारकी कषाये क्रोध, मान, माया, लोभ ये औदयिक है, कर्मके उदयसे हुई है । इस जीवका यह स्वरूप नही है । हुआ क्या है कि इस आत्मामे अनत गुण है उनमे जो चारित्र गुण है उसका विकार है यह कषाय । गुण मायने शक्ति । आत्मामे कौनसी शक्ति है, क्या-क्या स्वभाव है उन शक्तियोका ? तो यहाँ मुख्य ५ बातें देखिये—एक

तो जाननेकी शक्ति—आत्मामे जाननेका सामर्थ्य है, और इतना सामर्थ्य है कि यह अगर निरावरण हो जाय तो समस्त लोकके त्रिकालवर्ती पदार्थोंको व अलोकको सबको एक साथ जान जाय, क्योंकि जाननेका ऐसा स्वभाव ही पड़ा है, इसी स्वभावविकल्पका ही नाम भगवान है। एक दर्शनकी शक्ति है याने आत्मा अपने आपके प्रतिभासमे रहता है। जैसे दर्पण है ना, तो दर्पणमे अपने आपकी झिलमिल और बाह्य पदार्थका फोटो मिलता है। दर्पणमे दो तरहके गुण है। अगर दर्पणमे झिलमिल न हो तो दूसरे पदार्थकी फोटो भी नही आ सकती। जैसे इस भीत (दीवार) मे झिलमिल नही है तो यहाँ किसीकी फोटो भी नही है, ऐसे ही समझो कि आत्मामे खुदकी झिलमिल, खुदका प्रतिभास वह शक्ति है। उस ज्ञानशक्तिके कारण उसमे बाह्य पदार्थोका जानन भी चल रहा है। तो आत्मामे दो शक्तियाँ हुई—(१) दर्शनकी शक्ति, दूसरी ज्ञानकी शक्ति। तीसरी शक्ति लो श्रद्धाकी याने इस आत्मामे कुछ आश्वासन, विश्वास होना, इसका सामर्थ्य बना हुआ है। अज्ञानी जीव बाह्य पदार्थोमे विश्वास करता है। ज्ञानी जीव अपने आपके स्वरूपमे विश्वास करता है। चौथी बात—रमनेकी शक्ति—अज्ञानी जीव बाह्य पदार्थोको विषय करके अपने विकारमे रमता है तो ज्ञानी जीव विकारोसे उपेक्षा करके अपने स्वरूपमे रमता है। और ये सिद्ध भगवान अपने स्वरूपमे रम रहे है। तो रमना यह चारित्रगुण है। ५वी बात—आनन्द। प्रत्येक जीवने आनन्दका सामर्थ्य है। अगर आनद का सामर्थ्य नही है तो जो विषयजन्य सुख दुःख है वह भी हो नही सकता। क्योकि सुख दुःख क्या है? इस आनन्दगुणके ही विकारपरिणमन है। जैसे तिलमे तेल है तभी तो उनको कोल्हूमे पेला जाता तो तेल निकल आता है और अगर रेत, ककड आदिको कोल्हूमे पेला जाय तो तेल नही निकल सकता, क्योकि उसमे तेल होता ही नही। इसी तरह आत्माको जो कुछ भी थोडा सुख मिलता है, ससारका ही सुख सही तो उससे ही यह सिद्ध है कि इस आत्मामे आनन्द भोगनेका सामर्थ्य है, आनन्द पानेका सामर्थ्य है तो आनन्द मिलता है। अब आनन्दकी बात यह है कि बाहरी पदार्थोपर हम दृष्टि न गडायें तो हमको सही आनन्द मिले। और इन बाह्य पदार्थोमे जब हम उपयोग लगाते है तो हमको विकृत आनन्द मिलता है। तो आत्मामे आनन्दगुणका सामर्थ्य है। आत्मामे एक चारित्रगुण भी है—आत्मामे जो ये राग द्वेष क्रोध, मान, माया, लोभादिक होते है वे इस आत्माके विकृत परिणमन है, हो रहे है। सो अपना स्वरूप सम्हालें तो अपने स्वभावका आनन्द मिल जायगा।

सम्यग्ज्ञानको धर्मपालनकी नैसर्गिकता—देखो—जिसको अपने भीतरके स्वरूपकी जानकारी है वह तो हर जगह धर्मपालन कर लेगा चाहे घरके अन्दर रसोईके काममे हो, चाहे अपने शौचालयके अन्दर हो, वहाँ भी आत्मदृष्टि करके धर्मपालन किया जा सकता है। ज्ञानी जीव चाहे दूकान धंधा व्यापारादिकके कर्मोमे लगा हो, चाहे मदिरादिक धर्मस्थानोमे बैठा हो

सर्वत्र आत्मदृष्टिके बलसे धर्मपालन कर सकता है । हाँ, मदिरके अन्दर चूंकि भगवानकी वीतराग मुद्राके दर्शन होते । अत वहाँ धर्मपालन करनेकी विशेष सुविधा है । और अज्ञानी जीव को कहीं भी धर्मपालन नहीं है याने जिसने अपने आत्माके स्वरूपका परिचय नहीं किया। वह जानता ही नहीं कि मेरा स्वरूप क्या है, मेरा स्वभाव क्या है, मेरे अन्दर क्या-क्या गुण है तो वह धर्मपालन कैसे कर सकेगा ? तो इस जीवनमे सबसे मुख्य काम अथवा कहो सारभूत काम एक ही है कि हम अपने भीतरमे एक ऐसी छांट कर लें कि जो विषयकषाय, विचार विकल्पादिक जगते है वे तो कर्ममल है, वे मेरे स्वरूप नहीं, मेरे स्वभाव नहीं. और जो मात्र केवल जानना, विशुद्ध ज्ञान प्रतिभासमात्र बस एक चेतनासी हो गई और विशेष बात कुछ न आये वह है मेरा स्वरूप । तो जो स्वरूप नहीं है उसमे क्यों लगें ? जो स्वरूप है उस ही मे हम अपना उपयोग दें तो हम मोक्षमार्गमे लगेंगे । सीधी-सी बात यह है कि जो कुछ आपको मिला है धन वैभव परिवार आदिक इन सबके प्रति यह विश्वास रखें कि जो जगतकी चीजे है इनपर मेरा अधिकार नहीं, ये मेरे नहीं, इनसे मेरेमे कोई सुधार होनेका नहीं । मेरा सुधार तो मेरे निर्दोष ज्ञानसे ही होगा । यह बात तो आप कर सकते है । यह कोई कठिन तो नहीं लग रही, आप देखते ही है कि यहाँ सब कुछ असार है, अहितरूप है, सबसे धोखा मिलता है, मेरे लिए यहाँ कोई सारकी चीज नहीं है । आखिर वियोग होगा, छोडकर जाना पड़ेगा, फिर इसके लिए यहाँ कुछ नहीं, ऐसा बाहरी पदार्थोंके सम्बधमे थोडी भी जानकारी है तो ऐसी बात अपनी दृष्टिमे लावो कि जब मेरा बाहरमे कुछ है ही नहीं तो मुझे किसीका विचार नहीं रखना है, किसीको अपने विकल्पमे नहीं लेना है, किसीको अपनी धुनमे नहीं बसाना है और अपना जो सदा रहने वाला चैतन्यस्वरूप है उस स्वरूपमे अहका बोध करना—यह मैं हू, मेरी सम्पत्ति है, यह काम करनेको पडा है, यह न किया जा सका तो ससारमे जैसे रुलते आये वैसा ही रुलना बना रहेगा । रुलना नहीं छूट सकता । यह ससारी जीव क्या चाहता है ? जिस भवमे गया बस उसका मौज चाहता है, आगेका कुछ नहीं सोचता, पहलेका भी इसने कुछ नहीं सोचा । जो भव पाया उसीका मौज रहे, बस यह ही उसकी दृष्टि रहती है । अब एक ही भवका यह मौज चाहता है और उसमे इसका हुआ कर्मबन्ध, पापका उदय । दूसरा भव मिला—उसमे भी वह एक ही भवका मौज चाहता है । अज्ञानीको यह भी नहीं मालूम कि ऐसे भव हमको आगे भी और पाने पडेंगे या मैंने पहले भी पाये थे । अगर आगे-पीछेका कुछ ख्याल इसको आ जाय तो यह स्वच्छन्द नहीं रह सकता । यह ख्याल आ जाय कि मेरा अनन्तकाल व्यतीत हो गया तृष्णामे । कषाय करतेकरते अब तकका अनन्तकाल तो गुजर गया, इतना भी ख्याल आये तो यह भाव जरूर जगेगा कि अब कषाय करनेसे क्या लाभ है ? इसमे हमने कष्ट ही कष्ट पाया, कहीं भी हम स्थिर न

रह सके और आगे भविष्य बहुत पडा है, यह भव छोडकर दूसरा भव पाना तो पड़ेगा, तो एक ही भवका क्या मौज देखते हो ? ऐसी करनी करो कि जिससे अगले भवमे भी हमे धर्म का वातावरण मिले, प्रसंग मिले और वहाँ भी हम आगे बढ़नेका रास्ता पा सके। तो अज्ञान में तो जो कुछ मिला बस वही मेरे लिए सब कुछ है। तो जो मिला हुआ है उससे निरपेक्ष रहे।

ज्ञानी गृहस्थकी वृत्ति—"गेही पै गृहमे न रुचे ज्यो जलसे भिन्न कमल है।" तालाब में आप लोगोने कमलके खिले हुए फूल देखे होगे। बताओ वे कमल कहाँ पैदा होते ?...पानी मे। मगर पैदा होनेके वाद कमल पानीसे उठकर ऊपर रहता है या पानीमे घुला मिला ?... पानीसे उठकर रहता है। अगर वह कमल पानीमे मिलकर रहे तो कमल सड़ जायगा। अगर कोई ऐसा सोचे कि कमल पानीमे तो पैदा हुआ, पानी उस कमलका माता-पिता है, जब यह पानी ही उसका घर है तो फिर वह खूब पानीमे खपचकर उसमे अच्छी तरह रहे, तो भला बताओ इस तरहसे पानीमे रहकर तो कमल सड जायगा। तो जैसे पानीमे पैदा होकर भी कमल पानीसे अलग रहता है तो वह आनन्द पा रहा है, मुस्कराता रहता है ऐसे ही ये सब लोग कुटुम्बमें ही पैदा होते है, कुटुम्बके बीच ही रहकर आपका जीवन चलता है, सब कुछ हो रहा, मगर उसमे आप फसकर रहे तो आप सड़ जायेंगे मायने आपका जीवन बरबाद हो जायगा। और जब आप अलग रहे तो इसमे आप प्रसन्न हो जायेंगे, इसीलिए जलसे भिन्न कमलकी उपमा दी जाती है। जैसे कमल जलसे न्यारा रहकर ही मुस्कराता है, शोभाको प्राप्त होता है, ऐसे ही प्रत्येक जीव इस वैभवसे अलिप्त रहकर ही आनद पा सकता है, नही तो आनन्द नही पा सकता। ये वैषयिक सुख तो पापबंधके कारण है और इस जीवका ज्ञानबल हीन कर देते है। तो ऐसा जानो कि ये सब कषायें ये मेरे स्वरूप नहीं है। भले ही इनमें परिणति चल रही है, मगर इनसे अपनेको निर्लेप रहना है। इनसे निराला रहे और अपने स्वभावको, स्वरूपको निरखते रहे तो अंतरगमे अद्भुत प्रसन्नता रहेगी, कर्म भी कटेंगे। इस समय भी प्रसन्न रहेंगे, मुक्ति भी मिल जायगी और एक आत्माकी सुध छोडकर बाहरी प्रसगोमे लिप्त रहे, वहाँ ही मौज मानते रहे तो इस भवमे भी आनन्द न मिलेगा और आगे भी आनन्द न मिलेगा। आनन्द तो ज्ञान और वैराग्यमें है, दूसरी बातमे आनन्द नही है। चाहे अभी परख लो चाहे बादमे, आनन्द तो ज्ञानमे है। रागमे आनन्द कभी नही होता। तो जो ये कषाये आ रही है उनको जो अपना स्वरूप मानेगा वह अज्ञान है, वही राग है, यह अज्ञान हटे, राग हटे तो आत्माको सत्य आनन्दकी प्राप्ति होगी।

लिङ्गान्यौदयिकान्येव त्रीणि स्त्रीपुनपुंसकात्।
भेदाद्वा नोकषायाणां कर्मणामुदयात्किल ॥१०७६॥

विकारशासनके प्रधान व उपप्रधान मोह व कषाय—यह प्रकरण चल रहा है विकार भावोंका। जीव दुःखी है विकारके कारण। स्वरूप तो आनन्दमय है। जो स्वयं है उसीमें विश्वास हो, उसीपर निर्भर हो, उसीमें रमण बने तो इसको कोई कष्ट ही नहीं। किन्तु उस स्वरूपके अभिमुख नहीं है और बाहरी विषयसाधनोंमे इसका उपयोग लगा है तो यह विकार इस जीवको कष्ट देने वाला है। बाहरकी कोई भी वस्तु इस जीवको कष्ट नहीं देती। उसमें सामर्थ्य ही नहीं कि इस जीवको कष्ट दे सके। स्वयं ही विकार करता है और दुःखी होता है। तो उन विकारोंमे प्रधान बात कही थी मोह, मिथ्यात्व, दर्शनमोह। जिसकी दृष्टि बदल गई, विपरीत हो गई वहाँ सारे क्लेश ही क्लेश हैं। इसके बाद दूसरा विकार कहा गया था कषाय। जहाँ कषाय उत्पन्न होते हैं वहाँ यह जीव बेचैन हो जाता है। अब है तो कषाय की ही बात, किन्तु कुछ विशेषता है इसलिए यहाँ कह रहे हैं वेदकी बात।

वेदोंकी औदयिकता—वेद तीन होते हैं—(१) पुरुषवेद, (२) स्त्रीवेद, (३) नपुंसकवेद। यहाँ शरीरकी बात नहीं कह रहे कि शरीरसे कोई पुरुष है, कोई स्त्री है, कोई नपुंसक है, यह तो विकारकी बात कह रहे, याने मनमें जिस जीवको चाहे पुरुष हो, चाहे स्त्री हो, जिसको भी स्त्रीके प्रति राग जगता है, स्त्रीके प्रति अभिलाषा जगती है उसके पुरुषवेद कहा जाता है। इसी तरह मोह पुरुष हो, चाहे स्त्री हो, जहाँ पुरुषके प्रति अभिलाषा जगती है उसे कहते हैं स्त्रीवेद। यह भावकी बात है। कहो कोई पुरुष शरीरसे तो पुरुष है, मगर वेद उसके स्त्रीवेद है। कितने ही पुरुष देखे गए हैं कि उनकी बोल-चाल, उनके हाथका हिलना, उनका बात-चीत करनेका ढग कुछ स्त्री जैसा होता है, वह पुरुष शरीरसे तो पुरुष है, मगर भीतरमें स्त्रीवेदकी कषाय जग रही है और कोई स्त्री है शरीरसे, किन्तु उसमे गुण है, उदारता है, शूरता है, वीरता है, जिसके उत्तम गुण हो ऐसी कोई हो स्त्री, शरीरसे तो स्त्री है, मगर वेद उसका पुरुषवेद है। और नपुंसकवेद—जहाँ बहुत कायरता हो अथवा भीतरमे अधिक वासनाकी जलन हो सो नपुंसक। ये तीन वेदके जो परिणाम है जीवमें, सो इस जीवके स्वभावसे नहीं उठे हैं, किन्तु उस-उस प्रकारके वेदकर्मका उदय है, सो ये विकार जगे हैं। यह बात इसलिए कही जा रही है कि इन वेदोमे लगाव न रखे, क्योंकि ये औदयिक है, परभाव हैं। उस प्रकारके वेद कषायका, नोकषायका उदय आया कि इस जीवने विकारपरिणाम किया। सोचो—ये वेदके जो विकार हैं ये बहुत घटिया विकार हैं। विषयसेवन के विकार पुरुषकी अभिलाषा, स्त्रीकी अभिलाषा, वासनासे सतप्त होना—ये विकार बडे अनर्थ के विकार हैं। इन विकारोंमे किसीने कोई उन्नति पायी क्या ? बुद्धि भ्रष्ट हो जाय, उससे आगे नर्कनिबन्ध हो जाय, ये सब उसकी खराबियाँ है। तो जिन कषायोंके सम्बधमे भाषण चला था, ग्रन्थकारका व्याख्यान चला था कि ये कषायें प्रीतिके योग्य नहीं है, ये बरबादीके

तो उसका चित्त रमेगा ही। तो उसका चित्त रमता है इस शरीरमे। उसे और कुछ नही दिखता।

शरीरचेष्टाका रहस्य—यह शरीर है क्या चीज ? यह तो मल-मूत्रादिक गदी चीजोसे भरा हुआ महाघिनावना है। अभी आप लोग यहां बैठे है, जरा शरीरसे शरीर भिड जाय, पसीनासे शरीर लथपथ हो जाय तो देखो कितना बदबू करने लगता है। यह शरीर महा अपवित्र है। उर्दूमे इस शरीर शब्दका अर्थ है—बदमाश, दुष्ट। वास्तवमें यह शरीर महा दुष्ट है, यह जीवके कुछ काम नही आता, उल्टे ही काम आता है, इसकी बुद्धि बिगडे, इसको उल्टी चालमें ले जाय, इसमे मोह हो तो इस जीवको क्यासे क्या विडम्बना बन जाती है ? अब देखो—इस शरीर बेचारेका क्या अपराध ? दूसरे दृष्टिकोणसे देखो, अपराध इस शरीर का नही, अपराध तो इस जीवका है जो अपने स्वरूपकी सुध नही रखता और बाहरी पदार्थों मे इसका दिल दौडता है, अपराध तो इस जीवका है और यह अपराध भी इस जीवका स्वय स्वभावसे नही उठा, उसमे निमित्त कारण है पुद्गलकर्मविपाक। तो प्रकृत बात यहा यह विचारो कि शरीरमें ज्ञान नही, शरीर क्या करेगा ? सब जीव ही कर रहा। सो जीव निश्चयसे देखो तो अपने भाव करता है और भाव उठते है, इच्छा बनती है तो जीवमें एक परिस्पंद होता है। उसका निमित्त पाकर शरीरमें हवा भरी है। वात, पित्त, कफ तो शरीरके ही कहलाते है, उस वातमे कम्पन हुआ और जैसी इच्छा की वैसा ही कम्पन हुआ, वैसे ही हाथ चले। तो जो शरीरसे चेष्टा होती है उसका करने वाला न जीव, न शरीर। जैसे एक ही बात बताओ—मोटर जो चलती है जिसे आप लोग देखते कि ड्राइवर चला रहा तो वहा विचार करो कि उस मोटरको वह मोटर चला रही या ड्राइवर ? यदि आप कहो कि ड्राइवर चला रहा सो यह भी गलत। मोटर तो उसे चला नही सकती, क्योंकि वह तो अजीव है। अब देखो ड्राइवर भी नही चलाता, सो कैसे ? सुनो—एक स्थूलदृष्टिसे मान लो कि ड्राइवर नाम है एक आदमीका। तो वह आदमी क्या करता है ? वह तो सिर्फ अपने मनमे इच्छा बनाता है, अपने हाथमे हाथ चलाता है, अपने पैरमे पैर चलाता है। इसके अतिरिक्त वह पुरुष कुछ नही करता। अब उसका निमित्त पाकर चूकि उसके हाथके सम्बधमे वह पुर्जा पड़ा है तो वह पुर्जा भी हिला। उस पुर्जेका निमित्त पाकर दूसरा पुर्जा हिला, फिर पहिया चला, मोटर चली। तो निश्चयसे विचारो—उस मोटरका चलाने वाला कौन ? न ड्राइवर और न मोटर। वहां हुआ क्या कि ड्राइवरके उस प्रकारके व्यापारका निमित्त पाकर पुर्जेमे हलन-चलन हुई। वही बात यहा है, शरीरमे जो चेष्टा हो रही हाथ-पैर आदिक चलानेकी, इसका करने वाला न जीव, न शरीर, पर जीवमे तो होता है भाव उस भाव, इच्छा, योगका निमित्त पाकर शरीरमे वायु उठता है और उसका निमित्त पाकर वैसे अग उठते हैं, परमार्थ

दृष्टिसे जब देखेंगे तो यह नजर आयगा कि जगतमे जो कुछ भी दृश्यमान है वह सब माया है, सार बात, असल बात यहाँ देखनेको मिलती ही नही। तो यह सब विडम्बना हो रही है और सारी विडम्बना मिट सकती है तो एक ज्ञानबलमे। आत्मा अपने स्वरूपकी सुध ले तो इसकी सारी विडम्बना समाप्त हो सकता है।

पुरुषवेद, स्त्रीवेद व नपुंसकवेद नोकषाय चारित्रमोहका वर्णन—प्रकृत छंदमें यह कह रहे है कि जीवमे जो पुरुषवेद, स्त्रीवेद, नपुसकवेदके भाव होते है जिनका प्रकट अर्थ यह है कि पुरुषवेद—स्त्रीमे रमनेकी अभिलाषा की, यह होता है पुरुषवेदमे। स्त्रीवेद—पुरुषमे रमनेकी अभिलाषा होना, यह होता है स्त्रीवेदमें। नपुसकवेद—स्त्री पुरुष दोनोमे रमनेकी अभिलाषा होती है, यह बात जगती है नपुंसकमे तो ये सब क्या है ? ये विकार ही तो है। हो रहे ये सब विकार नोकषायके उदयसे। देखो ये भी कषायमे शामिल है, पर अलगसे यो बताया गया कि इसमे कोई विलक्षण स्थिति होती है और यह बडा भयकर प्रवर्तन है इसलिए इनको नोकषायोके भेदसे अलग देखा जा रहा है कि पुरुषवेद, स्त्रीवेद, नपुसकवेद, नोकषाय नामक चारित्रमोहनीयका उदय होने पर आत्मामे इस इस प्रकारकी विडम्बना होती है। देखो जगतमे इस जीवकी रक्षा करने वाला कोई नही है। सब अपनी-अपनी भावनाओसे कषायोसे, मिथ्याभावोसे अपना-अपना जीवन खो रहे है। कहाँ-कहाँ उपयोग जा रहा है जड़ पदार्थोमें ये मेरे है वहाँ दृष्टि देते, चेतनको देखा तो मानते कि ये मेरे है और हैं नही इसके, बल्कि अकेला केवलज्ञान स्वरूप इसका है, ज्ञान ही वैभव इसका है, ज्ञान ही साथ है, ज्ञानको ही साथ लेकर जायगा। ज्ञानको ही लिए हुए आया, कैसा भी हो ज्ञान, ज्ञानस्वरूप, इसकी अगर सच्ची सुध ले ले तो यह सब विडम्बना दूर हो जाती है। आखिर इसका भी तो अन्तर बताओ। पुरुष स्त्री सब एक तरह है, उनमे कोई पुरुष ब्रह्मचारी, त्यागी, जिनमे कामवासना रच नहीं, निर्ग्रंथ हैं, मुनि है और कोई पुरुष ऐसे विषयाभिलाषी कि कहो चौबीसो घटे वासना बनाये रहे। तो इतने भिन्न जीवमें जो ये भिन्न-भिन्न भाव हैं ये क्यो हो गए ? उपादानका उत्तर तो यह है कि उनके ऐसी-ऐसी योग्यता है, उस-उस तरहसे परिणति हो रही है और निमित्त दृष्टिसे यह उत्तर है कि जैसे-जैसे मंद तीव्र विपाकको लिए हुए कषायोका उदय है उसका सन्निधान पाकर इस-इस तरहके विकार हो रहे, बात दोनो सत्य है, उनमे से एकको झूठ कहने वाला स्वय झूठा बन जाता है।

चारित्रमोहकर्मेतत् द्विविध परमागमात्।
आद्य कषायमित्युक्त नोकषाय द्वितीयकम् ॥१०७७॥

कषाय नोकषाय कर्मचौर—बारह भावनाओंमे एक दोष है—"ज्ञानदीप तप तैल भर घर मोध भ्रम छोर। या विधि बिन निकसै नहो, पैठे पूरब चोर।" तो पहलेसे ही ये

चोर छिपे बैठे है—कौनसे चोर ? कर्मचोर। वे कर्मचोर क्या है, किस तरहके है और मेरेमे कैसे पडे है ? उनकी जानकारी करना एक अपने स्वरूपके परिचयके लिए बडा सहायक है। ये भिन्न है, पर है, मेरा इनसे क्या प्रयोजन ? जो गडबडी हो रही है सो इसके विपाकमे, फलकमे हो रही है, उसमे मै लग जाता हू, दु खी होता हू। क्या है ? ८ प्रकारके कर्म होते है, जिनमे एक मोहनीय कर्म सबका सिरताज है। मोहनीयके दो भेद है—दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय। दर्शनमोहनीयका तो काम है, दृष्टि खराब कर देना, विपरीतदृष्टि कर देना। मोही शरीरको मानता है कि यह मै हू। कुटुम्ब परिवार चेतन अचेतन समागमको मानता है कि यह मै हू। बुद्धि एकदम विपरीत है, विषयोके सेवनसे, साधनसे, भोगोपभोगसे यह मानता है कि मै बडा चतुर हू, मेरेको बडा सुख है, मै बडा पुण्यवान हू, यो सारी दृष्टियाँ बदल जाती है दर्शनमोहके उदयमे। भ्रमकी ही तो बात है।

भ्रमका भ्रम भ्रमरूपमें परिचय—भ्रम वालेको यह पता नही रहता कि मै भ्रम कर रहा, इसका पता तो दूसरे लोग रखते है। यदि इसे पता हो जाय कि यह तो मेरेको कोरा भ्रम है तो भ्रम रह सकता क्या ? दो बाते एक साथ नही होती–भ्रमका परिचय और भ्रमका बना रहना। जैसे कही दूर रस्सी पडी है, कुछ अधेरासा है, और उसे कोई आदमी देख रहा है तो या तो बात यो जानेगा कि यह साँप है, बडा भयकर है या यह जानेगा कि यह रस्सी है। ऐसा कोई न जानेगा कि यह साँप है यह तो मुझे भ्रम हो रहा है। यह तो भ्रमका ज्ञान है। पडी तो रस्सी है और मैं साँप समझ रहा हू। ऐसा भ्रम करे और रस्सी को रस्सी समझे, भ्रम भी बनाये रहे और घबडाये नही, ये दो बातें एक साथ नही हो सकती। भ्रम करनेसे भ्रम हो ही गया और भ्रमरहित होनेसे भ्रमरहित जैसा ही होगा। भ्रम एक बहुत विकट उपद्रव है। ऐसे-ऐसे भ्रम हो जाते कि जो सही समझता है वह कह भी नही सकता और जो भ्रममे पडा है वह भी कह नही सकता।

भ्रमकी एक विडम्बना कथा—कोई सेठ था, वह गरीब हो गया, पर उसको तहरीर लिखनेकी कला अच्छी आती थी। सो वह कचहरीमे बैठकर अर्जीनवीसीका काम करने लगा। दो-चार आने जो मिल गए बस उसीसे गुजारा कर लिया। कुछ दिन बाद वह सेठ ऊपरसे नीचे जीनेमे से आ रहा था तो सहसा आवाज आयी—मै आऊँ ? तो सेठने कह दिया कि मत आवो, फिर आवाज आयी—मै आऊँ ··मत आवो। जब कई दिन बाद यही आवाज आयी तो सेठने अपनी सेठानीसे सलाह की कि लक्ष्मी बार-बार कहती है कि मैं आऊँ, मै आऊँ, तो मैं उससे क्या कह दूँ ? तो सेठानीने कहा—कह दो कि आवे तो सही, मगर आकर फिर जावे नही तब आव। ·ठीक है। इस बार जब लक्ष्मीने कहा—मै आऊँ ? ··तो सेठ बोला—हा आवो तो सही, मगर आकर जावो नही तो आवो। तो लक्ष्मी बोली—ऐसा तो नही हो

सकता कि मै आऊँ तो जाऊँ नही। मेरी तो ऐसी ही आदत है चलते-फिरते रहनेकी, आज यहाँ कल वहाँ, मगर तुमको हम एक सुविधा देते है कि जब मै जाऊँगी तो कहकर जाऊँगी। सेठने आकर सेठानीसे बताया कि लक्ष्मीने इस बार कहा है कि आऊँगी तो जाऊँगी तो सही, मगर बताकर जाऊँगी। तो सेठानी बोली–अच्छा ठीक है, इस बार कह देना कि आ जावो। तो इस बार जब लक्ष्मी बोली—मै आऊँ? तो सेठ बोला—अच्छा आ जावो। बस अब क्या था, देखो यह लक्ष्मी उसी दिनसे किस तरह आती है? देखो वह अर्जीनवीसीका काम करता था तो रानीको एक पत्र लिखानेकी जरूरत थी। राजा था अन्य देशमे, तो रानीने पत्र लिखाया उस सेठसे, और रानीने उस पत्रकी लिखाईमे उसे एक मोहर दे दी। देखो कहाँ तो चवन्नी-अठन्नीकी ही प्रतिदिन आय थी और कहाँ, मोहर मिल गई उसी दिन। पत्र पहुचा राजाके पास और उसमे लिखा मजबून पढकर राजा बड़ा प्रसन्न हुआ। उसने सोचा कि इस पत्रका लिखने वाला तो बडा बुद्धिमान मालूम होता है। कैसा उत्तम ढगसे पत्र लिखा था कि उसे पढकर राजाको न हर्ष उत्पन्न हुआ, न शोक, किन्तु तुरन्त घर आनेकी इच्छा उत्पन्न हो गई। आखिर वह राजा अपने घर आया और आते ही रानीसे पूछा कि वह पत्र किसने लिखा था जो तुमने भेजा था? तो रानीने उस सेठका नाम लिया। राजा उसपर अति प्रसन्न हुआ और उसे अपने पास बुलवाकर कहा—भाई तुम बहुत बुद्धिमान मालूम होते हो, आजसे हम तुमको अपने यहाँका मत्री बनाते है। बस अब क्या था? वह सेठ उस राजाका मत्री बना। तो आप लोग जानते ही है मंत्री लोगोकी हालत। बस जरासा उतना ही तो कहना है कि देखो इस मकानका इतना हिस्सा सडकमे पडता है, यह गिरवा दिया जायगा तो भला बताओ कौन गिरवाना चाहता? वह न जाने कितना क्या धन दे डालता? यो मत्री लोगोकी कमाईका क्या कहना? विशेष क्या कहे आप सब लोग समझते ही है। यो थोडे ही दिनोमे वह सेठ मंत्री धनिक बन गया। अब देखो वह लक्ष्मी जाती किस तरह है? एक बार वह राजा उसी मत्रीके साथ जगल घूमने गया। राजा थक गया, रास्तेमे एक जगह राजा विश्राम करने लगा। मंत्रीकी जघापर सिर रखकर राजा लेट गया, कुछ निद्रासी आ गई। बस उस समय वह लक्ष्मी आयी—स्त्रीके रूपमे बोली—मै जाती हू। तो मत्री सब समझ गया। उधर उस मंत्री सेठने क्या कर रखा था कि सारा धन हीरा रत्न जवाहरात हडोमे भरकर उसे खूब अच्छी तरहसे ढांककर अपने घरके आँगनमे गाड दिया था। उसको तो इस बातका गर्व था कि लक्ष्मी हमारे वशमे है, वह जा कैसे सकेगी मेरे पाससे? सो जब लक्ष्मीने कहा–मै जाती हू तो झट बोल उठा—नही जा सकती तू मेरे पाससे? 'मै जाती हू।' अरे कह दिया कि मै नही जाने दूँगा।''''मै जाती हू। बस लक्ष्मीकी हटभरी बात सुनकर इतना गुस्सा आया मत्रीको कि झट तलवार खीच लिया उसे मारनेको। उसी समय राजाकी निद्रा

भग हुई, यह दृश्य देखकर राजा घबडा गया कि मन्त्रीकी खिची हुई तलवार मेरी गर्दनके ऊपर और फिर जगलमे। उसकी समझमे यह आया कि मंत्रीने मुझे मारना विचारा था। उधर मन्त्री भी डरकर काँप गया, सोचने लगा कि अब मैं कैसे कहूं कि मैंने लक्ष्मीको मारनेके लिए तलवार उठायी थी, राजा इस बातको कहा मानने वाला है। सो मंत्री भी कुछ न बोल सका, उधर राजा भी कुछ न बोल सका, क्योंकि खुद तो मंत्रीसे कमजोर था। खैर दोनो घर पहुचे वहाँ जाकर राजाने सेनापतिको यह आदेश दिया कि इस मन्त्रीको सपरिवार तुरन्त ही मेरे राज्यसे बाहर निकाल दिया जाय। बस अब किस बातकी देर? राजाज्ञा पाते ही मंत्री सपरिवार राज्यसे बाहर निकाल दिया गया। लो उस सेठकी सारी लक्ष्मी खतम। तो भ्रम की बात कह रहे कि यह भ्रम ऐसी खोटी चीज होती है कि यह बड़े से बडे पुरुषको भी भ्रम पैदा कर देता है। साफ-साफ बात रहे सामने तो सब सुखी। तो मिथ्यात्वसे भ्रम होता है और चारित्रसे रमना होता और नोकषायमे प्रवृत्ति होती तो ये सब औदयिक विकार है, मेरे स्वरूप नही है, इनमे विश्वास न करें, अपने सहज चैतन्यस्वरूपमे विश्वास करें, इसको दृष्टि ही मेरे लिए शरण है।

तत्रापि नोकषायाख्य नवधा स्वविधानतः।
हास्यो रत्यरती शोको भीर्जुगुप्सेति त्रिलिङ्गकम् ॥१०७८॥

हास्य रति नोकषायका विलास—जीवके साथ जो मोहनीय कर्म बँधा है उसके दो भेद है—(१) दर्शनमोहनीय और (२) चारित्रमोहनीय। दर्शनमोहनीयके उदयमे तो जीवकी दृष्टि विपरीत होती है और चारित्रमोहनीयके उदयमे जीवकी प्रवृत्ति, जीवका रमण विषयोकी ओर होता है और उस चारित्रमोहनीयके दो भेद है—(१) कषायवेदनीय और (२) नोकषायवेदनीय। जिसमे कषायकी वेदना हो, अनुभवन हो उसे कहते है वेदनीय और नोकषाय का जहाँ वेदन हो वह है नोकषायवेदनीय। नो मायने थोडा। थोडी कषायको कहते है नोकषाय। भले ही नोकषायमे नो (थोड़ा) शब्द पडा है, मगर मुख्यत यह ध्यान देना कि कषाय तो एक वेग लाती है और नोकषाय प्रवृत्ति लाती है। जैसे नोकषायके ९ भेद है—हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, पुरुषवेद, स्त्रीवेद, नपुंसकवेद। हास्यके उदयमे जीव हँसता है, मजाक करता है, वे कुछ एक जैसा मौज मानते, एक हँसी होती है ऐसी हँसनेकी प्रवृत्ति हास्य प्रकृतिके उदयसे होती है। अब यह कितना हँसता है, कैसा हँसता है—यह उस वेगके आश्रित है। अनतानुबधीका उदय है तो उसका वेग बडा विकराल है, सज्वलनमे उसका हास्य एक शोभा जैसा लगता है। रति प्रकृतिके उदयमे जीवको प्रीति उत्पन्न होती है, अनुराग उत्पन्न होता है। पुत्रसे, मित्रसे, लोगोसे, किसोसे जो एक प्रीतिका व्यवहार है, रति नोकषायसे होती है। अब इसकी कितनी रति है, कितना तेज प्रेम है यह कषायके वेगके आधार

पर है। अनन्तानुबंधी कषायके उदयमें एक ऐसी रति हो जाती जैसे कि कथानक है कि लक्ष्मणका रामके प्रति इतना अधिक प्रेम था कि उसकी परीक्षा लेनेके लिए देव आये। उन्होने लक्ष्मणके सम्मुख एक ऐसी माया रच दी कि श्रीराम गुजर गए है और सभी रानिया हा राम, हा राम कहकर रुदन मचा रही है और लक्ष्मणको यह समाचार भी दे दिया कि श्री राम गुजर गए। तो श्रीरामके मरणका समाचार पाते ही लक्ष्मणके प्राणपखेरू उड गए। यह अनन्तानुबंधी कषायके वेगमे रतिका इतना काम है, मुनि महाराज भी रति करते है, जैसे शिष्योमें प्रेम, शास्त्रमे प्रीति, इस तरहकी उनके भी रति होती है, मगर वहाँ १२ कषायें नहीं है। केवल सज्वलन कषाय ही है तो वहाँ रतिका ढग और हो गया।

अरति शोक नोकषायका विलास—अरति प्रकृतिके उदयमे जीवको द्वेष होता है, विरोध जचता है। अब इस अरतिमे मूक प्रवृत्ति बन गई, मुद्रा बन गई। अब वह अरतिका काम किस ढंगका कितना होता है, यह कषायवेगके आधारपर बात है। अनन्तानुबंधी कषाय का उदय चल रहा साथमे तो उसका विरोध ऐसा होगा जैसा कि कमठने पार्श्वनाथपर विरोध किया, और भी अनेक दृष्टान्त मिलते है। अगले भव तकमे भी अरति करे इतनी अरति बनती है, और अरति मुनि महाराजको भी होती है। कोई शिष्यने कुछ अपराध किया तो वहाँ वे मुनिराज थोडा अपना मुख अरति जैसा बना ही लेते है, मगर उनके बारह कषायें नही है, सिर्फ सज्वलन कषाय है तो उसके वेगमे उस प्रकारकी कषाय चलती है। शोक प्रकृतिका उदय है तो रज होता है, बड़ा चिन्तापूर्ण शोक करता है। जिसके अनन्तानुबंधीका वेग है उसके साथ शोक है तो वह इतना बडा शोक होता कि उसमे अपने प्राण भी गवा देता है। और शोक मुनि महाराजके भी होता, कोई आचार्य महाराज आये है, उनका मिलन हुआ है, कोई ज्ञानी विशिष्ट सत मिला है, सत्सगमे रह रहे, कुछ दिन उनके साथ रहे, अब उनका विहार हो गया तो वहाँ मुनि महाराजको भी कुछ शोक होता है, मगर सज्वलनके उदयमे जिस ढग का शोक हो सकता उतना ही होता है।

भय जुगुप्सा व तीनों वेद नोकषायक विलास—भय प्रकृतिके उदयमे भय होता है, मगर कितना भय है, किस ढगका भय है, यह कषाय वेगसे मालूम होती है। जिस जीवके अनन्तानुबंधी कषाय चल रही है उसको तो हमेशा ही भय बना रहेगा। जैसे—पता नही यह मेरा धन मेरे पास रहेगा कि नही रहेगा, न जाने सरकार कब कैसा कानून बना दे। इस प्रकारका एक भय बना रहता है। तो अनन्तानुबंधीका जहाँ सम्बध है वहाँ भयकी दशा बहुत बिगड़ी हुई है, और भय मुनि महाराजको भी होता—संसारका भय। मुझसे कोई ऐसा पाप न बने, ऐसी दुर्भावना न बने कि यह ससार-परम्परा बढ़ जाय। इस प्रकारका थोडा बहुत भय मुनि महाराज भी मानते है। अकार्यका भय, यह उनके भी चलता है, मगर वह भय

संज्वलन कषायके वेगमे जितना हो सकता सो होता है । जुगुप्सा, ग्लानि—किसी जीवसे ग्लानि करना, रास्तेमे जा रहे, कोई भंगी मलका टोकना लिए दिख गया रास्तेमे तो उससे ग्लानि करके कहते—ऐ रे चल, हट, अलग हो ' ये कितने दु:खकारी वचन है । वह तो बेचारा तुमसे काफी दूर है, तुम ही खुद उससे दूर रहकर निकल जावो और कदाचित् कहना ही पडे तो इस तरहसे कहो—ऐ भाई साहब जरा उधरसे निकल जावो, तो इस तरह बोलनेमे आपका कुछ बिगाड़ता है क्या ? जब कोई घृणाका कार्य होता है तो वहाँ प्रवृत्ति बन जाती हैं । किसी-किसी पुरुषको तो किसीके प्रति ऐसी घृणा होती कि वह ठान लेता कि मैं इसका मुख भी न देखूगा, और उसके सामनेसे अगर वह आ रहा हो तो झट अपना मुख घुमा लेगा। तो ये कषाय वेगके अनुसार घृणाके भेद हो जाते हैं । जुगुप्सा कषाय—यह मुनियोंके भी होती, मगर उनके एक बहुत सीमित होती है । वही समाचार मिला कि फलाने धर्मात्माने ऐसा अपराध किया तो तद्विषयक एक जुगुप्सा आयगी, मगर सज्वलन कषायमे जितना सम्भव है उतनी ही आयगी । इसी तरह पुरुषवेद, स्त्रीवेद, नपुसकवेद जिनका कि वर्णन चल रहा था, ये पुरुष स्त्री आदिकके साथ रमण करनेके भाव, जिनके अनंतानुबंधीका उदय है उनके विषयो की वासना तीव्र हो जाती है और वे अपना अहित भी नही दखत हैं । और जिनके बारह कषायें नही रही, केवल सज्वलन कषाय है उनके वेदकी वृत्ति नही होती । वेदका उदय हैं और तद्जनित एक झाँकी छायी हुई है, अबुद्धिपूर्वक उनमे कोई प्रवृत्ति नही बनती तो ऐसे ६ प्रकारके नोकषाय है । इन नोकषायोमे भी जो विकार है, प्रवृत्ति है वे सब औदयिक हैं । उनके विषयमें निर्णय रखना चाहिए कि ये मेरे स्वभावसे उठे हुए नही है ।

तनश्चारित्रमोहस्य कर्मणो ह्युदयाद् ध्रुवम् ।
चारित्रस्य गुणस्यापि भावा वैभाविका अमी ।।१०७६।।

इस प्रकार चारित्रमोहनीय कर्मके उदयसे चारित्रगुणके वैभाविक भाव होते है तो इस जीवके ये सब विभाव है और अपने लिए यह दृष्टि जितनी देर रह सके, प्रतीति रात दिन रहे इससे इस जीवकी बड़ी रक्षा है, अन्य बातमे हम आपकी रक्षा नही है । बाहरमे अपना उपयोग किया, विकल्प मचे तो तत्काल भी क्लेश है, कर्मबध होता है और भविष्यमे भी क्लेश होगा । क्लेश बढते ही चले जाते है, इसलिए बाहरी पदार्थोंमे उपयोगकी धुन रखना यह तो इसकी बरबादीके लिए है । इसे तो अपने भीतर भी ऐसी सावधानी रखनी चाहिए कि एक ज्ञाताद्रष्टा रहनेके अतिरिक्त जो कुछ भी यहाँ भाव उमडते है प्रेमके, द्वेषके, हास्यके, डरके, विचार तृष्णा आदिकके वे सब भाव मेरे स्वरूप नही है । यह सब कर्मोदयकी झाँकी है । उनमे यह जीव लगता है, पागल हो जाता है । यह मेरा स्वरूप नही है, मै तो एक चैतन्यमात्र हू । जिसको यह बात अविरु ध्यानमे रहे वह पवित्र आत्मा है और वह ससारसे

पार हो जायगा ! एक ही काम करना है । "एकै साधे सब सधे, सब साधे सब जाय" एक अपने आपके स्वभावकी साधना हो तो सारी बाते सध जायेंगी और एक स्वभावके साधनाकी बात तो हो नही और यह पूजा कर लिया, स्वाध्याय कर लिया, दीन दुखियोकी सेवा कर लिया, धर्मशाला बनवा दिया ··ये सब काम तो करे और एक आत्मस्वभावकी साधना न की जाय तो कुछ नही सधता, कुछ लाभ नही होता । तो उस स्वभावकी साधना बनावें । अब उस स्वभावकी साधनाके उपायमे ही तो विवाद चल रहा है । कोई कहता है कि बस ऐसा देखते जावो कि मेरी योग्यतासे हुआ है विकार और उसका नम्बर था, पर्याय उसका था, विकार हो गया, इस तरह निरखते जावो । एक दृष्टिसे यह भी बात बनती है, मगर यह बतलावो कि इस तरहकी निगाह रखनेसे विकारसे हटकर स्वभावमे लगनेका यह मौका कैसे मिलता है ? इस बातपर ध्यान दो । और जो यह प्रमुख आचार्यने उपदेशमे लिखा है कि ये जो विकारभाव है सो ये तेरे स्वभावके विपरीत है । कर्मोदय होनेसे झाँकी आती है और उससे यह जीव बिगडता है, विकारमे लग जाता है ऐसा ध्यान देनेसे एक यह बात तो चित्तमें लाइयेगा ही कि यह मेरा स्वरूप नही है, यह सब कर्मलीला है, इससे जीवका कुछ प्रयोजन नहीं । मैं तो स्वभावरूप रहूंगा ।

सब प्रकारसे जानकारी रखकर स्वभावोपलब्धिके अनुकूल दृष्टि पानेका कर्तव्य—ज्ञान हर तरहका करना चाहिए । जितनी बातें हैं और किसी भी नयका विरोध करके कोई ऐसा एकान्त कर ले तो इसमे रास्ता न मिलेगा । सब समझ लो और स्वभावदृष्टिके लिए जिस ढगसे मार्ग मिले वह अपनाना चाहिए । तो अपने जीवनमे करनेका एक यह काम है कि यह इसमे जागृति बने कि क्रोध आये तो उसे दबा दे—अरे यह तो मुझे दुःखी करनेको आया, यह तो कर्मरसकी चीज है । मेरा रस तो एक चैतन्यमात्र है, ज्ञानस्वभाव है, ज्ञाताद्रष्टापन है, मैं अपने रसमे लगू या कर्मरसमे । मुझे क्या पडी ? अचेतन पदार्थ है उनमे मैं क्यो लगू ? जो समझेगा कि ये परभाव है, नैमित्तिक है वैभाविक है, एक जो यह बात तानकर बोली जाती है कि निमित्त कुछ नही करता, निमित्तसे मतलब ही नहीं, यह जो बोला जाता है, उसका प्रयोजन तो है कि जिसके यह अज्ञान छाया है कि निमित्त ही कर डालता है, निमित्तकी परिणतिसे होता है, मैं कुछ नही करता, सब निमित्तके ये काम है, ऐसा। जिनको कर्ता कर्म बुद्धिका भ्रम हो गया है उनके उस भ्रम विषको दूर करनेके लिए यह बात जाननी चाहिए कि निमित्त अकिञ्चित्कर है, निमित्त उपादानमें कुछ परिणति नही करता, निमित्त अपने स्वरूपमे हाजिर रहता है यह बात तो ठीक है, पर यह इतनी अधिक एक औषधि दीजिए कि अब निमित्तका वहाँ प्रयोजन ही क्या है ? जीव अपनी योग्यतासे राग करता है और जिस समय राग करता है जीव उस समय निमित्त हाजिर हो जाता है इतनी तेज

दवा देनेसे क्या हो गया ? इस जीवको ऐसा विभ्रम हो गया कि स्वभावदृष्टिका पात्र नहीं रहता। एक द्रव्य दूसरे द्रव्यका कर्ता नही है, यह तो त्रिकाल सत्य है। इसमे असत्यकी बात कुछ नही है, मगर साथ ही यह भी तथ्य है कि जीवमे या किसी भी पदार्थमे कोई विकार होना है, विसम्वाद होता है तो परउपाधिका सन्निधान पाकर ही होता है, निमित्तके अभावमें नहीं होता। तो सच कथनसे हम स्वभावदृष्टिकी शिक्षा लें, प्रयास करें। चूकि ये नैमित्तिक भाव है, मेरे स्वरूप नहीं है, इसलिए मैं इन विभावोमे न लगू। मैं तो अपने स्वरूपमे ही तृप्त रहूगा।

प्रत्येक द्विविधान्येव लिङ्गानीह निसर्गतः।
द्रव्यभावविभेदाभ्या सर्वज्ञाज्ञानतिक्रमात् ॥१०८०॥

प्रत्येक वेदोकी द्विविधता—अब इस वेदके प्रकरणमे यह बात बतला रहे हैं कि ये लिङ्ग या वेद ये दो-दो प्रकारके है—(१) द्रव्यलिङ्ग, (२) भावलिङ्ग। स्त्रीके शरीरका ढाचा है तो वह स्त्रीलिङ्ग है, पुरुपके शरीरका ढाचा है तो वह पुरुपलिङ्ग है। नपुसकके शरीरका जो ढांचा है वह नपुसकलिङ्ग है। ये तीन द्रव्यलिङ्ग हैं, याने ये शरीरके वेद हैं और भीतरमे जो भाव बनते हैं वासनाके तो भाववेद कहलाता है। तो दो प्रकारके वेद हुए—द्रव्यवेद और भाववेद। सर्वज्ञ भगवानके उपदेशमें यह दो वेदोका वर्णन किया गया है। अब ये दोनो वेद किसीके समान होते हैं, किसीके विषम होते हैं। विषम तो बहुत कम होते है, समान ज्यादा होते है। जैसे जो देव पुरुप है तो उसका भाव भी पुरुपवेद है और शरीर भी पुरुपवेद है। जो देविया हैं उनका शरीर भी स्त्रीवेद है और भाव भी स्त्रीवेद है। नारकी है तो उनका शरीर भी नपुसक है, भाव भी नपुसक है। तिर्यञ्चोमे भी जो वेद है शरीरका वही भाववेद है। भोगभूमिया मनुष्य है उनमे भी जो स्त्री है उनका द्रव्यवेद भी स्त्री और भाववेद भी स्त्री। जो पुरुप है उनका शरीर भी पुरुप और भाव भी पुरुप, मगर कर्मभूमिके इन मनुष्यो मे हम आपमे यहाँ भेद पडता है। कोई शरीरसे पुरुष है, भावसे स्त्री है। कोई शरीरसे स्त्री है, भावसे पुरुप है। तो यहा जो भी बध होता है वहाँ भावसे बन्ध होता। शरीरके वेदसे बध नही होता। किन्तु जो वेद भावमे है जो कि कपायका ही भेद है, उस ही भाववेदसे जीवका बध चलता है। तो ये तीनोके - तीनो लिङ्ग २ प्रकारके होते है—(१) द्रव्यलिङ्ग और (२) भावलिङ्ग। द्रव्यलिङ्ग क्या चीज है, इसके सम्बधमे आगेका श्लोक कहते है—

अस्ति यन्नामकर्मैक नानारूप च चित्रवत्।
पौद्गलिकमचिद्रूप स्यात्पुद्गलविपाकि यत् ॥१०८१॥

द्रव्यलिङ्गकी रचनाका निमित्त नाम कर्मविपाक—नामकर्ममे शरीर नामकर्म है, नाम कर्मके भेदोमें अङ्गोपाङ्ग भी एक भेद है, उसके भी भेद है। नामकर्मके उदयमे जिस वेदका

उदय आया, स्त्री बन गया, पुरुष बन गया, ये शरीर बन गए तो यह शरीर नामकर्मके उदय से रचना हुई है। इस सम्बन्धमे थोडा सिद्धान्तकी बात सुनो—जीवके जो कर्म बँधते है वे चार प्रकारके कर्म होते है। एक जीवविपाकी याने जीवविपाकी कर्मका उदय होनेसे जीवमे गडबडी होती है। विकार जगता है, जीवमे उसका फल होता है। जैसे मोहनीयकर्म पूरा जीव विपाकी है। इसके अतिरिक्त अन्य भी ज्ञानावरणादिक जीवविपाकी है। ज्ञान कम होना, कषायें जगना, विकार होना ये जीवकी गड़बडियाँ है। तो ऐसी गड़बडियाँ जिस कर्मके उदयसे होती वह जीवविपाकी है। पुद्गल विपाकी—कर्मके उदयसे शरीरकी रचना बनती है और यह सब भावानुसार बात है। आज जो जिस शरीरको लिए हुए नजर आ रहा है, सूक्ष्म बात हम नही जानते, एक-एक अगकी बात देखो—किसीकी नाक टेढ़ी है, मुख कैसा है, रंग कैसा है, हाथ कैसा है? जरा-जरासा जो फर्क है शरीरमें वैसे-वैसे कर्मके उदय है। जब शरीरमें यह फर्क है और वैसे-वैसे कर्मोके बन्ध है, उस-उस तरहके जीवने भाव किये थे सो बँधे। जैसे कोई किसी लंगड़ेकी मजाक कर रहा तो वैसा ही कर्म बँधेगा कि अगले भवमे वह भी लंगडा होगा याने जो पुद्गलकर्म बँधते है जैसी-जैसी शरीररचना बनती है उसका भी आधार हमारा भाव है। हम जैसा भाव करें वैसा शरीर बनता है। अच्छा और भी बात देखो—ये जो खटमल होते है ना तो उनमे एक ऐसी कला होती है कि झट काटा और काटकर छिप जाना। यद्यपि खटमलके आँख नहीं होती, वह तीनइन्द्रिय जीव है, मगर आप उसे अगर पकडना चाहे तो बडा मुश्किल पड जायगा। काटकर इतना जल्दी छिप जाता है कि आपको दिख भी नही पाता कि कहाँ गया? और ये जो चीटिया है वे काटती तो चिपक जाती, जहाँकी तहाँ रेंगती दिखाई पडती, पर खटमल नही दिखाई पडता। तो मालूम होता है कि यहाँ जो जेब कतरने वाले लोग है वे मरकर खटमल बनते है (हँसी) याने शरीररचना कितनी विचित्र होती है तो जैसे-जैसे जीव भाव करता है उसके अनुसार वैसे ही पुद्गलविपाकी कर्म बँधते है और उनके उदयमे वैसा शरीर मिलता है। तो पुद्गलविपाकी नाम है जिसके उदयसे शरीरकी रचना हुई। कोई भवविपाकी कर्म है जिसके उदयसे क्या कार्य होता कि जीव उस भवके उस शरीरमे रुका रहे, यह आयुकर्म है। क्षेत्रविपाकी होता जिसका फल है कि मरने के बाद दूसरी जगह जन्मेगे तो रास्तेमे जीवको ले जाय, उससे गति होती है। गमन हुआ पहुंच गया, यह क्षेत्रविपाकी कार्य करता है, तो इन पुद्गलविपाकी कर्मोंमे है यह भाववेद, जिससे स्त्री शरीरकी रचना बनती, पुरुष शरीरकी रचना बनती और नपुंसक शरीरकी रचना बनती। तो ये चिह्न है वेद, ये द्रव्यलिङ्ग पौद्गलिक है, अचेतन है, ये पुद्गलविपाकी है, इसीको और खुलासा करते है।

अङ्गोपाङ्गं शरीरं च तद्भेदौ स्तोऽप्यभेदवत् ।
तद्विपाकात् त्रिलिङ्गानामाकारा सम्भवन्ति च ॥१०८२॥

अङ्गोपाङ्गनामकर्म व शरीरनामकर्मके उदयसे द्रव्यलिङ्गकी रचना—अङ्गोपाङ्ग नामकर्म, शरीरनामकर्म, ये नामकर्मके भेद है । उनका जो उदय होता है, विपाक होता है तो पुरुष, स्त्री और नपुसक इन तीन द्रव्योरूप वेदकी रचना होती है । एकेन्द्रियसे लेकर चार-इन्द्रिय तकके जितने जीव है वे सबके सब नपुसक है । वैज्ञानिक लोगोका भ्रम है कि पेड दो तरहके होते है—(१) नर और (२) मादा । वहासे उठाकर फूल वहां धरे भंवरा तो नय फूल पैदा होते, "मान लो ऐसा हो तो भी वहां नर-मादाकी बात नही है, सम्मूर्छनकी बात है । ऐसा सयोग मिलनेपर इस तरहकी वनस्पति पैदा हो गई । चीटियोके मुखने अडे भी दिख गए तो वहा लोग कहने लगते कि ये अडे है और इनसे चीटिया पैदा होती । तो मान लो वैसा हो भी और पैदा भी हों, फिर भी वे गर्भ वाले नही है । ये कोई दो स्त्री पुरुष नही हैं । कुछ यहा कहाके पदार्थोका सयोग होता है ता उनके शरीरकी रचना बन जाती है । तो एक इन्द्रियसे लेकर चारइन्द्रिय तक सब नपुँसक है । पचेन्द्रियमे पर्याप्त, अपर्याप्त व अपर्याप्त (लब्ध्य-पर्याप्त) सब नपुसक । जितने नारकी जीव है वे सब नपुसक और इनके अतिरिक्त औरामे भी नपुसक । पुरुषवेद और स्त्रीवेद ये पञ्चेन्द्रियमे ही होते है शरीरसे भी और भावसे भी, अन्य मे नही होते । तो यह है रचना । शरीरकी रचना उस-उस प्रकारके अङ्गोपाङ्ग नामकर्मके उदयसे होती है । तो ये द्रव्यलिङ्ग अचेतन है, इनसे कही कर्म नही बँधता, किन्तु भीतरमे जो वासना है, वेद है उससे कर्मबन्ध होता है । वह विकारी है, औदयिक है, शरीरका भी लिङ्ग औदयिक है, यह मेरा स्वरूप नही है । इससे निराला मैं ज्ञानमात्र अन्तस्तत्त्व हूं, यह भेद-भावना होनी चाहिए और स्वरूपदृष्टिके प्रति अपनी परिणति, अपनी कोशिश होनी चाहिए ।

त्रिलिङ्गाकारसम्पत्ति कार्यं तन्नामकर्मणः ।
नास्ति तद्भावलिङ्गेषु मनागपि करिष्णुता ॥१०८३॥

निमित्तनैमित्तिक भावके यथार्थ परिचयसे विभावकी हेयताका प्रतिबोध—यहां औदयिक भावका प्रसग चल रहा है, किसलिए चल रहा कि इसको स्वभावदृष्टिका रास्ता मिले । जिन औदयिक भावोमे यह जीव लीन रहा करता है जहाँ अपना सर्वस्व मान रखा, उसके ही कर्ताभोक्तापनमें रहा करता है उसकी असारता समझना, हेयता समझना, पोल समझना यह बहुत आवश्यक है, क्योकि असारता, हेयता पोल रूप समझे बिना उससे हटाव कैसे बनेगा ? तो उसकी एक सामान्य रेखा यह बतलाई कि चारित्रमोहनीयकर्मका उदय हुआ और उस विपाकका इस जीवके उपयोगमे झलक हुई, प्रतिफलन हुआ और इस जीवने उस प्रतिफलनमे अपनेको लगा दिया, वहाँ यह मान होने लगा, उसे ही सर्वस्व मानने लगा, यह विधि बन

रही थी इस अज्ञानीको । वहाँ कोई यह समझे कि यह तो कर्मभार है, कर्मलोला है, बोझ है, उसके स्वरूपपर यह कलंक मिथ्या है, मैं तो सहज निरपेक्ष चैतन्यस्वभावमात्र हूं। ये तो नैमित्तिक हैं, वैभाविक हैं, परभाव हैं, हेय हैं, मेरे दुःखके लिए हैं। आगामी कालमे दुःख मिलता रहे, एतदर्थ हैं, ये रम्य नही हैं, यह बात समझते हैं न, तो उसी प्रसंगमे यहाँ वेदकी चर्चा चल रही है कि वेद दो प्रकारके है, एक तो शरीरका लिङ्ग स्त्रीलिङ्ग, पुल्लिग, नपुंसकलिङ्ग और एक भावका लिङ्ग मायने पुरुषवेद, स्त्रीवेद, नपुंसकवेद याने अनुभव होना। वासना, भावना, उस तरहकी कषाय होना, मैथुन अभिलाषा होना। ये दो प्रकारकी बाते औदयिक हैं अर्थात् ये दोनो ही चीजें स्वाभाविक नही हैं। शरीरके चिन्ह बन गए, पुरुष, स्त्री, नपुंसक बन गए, यह भी कोई स्वभावकी चीज नही और आत्माके उपयोगमे अभिलाषायें जगें, कामवासना जगे यह भी स्वभावकी चीज नही, किन्तु औदयिक है। तो शरीरका चिह्न कैसे होता है? अङ्गोपाङ्ग नामकर्म और शरीर नामकर्मके उदयका निमित्त पाकर रचना बनती है आहारवर्गणामे। वहाँ सब अङ्ग उपाङ्ग बन जाते हैं। और भाववेद--यह पुरुषवेद, स्त्रीवेद, नपुंसकवेद नामके चारित्रमोहनीय कर्मके उदयका निमित्त पाकर बनता है। यह उसके निरपेक्षतया उसके स्वभावतः उठा हुआ नही है, यह मेरी वस्तु नही है, यह कर्मरस है, कर्मकी ओर जावो। मैं चैतन्यरस हू, मैं अपने चित्स्वरूपकी ओर ही जाऊँगा, ऐसे स्वभावदृष्टिके प्रयोजनसे समस्त उपदेश हुआ करते हैं।

स्वभावमें आत्मत्वबुद्धिका प्रभाव---देखो अपने-अपने लाभकी बात, अपनी भलाईके लिए, अपनी शान्तिके लिए बात सोचना है। मै क्या हूं? उपयोगस्वरूप, प्रतिभासमात्र, जिसकी दो विधिया हे, खुद भी प्रतिभासे, बाह्य पदार्थोंको भी प्रतिभासे। जैसे दर्पणमे खुदमें झिलमिलाहट है और बाह्य पदार्थ सामने हो, उसका फोटो भी आये, उसको भी उस दर्पणमे जगमाता है तो जैसे दर्पणमे खुदमे झिलमिलाहट और फोटोका आना ये दो बातें होती हैं, इसी प्रकार इस आत्मामे, इस उपयोगमे खुदमें प्रतिभास (झिलमिलाहट), बाह्य पदार्थोंकी जानकारी होना, ये दो बातें आया करती हैं। बाह्यपदार्थोंकी जानकारी होती है, इसमे तो सन्देह किसीको नही है। ये सब ज्ञानमें ज्ञात हो रहे हैं, बाहरी पदार्थ झलकते हैं, यह सब तो सुगमतया ज्ञानमे आ गया, परन्तु खुदकी भी कोई झिलमिल है। यह जरा समझना कठिन है, लेकिन युक्तिसे देखना, दर्पणमे यदि खुदकी स्वच्छता, खुदका ही एक अन्तर प्रकाश, स्वच्छता नहीं है तो उसमे फोटो भी नहीं आ सकती। जैसे भीतमें खुदको स्वच्छता नहीं है, झिलमिलाहट नही है तो उस दिवालमें फोटो भी नहीं झलकता, ऐसे ही आत्मामें यदि खुदकी झिलमिलाहट न हो, स्वप्रतिभासस्वरूप न हो, खुदकी स्वच्छता नहीं है तो यहां ज्ञेयाकार भी नहीं बन सकता। इस तरह है दर्शन और ज्ञान। यह है स्वभाव, इसका जो परिणमन होना,

परिणति होती वह तो पर्याय है, मगर इसकी जो शक्ति है, जो अनादि अनन्त है वह है ज्ञानदर्शनस्वभाव। इस स्वभावकी जिन्होंने दृष्टि पायी, मैं यह हू-इतनीसी बात जिन्होने पायी उनका भला हुआ और जिन्होंने अपने सहजस्वरूपका परिचय नही पाया उनके भीतर क्या गुजरेगा? बाह्य पदार्थोंकी ओर ही उपयोग रहेगा, बाह्य पदार्थोंमे ही इसका विकल्प रहेगा, डोलता रहेगा, आकुलित रहेगा, कर्मबन्ध भी होता ही रहेगा, संसारपरम्परा चलेगी, उसका भला कैसे होगा? तो अपनी भलाई किसमे है? चूकि हम उपयोग वाले है, सो यह बात तो कभी मिट नही सकती। हमारा उपयोग तो किसी न किसीमे रहेगा ही, निरन्तर रहेगा। अब बाह्यमे उपयोग है, बाह्यमे रागद्वेष सहित दृष्टि है तो यह ता है हमारे क्लेशकी बात और अपना जो सहजस्वरूप है ज्ञानमात्र, चैतन्यमात्र, यह हूं मैं, इस प्रकारका प्रत्यय हो, ऐसी अपने आपमे दृष्टि जगे तो आत्मकल्याण है। कैसे कि जिस समय स्वभावदृष्टि बन रही है उस समय भी शान्ति है और उसके प्रतापसे भव-भवके बाँधे हुए कर्मोंसे निर्जरा भी हो रही है और ऐसा आत्मसस्कार बन रहा है कि भविष्यमे भी आनन्द रहेगा और निकट कालमे कर्मसे, शरीरसे, विभावसे, सबसे मुक्ति पाकर अनन्तकालके लिए आनन्दमय हो जायगा।

स्वभावदृष्टिका साधन वस्तुस्वभावपरिज्ञान व विभावोंकी असारताका परिचय—स्वभावदृष्टि कैसे बने? वस्तुका स्वरूप जाने और विभावोकी पोल जानें। स्वभावदृष्टि असहयोग और सत्याग्रहसे बनेगी। असहयोग करना है विभावोमे। जरा कुछ चिन्तन करें, सब बात स्पष्ट होगी। इन चर्मचक्षुओको बद करके अपने आपमे अपनी बातको जरा देखे। कौन नही जानता अपनी बात कि मै कैसे भावमे हू, मेरा क्या परिणाम हो रहा, मेरा किस जगह चित्त है, मै किसका बुरा विचार रहा, किसकी प्रीतिमे जा रहा? तृष्णामे जा रहा, धन-सम्पदामे जा रहा, मेरे चित्तमे क्या-क्या है, यह कौन नही जानता? एक दूसरेकी न जानेंगे, पर अपने आपको खूब समझ हर एकके ज्ञानमे है कि मेरा उपयोग क्या बन रहा? बस जानो और यह निर्णय रखो कि जो कुछ यह हो रहा है यह सब अपवित्रता है, गदगी है, किसी दूसरेकी उपाधिका प्रतिफल है, यह मेरा स्वरूप नही है। स्वरूपसे मैं डिग गया, मै ज्ञानविकल्प करने लगा, बस यह जब विपरिणमन हो रहा है तो इन विभावोमे जुटनेमे, विभावरूप अपनेको आप माननेमे मेरा कल्याण नही, बुराई है। इसलिए औदयिक भाव जानकर इससे हटे। द्रव्यलिङ्ग व भावलिङ्ग औदयिक भाव ये दोनो ही है। शरीरके चिह्न, शरीरका निर्माण और भीतरमे कामवासना, वेदका वेदन ये दोनोके दोनो औदयिक है, मर स्वरूप नही है। तो यह जो शरीरमे तीन वेदोंके आकाररूप जो निर्माण है वह तो नामकर्मका कार्य है सो नामकर्मका भाववेदके बारेमे रच भी करामात नही है। पुद्गलविपाकी कर्म इस शरीरनिर्माणके निमित्त है और जीवविपाकी कर्म इस जीवके विभावोमे निमित्त होते है। देखो, निमित्तनैमि-

त्तिक भावको यथार्थ समझना, फिर कर्ताकर्मत्व की बुद्धि जगे तो स्वभावदृष्टि न मिलेगी और स्वय सहज निरपेक्ष विभाव बन गए आत्मामे, ऐसी दृष्टि बने तो स्वभावदृष्टि मिलेगी।

पदार्थोंमें परस्पर निमित्तनैमित्तिक भावकी संभवता व कर्तृकर्मत्वकी असंभवताके परिचयसे सन्मार्गदर्शन—आर्षपरम्परामे जो एक बडी आसानीसे सुगम रीतिसे वर्णन चला आ रहा है उसका प्रयोग करें। यदि ऐसा मान लिया जाय कि कर्म ही जीवका राग कराता है याने यह जीव रागरूप न परिणामा किन्तु यह सब कर्मकी ही करामात है, कर्म ही इस तरह बन रहा। जीवको रागी कर्म बनाता है तब भैया! अपना क्या वश है? कर्म कर रहा है, यह हट ही नही सकता। कर्मको मर्जी हो, न करे राग, तो उसकी क्यों मर्जी हो? कर्म तो अपना कुल बढायेगा राग हटानेका, फिर वहाँ कोई मार्ग न मिलेगा कर्ता कर्मबुद्धिमे और ऐसा सोचा जाय कि मै आत्मा हू, मेरे होते रहते है तब जो राग हुआ सो हो गया, चल रहा है, उसमें पर-उपाधि कुछ नही, उसका मानना ही बेकार और अगर कोई जबरदस्ती कराये, मनाये तो यो मान लें कि जब जीव राग करता है तो कर्मका उदय सामने आता है। अरे तो इसमे और उल्टी बात बन गई कि जीवका राग करना हुआ निमित्त और कर्मका राग करना हुआ नैमित्तिक। जो आर्षग्रन्थोमे कही नही लिखा हुआ है, न कभी किसीके दिमागमें ऐसी उपज बनी है तो यदि ऐसा माना जाय कि जो जीवमे अपने आप ही रागद्वेष पर्यायें चलती रहती हैं उसमे उपाधि और निमित्त माननेकी कोई जरूरत नही है। तो स्वभावदृष्टि कैसे करे, मेरेमे चलती है, अपने आप चलती है। चलेगी सो चलेगी, मेरी स्वभावदृष्टि नही बनती और जब यह मान लिया कि जितने विभाव होते है वे कर्मोदयका निमित्त पाकर होते हैं और उस समयमे यह जीव अपने उपयोगमे, ज्ञानमे उस तरहका विकल्प मचाता है। देखिये यहाँ यह स्वभावदृष्टिका मौका मिला कि ये क्रोध, मान, माया, लोभ परिणाम—ये मेरे कुछ है ही नही। ये सब कर्मके विपाक हैं। तो उस कालमे चूँकि उपयोग है, प्रतिफलित होता है और मैं स्वरूपसे चिग जाता हू और उनमे लग बैठता हू, क्यो चिगूं स्वरूपसे क्यो न जानूँ ऐसा कि यह कर्मरस है, कर्मलीला है, कर्मभाव है, यह उनकी छाया है। मै इसमें क्यो विकल्प बनाऊँ? मैं तो अपने चैतन्य रसमे ही मग्न होऊँगा, क्यो बखेड़ा बनाऊँ? सार कुछ नही है, दूसरेका ऊधम है। मै इसमे क्यो अपने जीवनके क्षण व्यर्थ खोऊँ? स्वभावदृष्टिका अवसर मिलता है। वहाँ अपने आपके सहजस्वरूपपर दृष्टि है तब ही तो विभावोको परभाव कह सक रहे है। अगर निज सहजस्वभाव परिचयमे न हो तो क्रोधादिक को विभाव कैसे कहा जा सकेगा और क्रोधादिक विभाव है, ऐसी जानकारी बन रही है तब ही हम उससे निराले स्वभावकी जानकारीमें पहुचते है और जरूरत भी अपने स्वभावदृष्टि की है।

आत्मरमणभावना—आऊँ उतरूँ रम लूं निजमे–कहाँ गया यह उपयोग जिससे इसे बुला रहे। उपयोग तो जीव प्रदेशमे है, मगर यह तो बाहर नही जाता, किन-किन पदार्थोंको विषय कर रहा है और उसके कारण इस भाषामे आपसमझिये कि यह उपयोग न जाने कहाँ कहाँ दौड रहा है, कहाँ कहाँ भाग रहा है ? है प्रदेशोमे ही, मगर गति अर्थकी जितनी धातुवे है संस्कृतमें उनका जानना भी अर्थ है और गमन करना भी अर्थ है। तो यह इस तरहसे समझनेके लिए उपयोग बहुत-बहुत दूर तक भाग गया। विषयोमें जड चेतन अन्य पदार्थोंमे इज्जतमे, न जाने कहाँ कहाँ भागा, सो कहता है कि आऊँ मै अब न भागूं, भागा तो लौट कर आया। कहाँ ? खुदमे। उतरूँ, आ गया मैं उपयोग यहाँ बाह्यपदार्थोंसे हटकर, तो अब मै अपने स्वरूपमे उतरूँ, स्वरूप की जानकारी बनाऊँ, मै यह हू और रम जाऊँ और उसही मे मग्न हो जाऊँ, यह काम कठिन तो जरा भी नही है। कोई मनमे एक दृढता लाये और एक पक्का प्रोग्राम बना ले कि मुझे तो यह ही करना है, मेरा बाहरमे कुछ काम ही नही, उसके लिए कोई कठिन नही, क्योकि "निजकी निजमे दुविधा ही क्या ? जो निजका काम है उस निजके कामके करनेमे जो किसी दूसरे करणको नही चाहता। बन्धन किसी अन्य पदार्थ की परिणतिसे नही होता, उसमें किसी भी पदार्थकी अपेक्षा नही होती धर्ममे। जो धर्म वास्तविक है अर्थात् आत्माके सहजस्वरूपका श्रद्धान, उसका ज्ञान, उसमे आचरण, उसमे रमण इस प्रकारका काम क्या शरीर कर देगा क्या बच्चे कर देंगे, क्या वैभव कर देगा या इसका यह विचार तर्क कर देगा। वह तो जब होगा तो एक निर्विकल्प जैसी स्थिति होकर अनुभवमे अपने आप होगा। वह निरपेक्ष चीज है धर्मपालन, मगर इतना निरपेक्ष धर्मस्वरूप नही मिला और मिल भी गया तो नही टिकता है ऐसा तो अब क्या करना ? तब धर्मसे सम्बन्धित जितनी चीजें हैं उनकी भक्ति, उनका राग, उनकी सेवा, उनका सग, इनमे उसका समय गुजरता है। दो ही तो बातें है निरपेक्ष धर्मपालन करना न बन सके तो उस, निरपेक्ष धर्मसे सम्बन्धित जो साधन है उन साधनोमे लग जावे ताकि पापमें न लगें, व्यसनमें न लगें, उद्दण्डतामें न लगें, स्वच्छन्दतामें न लगे याने मनमें मनमानी विषयप्रवृत्तिके काम न बनें, यह बात बनती है धर्मका परिचय पाने वाले जीवमें।

विकारोका यह सब प्रसग चल रहा है कि शरीरमे जो त्रिलिङ्गाकार है वह तो नाम कर्मके उदयसे हुआ और आत्मामे जो कामवासना अभिलाषा आदिक है ये चारित्रमोहनीय कर्मके उदयसे हुए। कर्मने खुद परिणति कर दी हो जीवके रागादिरूप ऐसा तो नही है, क्यो कि ऐसा होने पर तो इसकी मुक्तिका कोई अवसर ही नही। कर्ताकर्मबुद्धि बन गई। कर्ता कर्मत्व एक पदार्थका दूसरे पदार्थमें त्रिकाल नही है, इसमे तो कभी भी शक न होना चाहिए नही तो वस्तुकी सत्ता ही न रहेगी। एक पदार्थ अगर दूसरे पदार्थरूप परिणम जाय अर्थात्

दूसरेका कार्य कर दे तो अब बतलावो कि यह एक प्रथम रहा या द्वितीय ? सब रूप हो जायगा, जगतका उच्छेद हो जायगा। सो एक वस्तुका दूसरी वस्तुमे कर्ता कर्मत्वकी बात त्रिकाल भी नही है। मगर निमित्तनैमित्तिक भाव विकारमे सदा चलेगा। वहाँ यह कभी न होगा कि उस निमित्तकी अनुपस्थितिमे विकार जग जाय। अगर एक ही पदार्थ है तो वह अपने स्वभाव रूप ही परिणमेगा। वहाँ विसमता आ नही सकती। जिससे विसमता आती। परपदार्थका सन्निधान पाकर आती है। अब इस तरहका एक ज्ञानमे एक स्वभावदर्शनका बडा अवसर है और यो समझिये कि उसे इतना सुगम है स्वभावदर्शन कि सारे विभावोंको कर्म-भार मानकर, जानकर, समझकर कि औपाधिक है, ये मेरी चीज नही है, उनमें मैं क्यों लगू ? मेरा उसमे काम क्या ? मेरी उसमें करतूत क्या ? और करतूत हो रही है तो बस विकल्पात्मक परिचय कर मैं अपनेको बरबाद कर रहा हूं।

स्वभावविकासकी भक्तिका महत्त्व—स्वभाव जहाँ पूर्ण प्रकट हो गया है वे अरहत और सिद्ध है, जिनमे स्वभावका आनन्द जगा। यहाँ ज्ञानी जीव स्वभावका आनन्द अनुभवने मे नही रह पा रहा तो स्वभावआनन्द जहाँ बिल्कुल विशुद्ध प्रकट हुआ है उसमें उसका बहुमान जगेगा, भक्ति जगेगी, अनुराग जगेगा। प्रभुभक्ति—अब तक तो हम प्रभुभक्तिके सही पात्र ही नही बन पा रहे। प्रभुभक्ति ढगसे स्वभावपरिचयपूर्वक हो तो उस प्रभुभक्तिके आनंद का भी कोई ठिकाना नही। जिस स्वभावको हम चाह रहे है देखो वह यहाँ प्रकट है, जिस स्वभावका हमने परिचय किया, जिस स्वभावका आश्रय करके ही हम पार होगे, देखो देखो यह प्रकट है, अहा उस ओर दृष्टि जायगी प्रभुभक्ति की। एकीभाव स्तोत्रमे बताया है कि शुद्धे ज्ञाने शुचिति चरिते सत्यपि त्वय्यनीचा भक्तिर्नोचेदनवधिसुखावञ्चिका कुञ्चिकेय। शक्योद्घाट भवति हि कथं मुक्तिकामस्य पुसो मुक्तिद्वारं परिदृढमहामोहमुद्राकवाटम्। शुद्ध ज्ञान भी हो जाय, शुद्ध चारित्र भी हो जाय, पर हे प्रभु तुम्हारे स्वरूपमे जब तक तीव्र भक्ति नही जगती है तब तक मोक्षका द्वार जो मोहकिवाडने वद कर रखा है, ताला लगा रखा है उसके खोलनेकी कुञ्जी तो प्रभुभक्ति है, और वह जिसे मिलती नही है वह क्या मुक्ति पावेगा ? हम आप भक्ति तो करते है प्रभुकी, पर सच्चे दिलसे अगर प्रभुस्वरूपमे हमारी भक्ति न पहुचे तो हम समझ लो कि अभी हम अपनी उन्नतिके मार्गसे गिरे हुए है। अभी तो हम प्रभुभक्तिके भी पात्र नही बन पाये, आगेका मोक्षमार्ग तो हमारा बनेगा ही क्या ? मोक्षका मार्ग है स्वभावपरिचय। और जिसके स्वभावपरिचय है तो जहां स्वभावविकास है उस देवमे इसकी अनूठी भक्ति है और उस स्वभावका विकास करनेका जिसने लक्ष्य बनाया है और इस लक्ष्य में जो अपने क्षयोपशमके अनुसार जितनी कषाये मद हुई उसके अनुसार बाह्य पदार्थोका त्याग करना, एक त्यागमार्गमे आकर अपने उस अध्यात्मस्वभावकी साधना बना रहा है तो स्वभाव-

परिचय वाला जैसे स्वभावविकासको देखकर उमंगसे वहाँ जाना, इसी तरह स्वभावविकासका प्रयत्न करने वालेको देखकर उनके पास भी उमंग सेवा, पुण्य सत्सगमे अपना उपयोग लगाना है। स्वभावदर्शन जिसको नही मिला है उसे अंधकार है और वह नाना कल्पनायें करके कितनी ही कल्पनायें वनाता है, वह खुद अंधेरेमे है। जिसको स्वभावपरिचय हुआ है उसे अंधेरा नही रहता, सब जगह स्पष्ट बात रहती है। तो प्रकरण चल रहा है वेदका। पहले मिथ्यात्वका, दर्शनमोहका, चारित्रमोहका वर्णन किया, उस चारित्रमोहका ही वेद नोकपाय है, उनमे वेदो का वर्णन चल रहा है।

भाववेदेषु चारित्रमोहकर्मांशकोदय ।
कारणं नूनमेकं स्यान्नेतरस्योदय क्वचित् ॥१०८४॥

भाववेदमे चारित्रमोहनीय विपाककी निमित्तरूपता—जीवके शरीरके जो लिङ्ग बने—पुरुप, स्त्री, नपुंसक जो शरीरके ढाचा बने उनमे कारण है नामकर्मका उदय। वहाँ उन नामकर्मोका भाव वेदोमें निमित्तपना नही है, ऐसे ही जो आत्मामे कामवासनाविपयक भाव वेदविकार झलकता है सो उनमे कारण है चारित्रमोहनीयकर्मका उदय। जितने-जितने अशमे उदय है, उतने-उतने अशमे यह प्रतिफलन है और जैसा इसका अज्ञान है, जैसा जो भीतरमे एक ज्ञानवलकी वात है उसके होने न होनेके अनुसार उस प्रतिफलनमें यह जीव लग जाता है। तो भाववेदोमे कारण कौन है ? चारित्रमोहका उदय। तो उस भाववेदोमे कारण चारित्रमोहका उदय है, दूसरेका उदय भाववेदका कारण नही है। मूलमे वस्तुत आत्मा एक है और वह अपने स्वभावरूप है, किन्तु अनादिसे ही ऐसा बंधन है। कैसा अनादिसे वन्धन है ? अच्छा तो किस दिनसे वन्धन हुआ ? जिस दिनसे वन्धन हुआ उसमे कारण आप न वता सकेंगे कि क्या कारण है ? पहले जीव शुद्ध था और किसी दिनसे इस जीवमे विकार आया तो कारण बतलाओ किस कारणसे विकार आया ? तो कारण यद्यपि कर्मोदय है, मगर उस दिनसे ही विकार शुरू हुआ इसका कारण नही वता सकते। विकारका कारण तो है कर्मविपाक, मगर पहले विकार था ही नही, विकार आत्मामे आया, उस दिन विकार आया उसका कारण नही कहा जा सकता। वे कारण दोनो परस्परमे एक दूसरेके निमित्तनैमित्तिक भावमें है और ये परम्परया जवसे सत्त्व है तब ही से चलते आ रहे हैं, अनादिसे।

अनादिपरम्परागत विभावसंततिके उच्छेदकी शक्यता—शका—जो अनादिसे चला आ रहा हो उसको मिटाया जा सकता क्या ? उत्तर—हाँ मिटाया जा सकता ? तिलमे तेल कबसे है ? जबसे तिल है तबसे तेल है। कही ऐसा नही है कि पहले तिलका दाना बना हो बादमे उसमे तेल भरा गया हो। अरे वह तो जरासा दाना आया तबसे ही उसमे तेलका सम्बध है। तो तिलके सत्त्वके समयमे ही तेलका सम्बंध है, फिर भी उपाय द्वारा उसमेसे

तेल निकल जाता, फोक अलग हो जाना, ऐसे ही अनादिसे यह विकार प्रसंग चल रहा है। कर्मविपाकका निमित्त पाकर, रागद्वेषका निमित्त पाकर कर्मबन्धन हुआ। दोनो चीजे है, दोनो स्वतंत्र है, दोनोका अपना-अपना कार्य है, मगर परस्पर निमित्तनैमित्तिक भाव है अन्यथा इसमे विकार नही हो सकता। हो रहा है, चल रहा है, मगर मिट सकता क्या ? हाँ, जिस क्षणमे सच्चा ज्ञान जग गया कि ये पदार्थ दो है—स्वतंत्र सत्ता रखने वाले है और वहाँ इस-इस ढगसे ये विकार उत्पन्न होते है, जहाँ उसका स्वतन्त्र स्वभाव ज्ञानमें आया उसके बाद जो परम उपेक्षा बनती है और स्वभावकी ओर इसका प्रवेश बनता है तो उस अद्भुत कलाके प्रतापसे कर्म, नोकर्म, विभाव ये सब दूर हो जाते, ये बिखर जाते, केवल एक ज्ञानमात्र आत्मा रह जाता। उसीको कहते है सिद्ध। तो मिली हुई सम्पदामे, उन विषयसाधनोमे रति न करे, ये रम्य नही है, ये विडम्बना है, और अपनेमे प्रतिफलित हुए उन कल्मषोसे भी अपने को जुदा समझिये। मै चैतन्यरस निर्भर हू, ऐसा अपने आपमे आश्वासन हो वहा ही अपना उपयोग चले, धुन बने तो अपना शान्तिका मार्ग स्पष्ट है। अवश्य ही निकटकालमे हम सदाके लिए संकटोसे छूट जायेगे।

रिरसा द्रव्यनारीणा पुवेदस्योदयात् किल।
नारीवेदोदयाद्वेदः पुसा भोगाभिलाषिता ॥१०८५॥
नाल भोगाय नारीणा नापि पुसामशक्तितः।
अन्तर्दग्धोऽस्ति यो भाव क्लीववेदोदयादिव ॥१०८६॥

वेद नोकषाय चारित्रमोहनीयके कार्य—वेद नोकषाय नामक चारित्रमोहके उदयमें क्या कार्य होता है ? इसका इन दो छदोमे वर्णन है। पुरुषवेदके उदयसे तो द्रव्य स्त्रीके साथ रमण करनेकी वाञ्छा होती है, वाञ्छा ही तो विकार है और यह विकार पुरुष वेदके उदय से होता है। स्त्रीवेदके उदयमे पुरुषके साथ भोग करनेकी अभिलाषा होती है। यह काम-विकार स्त्रीवेद प्रकृतिके उदयसे होता है और नपुसकवेदके उदयसे वह पुरुष स्त्री दोनोसे रमण करनेकी वाञ्छा रखता है, सो वह न स्त्रीके साथ ही भोग करनेमे समर्थ है और न पुरुषोके साथ ही भोग करनेमे समर्थ है। एक हृदयमे जलन जलन ही मचाये रहते है। ऐसा कठिन काम भाव नपुसकवेदके उदयसे होता है। जैसे ईटकी आग वह धधकती रहती है, जल्दी नही बुझती है, ऐसे ही नपुसकवेदके उदयसे होने वाली कामवासनाका भाव एक संताप ही पैदा करता है, किन्तु उसे प्रवृत्तिमे नही ला सकता है। केवल हृदयमे जलन जलन ही हुआ करती है। ये वेद चारित्रमोहके भेद है। इनके उदयका जो प्रतिफलन होता है वह इस जातिका विकार है कि उसके लगावमे कामवासनाविषयक अभिलाषाये जगती है, एव यह तो कषाय प्रकट विकारभाव है, यह नैमित्तिक है, आत्माका स्वभाव नही है। ऐसा निर्णय

करके इन गदगियोमे उपेक्षा करनी और निज सहजस्वभावमे उपयोग लगाना यह ही एक कुशलता है ।

द्रव्यलिङ्ग' यथा नाम, भावलिङ्ग तथा क्वचित् ।
क्वचिदन्यतमं द्रव्य भावश्चान्यतमो भवेत् ॥१०८७॥

किसी प्राणीमें द्रव्यलिङ्ग व भावलिङ्गकी विषमताकी संभवता—द्रव्यलिङ्ग तो शरीर है—पुरुष जैसा शरीर, स्त्री जैसा शरीर, नपुँसक जैसा शरीर । यह तो नामकर्मके उदयसे होता है और भावलिङ्ग—इस जीवके कामविषयक भाव है, तो भाववेद चारित्रमोहके उदयसे होता है । तो इन वेदोमे कही तो समता है अर्थात् शरीर भी पुरुष है, भाववेद भी पुरुष है या स्त्रीलिङ्ग शरीर है और वेद भी स्त्रीवेद है आदिक । और किन्ही जीवोंके विषमता होती है कि शरीर तो है पुरुप और भाववेद है या स्त्रीवेद या नपुसक इत्यादि प्रकारसे जो विषमता होती है वह भी प्रकट यह जाहिर करती है कि दोनोके निमित्त कारण जुदे-जुदे है, और वहाँ जीवमे उनका निमित्त पाकर जुदे-जुदे प्रभाव बनते है, इसी कारणसे कही सम भी रहता है वेद और कही विसमवेद हो जाया करता है तो किन्ही वेदोंकी समानता है, किसीकी विसमता है । इस ही तथ्यको आगेके कुछ श्लोकोमे बताया जा रहा है ।

यथा दिविजनारीणा नारीवेदोऽस्ति नेतर ।
देवाना चापि सर्वेपा पाक पुवेद एव हि ॥१०८८॥

देवगतिके जीवोमे अर्थात् देव और देवियोमे द्रव्यलिङ्ग व भावलिङ्गकी समानता—जिन देवोके स्त्रियाँ हैं देवियाँ, भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिषी और वैमानिक कल्पोत्पन्न—इन चारो निकायके देवोकी जो देवियाँ है उनके वेद सम होते है अर्थात् शरीरसे उनके स्त्रीवेद है तो भावोसे भी उनके स्त्रीवेद होता है, विरोध नही होता, और इसी प्रकार जितने भी देव है चारो निकायोमे उन सब देवोके भी वेद समान होते है, शरीरसे भी पुरुपवेदी होते है तो भावोसे भी वे पुरुषवेदी होते है । पुरुषवेदमे समान वेद होना, स्त्रीवेदमे समान वेद होना यह कुछ आतिशयके द्योतक हैं, यद्यपि ये सब संसारकी लीलायें है, पर अन्य प्राणियोकी अपेक्षा इनमे विशेषता है । इनमें उच्चपना है अपेक्षाकृत । इस कारण वहाँ वेदोकी समानता मिलती है । वैसे नपुँसक वेदके साथ भी समानता पायी जाती है अनन्त जीवोमे, पर नपुसकवेद खुद निकृष्ट वेद है, और इसके स्वामी सब तुच्छ जीव होते है, इसलिए भी समानता है । नपुसकवेद की समता तो वादियोके होती है और उनकी अपेक्षा कुछ विशेप पुण्य वाले जीव है जिनके पुरुपवेद और स्त्रीवेदकी समता होती है ।

भोगभूमौ च नारीणा नारीवेदो न चेतर ।
पुंवेद केवलः पुंसां नान्यो वान्योन्यसंभव ॥१०८९॥

भोगभूमिजोंमें वेदकी समता—भोगभूमिमे भी स्त्रीके शरीरसे भी स्त्रीवेद और भाव से भी स्त्रीवेद होता है। वहाँ नपु सकवेद नही है। इसी प्रकार भोगभूमिके पुरुषोके भी केवल पुरुषवेद वह होता वही शरीरकी अपेक्षा और वही भावकी अपेक्षा। भोगभूमिमें विषमवेद नही हुआ करते। जैसे देव देवियोके समान वेद होते हैं इसी प्रकार भोगभूमिके स्त्री पुरुष इनके समान वेद होते है। भोगभूमिज मनुष्य भी कुछ विशेप पुण्य वाले हैं और वहा वे सुखपूर्वक जीवन व्यतीत करते है। उनको किसी प्रकारके आजीविका आदिकके कार्य नही करने होते है। वे मौजी जीव है, ऐसे जीवोंमें भी इन वेदोंकी समानता पायी जा रही है।

नारकाणा च सर्वेषा वेदश्चैको नपु सकाः।
द्रव्यतो भावतश्चापि न स्त्रीवेदो न वा पुमान् ॥१०९०॥

नारकी जीवोंमें वेदकी समता—सम्पूर्ण नारकियोमें एक नपुसक वेद ही होता है। वही शरीरकी अपेक्षा है और वही भावकी अपेक्षा है। नारकियोमें पुरुष और स्त्रीवेद वेद होते ही नही हैं। भावसे भी पुरुष, स्त्री नही है और शरीरसे भी पुरुष स्त्री नही है। इनके तीव्र पापका उदय है सो नरकोमे ये उत्पन्न होते है जहाँ भूमि अत्यन्त दुःखकी कारण है। जिसके स्पर्शसे हजारो बिच्छुवोके काटनेसे भी बढ़ करके दुःख होता है। ऐसा दुःखमयी जीवन व्यतीत करने वाले नारकियोके भावोसे और शरीरसे दोनोसे ही नपुसकवेद होता है। और इतना ही नही, ये सभी नारकी हुंडक सस्थान वाले विकराल भयंकर मुद्रा रखने वाले है। इनके विक्रिया होती है तो पृथक् पृथक् रूप नही रखते, एक ही विक्रिया है। और उसमे जैसा जो भाव हो, कैसा शस्त्र मारना वही शस्त्ररूप इनके शरीरकी विक्रिया हो जाया करती है। ऐसे अत्यन्त दु.खमय नरकगतिमे जीवन-यापन करने वाले प्राणियोके जो शरीरमें वेद होता है वही भावमे वेद होता है।

तिर्यग्जातौ च सर्वेषां एकाक्षाणा नपुसकः।
वेदो विकलत्रयाणां क्लीव: स्यात्केवलः किल ॥१०९१॥
पचाक्षासंज्ञिनां चापि तिरश्चां स्यान्नपुँसकः।
द्रव्यतो भावतश्चापि वेदो नान्य कदाचन ॥१०९२॥

तिर्यचगतिमें एकेन्द्रियसे लेकर असंज्ञीपञ्चेन्द्रिय तकमें वेदकी समता—तिर्यञ्चगति मे जितने भी एकेन्द्रिय जीव हैं उन सबके शरीरसे नपुँसक वेद है और भावसे भी नपुँसकवेद है। इसी प्रकार विकलत्रयोंमे अर्थात् दोइन्द्रिय तीनइन्द्रिय चतुरिन्द्रिय जीवोंमे केवल नपुंसक वेद ही होता है, सो वही शरीरसे वेद है और वही भावसे वेद है। इसी प्रकार जितने भी असज्ञीपञ्चेन्द्रिय जीव है उनके भी शरीरमें नपुंसकवेद है और भावसे भी नपुँसक वेद है। यह जीव वेदोके उदयमे कुछ प्रवृत्ति तो नही कर पाते, किन्तु अबुद्धिपूर्वक इनके विकार रहता

है और उस काय विकारकी वेदनाको वह भोगता रहता है। ये सब जीव सम्मूर्छन जन्म वाले हैं। सम्मूर्छन जन्म वाले सभी नपुंसकवेद वाले हुआ करते हैं। सम्मूर्छन जन्मका अर्थ है कि माता पितासे नही उत्पन्न हुए, किन्तु वहाँ पडे हुए पुद्गलके ढेरका सम्बन्ध हुआ, उस ढेरपर कोई जीव आया, उसको ग्रहण कर लेगा तो वे प्रकट आहारक वर्गणायें और अप्रकट आहारक वर्गणाये ये सब शरीररूप बन जाती है। सो इन जीवोके जैसा शरीरमे वेद है वैसा ही इनके भावोसे वेद होता है।

कर्मभूमौ मनुष्याणा मानुषीणा तथैव च।
तिरश्चा वा तिरश्चीनां त्रयो वेदास्तथोदयात् ॥१०९३॥
केषांचिद् द्रव्यतः साङ्गः पुंवेदो भावतः पुन।
स्त्रीवेद क्लीववेदो वा पुंवेदो वा त्रिधापि च ॥१०९४॥
केषाचित् क्लीववेदो वा द्रव्यतो भावत. पुन।
पुंवेदो वा क्लीववेदो वा स्त्रीवेदो वा त्रिधोचित ॥१०९५॥
कश्चिदापर्ययन्यायात् क्रमादस्ति त्रिवेदवान्।
कदाचित् क्लीववेदो वा स्त्री वा भावात् क्वचित् पुमान् ॥१०९६॥

समवेद वाले जीवोका वर्णन करके विषमवेदकी संभवता वाले जीवोंका परिचय—जिनमे वेदकी विषमता नही है उनका वर्णन ऊपरके श्लोकोमे किया गया है। जैसे स्वर्गके देव और देवियोके जो द्रव्यवेद है वही भाववेद है। भोगभूमिके मनुष्य और स्त्रियोंके जो द्रव्यवेद हैं वही भाववेद है। नारकी जीवोमे जो द्रव्यवेद है वही भाववेद है। इसी प्रकार तिर्यञ्चगति मे एकेन्द्रिय, दोइन्द्रिय, तीनइन्द्रिय, चौइन्द्रिय और असज्ञी पञ्चेन्द्रिय इनमे जो द्रव्यवेद है वही भाववेद है। इन जोवोमे विसमता न होनेके कारण तो मूलमे उस जातिका कर्मोदय है और बाह्यदृष्टिसे देखो तो उनकी परिस्थिति, उनके शरीरका ढाचा आदिक जब दृष्टिमे आते है और अनावश्यकता आदिक पद्धतियां देखते है तो वहाँ वेदोकी समता है। यह बात भली प्रकार समझमे आ जाती है। जैसे एकेन्द्रिय आदिक जीव है वे वेदकी प्रवृत्ति करनेमे समर्थ नही हैं, तो नपुसक शरीरसे हैं, भावोंसे भी नपुंसक वेद हैं। भोगभूमिया पुरुष स्त्री है। उनके जीवनमें हर एक बातमे समता पायी जाती है, ऐसे ही देवोकी सुख सामग्री अनेक प्रकार पायी जाती हैं। कषाय भी मद है और उनका जैसा द्रव्यवेद है वैसा ही भाववेद है। अब जिसमे वेदमे विषमता है उसका वर्णन करते हैं।

कर्मभूमिज मनुष्य व संज्ञी पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्चोमें वेदवैषम्यकी संभवता—कर्मभूमिमे मनुष्योके और स्त्रियोके, उसी प्रकार तिर्यञ्चोके और तिर्यञ्चियोके जो कि सज्ञी पञ्चेन्द्रिय

है इन सबके तीनों वेद होते है, जैसा कि उनका उदय है। यहाँ विसमता पायी जाती है। किसीमें द्रव्यवेद तो पुरुष है और भाववेद स्त्री अथवा नपुंसक भी हो सकता है। किसीमें द्रव्यवेद है, स्त्रीवेद और भावसे पुरुष अथवा नपुंसक भी हो सकता है। इसी तरह द्रव्यसे तो नपुंसकवेद है और भावसे और कुछ भी हो सकता है। तो कर्मभूमिमे उत्पन्न हुए मनुष्य और स्त्रियोके वेदोमें वैपम्य होता है और यही कारण है कि यहाँ नाना प्रकारके विचित्र भाव देखे जाते है। ऐसे ही जो सज्ञी पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्च हैं उनमें भी वेदोमे विषमता है, इस कारण पहले स्पष्ट किया ही गया है कि अगोपाङ्ग और नामकर्मका उदय तो उस प्रकार है जिस प्रकार वह द्रव्यवेदमे आता है और भाववेदमें पुरुषवेद, स्त्रीवेद, नपुंसकवेद नामक चारित्रमोह का जैसा उदय है उस तरह कि वहाँ वेद अनुभवमें आ रहे है। तो चूकि ये कार्य दो है— शरीरमे चिह्न होना ये दो कार्य पृथक् है। इनका उपादान भी पृथक् है, उनका कारण भी पृथक् है। इस कारण जैसा कारण द्रव्यवेदको मिला सो द्रव्यवेद हुआ और जैसा कारण भाववेदको मिला सो भाववेद हुआ।

श्रेणिगत साधुपरमेष्ठियोंमें भी वेदवैषम्यकी संभवता—करणानुयोग शास्त्रोमे श्रेणियो मे यह बात दर्शायी गई है कि कोई मुनि पुरुषवेदके उदयसहित श्रेणीमे चढ़ता है, कोई मुनि स्त्रीवेदके उदयसहित श्रेणीमे चढ़ता है, कोई मुनि नपुँसक वेदके उदयसहित श्रेणीमें चढ़ता है। तो द्रव्यसे ही सब पुरुषवेदी है, साधुपरमेष्ठी है, मनुष्य है, पर भावोमे यह विषमता पायी गई है। यद्यपि श्रेणियोमे इस भाववेदका कोई असर नही है कि उसके कामवासना बने, उनमे गदगी, मलिनता आये, लेकिन उदय तो हुआ और उदयकृत झलक तो हुई। मलिनता तो छायारूप होती ही है तो इस वर्णनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि कर्मभूमिके मनुष्योमें वेदकी विसमता पायी जाती है। लोकव्यवहारमे भी अनेक पुरुषोमे इस प्रकार देखा जाता है कि द्रव्यवेद तो पुरुपवेद है ही, परभावोमे उनका स्त्रीवेद जैसा परिणाम होता है, और शरीरमे भी उसकी मुद्रा हलन-चलन, बोल-चाल आदि हो जाते है। तो कर्मभूमिमे सज्ञी पञ्चेन्द्रियके वेदोकी विसमता पायी जाती है।

भाववेदका आजीवन परिवर्तन—यहाँ यह बात जानना कि भाववेद तो स्थायी होता है याने जिस प्रकारका वेद जन्मसमयमें हुआ है उसकी प्रकृति वही रहेगी अन्त तक, किन्तु द्रव्यवेदमे परिवर्तन सम्भव है। यद्यपि सुननेमे यह अटपटासा लग रहा होगा और सोचा जा सकता है कि भाव तो वदला जा सकता है। आज भाव पुरुषवेदविषयक है और स्त्रीवेद विपयभाव बनाया जा सकता, वह तो भावकी बात है, पर द्रव्यलिङ्ग तो शरीरका चिह्न है। शरीरमे जो चिह्न हो सो तो सदा रहेंगे, वे कैसे बदले जा सकते है ? ऐसी आशका हो सकती है, परन्तु सूक्ष्मदृष्टिसे विचार करें तो विदित होगा कि भावोकी जो पद्धति वन गई है वेद-

विपयक, उसका हटाना उस भवमे असम्भव है । पूर्णतया हट जाना यह तो हो सकेगा, मगर बदलना यह सम्भव नही, किन्तु द्रव्यके लिङ्ग पुरुष - स्त्रीविषयक यह आजके वैज्ञानिक भी स्पष्ट प्रयोग करके दिखा रहे है कि कोई मनुष्य पुरुष था और किसी समय कुछ चिह्न लक्षण जब कुछ उतरे तो आपरेशन आदिक विधियोसे वह स्त्री रूप आया, स्त्री पुरुप रूपमे आया । तो शरीरका चिह्न तो बदला जा सकता, मगर जीवके ये कामवासनाविषयक विभाव ये नहीं बदले जा सकते । मिटाये तो जा सकते है, पर किसी जीवके मनुष्यके पुरुषवेदविपयक भाव हो तो वह बदलकर स्त्रीवेद वाला हो जाय, यह सम्भव नही है । भावकी गति बडी विचित्र है और इस जीवको इस प्रकारका सस्कार लगा है कि जिस भवमे जिस भाववेदको लेकर यह होता है उस भवमे यह भाववेद अन्त तक रहता है । हाँ, जो साधु श्रेणीगत है वह तो इस भाववेदको मिटा देता है, पर जब तक मिटता नही है तब तक उसी वेदकी ही परम्परा रहती है । इस प्रकार औदयिक भावोमे मिथ्यात्व चारित्र मोहादिक बातें कहकर उसी सिलसिलेमें यहाँ वेदविषयक बात बतायी कि यह एक औदयिक भाव है । पुरुषवेद, स्त्रीवेद, नपुँसकवेद नामके चारित्रमोहका उदय होनेपर ये विभाव प्रकट हुए है ये औदयिक हैं, नैमित्तिक है, स्वभावदृष्टिके बलसे हटाये जा सकते है ।

निमित्तनैमित्तिक भावके परिचयमें स्वभावदृष्टिकी प्रयोजकता—निमित्तनैमित्तिक योग का परिचय स्वभावदृष्टिके प्रयोजनके लिए होता है । यहाँ स्वभावदृष्टिका अवसर यो मिलता कि यह साहस बनता है इस ज्ञानीको कि ये मेरे स्वरूप नही है, ये औदयिक है, निमित्त पाकर आये है । निमित्त विपाक ही इस स्वच्छ उपयोगभूमिमे झलक हुई है, ये मेरे स्वरूप नही । स्वभावदृष्टि जब मुख्यतया बनती है तो ये वेदविपयक भाव सभी दूर हो जाते है, क्योकि स्वभाव वेदवासनासे रहित है । वह तो अपने विशुद्ध चैतन्यस्वरूप मात्र है । जो सहज है, निरपेक्ष है, अपने आपकी सत्तासे सिद्ध है उस सहज भावमे, निरपेक्षभावमे विकार नहीं है, ऐसे अविकार स्वरूप अपने आपके स्वभावकी जिसके दृष्टि बनी है वही तो अनुभव करता है कि मै केवल ज्ञायक हू, स्वभावमात्र हू, स्वका होना स्वभाव है और स्वका होना वह सहां स्वभावके अनुरूप होता है । तो यहाँ विकार नही, ऐसे अविकार चैतन्यस्वरूपकी दृष्टि निरन्तर रहे तो ये विभावभाव क्षणमात्रमे भस्म हो सकते हैं । भव-भवमे बाँधे हुए कर्म क्षणमात्र मे निर्जराको प्राप्त होते हे । इस जीवको धर्मसाधनाके सिवाय, स्वभावालम्बनके सिवाय अन्य कुछ शरण नही है । स्वभावालम्बनके लिए ही प्राणी व्यवहारधर्मका पालन करते है । स्वभावदृष्टिके पानेके लिए ही जप, तप, ध्यान, चर्चा आदिक प्रयोग किए जाते है । ज्ञानीका यह लक्ष्य रहता है कि स्वभावदृष्टिसे ही हमारा विकास है, अन्य परतत्त्वोकी दृष्टिसे हमारा विकास नही है । इस प्रकार औदयिक भावसे रहित अविकारस्वरूपकी भावनामें आत्मकल्याण होता

है ।

त्रयोऽपि भाववेदास्ते नैरन्तर्योदियात् किल ।
नित्य चाबुद्धिपूर्वा. स्यु: क्वचिद्दै बुद्धिपूर्वका. ॥१०८७॥

परिणतिस्वातन्त्र्य और निमित्तनैमित्तिक भाव—दो बातें सर्वत्र सुनिश्चित हैं, वैज्ञानिकों से पूछो, युक्ति वालोसे पूछो—ये दो बाते न हो जो अभी बतायेंगे तो न सत्ता रहेगी, न कार्य कुछ हो सकेगा । वे क्या दो बाते ? पहली बात तो यह कि प्रत्येक पदार्थ खुदके परिणमनसे परिणमता है । कोई भी पदार्थ किसी दूसरे पदार्थकी परिणतिसे नही परिणमता । दूसरी बात पदार्थमे जो विकार होता है, विषम स्थिति होती है, विभाव होते है, स्वभावके विपरीत कोई परिस्थिति बनती है तो वह परउपाधिके सन्निधान बिना नही बन सकती । यह बात आप यहाँ संसार अवस्थामें अपने आपपर घटित करते जायें । इन दो बातोके जाननेकी आवश्यकता क्यों है ? इन दो बातोका परिचय स्वभावदृष्टिमें मददगार है और स्वभावदृष्टिकी आवश्यकता क्यो है ? स्वभावदृष्टि बिना हम शान्ति नही पा सकते, हम शुद्ध नही हो सकते, हमारा कल्याण नही हो सकता । तो इसके लिए ये दो बातें माननी आवश्यक है । सही सही जानना जरूरी हो गया कि खुदके परिणमनसे परिणमन हुआ करता है और विसम्वाद, विभाव, पर-भाव ये उपाधिके सन्निधान बिना होते नही । इन दो के विपरीत यदि कोई कुछ अपना तथ्य रखे कि नही जो अपने परिणमनसे भी कभी कोई परिणमता है और कोई परके परिणमनसे भी परिणमता है, अथवा सभी परके परिणमनसे परिणमते है । तो ऐसा स्वीकार करनेपर न विश्वस्तता रहेगी, न स्वतन्त्रता रहेगी, न शुद्धता बन सकेगी । इसी प्रकार कोई यह कहने लगे कि विभाव, परभाव, विकार, स्थिति—ये तो खुदके ही कारणसे हुआ करते हैं उसमे परके सन्निधान की बात ही क्या ? उसका तो अर्थ है कि ये विकार, ये विभाव ये नित्य रहेंगे । इनका यह जीव नित्यकर्ता बन जायगा, ऐसी घोषणा आचार्योंने खुले खुले शब्दोमें प्राय: प्रसगोमे सवत्र की है ।

यहां है वेदका विषय याने जीवोंमे जो कामवासना जगती है, विषयवासना रहती है तो उसमे ये दोनों बातें देखियेगा । पुरुषवेद, स्त्रीवेद, नपुंसकवेद नामकी नोकषाय चारित्रमोह के उदय बिना, सन्निधान बिना ये कामविकार भाव नही हुआ करते, क्योंकि ये विकृत है, परभाव है, नैमित्तिक है, स्वभावके विपरीत हैं, और कर्मोदय होनेपर भी स्वय यह जीव, ऐसा अशुद्ध उपादान वाला जीव उपयोग ज्ञानविकल्प रूपसे खुद न परिणमे तो विकार किस-का नाम ? तो यहाँ ये दो बातें समझनी चाहिएँ और इस परिचयसे यह निष्कर्ष निकालना चाहिए कि जो कुछ मुझपर यह विपत्ति आ रही वह विभाव विपत्ति है । हम अपने आप स्वरूपमें रहते, अपने आपके स्वरूपके अनुकूल ही परिणमते, स्वयं अकेले होते, यह तो मेरा

लिए अच्छी बात थी, सत्य शिव सुन्दर था, मगर हो क्या रहा है ? यहाँ ये आफतें लद रही हैं विभावोकी तो ये जितनी आपत्तियाँ है, जितने ये भार है, जो कुछ है एक निर्णयमे एक झटकेमे ज्ञानबलके द्वारा एकदम फेककर अलग हुआ ज्ञान द्वारा। यह मैं नही, ये नैमित्तिक है, ये विभाव है, मेरे स्वरूप नही। विभावविकल्प भागनेके साथ ही यह झलक भी आयगी कि मैं तो यह ज्ञानदर्शनस्वरूप मात्र आनन्दमय सहजस्वभाव रूप हू। हाँ तो ऐसा भेदविज्ञान नही है तो जो भार आता है, जो प्रतिफलन है, जो कर्मविपाक है, बस उसमे ही यह जीव रमता है और इस ही अपने वेद नोकषायसे निरन्तर इसमे भीतरमे कलुषता बनी रहती है। अबुद्धिपूर्वक कलुषता तो बनी रहती है सदा सोतेमे जगतेमे अच्छा और पूजा पाठ करनेमे, पूजा पाठ करनेमे भी उसका ऐसा भाव है याने चारित्रमोहका उदय निरन्तर है। एक क्षण को भी इन वेदोमे से कोई वेद शान्त बैठे, चुपके रह जाय, न उदयमे आये, ऐसा नही व्यतीत होना, जब तक कि उसका उपशम और क्षय न बने। नो प्रतिफलन कलुषता निरन्तर रहती, मगर वह अबुद्धिपूर्वक है। जहाँ कषायका वेग है और बाह्य विषयसाधनोमे उपयोग लगा है वहाँ यहाँ बुद्धिपूर्वक कलुषता बनी रहती है। जैसे अविरत सम्यग्दृष्टि जीव, पंचम गुणस्थानवर्ती जीव जब कभी स्वानुभूतिमे भी आ रहा, जिसे कहते है निर्विकल्प स्वानुभव, आत्मानुभव। उस स्वानुभवकी दशामे भी कितना अबुद्धिपूर्वक दशायें प्रतिफलन कषाय रह रही है। वहाँ यह नही है कि यह स्वानुभूतिमे है तो इसके कषाय नही। अबुद्धिपूर्वक कषाय उस समय भी है, क्योकि उपयोग ज्ञानस्वभावकी ओर है। उस उपयोगमे कषाय व नोकर्म नही बस रहे है, इस कारणसे अबुद्धिपूर्वक है और जब स्वदृष्टिसे चिगकर और बाहरी विषय साधनोको उपयोगमे लेता है तो इसकी कषाय व्यक्त होती है, प्रकट होती है। यो औदयिक भावोंकी बात चल रही है देखिये इस प्रसगमें कि कर्मोदयका निमित्त पाकर होने वाले ये विकल्प किस-किस प्रकारसे यहा उपादानमे चल रहे है ?

तेऽपि चारित्रमोहान्तर्भाविनो बन्धहेतव ।
सक्लेशाङ्गैकरूपत्वात् केवल पापकर्मणाम् ॥१०९८॥

वेदोकी चारित्रमोहान्तर्भाविता व बन्धहेतुता—ये वेदके उदय, ये कामभाव, ये भी चारित्रमोहमे अन्तर्भावी है। चारित्रमोहके ही तो भेद है, इस कारण बधके कारण है। समयसारमे बताया है—यथाख्यात चारित्र होता ११वें १२वें गुणस्थानमे उससे पहिले अवश्यभावी राग सद्भाव है। एक क्षणको भी राग हटता नही। एक क्षणको भी राग हटता है, श्रेणीमे रहने वाले ८वे, ९वें गुणस्थान तकके साधुवोके भी राग हटता नही है, अवश्यभावी है, आस्रव है, मगर जीत किस बातकी है ? सम्यग्दृष्टि जीवके बुद्धिपूर्वक रागद्वेष मोहका अभाव होनेसे यह निरास्रव है।

द्रव्यानुयोगके निरास्रवताके कथनका व करणानुयोगके निरास्रवताके कथनका तथ्य—द्रव्यानुयोगकी कथनी एक प्रयोग वाला कथन है, और उसमे बुद्धिगम्य स्थूल कथन होता है। सूक्ष्म कथन करणानुयोगमे मिलेगा। यहां बुद्धिपूर्वक जो बात होती है उसका ही आलम्बन लेकर कथन है। करणानुयोगमें बुद्धिपूर्वक, अबुद्धिपूर्वक सभी तत्त्वोका वर्णन चलता है। तब ही यह न सोचकर कि यह इस अपेक्षासे कथन है, एक ओर दृष्टि हो जाती है कि स्वच्छंदता बन जाती है। और देखो शास्त्रोमे लिखा है, परन्तु प्रकरण, प्रसंग बिना समझे उनका कथन वैसे है जैसे कि एक कथानक है कि एक बार कहीपर राजा और रानी जलक्रीड़ा कर रहे थे, तो राजा था जरा बलवान, मगर बुद्धू था। जलक्रीड़ा कहते है हाथोसे जल उछालकर दूसरो के ऊपर छीटे मारनेको। सो उन छीटोसे रानियां घबड़ा गईं। तो रानियाँ थी बुद्धिमान, तो उन्होने कहा—"मोदकं देहि राजन्" याने हे राजन् अब पानीके छीट मत मारो। वहा राजाने मोदक शब्द सुनकर समझा कि ये रानियाँ लड्डू माँग रही है, सो राजाने झट नौकरोको आदेश दिया कि एक टोकनेभर लड्डू ले आवो, रानिया लड्डू मागती हैं। राजाज्ञा पाते ही फौरन टोकनेभर लड्डू आ गए। यह दृश्य देख रानिया राजाकी मूर्खतापर हँस पड़ी। वहां राजा बडा शर्मिन्दा हुआ अपनी मूर्खतापर। देखो वहा प्रसग तो था पानीके छीटोका, "मा उदकं देहि" का याने जल मत देओ। पर राजाने मोदकका अर्थ वहा लड्डू लगाया जिससे यह विडम्बना बनी। ऐसे ही यहा जो सम्यग्दृष्टिको निरास्रव कहा तो उसका यह अर्थ है कि बुद्धिपूर्वक या अज्ञानसहित उसके रागद्वेष नही प्रवृत्त होते है, इस कारणसे ससार-परम्परा बढ़ाने वाला आस्रव सम्यग्दृष्टिके नही होता है, पर करणानुयोग कहता है कि कुछ आस्रव तो, साम्परायिक आस्रव तो १०वें गुणस्थान तक है और ईर्यापथास्रव सयोगकेवली भगवान तक है। अब समझिये सूक्ष्म कथन करणानुयोगके कथन है जो बुद्धिसे परे है। एक समयका आर व ईर्यापथास्रव कहलाता है। जहां तक याने है वहां तक आस्रव है और साम्परायिक आस्रव जो स्थितिबध कराये याने आया गया, ऐसा ही न रहे, कर्म आये और स्थिति कुछ बाधकर रहे, कुछ समय ठहरे ऐसा जो आस्रव है उसे कहते हे साम्परायिक आस्रव।

अबुद्धिपूर्वकताके तथ्य—अप्रमत्तमे बुद्धिपूर्वक कहा चल रहा है राग? ७वें, ८वें, ९वे, १०वें गुणस्थानमे कैसा अबुद्धिपूर्वक राग है कि इसकी समझमे ही नहीं [illegible]
में ही नही है, इसके उपयोगमें हो नही है। दूसरा—अबुद्धिपूर्वक उसमे
लगाव नही रहा है ऐसा अबुद्धिपूर्वक आस्रव चौथे, ५वे, छठे गु[illegible]।
तो आ रहा कि उसके कीर्ति जगी, उसके राग हुआ, यह बात [illegible]
प्रतीति नही है इस तरह की कि राग मेरा स्वरूप है, इस रूप
नही रहा, इसलिए व[illegible] कहलाता। अच्छा,

जो एकेन्द्रिय, दोइन्द्रिय, तीनइन्द्रियके होता है। शब्दोके कितने मायने हैं, कितने अर्थ है, कहा क्या लगाना चाहिए ? यह जो नयचक्रके गहन वनसे गुजरना है वह हर एकका काम तो नही है। सबके वशकी बात तो नही है। शास्त्रोंमे तो लिखा है एकेन्द्रियमे भी अबुद्धिपूर्वक विकार और १०वें गुणस्थानमे भी अबुद्धिपूर्वक विकार, मगर इन दोनोंको एक साथ कहा जाय तो क्या बात बनती है ? सबका अर्थ समझ लेना चाहिए। एकेन्द्रियके मन नही है, इसलिए वे तर्कणा करके विकार नही करते। यहा तो यह अबुद्धिपूर्वक अर्थ है। सम्यग्दृष्टिके चौथे, ५वे, छठे गुणस्थानमे उस प्रकारकी भावना अभिप्राय नही रहा जैसा कि राग उठ रहा इसलिए अबुद्धिपूर्वक है। ७वें, ८वें, ९वें, १०वे गुणस्थानमे उपयोगमे भी राग नही आ रहा, कर्मविपाक है, प्रतिफलन है और तद्रूप उसकी कलमपता है, यहां तक बात आती। यह अबुद्धिपूर्वकका अर्थ है।

वेदकी औदयिकता, बन्धहेतुता व चारित्रमोहान्तर्भाविताके कथनका समर्थन—औदयिक भावोकी बात कह रहे है कि अबुद्धिपूर्वक हो तो, बुद्धिपूर्वक हो तो यह सब परभावरूप कहा गया यह वेद चारित्रमोहमें अन्तर्भूत है। सक्लेशका एकरूप है, सो केवल पापकर्मके बंध के कारण होता है। बोझसे न्यारा अपनेको अपने रूपमे देख सकना यह बहुत पवित्र आशयकी बात है। विभाव है बोझ कर्मविपाकका प्रतिफलन। उस कालमे हुआ ज्ञानमें विकल्प। सो यह सब है उसका, पर बोझ है, भार है। भार हुआ करता है पृथक्भूत चीजका। स्वमे स्वका भार नही हुआ करता। भार हमेशा किसी परतत्त्वका ही हुआ करता है। स्वमें स्वका भार नही रहता। उस विभाव भारसे निराला यह मैं केवल सहज विशुद्ध चैतन्यस्वरूपमात्र हू। यो स्वभावदृष्टिके बलसे यह शान्तिमार्ग मोक्षमार्ग बढता है।

द्रव्यलिङ्गानि सर्वाणि नात्र बन्धस्य हेतव·।
देहमात्रैकवृत्तत्वे बन्धस्याकारणात्स्वत·।।१०९९।।

द्रव्यलिङ्गकी बन्धाहेतुता तथा भाववेदकी हेयता—यह वेद वाला प्रकरण इस श्लोक मे समाप्त होता है। यहाँ अन्तमे एक निष्कर्षरूप एक ही बात कहते हैं कि भाई ये लिङ्ग, ये वेद दो प्रकारके है—(१) स्त्रीवेद, (२) भाववेद, (१) द्रव्यलिङ्ग, (२) भावलिङ्ग। द्रव्यलिङ्ग तो नामकर्मके उदयसे औदयिक है और भाववेद चारित्रमोहके उदयसे औदयिक है। सो चूँकि द्रव्यलिङ्ग तो नामकर्मके उदयसे औदयिक है और भावलिङ्ग चारित्रमोहके उदयसे औदयिक है, इसी कारण द्रव्यलिङ्ग सभी ही बधके कारण नही हैं, क्योकि द्रव्यलिङ्ग शरीरका ढाँचा, यह कोई भावविकारकी चीज नही है। वह तो एक देह मात्रकी ही रचनामे है, इसलिए वह स्वतः बधके कारण नही है। हाँ, बध करने वाला भाववेदी पुरुष था वह आश्रयभूत है, जिससे कि व्यक्त विकार बनता है। औदयिक भावमें सर्वत्र यह शिक्षा लीजिए कि ये विभाव रागद्वेष,

विकार जो आफते है वे सबके सब औदयिक है, मेरे स्वरूप नही है, ये नैमित्तिक है। मै ही निमित्त होऊँ, मै ही उपादान होऊँ और इससे विकार बने तो विकार हटानेकी फिर कोई भी तरकीब नही हो सकती, क्योकि निमित्त सदा उपादान सदा। स्वयं जीव ही निमित्त हो, स्वयं जीव ही उपादान हो तो वहाँ हटानेका कोई अवसर नही और सोचनेसे क्या होता है ? बात तो जो जैसी होती है सो ही होती है। उल्टा सोचनेसे कहीं बात वैसी बन नही जाती। बात तो जो जहाँ जैसी है सो ही होगी। जैसी जो बात बनेगी, ससारपरम्परा बढ़ेगी, दुःख, आकुलता, व्यग्रता, पापबध जो कुछ जैसा बनेगा वह वैसा बनेगा। कही वह उल्टा मान लेनेसे छुटकारा न हो पायगा। कोई अपने आप समझ ले कि मैं तो बस परिपूर्ण हूं, इस प्रकारके अक्षर जान लिया, व्यवहार जान लिया, धर्म कर लिया, सबके बीच हमारी इज्जत बन गई, बस इतनेसे हम कृतकृत्य हो गए' तो यो कृतकृत्य न मानो, उसकी जो विधि है उससे कृत-कृत्यता मिलती है और जो ससारमे रुलनेकी विधि है उससे ससारमे रुलना होता है। पञ्चा-ध्यायीमे यहाँ इस दृष्टिसे सारा वर्णन चल रहा कि ये विभाव है, हेय है, परभाव है, दुःखरूप है, दु.खके हेतुभूत है, ये मेरे स्वरूप नही। मै तो एक टकोत्कीर्णवत् निश्चल ज्ञायकस्वभाव मात्र हू। इसका बडा विस्तार समयसारके बंधाधिकारमे है। जहाँ कुन्दकुन्दाचार्य देवने बताया कि—"उदयविवागो विविहो कम्माणं जिणवरेहि परिकहियं। ण दु एस मज्झ भावो जाणग-भावो दु अहमिक्को।" जिसकी आत्मख्यातिमे कहते है कि ये रागद्वेषादिक कर्मोदयके विपाकसे उत्पन्न हुए। ये रागद्वेष मोहभाव मेरे स्वरूप नही। मै तो एक ज्ञायकस्वभावमात्र हू।

अपनी त्रुटियोंको शोध शोध हटा देनेका अनुरोध—अब जरा अपनी गल्तीपर भी अदाजा तो करो कि आत्माके क्षेत्रमें उठने वाले जो कर्मविपाकके प्रतिफलन है उनको इतनी हेयतासे बताया गया और उनसे हटनेकी बात की जा रही है, यह बात तो है ही कहाँ, बल्कि ऐसा हो रहा है कि इसके चित्तमे से घर वैभव परिवार आदिक ये नही हट पा रहे। तो वैभवके चर्चाकी बात क्या करे, इनके उपयोगसे तो इनके सस्कारमे, तो इस मोहीके प्रकृति मे तो घर बसा, दूकान बसी, वैभव बसा। चर्चा तो ऊँची करेंगे, सुनेंगे, पर कोई ऐसा यह आयगा ऐसा कि यह तृष्णाका रंग घर कर जायगा, अरे कैसे हो गया यह रग रहै, ये सब चर्चा हो रही थी कि यह जीव तो सारे विभावोसे निराला ज्ञानमात्र है और ऐसा...में अधिक आनन्द मान रहे थे, मगर हो क्या जाता कि तृष्णाका बड़ा गहरा रग झट... देना है। मैं... तक अनुभवसहित ज्ञान नही होता तब तक उसे सम्यग्ज्ञान नही बताया गया है ही अगले भव

साधारण ज्ञान व सम्यग्ज्ञानका तथ्य—ज्ञान और सम्यग्ज्ञान...त हो सकते हैं। जिनको सम्यग्ज्ञान होने वाला है वह, जो जीवादिक तत्त्वोंके बारेमें ... क्या गलत रख रहा? गलत नही रख रहा। गलत जानकारी रखे...

सकेगा। जानकारी तो ठीक रख रहा। जैसा पदार्थका स्वरूप है वैसा ही रख रहा, मगर जो सहज आत्मस्वरूप है उसका अनुभव नही हुआ, इसलिए उसे कहेंगे साधारण ज्ञान और अनुभव होते ही उसे कहेंगे सम्यग्ज्ञान। जैसे जिसने मानो बडवानीमें जो मूर्ति है आदिनाथ भगवानकी, उस मूर्तिको जिसने आँखो नही देखा और फोटो देखा, चित्र देखा, पुस्तकोंमे पढ़ा और अग माप आदिकी सारी जानकारी भी कर लिया तो भी इन-इन विधियोसे जो उस मूर्तिके विषयमें जानकारी है सो क्या यह गलत जानकारी है ? है तो वैसी ही जानकारी जैसी कि वहां मूर्ति है, मगर मूर्तिके साक्षात् दर्शन किए बिना, उसे साक्षात् देखे बिना जो जानकारी है वह तो है एक साधारण ज्ञानके तुल्य और जब वह वहा जाकर साक्षात् उसके दर्शन करता है तो जो उसके प्रति एक विश्वास आता, जो एक स्पष्टता आती उसके साथ जो जानकारी है वह कह लीजिए सम्यग्ज्ञानका साधन। तो औदयिक भाव निमित्तनैमित्तिकका परिचय स्वभावदृष्टिका प्रयोजक है, कर्ताकर्मत्वका साधक कतई नही। निमित्त शब्द ही इस बातको सूचित करता है कि कोई पदार्थ निमित्त दूसरे पदार्थको अपनी शक्तिसे, अपने करणसे, अपनी परिणति से परिणमाता नही, तन्मात्र होता नही, किन्तु ऐसा ही योग है कि रोज प्रयोग होता है कि विसम पर्याय, विभाव पर्याय अनुकूल निमित्तकी उपस्थितिमें होती है, सो उस समयमें भी निमित्त बिना हुआ नही, निमित्तसे हुआ नही। ऐसी सही-सही दृष्टि द्वारा तत्त्वका परिज्ञान करने वाला सम्यग्दृष्टि जीव एक क्षणमे, एक निगाहमें अपने आपके भीतरके सारे बोझोंको परखता है और उससे निराले अन्तः विशुद्धस्वरूपमे वह ज्ञान द्वारा प्रवेश करता है।

मिथ्यादर्शनमाख्यात घातान्मिथ्यात्वकर्मणः।
भावो जीवस्य मिथ्यात्व स स्यादौदयिक किल ॥११०१॥

पूर्वोक्त मिथ्यात्वकी औदयिकताका स्मरण—मिथ्यात्वकर्मकी चोटसे, देखो यहा घात भी दे दिया है, आक्रमण, घात, उदय, विपाक, तो उस मिथ्यात्वकर्मके उदयसे मिथ्या-
मे समा... के उदयसे मिथ्यादर्शन होता, यह बात कही गई है। इस चारित्रमोहके वर्णनसे पहले
वेद दो प्रक... है सो वह भाव जीवका मिथ्यात्व है और औदयिक। साख्य भी कहते है कि प्रकृति
तो नामकर्मके सब विकार है और जीव अपरिणामी है, और शुद्ध स्वभावकी दृष्टिके प्रयोजनसे
द्रव्यलिङ्ग तो न... कह रहे है कि ये सब प्राकृतिक है मायने पौद्गलिक है, मगर इस कथनमें अंतर
है, इसी कारण द्रव्... गलिक कहते हुए भी यहा स्वरूप स्वीकार किया गया है कि उस अनाकुल
यह कोई भावविकार... रूप बन रहा, वहा यह स्वरूप स्वीकार नही किया गया। स्वीकार वहां
स्वतः बधके कारण नही ...कता, क्योकि ज्ञान भी प्रकृतिका विकार मान लिया गया। इतने संतुलन
कि व्यक्त विकार बनता है ...स्वभावदर्शनका प्रयास करना है। इसका वर्णन पहले बहुत हो चुका,
...का यह स्मरण कराया गया है।

अस्ति जीवस्य सम्यक्त्व गुणश्चैको निसर्गजः ।
मिथ्याकर्मोदयात्सोऽपि वैकृतो विकृताकृतिः ॥११०१॥

मिथ्यात्वप्रकृति दर्शनमोहके उदयसे मिथ्यादर्शनका उदय—जो भी पदार्थ होता है उसमे भेदविवक्षासे निरखनेपर अनन्तशक्तियाँ विदित होती है । होता तो अखण्ड ही पदार्थ और स्वभाव भी अखण्ड किन्तु उसे पहिचाननेकी विधि सिवाय भेद विवरणके और कोई नही है । तो जब किसी वस्तुका परिचय करने चले तो उसमे रहने वाली अनादि अनन्त शक्तियों का परिचय होता है । आत्मा भी एक पदार्थ है, उसमें भी अनन्त शक्तियाँ है । अनन्तशक्तियो के नाम तो निरखे जाना अशक्य है पर कुछ प्रसिद्ध शक्तियाँ, जिनके जाननेकी आवश्यकता है और अपनी शान्तिमे जिनका परिचय मददगार है ऐसी कुछ शक्तियां है, जिनमें एक शक्ति सम्यक्त्व नामक है । श्रद्धा कहो, सम्यक्त्व कहो एक ही बात है । सम्यक्त्व, ज्ञान, चारित्र, आनन्द, दर्शन आदिक अनेक शक्तियाँ है, जिनमे एक सम्यक्त्व गुण है । जो सम्यक्त्व शक्ति काम करती है, इसका परिणमन मिथ्यात्वरूपमे हो, सम्यक्त्वरूपमे हो, सम्यग्मिथ्यात्वरूपमे हो, ऐसा ही श्रद्धा सम्बधित परिणमन इस सम्यक्त्व गुणका कार्य कहलाता है । तो यह गुण एक विसर्गज है, अपने आप ही सम्यक्त्वगुण है, पर मिथ्यात्व नामक कर्मोदय होनेपर यह ही सम्यक्त्व गुण विकृतरूप परिणम जाता है । जैसे दर्पणमें स्वच्छता है निजमे, मगर सामनेके पदार्थका सन्निधान पाकर छायारूप परिणम जाता है तो ऐसे ही आत्मामें सम्यक्त्वगुण है तो परिणमा तो वह अपने ही परिणमनसे, मगर मिथ्यात्वरूप परिणमा तो मिथ्यात्वप्रकृति कर्मोदयका निमित्त पाकर परिणमा । उस समय क्या स्थिति होती है इस जीवकी कि नाना मिथ्या आशय बनते है । शरीरको मानता—मैं हू, विभावको मानता 'यही मै हू' यह तो सब मिथ्यात्वीमे एक मूल जड है । यह तो सर्वत्र पाया जाता जहाँ-जहां मिथ्यात्व है । कोई ऐसे भी चतुर व्यक्ति होते है जो कुछ भेदकी बात करते है । शरीर मै नही, मै आत्मा जुदा हूं, ऐसा कहने वाले भी शरीरमे मैं की बुद्धि रखते हुए कहते है । मिथ्यात्वका अश कहां किस प्रकृति से पडा हुआ है, उसका पार पडना कठिन है । ऐसे-ऐसे महामुनि जो कोल्हूमे शत्रु द्वारा यह जायें और शत्रुको शत्रु न समझें, इतनी तक समताकी बात रखें तो भी सम्भव है, ये सब मिथ्यात्वका अश हो सकता । बताया ही है कि ऐसे-ऐसे भी मिथ्यात्व अंश होते में अधिक सबकी पहिचान कैसे हो तो उसकी कुञ्जी बस इतनी है कि अपनी इस पर्याय देना है । मै होना कि यह मै हू । तो पूछोगे—तो फिर उन मुनियोको क्या बुद्धि मि हैं ही अगले भव पिल रहा, फिर भी उस शरीरको बचानेकी कोशिश नही कर रहे, वि हत हो सकते है । हो रहे, फिर भी मिथ्यात्व सम्भव है । वह कौनसा परिणाम है ? रखनी चाहिए, इस तरहकी बुद्धि रखकर केवल एक द्रव्यलिगपर

आत्मबुद्धि है इसलिए वह मरकर भी अपना मिथ्यात्व नही तज पाया। यह एक बहुत सूक्ष्म अशका दृष्टान्त दिया है। तो ऐसे ही गृहस्थ जनोमे भी धर्मके वडे अच्छे ऊँचे-ऊँचे काम करने की सोचते है, करते है और ऐसा करते हुए भी मिथ्यात्व रह जाय, यह क्या सम्भव नही है? अच्छा किया, जो काम बने उसमे ऐसा सतोप करना कि मैने किया, लोग समझे ठीक किया, इस तरहसे जो उस ही पर्यायमे चलता है, क्रियामे चलता है, वचनकी जो चेष्टा है वह सब मिथ्यात्वका ही तो अश है।

मिथ्यात्वविषसे सर्वथा हटकर सहजस्वरूपमग्नताके प्रतापसे सिद्धिका लाभ—जो भी मुनिराज सिद्ध हुए है वे मिथ्यात्वविपसे दूर होकर, फिर सम्यग्दर्शन, ज्ञान चारित्रमे तन्मय होकर सिद्ध हुए है, निर्ग्रन्थलिंग विना सिद्धि नही है। मुनिभेष हुए विना किसीने भी मोक्ष नही पाया, पर उन सबने जिन्होने मोक्ष पाया है उन्हे मुनिभेषमे ममता न थी, मुनिभेपसे उपेक्षा थी और उसका ख्याल ही छोडकर उन्होने सिद्धि पायी याने पर्यायसे आत्मबुद्धि कितना निकालना है सो मुनि होकर भी अपनेको मुनि नही मान रहे थे, उस प्रकार पर्यायरूप नही समझ रहे थे, एक चिदानन्दस्वरूप अपनेको अनुभव कर रहे थे। तो ऐसे ही हम आपकी कुछ भी स्थितिया हो, सब स्थितियोमे गुजारा चलेगा, मगर अपनी इस प्रतीतिको न छोडें कि मैं तो यह एक सहज ज्ञानप्रकाशमात्र हू—इस प्रतीतिको छोडकर जब चित्तमें बस जाता कि मैं इस मान्यताका हू, इस पार्टीका हू, इस पक्षका हू, इस जातिका हूं, किसी भी प्रकार किसी भी पर्यायमे जहा अपना लगाव बनाया है वहा समझो मिथ्यात्व आ गया। तो यह मिथ्यात्व किन-किन रूपोमे प्रकट होता है उसकी असख्यात मुद्रायें है। कोई देवी देवताओको अपना कल्याणकारी मानते है और उनकी पूजा करते है, कोई वृक्ष जैसे एकेन्द्रियको भी देवताके रूप में मानता है और उनकी भी आराधना करता है। यह मिथ्यात्व किन-किन रूपोमे प्रकट ा इससे बढकर और आप आश्चर्य क्या करेंगे कि निर्ग्रन्थलिग रखकर यह मिथ्यात्व एक मे समाः गुप्त मुद्रा बनाये रखता है और गृहस्थ होकर भी धर्ममें बुद्धि बनानेके प्रति श्रम करते वेद दो प्रकारको अपनी पर्यायमे, इज्जतमें, यशमे, इनमें ममत्व रहता है। तो वहा भी मिथ्या- तो नामकर्मके की। जिसको अपने आत्माका सन्तोप नही प्राप्त होता उनकी गति तो बाहर-बाहर द्रव्यलिङ्ग तो नली है। मै आत्मा ज्ञानमात्र हू। जानन होना, ज्ञानप्रकाश होना इतना ही मेरा है, इसी कारण द्रव्प्रकाश परिणमन, इतना ही मै करता हू, उस ही ज्ञानप्रकाशको मैं भोगता हू, यह कोई भावविकारव चैतन्यप्रतिभास है यह ही मेरी दुनिया है, यह ही मेरा परलोक है, इसीमे स्वतः बधके कारण नहीं अतिरिक्त मेरा कही कुछ नही। ऐसा जब अपना परिणाम जगे तो कि व्यक्त विकार बनता है और एक आत्माकी सुध छोडकर जो कुछ भी विकल्प चलता है वहा ी है और परभावकी अटकमे इस जीवको सन्मार्ग नही मिलता।

बहुत सरल कुञ्जी है, सुगम साधना है । कही बैठे हो—दूकानमे, घरमे, जंगलमे ''जरा अपनी दृष्टि डालें और निरखें कि मै तो यह सहज ज्ञान प्रतिभास मात्र हू और जो कुछ विपत्ति विकल्प इसपर लदते है वह सब कर्मविपाककी छाया है । वह मै नही हू । मैं तो अन्तः सहज चैतन्य प्रतिभासमात्र हूँ । जहां यह दृष्टि हुई वहा वे सब काम भले होने लगते है । सम्वर होना, निर्जरा होना, शान्ति होना, सतोष होना आदि सभी बाते उसके होने लगती हैं । अपने उपयोगमे अपना स्वरूप प्रतिष्ठित करना है । तो मिथ्यात्व नामक प्रकृतिके उदयसे इस जीवके ऐसे-ऐसे मिथ्या आशय हुआ करते है । वे औदयिक है, कर्मोदय पाकर हुए है, स्वरूप नही है, मै उनसे निराला केवल शुद्ध चैतन्यप्रतिभासमात्र हू । स्वभावदृष्टि करानेके लिए ही औदयिक भावका वर्णन चल रहा है । स्वभावदृष्टि करानेके लिए ही यहा यह सब निमित्तनैमित्तिक बातोको स्पष्टता की जा रही है ।

उक्तमस्ति स्वरूपं प्राङ् मिथ्याभावस्य जन्मिनाम् ।
तस्मान्नोक्त मनागत्र पुनरुक्तभयात्किल ॥११०२॥

मिथ्याभावकी महाक्लेशरूपता—इन जीवोको मिथ्यात्वभाव कितना क्लेश कर रहा है कि यह जीव चेतमे नही है, व्यग्र होता रहता है, निरन्तर अशान्त रहता है, इसका कारण क्या है ? मिथ्याभाव । मिथ्याभाव यहाँ घर कर गया है, संतोष और आनन्दका धाम जो अपना चैतन्यस्वरूप है उस स्वरूपमे जब अपना प्रवेश नही तो दुःख तो होगा ही । मछली का अपना खुदका घर पानी है, समुद्र है, नदी है, तालाब है, कोई मछली किसी प्रकार उस समुद्रसे अलग हो जाय, बाहर जमीनपर पड जाय तो वह तो व्यग्र होगी, तडफेगी, उसको शान्ति रच मात्र भी नही है । व्याकुल हो-होकर मरण करेगी, ऐसे ही अपना जो निज धाम है, यह ज्ञानानन्दस्वरूप निज अंतस्तत्त्व उससे जब हम चिगकर किसी प्रकार बाहर फस गए, इन बाहरी विषयभूत पदार्थोमे लग गए तो हम व्यग्र हो तो रहेगे, निरन्तर बेचैन ही तो रहेगे और यह कुछ न कुछ सोचकर अपने द्वारा क्या किया जाय कि आदत पड़ी है, प्रकृति वही है कि यह बाहरके विषयभूत पदार्थोमे ही रमण करे, सो ऐसा मिथ्यात्व कर्म, ऐसा यह जीवका मिथ्यापरिणाम इसे कितना दुःख दे रहा, इसमे क्या-क्या अवस्थायें होती हैं, ये सब जानते है, देखते है और इसी ग्रन्थमे पहले कहा भी जा चुका है, उसके सम्बन्धमें अधिक क्या कहना ? जो दोष है उसे दोष रूपसे देखें और उससे अपनेको अलग कर देना है । मै ज्ञानस्वरूप हू, वही प्रतीति हम लोगोकी रक्षा करेगी । यह ही शरण है, यह ही अगले भव में भी हमको कुछ शरण रहेगी और इस ही के प्रतापसे हम भवसे भी रहित हो सकते है ।

अज्ञानं जीवभावो यः स स्यादौदयिकः स्फुटम् ।
लब्धजन्मोदयाद्यस्माज्ज्ञानावरणकर्मणः ॥११०३॥

ज्ञानावरणकर्मके उदयसे हुई अज्ञानदशाकी औदयिकताका निर्देश—तत्त्वार्थसूत्रमे आप पढते होगे कि औदयिक भाव २१ होते हैं—गति, कषाय लिङ्ग, मिथ्यादर्शन, अज्ञान, असयम, असिद्धत्व व लेश्या आदिक २१ भावोका वर्णन यहाँ किया जा रहा है। तो क्रम प्राप्त मिथ्यादर्शनका वर्णन हुआ। अब अज्ञानभावका वर्णन करते हैं। देखो अज्ञानभाव दो प्रकार का होता है, एक तो ज्ञानकी कमी रूप अज्ञान और एक ज्ञानका उल्टा चलने रूप अज्ञान। तो जो ज्ञानका उल्टा चलने वाला अज्ञान है वह तो मिथ्यादर्शनसे सम्बवित होना, सो क्षयोपशमिक होकर भी अशुचि है। वह अज्ञान औदयिक नही, है तो उसमे मिथ्यादर्शनके उदयका सम्बन्ध, मगर ज्ञान उल्टा भी चले, मगर ज्ञान चलना भी तो क्षयोपशम बिना नही बनता, इसलिए वह मिथ्याज्ञान क्षायोपशमिक भाव है, औदयिक भाव नही। ज्ञानमे इतनी योग्गता थी, ज्ञानावरण इतना कम रह गया था, क्षयोपशम था कि ज्ञान चला तो जरूर, मगर मिथ्यादर्शन का सम्बन्ध होनेसे उल्टा चला। उस अज्ञानकी यहाँ चर्चा नही है, किन्तु ज्ञानकी जो कमी है ऐसे अज्ञानको यहाँ औदयिक कहा जाता है। यह अज्ञानभाव इस जीवका भाव यह औदयिक भाव है। ज्ञानावरण कर्मके उदयका निमित्त पाकर अज्ञानदशा बनी है और यह अज्ञानदशा यह केवलज्ञानसे पहले-पहले रहती है। १२ वें गुणस्थान तक यह अज्ञानभाव पाया जाता है। अज्ञानका उल्टापन नही, वह तो अविरत सम्यक्त्वसे पहले ही नष्ट हो जाता है, लेकिन ज्ञान जब तक पूर्ण विकसित नही है, ज्ञानमे ऐसी जो कमजोरी है वह कैसे हुई, क्यो हुई ? जो विषम पर्याय होती है वह किसी न किसी निमित्तको पाकर ही होती है। यह अटल नियम है। तो चूंकि अज्ञानदशा विभाव है, विषम पर्याय है, वह किसका निमित्त पाकर हुई ? ज्ञानावरण कर्मका निमित्त पाकर। देखिये औदयिकताका निर्णय करे और विवेकपूर्ण दृष्टिसे निरखें।

जीव विकारके प्रसंगमें दृष्टान्तपूर्वक निमित्त, उपादान व नैमित्तिक कार्यकी चर्चा—निमित्त व उपादान—इन दोनोकी अलग-अलग दशायें हुआ करती हैं। जैसे हमारे सामने दर्पण रखा है और हमारे पीछे कुछ बालक खेल खेल रहे है, खूब उछल फांद रहे है, ऊधम मचा रहे है, जीभ निकाल रहे, हाथ पैर हिला रहे तो वह सब प्रतिबिम्ब उस दर्पणमे हम देख रहे हैं। अब उस दर्पणमे जो प्रतिबिम्ब नजर आ रहे है वह सब उस दर्पणकी परिणति है या अन्यकी ? दर्पणमे जो स्वच्छताका विकार चल रहा है वह दर्पणकी परिणति है। स्वच्छता ढक गई और वह फोटो आ गई। इस प्रकारका जो परिणमन चल रहा दर्पणमे वह दर्पणकी परिणति है और केवल हम उस दर्पणको निरख करके ही कुछ कहते जा रहे कि अब दर्पणमें ऐसा फोटो आया यह हाथ उठ गया, यह पैर उठ गया। केवल दर्पणको निरखकर दर्पणके विकारकी बात हम कह रहे। यह भी एक ज्ञान है। जब उसके निर्णयकी

वात आयगी तब कहना ही पड़ेगा कि दर्पणमें जो एक प्रतिबिम्ब हुआ है, वह इन खेलने वाले लड़कोंका सन्निधान पाकर हुआ है, दर्पणमें उसके मात्र स्वभावसे निरपेक्षतया निमित्तकी अनुपलब्धिमे नही हुआ। अगर ऐसा हो तो वह फोटो सदा रहेगी, फिर क्यों भाग जाता ? लड़के भाग गए तो फोटो नदारत। यो निमित्तकी उपस्थिति व अनुपस्थिति निर्णय बताती है। इससे दोनो दृष्टियोसे लाभ क्या मिलता है ? सो कहाँके दृष्टान्तसे तो समझना क्या है ? अपने आत्माका ही उदाहरण लो। आत्माके इस उपयोगमे रागद्वेष, कल्पनाये, विचार, तृष्णा, कषाय, लोभ ये सब बन रहे है, ये सव परिणमन हो रहे है, सो हम एक दृष्टिसे जिसे कहेगे अशुद्ध निश्चयनय, उस अशुद्ध निश्चयनयकी दृष्टिसे जब हम निरखते है तो यह ही देखेगे कि जीवमे जीवके परिणमनसे जीवके ज्ञानविकल्पसे ये राग द्वेषादिक बन रहे है। वहाँ दूसरे पदार्थका नाम नही लिया जा सकता, क्योकि वे निश्चयनयके मूडमे निरखे जा रहे है। निश्चयनय दो पदार्थोको नही देखता, मगर जब निर्णय वास्तवमे करने लगो तो, निर्णय होगा क्या हुआ ? क्यो हुआ ? कहाँ हुआ ? क्या मुझ आत्मामे मेरे स्वभाव से ही ये रागद्वेष उठ पड़े या कोई विधि है। तो वहाँ निर्णय बतायगा कि क्रोध, मान, माया लोभ प्रकृति, पौद्गलिक कर्म इनका विपाककाल आया, इनका विपाक फूटा, उसका प्रतिफलन हुआ, इस तरह उसे निमित्तमात्र करके यह जीव अपने ज्ञानमे विकल्प करने लगता। निर्णय यह बतायगा।

अशुद्धनिश्चयनय व निमित्तनैमित्तिक भावदृष्टिके लाभका निर्णय—अब यहाँ निरखे कि अशुद्ध निश्चयनय व निमित्तनैमित्तिक भाव इन दोनो दृष्टियोसे लाभ क्या मिलेगा ? जब हम केवल अशुद्ध निश्चयनयकी दृष्टि रखते है, जिसमे हम किसी पदार्थका ख्याल भी नही करते, केवल यह ही निरखते जा रहे कि जीवमे जीवके परिणमनसे, जीवके कारणपनेसे यह रागद्वेष परिणमन हुआ है। इस दृष्टिमे यह बात असत्य नही है और इसका लाभ लिया जाये तो यह मिलेगा कि जब निमित्तपर दृष्टि नही जा रही, केवल एक जीव उपादानपर ही दृष्टि है तो ये रागद्वेष जो लम्बे होते है, बुद्धिपूर्वक हुआ करते है, प्रकट करके हुआ करते किसी बाह्यपदार्थका आश्रय करके हुआ करते है, तो जब इस अशुद्ध निश्चयनयके [illegible] भी बाह्य पदार्थका ध्यान नही दिया तो आश्रयभूत पदार्थके आलम्बन बिना [illegible]ठाको पायेंगे ? लाभ वहाँ यह हुआ, लेकिन इसमें कुछ असुगमता है अपेक्षा- [illegible]भावोके परिचयके। अब दूसरी दृष्टिका लाभ देखिये—जब निमित्तनैमि- [illegible] जाना कि मुझ जीवमें जो ये रागद्वेष विकल्प हो रहे हैं सो [illegible] स्वभावकी मुद्रा नहीं हैं उस [illegible] र्मविपाकका निमित्त [illegible]। जैसे कोई [illegible] [illegible]याकार जैसे

ज्ञानपर लद जाय, ऐसे ही पुद्गल विपाक इस जीवपर ज्ञेयरूपमें लदे तो जीवमें इसके अनादि विभ्रम पडा है, सो उससे अपना लगाव बनाता है इसलिए दुःखी होता है। तो जहाँ इस परिचयसे जाना कि ये विभाव पौद्गलिक कर्मके विपाकसे उत्पन्न होते है मेरे स्वरूप नही है, मेरे ज्ञानके साथ नहीं है, तब अपने सहज स्वरूपका ज्ञान बडा सुगम हो जाता, तो फिर मेरा स्वरूप क्या ? जब ये विभाव हैं, जब ये हेय है, परतत्त्व है, परकी छाया है तो मेरा स्वरूप क्या ? मेरा स्वरूप अपने आप सहज निरपेक्ष जो कुछ मुझमें वर्तें वह है। वह क्या, केवल जानन ज्ञानप्रतिभास, चैतन्यमात्र है।

स्वानुभवसे सहजस्वरूपका सुनिर्णय—अब इस सहज चैतन्यस्वरूपके बारेमें कोई अधिक पूछताछ करे तो उत्तर नही दिया जा सकता। जितने शब्द है उतने तक तो बात चली, मगर कोई कहे कि मेरे तो उपयोगमे उतार ही दो कि मेरा सहजस्वरूप क्या है, तो यह बताया नही जा सकता। यह तो आपके ही द्वारा, खुदके ही द्वारा उतारेसे उतर सकता है। जैसे मिश्रीके स्वादकी कोई चर्चा चलाये—अजी मिश्री बहुत मीठी होती है। कितनी मीठी ? अजी बहुत मीठी। बहुत-बहुत युक्तिया भी देंगे कि देखो पहले गन्नेके रसमे जो मिठास होता है उससे अधिक मिठास गुडमे होता है, गुडसे मैल निकालकर शक्कर बना दी गई तो उसका मिठास और भी अधिक होता है, और उस शक्करका मैल छांटकर मिश्री बना दी गई तो उसका रस और मीठा होता है, अजी उस मिश्रीके स्वादका क्या कहना ? यों कितना ही शब्दो द्वारा कहा जाय, पर उसके स्वादका सही-सही ज्ञान यों नही हो पाता। तब फिर सही ज्ञान कैसे हो ? अरे उस मिश्रीकी डलीको उसके मुखमे धर दो, वह उसे चखेगा तभी उसके स्वादका वह सही-सही ज्ञान कर सकेगा। एक तो था शब्दो द्वारा ज्ञान और एक हुआ अनुभवात्मक ज्ञान। अनुभवात्मक ज्ञान हो जानेपर फिर उस ज्ञानमे सदेह नही रहता। उसमे दृढ़ता हो गई, स्पष्ट हो गया, अनुभवसहित होगा, ऐसे ही आत्माका वह सहज प्रतिभास उसका क्या रूप है ? यह वही पुरुष समझ सकता जो बाह्य विकल्प तजकर अपने आपमे परमविश्राम करेगा, और ऐसे पात्र पुरुषकी पहिचान है कि वह जरा-जरासी बातमे घबडायेगा नही। हम शास्त्र पढ रहे, जरासी प्यास महसूस हुई तो झट पानी पीने दौडे, पिये बिना रहा नही जाता, ऐसी घबड़ाहट ज्ञानी पुरुष नही करता। जिसकी दृष्टि इस शरीरपर अधिक रहती है, जो मौज-मौजमे ही रहकर अपना जीवन गुजारना विचारता है वह आत्मा का अनुभव करनेका पात्र नही है। जिसके सम्यक्त्वका उदय हुआ है वह अपने जीवनमे यह कोशिश करेगा कि इन शरीर बाधावोपर हमारा आकर्षण मत हो कि हम जरा-जरासी बात पर भी मर न जायें। अगर ऐसी आदत रही तो यह दुर्लभ स्वानुभूति प्रकट न होगी। तो यहां प्रकरण चल रहा है अज्ञान औदयिक भावका। यह अज्ञानभाव सम्यग्ज्ञानके होने पर

ही होता है, यह ज्ञानकी कमीरूप औदयिक भाव है। सो ज्ञानावरण कर्मके उदयसे यह अज्ञानभाव औदयिक होता है।

अस्त्यात्मनो गुणः ज्ञानं स्वापूर्वार्थावभासकम् ।
मूर्च्छितं मृतकं वा स्याद्वपुः स्वावरणोदयात् ॥११०४॥

आत्माके ज्ञान गुणकी महिमा--अज्ञानभाव औदयिक है अर्थात् ज्ञानस्वरूप आत्मामें जो ज्ञानकी कमी है, इस न्यूनताका होना कर्मोंके उदयका निमित्त पाकर है, अतएव यह औदयिक है। यहां होता क्या है कि आत्मामें एक ज्ञानगुण है और यह गुण सर्वप्रधान गुण है। ज्ञानके द्वारा ही अपने परकी, हित अहितकी परीक्षा होती है। इस ज्ञानके द्वारा ही आत्मा में जो अन्य गुण बसे हैं उन सब गुणोंकी जानकारी होती है। जैसे अरहंत भगवानके उपदेश से जो नहीं समझमें आ सकें ऐसे सिद्ध प्रभुकी, तत्त्वोंकी जानकारी होती है। ऐसे ही इस ज्ञानगुणके द्वारा आत्मामें जो और गुण हैं उन गुणोंकी जानकारी होती है। जैसे अरहंत भगवानके उपदेशमें जो नहीं समझमें आ सके ऐसे सिद्ध प्रभुकी, तत्त्वोंकी जानकारी होती है। ऐसे ही इस ज्ञानगुणके द्वारा आत्मामें जो और गुण हैं उन गुणोंकी जानकारी होती है अथवा देखो आत्मामें अनेक प्रकारके गुण हैं। चेतन गुणमें अचेतन गुण दिख रहे—जैसे अस्तित्व, वस्तुत्व, द्रव्यत्व, अगुरुलघुत्व, प्रदेशत्व और प्रमेयत्व आदिक, ज्ञानदर्शनको छोड़कर शेष गुण भी सब ये चेतन तो नहीं हैं, अचेतन हैं। इनका स्वरूप चेतना नहीं है। तो चेतन गुण तो दो हैं— दर्शन और ज्ञान। और बाकी अनेक गुण इतने अनंत गुण अचेतन गुण हैं। मगर आत्मामें अचेतन गुण हैं इस नातेसे आत्माको अचेतन कहा जाना चाहिए ना? जहाँ चेतन कहनेका हक है ज्ञानगुणके कारण आत्माको चेतन कहनेका हक है, वहां ऐसे अनन्त गुणोंके अचेतनके कारण अचेतन कहनेका हक होना चाहिए। सो इस निर्णयके समय अनेकान्त लीला के समय कहा तो जा सकता है कि आत्मा चेतन भी है, अचेतन भी है, मगर आत्माको अचेतन कहनेमें दिल गवाह नहीं देता। यह एक ज्ञान गुण ऐसा प्रधान है कि जिसकी रश्मियां मानो सब गुणोंपर फैली हुई है। तो एक आत्मामें ज्ञान नामका जो गुण है, जो अपना और अपूर्व अर्थका प्रतिभास करने वाला है। ज्ञानकी यह तारीफ है कि वह अपनेका और परपदार्थ का ज्ञान करता है। जैसे आप जाने कि यह खम्भा है तो यह बात सच है ना? अगर कहेंगे तो सच है और खम्भा है, इस तरहका जो ज्ञान हुआ है वह ज्ञान सच है ना? सच है। तो यह ज्ञान अपनी सच्चाईको भी पुष्ट कर रहा है और बाहरमें ये परपदार्थ खम्भा आदिक जो हुए हैं उनको यथार्थ है, सच्चाईको भी पुष्ट कर रहा, ऐसा मूल एक ज्ञानगुणका प्रभाव है जो अपने आपका भी प्रतिभास करता है और अन्य अपूर्व पदार्थका भी प्रतिभास करता, यह ज्ञान का बड़ा गुण है।

ज्ञानके स्वापूर्वार्थविभासनत्वके विरोधमें कुछ दार्शनिकोंके विचार—दार्शनिक लोग इस सम्बधमे कितना ही तर्क उठाते है—कोई कहता है कि ज्ञान खुदको नही जान सकता याने जो ज्ञान बन रहा था, चल रहा था वह ज्ञान अपने आपके स्वरूपकी सच्चाईमे नही पहुच सकता। कोई दार्शनिक यहां कहते है कि यह ज्ञान किन्ही अर्थोंको जानता ही नही, अर्थ तो है ही नही कोई। जगतमे जो इतने पदार्थ दिखते है ये स्वप्नकी तरह मायामय है। ऐसा कुछ ज्ञानमें सोचा कि वे पदार्थ सामने आ गए, कुछ दार्शनिक ऐसा मंतव्य रखते है और जरा जल्दी सुननेमें तो ऐसा लगता होगा कि वाह कैसे दार्शनिक है जो दिखने वाली चीजो को भी कहते हैं कि यह सब केवल स्वप्न देखनेकी तरह है। है कुछ नही। ज्ञानमे कल्पना जगी, ज्ञानने एक इस तरहका विकल्प किया कि वह चीज सामने खडी हो गई। एक दार्शनिक यों कहता तो एक दार्शनिक यों कहता कि ज्ञान इन बाहरी पदार्थोंको तो जानता है खूब, मगर यह ज्ञान स्वयंको नही जानता। और दोनो प्रकारके दार्शनिकोंकी अपनी-अपनी बडी तेज प्रक्रिया है, जिन्हे संक्षेपमे बताया है। हां ज्ञान अपनेको नही जानता। उनका मतव्य है स्वात्मनिक्रिया विरोध. किसी भी पदार्थकी अपने आपमे क्रिया नही हुआ करती और उनका दृष्टान्त है कि कुल्हाड़ी कभी अपने आपको काट नही सकती। अनेक काठ तो कुल्हाडी द्वारा काटते देखे गये, मगर स्वयको कुल्हाडी नही काटती। ऐसे ही यह ज्ञान इन सारे पदार्थोंको तो जान लेगा, मगर खुदको नही जान सकता। यह तो आपको एक युक्तिका नमूना बताया। कैसी कैसी तेज युक्तियाँ देते है जिनको आप प्रमेयकमलमार्तण्ड, अष्टसहस्री जैसे दार्शनिक ग्रन्थो मे खूब विस्तारसे पायेंगे, जिनपर प्रवचन भी हुए, प्रकाशित भी हुए, उनको पढकर आप जानेंगे कि वे कैसे-कैसे अपने मतव्यको सिद्ध करते है। तो दूसरा दार्शनिक जो यह कहता है कि यह तो बाहरकी कोई चीज ही नही है, केवल एक ज्ञानब्रह्म है और ये तो सब ज्ञानब्रह्मके ही रूप है, ये चीज नही हैं, उनकी युक्ति है। तुम्हारे ज्ञानमे न आये तो तुम्हारे लिए हैं कुछ ये क्या ? पहली बात तो यह हुई। अब दूसरी बात—यह तो ज्ञानको ही जानता क्या वह परपदार्थोंको भी जानता। स्याद्वादी जैन भी तो यह ही बताते कि ज्ञान निश्चयसे स्व-को ही जानता है, परपदार्थको नही जानता तो वे दार्शनिक कहते कि यह ही तो हम कह रहे कि ज्ञान परपदार्थको जानता क्यो नही, यो कि परपदार्थकी सत्ता ही नही। जो कुछ है वह ज्ञानका ही रूप है। बाह्य पदार्थ कुछ नही हैं।

ज्ञानके स्वापूर्वार्थविभासनत्वकी सयुक्तिक सिद्धि—स्वापूर्वार्थविभासनके विषयमे स्याद्वाद सिद्धान्त यह कहता है कि ये दोनो ही बातें एकान्तमे खिच गई सो गलत। ज्ञान स्वको जानता है निश्चयसे, ज्ञान व्यवहारसे परको जानता है अर्थात् परमे तन्मय होकर नही जानता इसलिए व्यवहार है। कही उस व्यवहारका यह अर्थ नही कि यह बात असत्य ही है कि परपदार्थको जानता ही नही है, पर पदार्थ है, उनके विषयमे जानकारी है, परन्तु अपनेमे

मे ही तन्मय होकर जानता है इस कारण परको जानना व्यवहारसे और खुदको जानना निश्चयसे है और देखो जो ज्ञान खुदके सहीपनेका ज्ञान न रखे उस ज्ञानमे या उस ज्ञानसे बाह्य पदार्थके सहीपनका निर्णय हो ही नही सकता। जैसे हमने जाना कि यह खम्भा है तो खम्भाको तो हम आप डटकर जानते और यहाँ हम संदेह करे कि खम्भेको जिस ज्ञानने जाना वह सच्चा है या नही ? ये दोनो बाते एक साथ हो सकती क्या ? खम्भेको जानने वाले ज्ञानमे हम सदेह बनाये और खम्भेको हम सही स्वीकार करे—ये दो बातें एक साथ नही हो सकती। जहाँ जाना कि यह खम्भा है वहाँ दोनोमे ही निर्णय है कि खम्भेको जानने वाला ज्ञान दर्शन है और यह खम्भा है यह भी सत्य है। इस तरह ज्ञानमे ये दो बाते पडी हुई है कि वह स्व को जानता है और परको जानता है।

ज्ञानावरणके उदयसे ज्ञानकी मूर्च्छितता—स्व और अपूर्व अर्थका प्रतिभास करने वाला एक ज्ञान नामक गुण है सो ज्ञानावरणका उदय होनेसे यह ज्ञानगुण मूर्छित अथवा मृतक शरीरकी तरह निश्चेष्ट हो जाता है याने उस ज्ञानको देखिये कि ज्ञानावरणका उदय होने पर जो अश व्यक्त नही हुए है उस ओरसे तो यह मूर्छित है यह तो मानो मृतक कलेवर की तरह है। कैसा निमित्तनैमित्तिक भाव है। और देखो कोई कहे कि ऐसा ही होना था सो हो गया। क्यो हो गया ? अब तक हम क्यो ससारमे रुले ? अबसे पहले मोक्ष क्यो नही चले गए ? निमित्तनैमित्तिक भाव असिद्ध नही है, नही तो वैज्ञानिक प्रयोग या आपकी रोज रोजकी बनने वाली रोटियाँ ये सब बद हो जायेगी। सब लोग जानते है कि भाई इस तरहसे भोजन बनता है—आग जलाया, उसके उपर बटलोहीमे पानी चावल, दाल आदि भरकर रख दिया लो थोडी ही देरमे खिचडी पक गई, रोटियाँ बनाकर आगके पास रखकर रोटियाँ सेक लिया, इस तरहसे सब लोग रोज-रोज देखते ही हैं। हाँ वस्तुस्वरूप ऐसा है कि एक पदार्थ दूसरे पदार्थका कुछ नही करता, निमित्त उपादानभूत पदार्थकी परिणतिको नही करता, मगर निमित्तकी उपस्थितिमे यह उपादान अपनी परिणतिसे अपना परिणमन बना लेता है। विपम विकार परिणमन निमित्तके अभावमे नही होता, तब ही तो इस बारेमे बताया है कि ये विकार हटाये जा सकते है, क्योकि ये विकार अनैमित्तिक नही है, स्वाभाविक नही है। तो आत्माका गुण है ज्ञान जो कि स्व और परपदार्थका प्रतिभास करने वाला है, सो ज्ञानावरणके उदयसे ऐसा यह महत्त्वशाली ज्ञानगुण मूर्छित हो रहा। यह औदयिककी बात बतला रहे, ऐसा अनादिसे अब तक है, इसका सम्बन्ध भी है। इसमे भी परिणति तो इस जीवकी ही है, इसी तरह की ही है, मगर निमित्तके अभावमे नही है।

अर्थादौदयिकत्वेपि भावस्यास्याप्यतत्त्वतः।
ज्ञानावृत्यादिवच्छेदेऽस्मिन् कार्ये वै स्यादहेतुता ॥११०५॥

औदयिक होनेपर भी इस अज्ञानभावमें बन्धाहेतुत्व—यह अज्ञानभाव औदयिक है। है औदयिक, फिर भी यह अज्ञानभाव बधका कारण नही है। बताया था पहले कि अज्ञानका अर्थ दो प्रकारमे है एक तो उल्टा ज्ञान, विपरीत ज्ञान, कुबुद्धि और एक ज्ञानकी कमी। ज्ञान की कमी बधका कारण नहीं, किन्तु उल्टा ज्ञान बधका कारण है, सो वहाँ भी उल्टा ज्ञान बधका कारण नही, किन्तु जिस मिथ्यात्वके सद्भावसे ज्ञान उल्टा बना है वह मिथ्यात्वभाव बधका कारण है। एक दृष्टान्त है कि किसी एक बुढियाके दो बेटे थे। सो एकको दिखता था कम और एकको दिखता था खूब, मगर सब कुछ पीला-पीला ही दिखता था? वह बुढिया अपने दोनो बेटोको वैद्यके पास ले गई। वैद्यने दोनोको एक ही दवा दी। उस एक ही दवा से दोनो ही रोग खतम हो सकते थे। दवा क्या थी सफेद मोती भस्मको चाँदीके गिलासमे गायके दूधमे मिलाकर देना, बस इसी दवासे पीलिया भी दूर हो जायगा और कम दिखना भी दूर हो जायगा। सो वह बुढिया दवा ले गई। जिस बेटेको कम दिखता था, मगर सही दिखता था उसने तो दवाको देखकर पी लिया और जिसे सब कुछ पीला-पीला ही दीखता था वह बडे रोषमे आकर बोला—मां मैं ही तुझे दुश्मन मिला, मुझे पीतलके बर्तनमे, गाय के मूत्रमे यह क्या हडताल मिलाकर दे रही हो। उसे सब कुछ पीला-पीला ही दिखता था सो उसने दवा नही पिया। अब कम और सही जिसे दिखता था उसका तो रोग दूर हो गया और जिसे अधिक परन्तु पीला दिखता था, मिथ्या दिखता था उसका रोग दूर न हुआ। ज्ञानावरणका क्षयोपशम भी विशेष हो जिससे जानकारी बने, परन्तु मिथ्यात्वका सद्भाव रहे तो उस ज्ञानसे कोई लाभ नही और ज्ञानकी कमी भी है पर सम्यक्त्वका सद्भाव है तो उस अज्ञानके होनेसे भी बाधा कुछ नही। ऐसा अज्ञान भाव तो १२ वे गुणस्थान तक होता है, जहा कि समुचित कारणसमयसार पर्याय होती है, जिसके बाद ही कार्यसमयसार हो जाता है। प्रभु बन जाता है, तो अज्ञानभाव औदयिक है, तिसपर भी ज्ञानावरणादिक कर्मोके बन्ध का कारण नही है, क्यो नही और अज्ञानसे नुक्सान क्या है—इन दोनो बातोका स्पष्टीकरण करते है।

नापि सक्लेशरूपोऽय य. स्याद्बधस्य कारणम।
य क्लेशो दु'खमूर्तिः स्यात्तद्योगादस्ति क्लेशवान् ॥११०६॥

औदयिक अज्ञानभावमें क्लेशरूपता होनेपर भी संक्लेशरूपता न होनेके कारण बन्धकी अकारणता—ज्ञानावरणके उदयसे जो अज्ञानभाव होता, ज्ञानकी कमीरूप अज्ञानभाव सक्लेशरूप नही है, जैसे कि अभी दो बालकोका दृष्टान्त दिया था—जिसकी दृष्टि कम थी उसे विवाद नही उठा जिसकी दृष्टि विशेष है पर पीलिया रोगके सद्भावसे उसको विवाद उठ गए, ऐसे ही अज्ञानमे, ज्ञानकी कमीमे विसम्वाद नही, सक्लेश नही है इसी कारण बधका

कारण भी नही बनता, पर वह अज्ञानभाव भी क्लेशमूर्ति तो है ही। दुःखमूर्ति होना याने ज्ञानकी कमी होना यह जीवके लिए कष्ट है, क्लेश है, विपत्ति है और बंधका कारण सो है नही और क्लेशरूप है। क्यो क्लेशरूप है, इस बातको आगेके श्लोकमे बतायेंगे, पर यहाँ यह बात तो देखिये कैसी असमजसकी बात लगती सी है कि जो औदयिक ज्ञानकी कमीरूप परिस्थिति कर्मका बंध तो कराता नही, किन्तु क्लेशमूर्ति अवश्य है। देखो क्लेशरूप होकर भी बधका कारण नही, क्योकि सक्लेशरूप नही, क्लेश बधका कारण नही, किन्तु संक्लेश वधका कारण है। हाँ तो यह अज्ञानभाव क्लेशरूप कैसे है ? इसको स्पष्ट करते हैं।

दुःखमूर्तिश्च भावोऽयमज्ञानात्मा निसर्गत.।
वज्राघात इव ख्यात. कर्मणामुदयो यतः ॥११०७॥

यह अज्ञानरूप भाव, औदयिक अज्ञान, ज्ञानावरणके उदयसे उत्पन्न हुए ज्ञानमे कमीरूप अज्ञानभाव, यह स्वभावसे ही दुःखमूर्ति है। स्वभावके मायने उस ही अज्ञानके स्वभावसे, आत्माके स्वभावसे नही। किसी भी पदार्थको कहा जाता ना कि यह स्वभावसे ही ऐसा है याने मनुष्य स्वभावसे ही ऐसा होता तो मानो वह मनुष्य ढांचा जो बना है, जो एक पर्याय है उस पर्यायके स्वभावसे ऐसा है। तो अज्ञान औदयिक भावके स्वभावसे ही वह दुःखमूर्ति है, क्योकि कर्मोका उदय मात्र ही वज्रके आघातके समान दुःखदायी है। देखो यह सब सकेत प्रवचनसारमे मिलेगा, समयसारमे मिलेगा कि कर्मका आक्रमण ही एक कष्टमूल है। बधका कारण तो केवल मोहनीयकर्म है, परन्तु आत्माको क्लेशरूप तो सभी कर्मोका उदय है। कोई क्लेश स्वभावरूपमे नही आता, यह ही क्लेश है। कोई क्लेश वेदनमे होता है, कोई क्लेश वेदनमे नही आता, मगर जिस वस्तुका जो स्वरूप है, जो स्वभाव है उस स्वभावसे कुछ भी कमी होना, स्वभावके विकासमे कुछ भी हानि होना उस वस्तुके लिए वह आपत्ति है। क्लेश कहो, आपत्ति कहो। तो इस तरह यह बताया गया कि आठो ही कर्मोका उदय आनन्दगुण का घात करने वाला है। यद्यपि अनन्त आनन्द प्रकट हो जाता है, अरहत भगवानमे हो गया प्रकट मोहनीयका अभाव होने से और अज्ञानभावका भी विध्वस ज्ञानावरणका क्षय होनेसे हो गया प्रकट और वहां ऐसी स्थिति है, मगर आत्माकी यह पूरी निरापद दशा हो तो फिर आगे बढ़नेकी आवश्यकता उसे क्या रहेगी ? आत्माकी सर्वथा सूक्ष्मतः निरापद दशा सिद्ध दशा है, जहा आठो कर्मोका अभाव है। यह बात एक बहुत सूक्ष्म मति करनेसे स्पष्ट हो जाती है। निरापद पद व्यक्त हो जाने पर फिर आगे मंजिल नही हुआ करती। किसीकी भी मंजिल चलती ही तब है जब निरापदताकी कमी है। निरापद दशा प्राप्त होनेपर फिर आगे प्रगति, आगेकी मंजिल, आगेकी यात्रा, आगेका पौरुष नही हुआ करता। इसी बातको कुछ शंकायें उठा करके बताया जायगा।

ननु कश्चिद् गुणोऽप्यस्ति सुखं ज्ञानगुणादिवत् ।
दुःखं तद्वैकृतं पाकात्तद्विपक्षस्य कर्मणः ॥११०८॥
तत्कथं मूर्च्छितं ज्ञानं दुःखमेकान्ततो मतम् ।
सूत्रे द्रव्याश्रयाः प्रोक्ता यस्माद्वै निर्गुणा गुणाः ॥११०९॥
न ज्ञानादि गुणेषूच्चैरस्ति कश्चिद् गुणः सुखम् ।
मिथ्याभावाः कषायाश्च दुःखमित्यादयः कथम् ॥१११०॥

औदयिक अज्ञानभावके क्लेशरूपत्वके प्रतिपादनपर एक आशंका—इन तीन श्लोकोंमे एक शंकाकारने अपनी शंका जाहिर की है। शंकाकार यह कह रहा है कि अभी यह बताया गया था कि आत्मामे एक ज्ञानगुण है, सम्यक्त्वगुण भी बतलाया। ज्ञानगुणके घात पर चर्चा होते होते अज्ञानको क्लेशरूप बताया जो सुखका विपक्ष है तो क्या कोई आत्मामे सुखगुण भी होता याने आनन्दगुण भी होता क्या? हाँ होता तो है ही, पर प्रश्नरूपमे पूछा गया तो उस आनन्दगुणका ही जो विभावभाव है वहाँ दुःख है क्या? अच्छा दुःख है तो वह दुःख याने आनन्दगुणका विभाव, आनन्दगुणके विपक्ष कर्मके उदयसे होगा। फिर यहाँ यह मूर्छित ज्ञानको सर्वथा दुःख कैसे कहा गया? शंकाकार तो प्रसगकी शंका कर रहा। अभी एक शंका और हुई इससे सम्बन्धित कि क्या ८ कर्मोका ही उदय इस जीवको क्लेशरूप है, इसका समाधान भी मिलेगा? उत्तर देते हुए अभी प्रसंगमें यह चर्चा चल रही है कि जब आत्मामे आनन्द नामका गुण है और आनन्दगुणका विकार है दुःख तो आनन्द गुणका जो प्रतिपक्षी कर्म है उसके उदयसे दुःख होगा, अज्ञानसे दुःख क्यो बताया, क्योकि अज्ञान तो ज्ञानावरण कर्मके उदयसे हुआ और कोई दुःख, क्लेश यह तो आनन्दके घातक कर्मके उदयसे होगा। तो अज्ञान चाहे मूर्छित हो, ज्ञान मूर्छित बन गया, अज्ञान है, फिर भी वहाँ कष्ट कैसे कहा गया? क्योकि ज्ञानगुणमे आनन्दगुण तो मिला नही। एक गुणमे दूसरे गुण नहीं होते द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः, फिर अज्ञानभावमे उस मूर्छित स्थितिमे दुःख कैसे हो गया? एकपक्षसे यह प्रश्न पूछा। दूसरे पक्षसे यह प्रश्न होता कि यदि ज्ञानादिक गुणोमे सुख गुण नही है, आनन्दगुण नही है तो मिथ्याभाव और कषायादिक दुःख क्यो कहे जाते, क्योकि सब ज्ञानके ही तो परिणमन हैं। ज्ञान ही तो विपरीत श्रद्धान रूपसे परिणम गया, मिथ्या बन गया, ज्ञान ही तो रागद्वेषकी मुद्रा रख करके परिणम गया। लो कषाय बन गया। शंकाकारके अभिप्रायकी बात यह है कि ज्ञानगुणके समान कोई सुखगुण भी है और दुःख उसकी वैभाविक अवस्था है। यदि ऐसा है तो फिर अज्ञानभाव या मिथ्याभावको या कषायभावको दुःखरूप कह ही नही सकते। आनन्दका विकार दुःख होगा, कषाय क्यों दुःख होगा? मिथ्यात्व क्यो दुःख होगा और अज्ञान क्यो दुःख होगा? जब आत्मामे आनन्दगुण भी माना गया है तो आनन्द

गुणका विकार दुःख है और कुछ भी दुःख नही कहा जाना चाहिए। दूसरी बात—यदि ज्ञानादिक गुणोकी तरह कोई सुखगुण है ही नहीं तो फिर क्लेशकी चर्चा ही क्यों की जाती ? होने दो विकार। जैसे अचेतन पदार्थ जल जाये तो उनको क्या ? काठ पडा है, जल गया, राख हो गया तो उसे क्या ? इसी तरह आत्मामे यदि आनन्द नामका गुण नही है तो यह कुछ भी जाने, कैसा ही जाने, क्या हर्ज है ? दुःख तो इसे होना ही न चाहिए तो इसके उत्तरमे कहते है।

सत्यं चास्ति सुख जन्तोर्गुणो ज्ञानगुणादिवत्।
भवेत्तद्वैकृत दुःख हेतोः कर्माष्टकोदयात् ॥११११॥

आठों कर्मके उदयसे आनन्दगुणकी वैकृत दुःखरूपता—इस जीवमे आनन्द नामका जो गुण है, सुख नामका जो गुण है, जैसा ज्ञान है, सम्यक्त्व है, सो जब आठो कर्मका उदय है तो उसका निमित्त पाकर यह आनन्द गुण विकृत हो जाता है, दुःखरूप हो जाता है। देखो शक्तियाँ दो प्रकारसे कही जाती है—(१) सामान्यरूप, (२) विशेषरूप। आठो कर्मोमे सामान्यतया शक्ति यह है कि वह क्लेशका निमित्त बने और विशेषरूपसे जुदे-जुदे कर्मोंकी विशेष शक्तियाँ बतायी गई है कि ज्ञानावरण आत्माके ज्ञानके आवरणका निमित्त है, ऐसा ही सबके अलग-अलग काम बताये, पर एक सामान्यरूपसे देखे तो आठो कर्मोका ही उदय इस जीवके लिए कष्ट है, क्लेश है, आपत्ति है, निरापदता नहीं। निरापदता तो एक तुलनामे मानी जाती है। सम्पूर्णतया निरापद दशा तो ८ कर्मोंके नष्ट होनेपर ही मानी जाती है। तो जैसे ज्ञानगुण अनुजीवी है ऐसे ही सुखगुण भी अनुजीवी है और इस दुःखका घात करने वाले कोई अलगसे कर्म नही है। बताया तो जाता है असातावेदनीय, मगर सातावेदनीय भी अन्य दुःखका कारण है, असातावेदनीय भी दुःखका कारण है और उसके अतिरिक्त शेष ७ कर्म भी क्लेशके कारण है, पर साता और असाताका व्यापार दुःख और सुखके साधनके सम्पादनमे होता है, जिसे धवलमे बहुत विस्तारसे स्पष्ट किया गया है, जिससे रूढ़िसी हो गई कि वेदनीय कर्म सुख दुःखका कारण है। तो आठो ही कर्म आनन्दगुणके घातक है, अतएव वह सामान्य शक्ति कही गई और इस तरह यह अज्ञानभाव दुःखरूप है, यह प्रकृतमे बात समर्थित की गई।

अस्ति शक्तिश्च सर्वेषा कर्मणामुदयात्मिका।
सामान्याख्या विशेषाख्या द्वैविध्यात्तद्रसस्य च ॥११९२॥

समस्त कर्मोकी उदयात्मिक सामान्य शक्तिका विपाक है क्लेश—प्रश्न चल रहा था कि औदयिक जो अज्ञानभाव है, ज्ञानावरण कर्मके उदयसे जीवमे जो ज्ञानकी कमी है, ऐसा जो अज्ञानभाव है वह क्लेशरूप है। तो यह पूछा गया कि अज्ञानभाव क्यो क्लेशरूप है, कैसे है ? उसको किसने क्लेशरूप बनाया ? उसका निमित्त कौन है ? तो उत्तर यहाँ दिया गया था

कि आठो कर्मका उदय याने विपाक है। उसीका खुलासा कर रहे है कि कर्मोका उदय, कर्मों का विपाक, अनुभाग, उसका सामर्थ्य २ प्रकारका है—(१) सामान्यसामर्थ्य, (२) विशेष-सामर्थ्य, क्योकि ये कर्मोके रस दो ही प्रकारसे आते है—(१) सामान्य सामर्थ्यके प्रकटपनेसे और (२) विशेषसामर्थ्यके प्रकटपनेसे। जब रस दो प्रकारका है—सामान्यरस, विशेपरस, तो उनकी वात भी दो प्रकारसे बनती। अब आठो कर्मके उदयमें सामान्यशक्ति यह है कि उसका फल क्लेशरूप है और विशेष विशेपमे जुदी-जुदी बात बतायी ही गई है। ज्ञानावरण कर्मके उदयसे ज्ञान न होना, दर्शनावरणके उदयसे दर्शन न होना, वेदनीयके उदयसे इष्ट अनिष्ट वस्तु का सग सम्पादन होना और इन्द्रिय द्वारा अनुभवन होना, मोहनीयके उदयसे मोह होना, कषाय होना आदिक, आयुके उदयसे जीवको शरीरमे रुका रहना, नामकर्मके उदयसे नाना प्रकारके शरीरोकी रचनायें होना, गोत्रके उदयमें ऊँच-नीच कुलमे जन्म लेना, तो जो सामान्य शक्ति है उसका परिणाम है क्लेश। क्या है यह सामान्यशक्ति?

सामान्यतया यथा कृत्स्नकर्मणामेकलक्षणात्।
जीवस्याकुलतायाः स्याद्धेतुः पाकगतो रसः॥१११३॥

कर्मोकी सामान्यशक्तिका पाकगत रस—सभी कर्मोकी सामान्यतया शक्ति एक है और समस्त कर्मोका उदयरस जीवकी आकुलताका कारण है। सामान्यरूपसे ही सोचो—क्या किसी कर्मका उदय निराकुलताका कारण हो सकता है? बस इस सामान्यरसके वलपर यह कहा गया है कि आत्मा आठो कर्मोके उदयरससे जीवको क्लेश होता है याने जीव आठो ही कर्मोके उदयसे व्याकुल है। जहाँ ८ हैं वहा तो शंका होती ही नही, जहाँ चार रह गए, घातियाकर्म नष्ट हो गए अरहत प्रभुमे, वहाँ भी सोचना पडेगा कि अनन्त आनन्द तो वहां प्रकट है सो ठीक है, आनन्द अनुजीवी गुण है और उनको घातने वाला घातिया कर्म है, इस-लिए घातियाकर्म न रहे तो अनन्त आनन्द प्रकट हो गया, तिसपर भी जो कर्मउपाधि है वह वही तो है जो पहले व्याकुलताके साथ थी। उस तिकडमसे वे कर्म निरापदताको बताते नही है। सभी कर्मोमे सामान्यशक्ति एक है? और उस सामान्यशक्तिसे आनन्दगुणका घात होता है। विशेप शक्तिया जुदी-जुदी है। जैसा कि अभी बताया था। तो कर्मोमें सामान्य शक्तिके प्रतापसे व्यग्रता होती है, विशेष शक्तिके प्रतापसे भिन्न-भिन्न कार्य है। वे कार्य भी व्यग्रताको दूर नही करते है। अब यहा एक शका यह हो सकती कि ऐसी दो बातें कही हुआ करती हैं कि किसी एक पदार्थमे ऐसी भिन्न-भिन्न दो शक्तिया हुआ करती हो, उसीका उत्तर आगे दिया जा रहा है।

न चैतदप्रसिद्धं स्याद् दृष्टान्ताद्विपभक्षणात्।
दुःखस्य प्राणघातस्य कार्यद्वैतस्य दर्शनात्॥१११४॥

प्राणघात व दुःख इन दो कार्योंके कारणभूत विषभक्षणके दृष्टान्तपूर्वक कर्मोंके सामान्य व विशेष विकार इन दो विकृत कार्योंसे सामान्य व विशेष शक्तिकी प्रसिद्धि—हाँ ऐसा दृष्टान्त है जिससे यह सिद्ध होगा कि चीज एक है, उसके कार्य दो देखे जा रहे हैं। जैसे विषका भक्षण कर लिया किसी जीवने तो विष खानेका फल क्या है ? प्राणघात होना, मृत्यु हो जाना। मगर एक फल और भी तो देखा जाता कि वह व्यग्र होता, दुःखी होता, दुःखी हो-होकर मरता। तो जैसे विषमे दो प्रकारकी शक्तियाँ है कि मृत्यु भी होना और दुःखी भी होना, ऐसे ही और भी दृष्टान्त मिलेंगे कि पदार्थ एक है और शक्तियाँ उसमे दो तरहकी हैं तो ऐसे ही उन कर्मोमे दो प्रकारकी शक्तियाँ है—(१) सामान्यशक्ति और विशेषशक्ति। सामान्यशक्तिका फल तो व्यग्रता है और विशेषशक्तिका फल वे विशेष-विशेष बाते है। तो जैसे विष खानेसे दुःख भी होता और प्राणोका नाश भी होता, ऐसी दो शक्तियाँ है। ऐसे ही ज्ञानावरण कर्ममे दो शक्तिया है—ज्ञानका घातक होना याने ज्ञान प्रकट न हो और क्लेशरूप होना क्लेशमे, यद्यपि मुख्यता मोहकर्मकी है, ज्ञान कम है और साथ ही इच्छा लगी है जानने की, तो वहा क्लेश होता है, मगर केवल एक ही स्वतत्र कोई कारण नही है कर्मोंमे। सब परस्पर एक सामान्यशक्तिमे पडे हुए है। तो अज्ञानभाव रहता है तो उससे क्लेश भी होता है और ज्ञानकी कमी भी होती है।

सर्वपरिस्थितियोंमें जीवको ज्ञानमें ही संपत्ति आदिकी उपलब्धि—अब यह विचार करो कि जगतके जीवोमे प्रायः दो अभिलाषाये रहती हैं कि मेरेको ज्ञान खूब बढ़े और आनन्द पूरा मिले। देखो बात दो है, उनमे मुख्य बात एक है—आनन्द मिले, पर चूँकि यह जीव है, उपयोगरूप है तो इसमे महत्त्व आँकनेकी प्रकृति भी रहती है तो वह ज्ञानसे अपनी महिमा समझता है। जैसे किसी बालकसे सवाल पूछा जाय—बताओ बेटे ८ × ५ = कितने होते है ? तो जब तक उसे उत्तर नही आता तब तक बडी व्यग्रता रहती है। उसका मुख देखो तो कष्टमयी मुद्रा रहेगी और जिस कालमे उत्तर आ गया ८ × ५ = ४० होते है तो उस समय उसकी मुस्कान देख लो, उसका चेहरा देख लो कितना आनद वाला होता है ? उतना आनद वाला चेहरा तो उसे कुछ मिठाई खिलायी जाय तो भी नही आता। ज्ञानमे एक अलौकिक वस्तु होती है और देखो सारी बात अपने ज्ञानकी है। ज्ञानसे ही सुख, ज्ञानसे ही दुःख, ज्ञानसे ही संसारमे भटकना, ज्ञानसे ही मोक्षमे पहुचना। ज्ञानकी दशायें हैं जुदी-जुदी। जिस ज्ञानमे यह विकल्प आये कि मेरा यह पुत्र है, यह परिवार है, यह वैभव है, बड़ा आनद है। इस तरहकी ज्ञानमे जानकारी चले तो उसे सुख मिलता है ? जहा यह जानकारी की कि मेरा पुत्र आज्ञाकारी नही निकला, मेरे धनमे इतना टोटा पड गया है···यो कोई बात विकल्पमे आयी तो उससे वह दुःखी होता है। जहां बाहरी पदार्थोंके प्रति ममता, अहकारका भाव बना, ज्ञानमे ऐसा

विकल्प उठा कि वह ससारमे रुलने लगा। जहा ज्ञानने ऐसी जानकारी की कि मेरा स्वरूप तो एक सहज ज्ञानभाव है, बस ज्ञानस्वरूप इतनी ही मेरी विभूति है, इससे बाहर मेरी सम्पदा नही है। बाहरमे कही सम्पदा मानना यह तो गेगमे विपत्ति हुई। इसे सम्पत्ति न कहेंगे। बाहरमे कुछ भी चीज है वह तो सम्पत्ति नही कहलाती, क्योंकि चीज है, पडी है, स्वरूप है, वह खुद सम्पत्ति नही कहलाती, पर इस मनुष्यके चित्तमे जब यह विकल्प होता है कि यह अच्छी चीज है, सुखकारी है तब उसका नाम सम्पत्ति पडता है। जैसे लोग कहा करते हैं भाव, चादीका भाव कितना, सोनेका भाव कितना ? तो उनमे भाव पडा हुआ है क्या ? वे तो एक पुद्गल है, ढेर है। आज लोगोने उनमे कल्पना कर रखी है कि ये सुहावने लगते है तो उनके बारेमे लोगोके भाव बन गए कि ये बडी चीज है। तो पुरुषोके जो भीतरी भाव है, परिणाम है उनीके मायने भाव है। चादीका, सोनेका, निजका, खुदका कोई भाव नही है, वह तो एक पृथ्वीकायिक चीज है। जैसे पृथ्वी है, पर्वत है, पत्थर है ऐसे ही वे सोना चादी वगैरा भी पृथ्वीकाय हैं, उनमे खुदका कुछ भी भाव नही पड़ा है, पर लोगोने कल्पना कर ली—कम मिलता है, सुहावना लगता है और किन्ही भी कारणोसे मनुष्योके मनमे उसके प्रति भाव बना इस कारणसे उसका भाव रहना है, भाव कही सोना चादी वगैरामें कुछ नही हुआ करते, ऐसे ही जगतमे ये वैभव, धन, कागज, उनकी क्या कीमत है ? कही फस गए ऐसी जगह कि जहा मानो इन नोटोके तो ढेर लग हो, पर खानेको वहां कुछ न हो, भूख खूब लगी हो तो बताओ क्या करेंगे वे कागजके नोट ? उनसे कोई आपका पेट भरेगा क्या ? मतलब यह है कि जब इन मनुष्योको इन अजीव पदार्थोके प्रति इष्ट अनिष्ट बुद्धि जगती है, सुहावने मालूम होते है तो ये पदार्थ सम्पत्ति कहलाते है, ये स्वयं अपने आप सम्पत्ति हो, ऐसी बात नही।

ज्ञानमे ज्ञानस्वरूप शाश्वत परमार्थ संपत्तिकी उपलब्धिका महत्त्व—अच्छा तो इतनी बात तो यहा आयी कि इन बाह्यपदार्थोका महत्त्व, इनका सम्पत्तिपना तब है जब इस ज्ञानमे उनके प्रति आदर हो। अच्छा तो ज्ञानमे जो आदरभाव जगा, ज्ञानकी जो इस प्रकार परिणति बनी वह बाहरमे है या ज्ञानमे ? सम्पत्तिका ज्ञान ज्ञानमे है। और कदाचित् यह जीव अपने ज्ञानके असली स्वरूपको समझ जाय, उसकी ज्ञानदृष्टि, ज्ञातापन केवल प्रतिभासमात्र और जरा ध्यानमे आये कि उसका स्वरूप क्या है ? स्वरूप ध्यानमे आयगा कुछ निर्विकल्प स्थिति बनाने पर, बाहरी पदार्थोको असार जानकर। बाहरी पदार्थोंके विकल्प न कर एक विश्राममें रहें और उस समयमे इस जीवको अपने सहजज्ञानस्वरूपका एक लक्षण चित्तमे आया, ज्ञानमें ज्ञानरस आया, तो असली सम्पत्ति तो वह है। लोग भगवानको क्यो मानते ? यो कि उन्होने असली सम्पत्ति प्राप्त कर ली, वास्तविक सम्पत्ति परमार्थ सम्पत्ति है आत्माका पूर्ण शुद्ध स्वभाव प्रकट हो जाना, यह सम्पत्ति उन्होने प्राप्त की इसलिए प्रभु बने हैं। अब यहाँ ढग

देखो कि प्रभुके आगे, प्रभुमूर्तिके आगे विनय करें नमस्कार करें और चित्तमें यह बात करें कि समझदार तो हम है। हम इतना कमाते है, इतना सब कुछ करते है और प्रभुके स्वरूप का तो ख्याल ही नही कि इसका महत्त्व क्या है ? केवल एक लौकिक जड़ पदार्थोंकी तरह महत्त्व समझ रखा कि ये सुख दुःख दिया करते हैं, यहाँ तक ही समझ बनी है और चित्त यह कह रहा कि ठीक तो मै हू, महत्व तो मेरा है, प्रभुस्वरूपको जाना नही तो महत्त्व चित्तमे आयगा कहाँ ? तो जब ऐसा अंधकार छाया है तो इस जीवको वहाँ भी क्लेश है, जहाँ स्वरूपका सही परिचय नही वहाँ पर क्लेश ही क्लेश है।

आत्मशोधनके प्रसंगमें क्रोधविकारके विजयका चिन्तन—अब अपने आत्माको भीतर से प्रयोग विधिसे कुछ सुधारें तो, कुछ प्राप्त तो करे, कुछ देखें तो सही कि हममें शुद्धि आयी कि नही और व्यर्थ ही एक धर्मचर्चाके नामपर एक मन-मुटाव बने, दिल भी न रहे तो वह क्या बात हुई ? जैसे मानो कोई दो बालक आपसमे चर्चा कर रहे थे कि यहांके स्टेशनसे पंजाबमेल गाडी कितने बजे निकलती है, तो एक बालक तो कह रहा था १० बजे निकलती और एक कह रहा था ६ बजे निकलती है। उन दोनोमे इसी बातका एक विवाद बन गया और उसका रूपक ऐसा बना कि दोनोंमे हाथापायी भी हो गई। इतनेमे कोई तीसरा पुरुष निकला, बोला—बेटे तुम लोग क्यो आपसमे लड रहे ? तो उन्होने अपनी-अपनी बात कही। तो वह पुरुष बोला—क्या तुम लोगोको किसीको उस पजाबमेलसे कही जाना है ? तो वे बोले हमे किसीको जाना तो कही नही है। अरे जब कही जाना नही है तो फिर लड़ झगड क्यो रहे ? तो थोडा-थोडा समझ-समझकर अपने आपपर भी तो कुछ उतारते हुए जीवनमे चले। क्रोधमे कमी आयी अथवा नही। जरा परीक्षा तो करो, क्या वैसा ही क्रोध अभी है जैसा कि अभी तक चलता चला आया था और वही क्रोध मानो रहा जीवन तक तो हमने इस जीवनका लाभ क्या उठाया ? कभी कुछ चिन्तन तो बनाना चाहिए। चिन्तन ही उस विषय का न करें तो उसका प्रयोग क्या बना सकेंगे ? विचार करें, कौनसी कमी आती जो यह गुस्सा आता, दूर नही होती, सब समझमें आ जायगा। कमियोमे ही तो विपन्नता हुआ करती है। पहली कमी तो यह है कि स्वयंका यह विश्वास नही बना कि मेरा स्वरूप क्रोधरहित है, मेरे स्वरूपमे क्रोध है ही नही। वह तो एक शुद्ध स्वच्छ है, मेरा स्वरूप नहीं। क्रोध जो आया है सो क्रोध प्रकृतिके उदयमे झलका है, यह तो मुझसे अत्यन्त निराला है, मैं तो क्रोध विकाररहित स्वरूप हू। पहली प्रतीति त्रुटि तो यह है कि यह नही बनी। मुख्य बात कह रहे है जिसके कारण कितनी ही कोशिश करें तो भी क्रोध दूर न होगा। पहली बात तो यह है। दूसरी बात हम ध्यानमें बात नही लाते कि क्रोधसे कितनी ही हानियां है, इस क्रोधसे जीव का कुछ सुधार होता नहीं। लौकिक दृष्टिसे क्रोधके कारण लोग आपके शत्रु बन बैठेंगे। आप

किसीको मुहायेगा नहीं। वहाँ भी नुकसान, आगे भी नुकसान। यह बात चित्तमें जमायें तो क्रोध करनेमें कमी भी आये। बताओ क्रोधमें क्या लाभ है कि क्रोध करने समय खुदको भी जला डाला, दुःखी कर डाला और उस क्रोधकी व्यग्रता हो तो दूसरे भी दुःखी हो जाते, उस क्रोधमें लाभ क्या? जब किसी तरहका चिन्तन ही नहीं किया उस बारेमें तो प्रगति कैसे हो? तो ध्यानमें लायें, जो कषाय कम नहीं होती, क्रोध ज्योंका त्यों रहता उसका कारण क्या है? प्रथम बात क्रोधरहित आत्मस्वभावका परिचय नहीं किया। स्पष्ट उसकी प्रतीति मे नहीं है कि मै तो यह अविकारस्वभावी चैतन्यमात्र तत्त्व हूं, याने प्रतीति नहीं हुई, उस क्रोधके बारेमे सच्चा ज्ञान नहीं किया। क्रोध क्या है और पहले बाधी हुई क्रोधप्रकृतिके विपाककी झलक है, यह मेरा स्वरूप नहीं है। जैसे दर्पणमें ज्ञानका प्रवेश करते कोई सोचे कि दर्पणका स्वरूप तो फोटोरहित है, झलकरहित है, केवल अपने आपमें स्वच्छता मात्र है, स्वयं की झिलमिल वाला है। फोटो तो यह उस बाह्य पदार्थकी झलक है। इस तरह जब निर्णय नहीं बनता, यह यहा भेदविज्ञान न जगे और उस क्रोधको ही अपना स्वरूप मान बैठे तो उस क्रोधका हटाना बन कैसे सकेगा? दूसरे—उस क्रोधके बारेमें लौकिक दृष्टिसे भी चिन्तन नहीं किया कि उसके प्रयोगमे खुद भी दुःखी होवे और दूसरा भी दुःख पाये, उसको खुदको भी आफत और दूसरा भी विपत्तिमे आया।

मान माया कषायके ऊधमके विषयमे अनुचिन्तन — मान कषायमें भी बड़ी कलमपता है—बचपनमें और तरहका मान था, जवानीमे और तरहका, बूढ़े हो गए, मरणके सम्मुख हो गए, मगर मान कषाय नहीं छूटा। भले हो कभी कोई बडी प्रशंसायें करे तो वह बडो नम्रताका परिचय देगा, मगर भीतरकी जडको समझो — कोई आगे छाछ और पेश करे वह दूध तो वह अपनी नम्रता आनन्दकी मुद्रा दिखायेगा, मगर अपने आपपर क्या बीत रही है, इसपर बुद्धिपूर्वक व अबुद्धिपूर्वक सो वह सारी कलुषता पड़ी हुई है। शरीरके मानकी मुद्रायें भिन्न-भिन्न प्रकारकी हैं और धर्मके मार्गमें आकर अगर मानकी पुष्टि की जाय तो वह अनन्तानुबंधी मान है। तो जरा कषाय मंद करके और अपने स्वरूपका परिचय करते हुए थोड़ा बहुत तो आत्मामें आये। कोई आदमी दिनभर काम करके थक जाता है तो कुछ समय काम को छोडकर अपने शरीरको ढीला-ढाला जमीनपर बिछाकर, लेटकर एक विश्रामका अनुभव करता है, मगर यह पाजी भीतरके भ्रमजालमे बडे-बडे विकल्पोके श्रम कर-करके यह बहुत थक गया। विकल्पमे देखो बहुतसे दुःख होते ह। थक गया तो थकान मिटानेके लिए क्षणभर तो विकल्पोको त्यागकर निर्विकल्पस्वरूप आत्माके सहज चैतन्यस्वभावमे कुछ दृष्टि तो करे, वहा ज्ञानको तो ले जायें, कुछ क्षण ऐसी स्थिति तो बनाये, पर इसकी सुध नहीं है, माया, कषाय, छल, कपट ये कषाय कम नहीं होते, बढते ही जा रहे, ऐसे अनुभव होगे, मगर भीतर

एक आत्महितकी दृष्टिसे कुछ निगाह चलेगी, यह लीला छल कपट किसलिए कि मेरी इज्जत बढ़े, मेरेको अमुक मुकदमेमें विजय हो, यह मान माया आदि कषाय जब तक जगे तब तक धर्मका प्रवेश नही। गुजर गया बहुत समय, मगर अब तो चिन्तन करो कि यह माया चीज क्या है? यह मलिनता यह मेरे आत्माके स्वरूपमे नही। आत्माका जो परमार्थ प्राण है चैतन्य, वह तो केवल एक चैतन्यप्रकाशको लिए हुए है। वहां विकृति नही समायी हुई है। यह आत्मा स्वतंत्र है। यहां तो कर्मरस, कर्मभार, कर्मलीला, कर्मविपाककी झांकी ये सब ऐसे लदे हुए है जैसे किसी दर्पणपर बाहरी वस्तुओका प्रतिबिम्ब लदा हुआ है। ऐसे ही मुझपर कर्मरसकी झाँकी लदी पडी हुई है। यह मै नही हू। मैं तो एक सहज चैतन्यस्वभाव मात्र हू, यह दृष्टि की गई क्या? इस दृष्टिके लिए मनमे बात आती क्या? सामायिक आदिक के प्रसगमें ऐसा अपना ज्ञानोपयोग बना क्या? कुछ भी पौरुप प्रयोग नही करते तो आपकी मौज है, धर्म करते वह भी मौजमे, दूकान भी मौजमे, सब कुछ एक मौजमे करते-करते जीवन मे कोई सफलता नही मिलती। आत्मदर्शनका धुनिपूर्वक कार्य हो तो सफलता मिलती है।

लोभकषायकी विपत्तियोंसे बचनेपर विचार—लोभकषायकी बात देखो—तृष्णा करना लोभ है। जैसे-जैसे आयु बढ़ती है, धन भी बढ़ता है, सम्पत्तिवान हो गए हैं, क्या यह तृष्णाका रग कुछ कम हुआ अथवा इस तरह यह बढता ही जा रहा। तृष्णा करके किसी ने आनन्द पाया क्या, विश्राम पाया क्या? क्यो नही तृष्णा दूर हुई? उसका कारण है—तृष्णारहित मेरा स्वरूप है, ऐसा अन्दरमे देखा नही। तृष्णा विकाररहित आत्माका सहज चैतन्यस्वरूप परिचयमे आया नही। किसी भी क्षण इस तृष्णाके विकल्पसे हटकर विशुद्ध प्रतिभासमात्र स्थितिमे क्षणभर भी आये नही, और चूँकि यह स्वयं परमेश्वर है, अपनी महिमा के प्रसारमे लगता है और बात बनी नही तो बाहरी पदार्थके सम्बधसे अपनी महिमाका नाता जोड़कर बाहरी पदार्थोकी धुनमे लगा हुआ है। कभी मानो कोई बीमारी हो गई तो उसमे तो खर्च करना ही पडता। मानो और कोई आपत्ति आ गई, किसी सेलटैक्स या इन्कमटैक्स वालेने पकड लिया तो वहाँ तो खर्च करना ही पडता है। उस खर्चसे कहीं यह न समझना कि हमारा तृष्णाका रग कम हो गया। वह तो एक विषय साधनाकी बात है। परोपकारमे याने अपने आपके विषयसाधनोकी खुदगर्जीपर अपने मोहके लगावका जहां सम्बध नही किन्तु परजीवोका उपकार हो उससे सम्बध है और वहाँ खर्च हो तो समझिये कि तृष्णाका रग कम हुआ और फिर यह बात तो खुदकी खुद हर एक कोई समझता है। इस तृष्णासे कुछ लाभ नही, जीवन बेकार चला जायगा। बाह्यपदार्थोको भिन्न समझकर उनसे उपेक्षा रखते हुए आत्माकी जो निजकी एक विशुद्ध चैतन्य सम्पदा है उस विकासकी ओर अपनी धुन जानी चाहिए। मोह रागद्वेष ये हो भाव जीवके लिए दुखकारी है। ये भाव हमारे मिटे, वह प्रयत्न

करे तो इस जीवन का लाभ है, अन्यथा जो कुछ मिला है रहना कुछ नही है, मिट जाने वाला है। पर इन ्रमार मिट जाने वाली चीजोके पीछे अपनेमे जो विकार बनाये गए उनका फल आगे भोगना पड़ेगा। तो ये सब बातें एव अज्ञानकी ही तो है। उसके साथ मिथ्यात्व और बसा हुआ है। तो उन दोनो अज्ञानोमे एक उल्टी बुद्धि, एक ज्ञानकी कमी, ऐसे अज्ञानभाव दो हैं। सो उल्टी बुद्धिरूप अज्ञानमें मिथ्यात्वके सम्बन्धसे बध भी होता और क्लेश भी बसे है। ज्ञानकी कमी होना रूप अज्ञान दु खरूप है, वहां गुणस्थानोके हिसाबसे बन्धव्यवस्था है, औदयिक अज्ञानके कारण बध नहीं है। हम आपको अपने जीवनका कुछ प्रोग्राम बनाना चाहिए। बाहरमे जो दौड लगा रहे है वह दौड मिटाकर भीतरमे अपने सहजस्वरूपका दर्शन कैसे हो, अनुभव कैसे हो, केवल स्वभावमात्र मेरे ज्ञानमें रहे, ऐसी स्थिति जैसे बने, उसका प्रयत्न करे। वह प्रयत्न स्वाध्याय सत्सगके बिना नही बन सकता। इसलिए अपने जीवनके शेष क्षणोमे स्वाध्याय और सत्सग चले तो सर्वस्व समर्पण करते हुए अपने मार्गको प्रशस्त बनाये।

कर्माष्टक विपक्षि स्यात् सुखस्यैकगुणस्य च।
अस्ति किञ्चिन्न कर्मैक तद्विपक्ष ततः पृथक् ॥१११५॥

आनन्द गुणके घातके लिये कर्माष्टककी विपक्षिता—औदयिक अज्ञानभावकी चर्चा चल रही है। ज्ञानावरण कर्मके उदयसे आत्माके ज्ञानमे जो कमी रहती है ऐसा अज्ञानभाव औदयिक भाव है। उस चर्चाके प्रसगमे यह भी कहा गया था कि यह औदयिक अज्ञानभाव क्लेशमूर्ति है, फिर भी कर्मबन्धका कारण नही है, क्योंकि अज्ञानभाव ज्ञानकी कमी रूप है, ज्ञानकी विपरीततारूप अज्ञान कर्मबन्धका हेतु होता है। तो सक्लेश परिणाम न होनेके कारण अज्ञानभाव स्वय सक्लेशरूप नही है। वह तो ज्ञानकी हीनता है इसलिए बधका कारण तो नही है। किन्तु स्वय क्लेशरूप है और इस आश्चर्यके साथ स्पष्ट किया गया कि क्लेशरूप होकर भी औदयिक अज्ञान कर्मबधका कारण नही, कर्मबधका कारण संक्लेश है, क्लेश नही। उसी प्रसगमे शंका की गई कि फिर वह सुख गुण क्या है? सुख कहो, आनन्द कहो। बहुत बढिया शब्द तो आनन्द है लेकिन रूढ़ि है इसलिए सुखगुण नामकी चर्चा है। शब्दार्थकी दृष्टिसे सुख गुण नही कहलाता किन्तु वह तो आनन्दगुणका विकार है। सु मायने सुहावना, ख मायने इन्द्रिय, जो इन्द्रियको सुहावना लगे उसे सुख कहते है। क्या इन्द्रियको सुहावना लगना यह गुण है? वह तो विकार है। और आनन्द कहते है आ समन्तात् नन्दन आनन्दः चारो ओरमें आत्मसमृद्धि होना इसे कहते है आनन्द, यह स्वभावसे सम्बध रखता है। तो आनन्दगुणका विकार है सुख और दु ख। तो उस सुखके बारेमे चर्चा चल रही है कि उस आनन्दगुणका घात करने वाला कौन है, विपक्ष कौन है? अब तक प्रायः ऐसा मानते चले

आये कि आनन्दगुणका घात वेदनीयकर्म करते है, लेकिन यह बात तथ्यकी है कि वेदनीयकर्म का प्रयोजन तो इन्द्रिय द्वारा अनुभवन बना लेना और इष्ट अनिष्ट सामग्रीका लाभ होना है। आनन्दगुणका घात तो आठों ही कर्म करते है। तो आनन्दगुणके घातक आठों ही कर्म है, एक कोई कर्म आनन्दगुणका घात नहीं करता। इस विषयमें पहले स्पष्ट किया गया था कि कर्ममें दो प्रकारकी शक्तियाँ होती है—(१) सामान्यशक्ति और (२) विशेषशक्ति। सामान्य-शक्ति तो आनन्दगुणका घात करनेका प्रयोजक है और विशेष शक्ति जुदी-जुदी बातोके करनेमें प्रयोजन है। जैसे ज्ञानावरणका उदय ज्ञान न होनेका प्रयोजक है, दर्शनावरणका उदय दर्शन का घातक है, वेदनीयका उदय इन्द्रियों द्वारा अनुभव करानेका प्रयोजक है। मोहनीयका उदय मिथ्यात्व अथवा कषायभाव आनेका प्रयोजक है और आयुकर्म एक शरीरमे अवस्थित रखता है। नामकर्मके उदयसे शरीररचना होती है। गोत्रके उदयमे उच्च कुल नीच कुलमे जन्म होता, अन्तरायके उदयके विघ्न होना, ये तो हैं अष्टकर्मोकी विशेष शक्तियां, मगर सामान्य-शक्तिका यह ही परिणाम है कि आत्माके आनन्दगुणका घात होना, तब एक आशका होती कि वेदनीय कर्मको आनन्दगुणका विपक्षी क्यों नही कहा जाता ? उसके उत्तरमे कहते है—

वेदनीयं हि कर्मैकमस्ति चेत्तद्विपक्षि च ।
न यतोऽस्यास्त्यघातित्व प्रसिद्ध परमागमात् ॥१११६॥

अघातिया कर्म होनेसे वेदनीयकर्ममें आनन्दगुणकी घातकताकी असिद्धि तथा घातिया कर्मोमें व कर्माष्टकमें आनन्दगुणकी घातकताकी सिद्धि—आनन्दगुण है जीवका अनुजीवी गुण, जैसे ज्ञानगुण, दर्शनगुण, सम्यक्त्वगुण, चारित्रगुण, उसी प्रकार एक आनन्दशक्ति है, यह अनादि अनन्त एक अनुजीवी गुण है और वेदनीयकर्म है अघातिया कर्म, तो अघातिया कर्म अनुजीवी गुणोका घात नही करता, क्योंकि अनुजीवी गुणोका घात करना घातियाकर्मका ही काम बताया गया है। घातिया कहते ही उसे है जो आत्माके गुणोंका घात करे। देखिये—उपचार भाषामे सब समझते जाना, यह सब निमित्तनैमित्तिककी बात है और कहा जाता है उपचार भाषामे। वहाँ हर जगह अर्थ यह रखना कि इस कर्मका उदय होनेपर उसका निमित्तमात्र पाकर यह जीव अपनेमे इस-इस प्रकारका ज्ञानविकल्प बनाता है, पर इतना एक लम्बी भाषासे वार्ताव्यवहार सुगम नही। अतः उस बातको जल्दी बोलनेका तरीका उपचार-भाषा है। उपचारभाषाका कोई ही विरला अज्ञानी मूर्ख होगा जो उपादानदृष्टिसे अर्थ लेता हो। उपचार भाषामे उपादान दृष्टिसे अर्थ लेना मिथ्यापन है, पर जो प्रयोजन है उसको जताने की बात तो वह करता ही है। जैसे कहा—घी का डिब्बा उठा लावो, अब कोई भी बालक, कोई भी स्त्री, कोई भी पुरुष ऐसी मूर्खता नही करता कि जैसे मिट्टीमे बना हुआ घडा होता है, टीनका बना हुआ डिब्बा होता है, ऐसे ही घी से बना हुआ एक डिब्बा है, ऐसी कुबुद्धि किसी

ो मनमे नही आती, और काम रोज-रोज होते है । रोज ही कहते है कि घी का डिब्बा उठा लावो, और रोज वह अन्य डिब्बा न लाकर घीका ही लाता है । तो वहां प्रयोजन यह है कि जिस डिब्बेमे घी रखा है वह डिब्बा लावो । तो प्रयोजनके लिए उपचारभाषा होती है । कही उपचारभाषाका उपादान रूपमे अर्थ नही होता है और जितना कोई समझता है तो उपचार-भाषा बोलते जानेमे सुगमता रहती है । उपचारभाषा विना गुजारा भी नही होता । जैसे—किसीने कहा कि मेरे सिरदर्द है, अब उसके क्या सिर है ? और जब उसके सिर नही है, मैं आत्मा तो शरीरसे निराला हू, मेरे सिर कहाँ, फिर सिरदर्दकी बात क्या ? तो फिर कैसे कहे ? कहे इस तरह कि इस आत्माके एक क्षेत्रावगाहमे बँधा हुआ जो यह शरीर है इस शरीरका जो नशाजाल है उस नशाजालमे जो खूनका सचरण है वह एक ऐसे अपच भोजन का सन्निधान पाकर, निमित्त पाकर, उसका पचाव ठीक न होनेके कारण उस नशाजालमे खून की गति तेज मद हो गई है और उसका आश्रय करके मैं वेदना मान रहा हू 'इतनी लम्बी भाषा क्या डाक्टरसे आप बोलेंगे ? अरे उपचारभाषा है वह इसी तरह बोली जायगी, लोक-व्यवहार इसी तरह है और समझने वाले सब यथार्थ समझते है । कोई उपादानसे अर्थ समझे, ऐसा तो विरला ही मूर्ख होता है । तो जितनी भी बातें चलती है, वे उपचारभाषामे चलती हैं, पर उसका अर्थ सब सही जानते है कि यहाँ निमित्तनैमित्तिक भाव है इसलिए यह उपचार-भाषा बोली गई है ।

परिणतिस्वातन्त्र्य और उपाधिके अभावमे विकारकी अनुपपत्ति—जगतमे जितने भी पदार्थ है, सभी अपना-अपना स्वतन्त्र-स्वतन्त्र अस्तित्व रखते है, तो किसीका भी अस्तित्व किसी दूसरेकी कृपापर नहीं है और इसी कारण वस्तुमे जो उत्पादव्ययध्रौव्य है, परिणमन है वह परिणति भी किसी दूसरेकी कृपाके कारण नही है । अर्थात् वस्तुका बदलना परिणमना यह वस्तुके स्वभावसे ही है । अगर निरपेक्ष हो वह पदार्थ तो स्वभावरूप परिणमन करे और पर-उपाधिका सन्निधान हो तो उस कालमे यह विकाररूप परिणमन करे । विकाररूप परिणम रहा है यह खुद ही एक अकेलेसे अर्थात् यह परिणमन दोका मिलकर नही है कि कर्म और जीव दोका मिलकर यह परिणमन हुआ । अज्ञान है अथवा कषाय है कोईसा भी विकारपरिण-मन दो पदार्थोंका एक नही हुआ करता, किन्तु यह अकाट्य विषय है कि किसी जीवमे विकार होगा तो निमित्तके अभावमे नही हो सकता । निमित्तके सद्भावमे ही विकार होगा अन्यथा विकार हो ही नही सकता । अगर निमित्तके अभावमे विकार होने लगे तो विकार स्वभाव बनेगा और वह विकार फिर कभी हट नही सकता । तो आप एक ज्ञान सही बना सकते है कि कर्ताकर्मबुद्धिका प्रवेश नही हो कि एक पदार्थ दूसरे पदार्थका कर्ता है, और विकारमे कभी यह कल्पना नही हो कि विकारोंको निरपेक्षतया यह जीव ही स्वभावसे करता रहता है, क्योंकि दोनो ही बातें माननेमे इस जीवको स्वभावदृष्टिका मौका नही मिल सकता ।

समस्त आगमोपदेशोंका प्रयोजन स्वभावदृष्टिका पौरुष—आगममे जितना उपदेश है उस सबका प्रयोजन है स्वभावदृष्टि करना, क्योंकि जीवका शरण स्वभावके अवलम्बन बिना अन्य कुछ नही है। यह स्वभावकी सुध छोडकर बाहरमे यत्र-तत्र भटकता है, उपयोग फंसाता है, इससे यह जीव इस समयमे भी बेचैन है और ऐसा ही कर्मबन्ध होता है कि जिसके विपाककालमे भविष्यमे भी यह बेचैन होगा। स्वभावावलम्बन ही इस जीवका शरण है, अन्य कुछ शरण नही, मगर स्वभावावलम्बन बने कैसे ? सम्यग्ज्ञानसे बनेगा, सही-सही ज्ञान करनेसे बनेगा। यदि कर्ता कर्मभावकी बुद्धि लाये कि देखो इस कर्मने ही जीवको रागी बनाया है तो अब कर्ममें स्वतंत्रता है। जब तक यह कर्म रागी बनाये तब तक बनाये, जब न बनाये तो न बनाये। तो इस कल्पनामे आत्माको कौनसा लाभ मिलेगा ? यदि यह बात हो तो क्यों न बनायेंगे ये कर्म राग ? कौन अपने कुलकी हानि करता है ? कर्म रागी करता है तो सदा करेगा, फिर जीवका राग हटेगा कैसे ? तो कर्ताकर्मबुद्धि माननेसे स्वभावदृष्टिका कोई मौका नही मिलता। ये कर्म राग कर रहे है, ऐसी कल्पनाये उसमे परतत्रताकी ऐसी बुद्धि आयी कि इसमे अपना कुछ अपराध ही नही सोचा गया। जब यह जीव रागी नही होता, कर्म ही रागी होता या करता, कर्म अपनी परिणतिसे ही रागी बनाता तो अब इस जीवको मोक्षकी आवश्यकता ही क्या रही ? इस कारण कर्ताकर्मबुद्धिकी कल्पनामे इस जीवको सन्मार्ग न मिलेगा और यदि ऐसी बुद्धि जग जाय कि निमित्तसे क्या मतलब ? निमित्त हो चाहे न हो, यह तो जीवका परिणाम है। अपने आप होता है योग्यतासे, अपने समयमे होता चला जाता, इसमे निमित्त वस्तु कोई बात ही नही, हो तो क्या, न हो तो क्या ? तो वहाँ फिर यह विकारस्वभाव बन गया, क्योकि जिस काममे स्वय ही निमित्त हो, स्वयं ही उपादान हो, स्वय ही सर्वस्व हो अन्तर्बाह्य दृष्टिसे तो वह स्वभाव ही कहलायगा, विकार न कहलायगा। वहाँ फिर स्वभावदृष्टिका अवसर कहाँ मिलता ? तब यह निरखें कि जीव तो सहज ज्ञान-ज्योतिमात्र है, अपने आपकी स्वच्छता मात्र है, मेरा स्वरूप विकार नही है, मगर पूर्वकृत कर्म जो अपने अनुभागमे थे उनकी स्थिति पूरी हुई या बीचमे लगाई गई उदीरणा बनकर तो उस समय उसमे विपाक फूटा, उस विपाकका प्रतिफलन हुआ इस उपयोगमे। चूकि यह स्वय झिलमिल है तो यहाँ फोटो आ जाती है। तो यहाँ उस कर्मका प्रतिफलन हुआ बस उसमें यह जीव लगा, आकर्षित हुआ, उस रूप मानने लगा और उस क्रियामे, उस काममे, उस रूपमे अपने आपको जोडने लगा। यो जीवका संसार बना। जब यह ज्ञान हुआ कि ये नैमित्तिक भाव है, परभाव है, मेरे स्वरूप नही है, हेय है। यहाँ तो मैं केवल एक चैतन्यस्वरूप मात्र हू। तो स्वभावदृष्टिका मौका मिलेगा निमित्तनैमित्तिक भावके यथार्थ परिचयमे। निमित्तनैमित्तिकका परिचय कर्ताकर्म बुद्धि बनानेके लिए नही हुआ करता, किन्तु विभावसे

हटकर स्वभावमे लगनेके लिए हुआ करता यह परिचय ।

स्वभावदृष्टिके लिये निमित्तनैमित्तिक भावके परिचयका महत्त्वपूर्ण योग—निमित्त-नैमित्तिक भावके यथार्थ परिचयसे स्वभावदृष्टि होना बहुत सुगम है, इसी कारण समयसारमे बधाधिकारमे बडे विस्तारमे इसकी चर्चा हुई । ये कर्मके उदयमे उत्पन्न हुए भाव है, विभाव है, ये मैं नही हू । पर हे जीव ! तू क्यों ऐसा अध्यवसान बनाता कि मैं इनको सुखी करता हू, अरे उन जीवोके कर्मोदयसे सुख होता है, तेरे सोचनेमे नही होता । मै इनको दु खी कर दूं, ऐसा अध्यवसान तू क्यो बनाता है ? जो भी दु खी होता है वह अपने अध्यवसानसे दु खी होता है । देखिये उपचार भाषाका अर्थ सर्वत्र निमित्तनैमित्तिक भाव मानना, उपादान उपादेय नही न मानना उपचार भाषामे । तो जब यह ज्ञान होता है कि यह जो कषायोका भार लगा है उसमे दु.खी तो हो रहे, कषायें कर रहे, धर्मके नामपर भी कषाय ही तो जग रही है कि मै ऐसा समझदार हू, जानकार हू, मैं अच्छा हू, ये लोग कुछ नही जानते, मैं इन सबसे बडा हू, मै ज्ञानी हू, दूसरे तो अज्ञानी है जब एक दृष्टि बदल जाती है तो उस उस तरहसे नजर आता है और जब दृष्टि सही हो जाती है तो उस सही रूपसे नजर आतो है । यह तो एक दृष्टिके आधारपर ही बात है । तो ये औदयिक भाव इस जीवपर इतना हावी पडे हुए है कि यह बेचैन रहता है, स्वभावमे लिप्त नही हो पाता । उसका कारण यह है कि सही परिचय प्राप्त नही हो पाता । मैं अविकार हू, निर्लेप हूं, निरञ्जन हू, अपने आप अपने सहज स्वरूपसे मैं क्या हू, यह बात चित्तमे आनी चाहिए और यह बात चित्तमे तब आ सकती जब यह बोध हो कि जो कषाय रग उबल रहे है, इस पर जो विभाव रग चढ रहे हैं, ये इस जीवके कुछ नही है । यह तो कर्मविपाककी झलक है । इससे मेरेको क्या ? मैं तो इससे हटकर अपने स्वभावमे ही रहूगा, ऐसी उसके प्रेरणा जगती है ।

जीवके अनुजीवी आनन्दगुणके घातकी किसी अघातिया कर्म द्वारा अशक्यता—हाँ ! तो यहां औदयिक भावोंकी चर्चामे एक यह चर्चा उठी थी कि अज्ञान क्लेशमय है, क्लेशसे मानो आनन्द विपक्ष तो इस क्लेशको करता कौन है निमित्त दृष्टिसे ? कौनसा कर्म आनन्द गुणका विपक्षी है ? तो उत्तर दिया कि आठो ही कर्म विपक्षी हैं । तो कहा कि हमने तो ऐसा सुन रखा है कि वेदनीयकर्मसे सुखका घात होता है, उसका उत्तर इस श्लोकमे दिया जा रहा है कि वेदनीयकर्म है अघाती और अघाती कर्म जीवके गुणघातका निमित्त नही हुआ करता । जैसे शरीर नामकर्मके उदयमे शरीररचना तो हुई, मगर जीवके गुणका घात नामकर्मके उदयमे नही हुआ करता, मगर यह शरीररचना एक आफतसी है जिसका आश्रय करके यह जीव दुःखी होता है । तो क्लेशरूप नामकर्म भी हो गया, गोत्र नामकर्म—ऊँच नीच कुलमें सन्तानमें जन्म हो गया, इसमे आत्माके गुणका घात कहाँ किया लेकिन यह ही ऊँचे नीचे भाव बना

कर बडे-बडे विकल्प मचाता, अपनेको ऊँचा माना तो वहां भी क्लेश, नीच माना वहां भी क्लेश तो यो कर्मविपाक क्लेश ही तो हुआ और आठो कर्मसे आनन्दका विरोध रहा।

सम्यक्चारित्रकी प्रकट धर्मरूपता—जहाँ अभिमान है स्वरूपकी सुध छोडकर अपने विभावसे प्यार जगा है वहाँ तो मिथ्यात्वभाव है और वह नियमसे दुःख है। मिथ्यात्वकी एक ही परिभाषा है मूलमे कि पर्यायमे आत्मस्वरूपकी बुद्धि होना। अब शरीरमें आत्मबुद्धि होना वह तो स्पष्ट मिथ्यादर्शन है ही। अपने प्रकट ज्ञानमे जो कि एक क्षायोपशमिक है. अपूर्ण है उसमे यह बुद्धि होना कि यही मै हू वह भी मिथ्यादर्शन है, अपने रागादिक भावोमे प्रीति-रूप परिणाममें आत्मबुद्धि होना, यह मै हू, वह मिथ्यादर्शन है। भला बतलावो ११ अंग ६ पूर्वके पाठी जो कि अब पंचमकालमे हो ही न सकेंगे इतना बडा विशेष ज्ञान जिसमे आत्म-प्रवादपूर्व, ज्ञानप्रवाद पूर्व, जिसमे पूर्ण निष्णात होता है ऐसे बडे-बडे साधु तपस्वी ज्ञानी जनो के भी मिथ्यात्वका अश सम्भव है तो आप यहाँ कहाँ निर्णय बनायेंगे, कैसे बनायेंगे कि यह सम्यग्दृष्टि है तब ही तो इस जगतमें पूज्यताकी प्रवृत्ति चारित्रसे मानी गई है, मात्र सम्यक्त्व से पूज्यता की प्रवृत्ति नही कही गई। यद्यपि सम्यग्दर्शन पूज्य है, किन्तु अविरत सम्यग्दृष्टि पूजार्ह नही, साधु ही पूजार्ह है। नारकी जीव भी सम्यग्दृष्टि होते और नारकियोको फोटो भी रचित होती है, उसमें कौन यह बुद्धि करता है कि सम्यक्त्व इनके भी सम्भव है इसलिए ये मेरे द्वारा पूज्य हैं। बैल, घोडा, पशुओंके भी जो चलते फिरते रहते है, क्या आप यह निर्णय रख सकते कि इम बैलके सम्यक्त्व नही है? निर्णयकी बात नियमित है, प्रायः की बात अलग है। सम्यग्दर्शन सम्भव है, मगर कौन उनको अर्घ्य देता कि इन्हे सम्यग्दर्शन है इसलिए ये मेरे पूजाके योग्य है? सम्यग्दर्शन बिना चारित्र नही होता। सम्यग्दर्शन धर्मका मूल है, मगर प्रवृत्तिमे मात्र सम्यग्दर्शनसे पूज्यताका भाव नही चलता, किन्तु चारित्रसे पूज्यता का भाव चलता है। फिर चारित्र क्या है? जो अपना स्वरूप समझ लिया। अपने आपके स्वरूपका परिचय बने, बस उस स्वरूपमे नियमित होना, उस स्वरूपमे सयत होना, उसमें रमना, मग्न होना यह कहलाता है चारित्र। और जब तक ऐसी स्वरूपमग्नता पूर्ण नही होती है तब तक लक्ष्य इस ज्ञानीका रहता है संयमका और सयमको ओर ही इसकी चटा-पटी रहती है, उस सयमका ही उसके ध्यान रहता है, लेकिन रही पूज्यताकी बात, तो जब चारित्रमोहका तीव्र उदय होता है तो यह जीव स्वरूपमे मग्न नही हो पाता। उस कालमे इतना तो वह करता ही है कि ऐसी मन, वचन, कायकी प्रवृत्ति करें जिसमे कि हम स्वरूप रमणके पात्र तो रह आये, अपात्र तो न बन जायें। जैसे व्यसन सेवन करना, पापसेवन करना, अन्यायकी प्रवृत्ति करना, ऐसी पापकी परिणति करेगा। कोई तो वह स्वरूपरमणका अपात्र तो है हो, ता वह स्वरूपदृष्टिका भी अपात्र हो जायगा। कोई पुरुष प्रभुदर्शन कर रहा,

वहां प्रभुके स्वरूपको निरख रहा है तो प्रवृत्ति तो उसकी पुण्यरूप है, मगर वहां स्वरूपरमण का पात्र तो है। किसी भी क्षण उस विकल्पसे हटकर अपने स्वरूपमे रम सकता है। इसी कारणसे अपने आपपर दया करना, अपने आपको कैसे शान्तिका मार्ग मिले, स्वभावदृष्टि हमारी अधिकतर कैसे बनी रहे, मेरे ज्ञानमे मेरा वह अविकार स्वरूप बसा रहे जिस स्थितिके कारण विकल्प बाधायें दूर होती है, भव-भवके बांधे हुए कर्म कटते है, वर्तमानमे बडी शान्ति का अनुभव होता है। अपना एक ही लक्ष्य रहे, दूसरी बात चित्तमे मत लावें और जब एक लक्ष्य बन गया कि मुझे तो स्वरूपदृष्टि रखना है मैं अपने आपको निगाहमे दृष्टिमे चैतन्य-स्वरूप मात्र हू, ऐसी बात बनी रहे मुझमे, बस यह ही मेरा एक काम है, दूसरा काम नही, इसीमे मेरा जीवन लगेगा, दूसरी बातमे मेरा जीवन न लगेगा। ऐसा जिसका एक दृढ निर्णय होगा वह फिर हर एक बातमे यह ही निष्कर्ष निकालेगा।

प्रथमानुयोगके कथनोमें भी स्वरूपदृष्टिकी प्रयोजकता—आगममे सभी प्रकारसे वर्णन है। प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग, द्रव्यानुयोगके सभीके वर्णन स्वरूपोपलब्धिके प्रयोजक है। प्रथमानुयोगमे कथाओंके रूपमे वर्णन है तो वहाँ पर भी स्वरूपदृष्टि जैसे हो उस प्रकारसे ज्ञानी सब पाठ सुनेगा, अर्थ लगायेगा। कही पापकी बात आयी हो, पापका फल बताया जा रहा हो तो वहाँ यह देखेगा कि स्वरूपदृष्टिसे अलग हो गया, इस कारणसे यह दुःखी हुआ। वहा यह निगाह लायगा। कोई साधु मुनि हुआ है, यह चर्या पालेगा, इस वार्ता से यह दृष्टि जगेगी कि स्वरूपदृष्टिका इसको आलम्बन मिला है, स्वरूपदृष्टिकी धुन जगी है इसलिए देखो सर्वस्व त्याग दिया। किसीका यह विकल्प नही कर रहा और अपने स्वरूपको निरखकर उसमे ही रम रहा, यों वह सब कथन करेगा, निमित्तनैमित्तिकका परिचय करेगा। अहा यह स्वभाव तो निर्लेप निरञ्जन अपने आपमे विशुद्ध स्वभाव रखता हुआ है। स्वरूप तो यह है, मगर कर्मविपाक ऐसा छाया है कि ये सब घटनाये घट रही है और उसमे यह जीव इसका निमित्तमात्र पाकर अपने आपकी ऐसी उल्टी परिणतिमे चल उठा है, वहा भी स्वभावदृष्टिका ही प्रयोजन लेगा। कोई सा भी कथन लो सबका प्रयोजन स्वभावदृष्टिका पौरुष सिद्ध करना है।

अशुद्धनिश्चयनयके कथनमे स्वभावदृष्टिकी प्रयोजकता—कभी अशुद्ध निश्चयनयका कथन सुनें कि यह जीव रागी होता है, अपनी करणशक्तिसे रागी हो रहा, अपने लिए रागी हो रहा, अपनी रागपर्यायसे रागमे आ रहा, इसका आधार यह जीव स्वय है। अशुद्ध निश्च-यनयसे जब जीवको देखा जा रहा है कि यह रागी बन रहा, अपने आपसे बन रहा, अपने आपमे बन रहा, अपने लिए बन रहा, उस कालमे यह जो राग पर्याय उठी है सो यह राग पर्याय इस आत्माके पराश्रितताके विकल्प वाले उपयोगसे उठी है। यह राग पर्याय वहां ही-

तो उठती है जहाँ चैतन्य स्वरूप होता है। जैसे किसी कमरेमे खिड़कीमे से खूब तेज उजेला दिख रहा है रात्रिके समय, मगर वल्ब नही दिखता तो यह ध्यानमे आयेगा कि इस कमरेमे बल्ब जल रहा। अरे तुमने वह बल्ब देखा कहाँ ? तुमको तो उजेला दिख रहा। उजेला भी किसीको नही दिखता, ये चारपाई, चौकी, कुर्सी मेज आदि चीजें दिख रही, तो उन पदार्थों का दिख जाना इस बातका निर्णायक है, निश्चायक है कि यहाँ बल्ब जल रहा। ऐसे ही रागभाव यहाँ चल रहा, उठ रहा, यह रागभाव इस बातका निश्चायक है कि यहाँ चैतन्य-स्वरूप तत्त्व है, उसके बिना इस तरहका ज्ञान विकल्प जगता कहा है अचेतन पदार्थमे ? वहा भी वह स्वरूप दृष्टिकी ही बात सोच रहा है अशुद्ध निश्चयकी दृष्टिसे।

शुद्ध निश्चयनय आदिके कथनोंमें भी स्वभावदृष्टिकी प्रयोजकता—शुद्ध निश्चयकी दृष्टि से भी ज्ञानी स्वभावदृष्टि करता जब जाना कि वे प्रभु केवलज्ञानी, अपने ही करणसे ज्ञानी है, आत्मामे ज्ञानी है, अपने ही अपादानसे अपने ही सम्प्रदानके लिए ये ज्ञानी है, कर्ता कर्म आदिक षट्कारकको ही एक विशुद्ध पर्यायमे लगाया है, यह ही तो शुद्ध निश्चयनयका विषय है। वहां यह निरख रहा है कि अहो यह जो पर्याय प्रकट है केवलज्ञान या अन्य कुछ, तो यह पर्याय कैसा स्वभावके अनुरूप है ? यह ही तो स्वभाव है जिसका दर्शन इस पर्याय रूपमे हो रहा है, वह शुद्ध निश्चयका वर्णन सुनेगा तो उसका भी वह अर्थ इसी तरह लगायगा कि जिसमें स्वभावदृष्टि जगती हो और जब शुद्ध नयका प्रयोग करेगा तो उसमे वह साक्षात् स्वभावदर्शनके निकट आयगा। स्वभावदर्शनमे तो शुद्ध नयका भी विकल्प नही है। वहा तो अनुभूति है, मगर शुद्धनय इतना निकट ले गया स्वभावके कि वह भी निर्विकल्प जैसी स्थिति है और त्वरित ही वह स्वभावानुभवमे आ जाता है। तो एक पद्धति तो यह बनी कि हम जो भी सुनें—प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग, द्रव्यानुयोग, उसको इस विधिसे सुनना है कि स्वभावदृष्टिके लिए यह उपदेश है और इसमे हमको स्वभावदृष्टि किस तरहसे मिलती है, यह तो अपना भीतरी काम है और व्यवहारमें इस तरहकी प्रवृत्ति रखें कि जो सदाचारसे रहे उनमे आदर बुद्धि करें, अपने सदाचारके लिए भीतरसे भावना जगावें, क्योंकि व्यवहार तो आचरणके बलपर है और भीतरमे रमण यह सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र के बल पर है। जब बाहरमे अनेक प्रवृत्तियां करते तो उनमे दसो काम खोटे करते, अन्याय करते, झूठे लेख लिखते, दूसरोको दगा देते और और भी अनेक काम करते। ऐसी स्थिति है गृहस्थकी, करे क्या, वह परिस्थिति ही ऐसी चल रही है। तो ऐसी स्थितिमें रहते हुए सदाचार के प्रति आदरभाव होना यह एक उसके लिए प्रगतिका साधन है। जहाँ इतना राग है कि गृहस्थीके अटपट काम ऐसे व्यवहार छूट सकते नही, घर है, ऐसे काम करने होते और और

भी जो बातें है वे चलती है वहा साधु सतोको देखकर नम्रता न जगे, ऐसे मे जरा अपने आप की भलाई भी नही है, इसलिए व्यवहारकी जगह पवित्रता लावे और उस पवित्रतामे जो कुछ प्रणाली हो परस्परमे वैसी प्रवृत्ति लावें, वह व्यवहारकी बात है। भीतरमे तो निर्विकल्प होना है, स्वभावदृष्टि करना है, उसका लक्ष्य तो छोडना नही। तो ऐसे आगममे जितने भी उपदेश है उनको अपने आपकी स्वभाव दृष्टिके लिये घटित करें।

असंयतत्वमस्यास्ति भावोऽप्यौदयिको यतः।
पाकाच्चारित्रमोहस्य कर्मणो लब्धजन्मवान् ॥१११७॥

चारित्रमोहके उदयसे उपपन्न असंयम भावकी औदयिकता—यहाँ इस प्रसंगमें औदयिक भावोका वर्णन किया जा रहा है, असयत नामका भी औदयिक भाव है और वह चारित्रमोहनीय कर्मके उदयसे उत्पन्न होता है। देखो जैसे दर्पणमे इस तरह दृष्टि रखने पर यह जो छाया आयी है, प्रतिबिम्ब हुआ है दर्पणमे, यह औदयिक है, नैमित्तिक है, औपाधिक है, बाहरी वस्तुका सन्निधान पाकर हुआ है ऐसा निरखनेमे भीतरमे दर्पणकी स्वच्छताके प्रति आदर छिपा हुआ है। उसकी दृष्टिमे है कि दर्पण तो अपने आप औपाधिक प्रतिबिम्बरहित अपने ही शुद्ध झिलमिल वाला है, यह उसकी दृष्टिमें है तब ही वह औपाधिक निरख रहा है, ऐसे ही जिसको अपनी दृष्टिमे स्वभाव सहज निरपेक्ष बसा हुआ है वह सबका सही निर्णय पाता है। आत्माका स्वरूप तो सहज चैतन्यमात्र है। अपने स्वरूपमें झिलमिल वाला है, ज्ञानदर्शनरूप है, फिर यह जो बोझ आयी है, जिस बोझके कारण संसारमे यह जीव रुलता फिर रहा है, यह बोझ क्या मेरे स्वरूपका बोझ है ? यहाँ ये कषाय, ये असंयम, ये विकार पाप कलुषतायें यह सब क्या मेरे स्वरूपका बोझ है ? यह सब कर्मभार है, कर्मविपाककी झाकी है, कर्मविपाक असल तो कर्ममे है. वह जीवमे नही आया, लेकिन उसका सन्निधान पाकर जीवमे जो विकार विकल्प हुआ है यह कर्म विपाकप्रतिफलन है भी भार और उससे यह अपने आपमे विभाव प्रभाव बना लेता है, यह औदयिक है यह हुआ चारित्रमोहके उदयसे। किसकी बात कह रहे ? असयमभावकी याने आत्माका संयम होना यह तो स्वरूप है। अपने आपके स्वरूपमें स्थिर होना, स्थित होना यह तो आत्माका शृङ्गार है। लेकिन इसके एवजमे बाह्यतत्त्वका पक्ष बन रहा है कि अपने स्वरूपमे संयत नही हो पाता, बाहर ही बाहर उपयोग दौडता है, ऐसा जो असयमभाव है औदयिक है। देखो सब उपदेशोका लक्ष्य प्रयोजन एक स्वरूपदृष्टि है, अपने सहजस्वभावको यह जीव कैसे पहिचाने, जिस स्वभावके परिचयसे, स्वभाव की अनुभूतिसे इस जीवके सारे संकट कटते है उसके लिए ही सब उपदेश है, कही राग बढाने के लिए नही, विषयोमे प्रवर्तनके लिए नही। उपदेश होता है तो वह एक प्योरिटी (शुद्धता)

पाने के लिए, आत्माका एकत्व पानेके लिए है, असंयमको औदयिक जाननेसे उसके प्रति स्व-रूपका भ्रम नही रहता और स्वरूपका लक्ष्य होता, स्वभावदर्शन कैसे प्राप्त हो, उसके लिए सारा वर्णन है।

संयमः क्रियया द्वेधा व्यासाद् द्वादशधाऽथवा।
शुद्धस्वात्मोपलब्धिः स्यात् संयमो निष्क्रियस्य च ॥१११८॥

परमार्थसंयम और व्यवहारसंयम—संयम वास्तवमे कहलाता है शुद्ध स्वात्माकी प्राप्ति होना। संयमका अर्थ—सं मायने सम्यक् और यमका अर्थ है नियत हो जाना याने अपने आपमे भली प्रकारसे नियत हो जाना इसको संयम कहते हैं। तो संयम क्या हुआ? निष्क्रिय स्वभावमे अवस्थित होना। अब देखना—क्रियाकी अपेक्षा संयमके दो भेद कहे गए—(१) इन्द्रियसंयम, (२) प्राणिसंयम और संयम है—निष्क्रिय आत्माकी उपलब्धि होना, निष्क्रियस्वरूपमे स्थित होना परमार्थसे संयम है। निष्क्रिय स्वरूपमे स्थित होना और व्यवहारसे संयम है, ऐसी दो प्रकारकी क्रियायें होना। कहाँ तो क्रियाकी बात और कहाँ निष्क्रियपनेकी बात। दोनो यद्यपि ये कुछ स्वभावसे एक विशुद्धस्वरूप जंचते है, मगर परमार्थ संयम तो है निष्क्रिय सत्य स्वात्मामे स्थित होना, और देख लो स्वरूपमे अवस्थितिके लिये प्रयत्नशील ज्ञानी पुरुषकी जो क्रिया होती है वह कहलाती है व्यवहारसंयम। क्योंकि मन, वचन, कायकी चेष्टायें इस जीवको लग रही है, चल रही है तो संयमकी रुचि वाला पुरुष अपने आपके स्वरूपमे स्थिर होनेकी धुन वाला पुरुष, उसके मन, वचन, कायकी चेष्टायें हो तो कैसी हो, बस यही है व्यवहारसंयम। तो क्रियाकी अपेक्षा यह संयम दो प्रकारका है अथवा विस्तार से देखो तो १२ प्रकारका है, याने इन्द्रियसंयम और प्राणिसंयम। इन्द्रियसंयम भी ६ प्रकारका और प्राणिसंयम भी ६ प्रकारका, इस तरह १२ प्रकारका है। संयम एक शान्तस्वरूप भाव है, निष्क्रिय, नीरंग अपने आपका जो अविकार स्वभाव है उसको ज्ञान द्वारा निरखकर ऐसी धुन और चावसे निरखें जो कि उस निरख-निरखमें ही यह अपने आपमे निर्विकल्प स्थित हो जाय, ऐसा यह परमार्थसंयम जिसके होनेसे होता है, तो उसकी बाह्य प्रवृत्ति इस प्रकार होती है। वह है इन्द्रियसंयम और प्राणिसंयमरूप याने अपने इन्द्रियको संयत करना, स्वच्छन्द प्रवृत्ति न होना कि जैसी चाहे अटपट प्रवृत्तियाँ करना और उसमे भी एक अहंकार रखे कोई कि मैं एक धर्म वाला हू, पुण्य वाला हू, यह तो विकार है। तो इससे क्या सम्भव है, शान्ति कर लिया, मौजमे रह, इन्द्रियविषयोको लेकर मौज भी माना, ऐसी प्रवृत्ति जहाँ होती है वहाँ यह भावसंयम कैसे जग सकता है, क्योंकि आसक्ति इन्द्रियकी हुई।

संयमकी ओर लगनकी श्रेष्ठता—देखो संयम एक अमृत है, उसको पानेके लिए हम आप सबका ऐसा अभ्यास होना चाहिए, सहनशील हो, कष्टसहिष्णु हों, होने दो जो होना है,

मगर उसमे इष्ट अनिष्टकी बुद्धि न रखें। तो इन्द्रियसयम और प्राणिसयम जिसका कुछ वर्णन आगे आयेगा, वह इसके सहज होगा। अपनेको उस संयमकी प्रवृत्तिमें लगनेकी कितनी आवश्यकता है ? केवल एक बात ही बात कर ली कि आत्मा अविकार है, नित्य है, निरंजन है, स्वय शुद्ध है, परिपूर्ण है और उसका कुछ प्रयोग न बन पाये, जैसा हम उस स्वरूपके बारे मे बोलते है, समझते है, चर्चा करते है, उसका हम प्रयोग रच भी न कर पाये तो हम उस रसका पान नही कर सकते। उस अर्थको केवल एक तफरी कहो, व्यसन कहो, आदत कहो, बस इनमे शामिल हो गया। हम अवश्य ही यथासाध्य उस प्रयोगमे आयें, उस अनुभवमे आये। अनुभवकी पात्रता उसके ही बनेगी जो इन्द्रियका पक्ष नही है, इसलिए सबसे पहले जितेन्द्रियपनेकी एक स्तुति की है। प्रभुका यह सबसे पहला कदम है, जो एक बड़ा कठिनसा दिखता है। जिनको कठिन दिखता उनको रुचि नही है इस ओर आनेकी। जिसकी रुचि होती है उसके लिए कितना कठिन श्रम कर लेते है ? धन प्राप्त करनेकी रुचि होती तो उसके लिए न जाने कितनी ही भाग-दौड मचाते, भूख-प्यास भी सहते, बडा श्रम भी करते। जिसकी रुचि होती है उसके लिए यह जीव सर्वस्व न्यौंछावर कर बैठता है और आत्मस्वभावकी ओर हमारी रुचि है ऐसा हम अपने आपमे समझ बैठे, केवल दूसरोको बतानेके लिए मुखसे कहते रहे और भीतरमे उसके प्रति रुचि न जगे इससे कोई लाभ नही है। अगर रुचि जगी हो अन्तस्तत्त्वकी तो उसके लाभके लिये इतनी धुन रखता कि सहज वह कष्टसहिष्णु बनता, यह पहला गुण होता और इन्द्रियसयमकी ओर उसकी कुछ न कुछ प्रवृत्ति होती। यद्यपि अविरत सम्यग्दृष्टिको बताया कि वह इन्द्रियमें विरत नही है और स्थावर त्रसमे भी विरत नही है, फिर भी उसकी सहज ऐसी ही वृत्ति होती है कि सदाचारकी तरफ प्रवृत्ति होती है।

असंयमकी आत्मप्रगतिमे बाधकता—देखो भैया, जब इच्छा हुई स्पर्शनइन्द्रियसे कोई विषयसाधनाकी अभिलाषा हुई, उसका नियन्त्रण न करे और उस विषयसाधनाका दास बन जाय तो वहाँ इन्द्रियसयम कहाँ रहा ? और ऐसी पात्रताकी प्रवृत्ति रहे तो हम इस परमार्थसयमके क्षणमात्र भी अधिकारी कैसे रहेंगे ? रसनाइन्द्रिय—जब जो चाहा होना ही चाहिए, ऐसा स्वादिष्ट बनना ही चाहिए, ऐसे मौजमे रहना ही चाहिए। अगर यह ही एक भीतरका सकल्प है, रसनाके प्रति ऐसी ही एक आसक्ति है तो उपयोग तो एकदम पल्टा हुआ है बाहरकी ओर। बाहरमे रस है, उसका स्वाद है, उसमे ही मौज है, चित्त तो वहाँ बसा हुआ है। भीतरमे अन्तस्तत्त्वकी रुचिका प्रयोग कहाँसे आये ? भोजन किया और तुरन्त आया कुछ सामने चाट पकौडी जैसी चीज तो उसे भी खा लिया, इस तरहसे जो एक विषयका, रसनाका सस्कार भीतर बना रहे तो वहाँ निरन्तर उस तरहका बध चलता रहता है। पहले था रिवाज कुछ ऐसा कि भोजन किया तो उसके बाद कमसे कम तीन-चार घटेका त्याग। एक

पद्धति थी ऐसी । अब जिसके नही है त्याग, उसके निरन्तर खानेकी लालसा भीतर छिपी हुई बनी रहती है और जो मनुष्य इन इन्द्रियोके विषयोके प्रति आकर्षित हो वह अपने भीतरके इस निष्क्रिय निस्तरग स्वरूपमे कैसे प्रवेश करे ? सभी इन्द्रियोकी ऐसी ही बात है । तो यह बाह्य सयम जिसे यह कह देते कि क्या मतलब इन क्रियावोसे, चेष्टाओसे ? अपने आपमे रमण चाहिए, अपने भावोमे संयतपना चाहिए, सो भाई यह तो हो जाता है कि कोई द्रव्यसयम पाल रहा है, फिर भी उसके भावसंयम न हो, यह तो सम्भव है । किसीके हो, किसीके न हो, पर यह कभी सम्भव नही कि द्रव्यसयम तो वहाँ आना ही नही है, और भावसयम उसके बन जाय, याने द्रव्यसंयमकी स्थिति तो होती ही नही कभी और भावसयम उसके बन सके, ऐसा कभी नही होता, और प्रत्येक मतमे जिसने अपना जो-जो आचारसंहिता बनायी है उसके प्रतिकूल चलनेमे उन्होने बाह्यपनेकी घोषणा की, फिर यह जैनधर्ममे जो चरणानुयोगकी प्रक्रिया है वह अपने आप नपी-तुली प्रमाणीक है, प्रयोगसिद्ध है । इस चरणानुयोगकी प्रक्रियासे प्रतिकूलता बर्ती जाय और वहाँ अपनी अध्यात्मसाधनाके स्वप्न देखे जायें, यह सम्भव नही है । इसलिए जो चार अनुयोगोंकी बात कही गई है वह आत्माके प्रगतिके साधन है, और है क्या ? अगर मान लो शुभक्रिया बेकार है, बेकार है तो फिजूल काममे कौनसा श्रम होता ? अगर श्रम माना जाता है बडा कठिनसा समझते तो समझो, असयम आत्मप्रगतिमे कितना बलिष्ट बाधक है ?

व्यवहारसंयमकी साधकदशामें हस्तावलम्बता—अपनी मूल गुणरूप प्रवृत्ति, यथाख्यातसयमरूप प्रवृत्ति हमारे व्यवहारमे रहे तो हममे परमार्थसयमकी पात्रता जगती है । तो यहाँ जो असयतपना कहा गया है तो उसका अर्थ भावसे ही है, द्रव्यसे नही है, और द्रव्य-
क्रियामे, द्रव्यसयममे कोई बंध अबंधका हेतुपना नही होता, सब भावोसे ही होता है
जिसके भावसंयम होता है उसकी जब चेष्टाये हो तो इस-इस प्रकारकी हो
अनुमान इस भावसयमका हुआ करता है । चेष्टाये ही करना है तो
उठे नही, खड़े न हो, सोयें नही, कुछ न करे यह तो
पडे तो कैसे बैठें, खड़े ही होना पडे तो कैसे खड़े
एक आवश्यक जानकारी है । यह जीव कुछ
चाहिए, पीना न चाहिए, क्यों विकल्प करे, न
अपने आत्मामे रमण करे, बड़ी अच्छी बात है,
खाये, यह विवेक तो होना चाहिए । तो बस इसी
व्यव..रसयम ।

पञ्चानामिन्द्रियाणां च मनसश्च निरोधनात् ।
स्यादिन्द्रियनिरोधाख्यः सयम. प्रथमो मत· ॥१११६॥

इन्द्रियसंयम—इन्द्रियनिरोध नामका सयम यह पहला संयम है। ५ इन्द्रिय और मन इनका निरोध करना। जैसे मन जिसका स्वच्छद होना है उसकी अधीरता होती है। जो मनने चाहा वह तुरन्त होना चाहिए, उसके लिए व्यग्र हो जाता है, तो यह एक मनका असयम है। यशकी भावना, कीर्तिकी चाह, प्रशंकीकी वाञ्छा, निन्दाका सुनना अप्रिय होना आदिक रूपसे जो मनकी वृत्तियाँ जगती है उन वृत्तियोंमें उपयोग किस ओर लग गया ? परकी ओर, परभावकी ओर। जहाँ बाहरकी ओर यह मन भागा तो वहाँ आत्माकी सुध कहाँ रही ? आत्माकी सुध न हो, स्वरूपकी दृष्टि न हो, उस ओर अभिलाषा न हो तो इस जीवका क्या हित है ? वहाँ तो अकल्याण ही है। इसी प्रकार पञ्चेन्द्रियका भी निरोध न हो तो वहाँ भी जीवको एक विकल्प विपत्तियाँ ही तो आती है। तो ऐसा एक अभ्यास बनाना चाहिए और यह इस कोटिमे डालनेकी बात नही है कि अजी यह तो व्यवहारकी बात है, इसका क्या निरोध करना ? इन्द्रियका क्या सम्बध ? यह तो पुद्गलकी चीज है, ऐसी उपेक्षा न करना, क्योंकि उसके साथ विकल्प तो चल रहा। अन्दरमें विकल्पकी तो बडी बाधा है जो स्वानुभूति मे बडी बाधा डालता है। जब जैसी इच्छा जगी, भाव जगा, वैसा ही करनेको मन चाहा करे, जरा भी नियत्रण मनपर, इन्द्रियपर न हो सके, निरोध सह न सके, जहाँ इतनी तक असहनशीलता, सुकुमालता है, और ये भी नही, किन्तु एक स्वच्छन्दता जैसी वृत्ति रहे, वहाँ आत्मस्वरूपको निरखना और उसे ज्ञानमे लेकर एक निर्विकल्पस्थिति बनाते हुए एक आत्मोत्थ आनन्द प्रकट करना यह बहुत परेकी चीज है।

इन्द्रियसंयमरूप प्रवृत्तिका कर्तव्य—अपनी प्रवृत्तिमे इन्द्रियसयम लाइये, शुद्ध भोजनकी प्रवृत्ति, यह इन्द्रियसयमका साधक ही तो है, जिसको एक खानेका स्वच्छन्द भाव है, क्या रखा, यो ही खाना, मनचाही चीजें खाना, बाजारकी दही, मिठाइयाँ आदि मंगाकर खाना, जो चाहे खाना और उसको खाकर मौज मानना और ऐसा समझना कि इसके खानेसे क्या [illegible]क्सान है, आत्मा तो भावस्वरूप है। अरे यह स्वच्छद वृत्ति बने तो उपयोग कहाँ जा रहा सक[illegible]किस ओर अपनी भावना कर रहा है, कहाँ वासना जम रही है इसको भी तो निरखियेगा। की ओ[illegible]वासनाओमे अन्तर्भावना कहाँ पनपेगी ? तो सयममे बाह्य वासनाओका त्याग रहता। भीतरमे देखो जिसने इस लक्ष्यको नही पहिचाना और बाहर ही बाहर एक शुद्ध आचार रखमामने चाट[illegible] दृष्टि रखकर यो करेंगे, धर्म होगा, यह क्रिया होगी, धर्म होगा। धर्मस्वभावका का सस्कार भी[illegible]ता नही, केवल बाहरी-बाहरी बातोमे ही धर्म मान रहा, यद्यपि वह दुर्गतिका रिवाज कुछ ऐसा [illegible] वह मोक्षमार्गमे नही है। एक जो अज्ञानी भी है और बाहरमे एक सयम

की प्रवृत्ति है, पानी छानकर पीना, रात्रिको न खाना अथवा और-और प्रकारसे संयममे रहना, यह क्या पापी व्यसनियोसे भी गिरा हुआ है जो ७ व्यसनोंका सेवन करने वाले हैं, पापमे आसक्त रहने वाले हैं। वह उनसे अधिक टोटेमे तो नही है। है तो यद्यपि टोटेमें ही, क्योकि अज्ञान है, मोक्षमार्गमें नही है, फिर भी मन, वचन, कायकी प्रवृत्ति जब करनी ही पडती है तो कोई जरा सम्हलकर प्रवृत्ति करे तो उसको इतना अवसर तो है कि वह किसी समय सत्संग जो उसने पाया है तो कभी अपना सुधार भी पा लेगा। प्रयोजन यह है कि अपने व्यवहारमे संयमरूप प्रवृत्तिकी प्रक्रिया रखें, जितना बन सके उतना अपनेमे प्रवृत्ति बनानी चाहिए। रंच भी इन्द्रियनिरोधमें क्यों कष्ट होता ? इन्द्रियसंयम रखते हुए कष्ट अधिक क्यों हो रहा ? यों हो रहा कि मन स्वच्छद है और यह मनचाहे विषयोमें लगनेको, रमनेको चाहता रहता है, ऐसी चाह जहाँ है वहाँ परमार्थ सयमकी बात कैसे बन सकती है ? कितना आवश्यक है इन्द्रियसयम ? इन्द्रियनिरोध सबसे पहला कदम है आत्मप्रगतिके लिए।

भ्रान्ति, स्वच्छंदतासे विविक्त रहकर परमार्थ अन्तस्तत्त्वकी ओर अभिमुख होनेका अनुरोध—कभी किसीको ऐसा भ्रम हो जाता कि मेरेको सम्यग्दर्शन हो गया, ऐसा एक भ्रम मान लिया, क्योकि यह भ्रम इतना जल्दी हो जाता है कि इस बातको हर एक कोई पसद करता है। अपनेको मिथ्यादृष्टि कोई नही मानता है। कोई अगर कह बैठे तो वह उसे गाली समझता तो कोई अपनेको हल्का नही समझना चाहता, ऊँचा ही समझना चाहता है। तो जब कभी सम्यग्दृष्टिपनेका भ्रम हो जाता है कि मेरे सम्यग्दर्शन है, ऐसा भ्रम वाले जीवके जो एक असयमकी प्रवृत्ति रहती है उसमे एक तो कंगाली और फिर गीला आटाकी कहावत चरितार्थ हो जाती है। प्रथम तो उसके अन्दर बन गया भ्रम कि मेरे सम्यग्दर्शन है, मैं ज्ञानी हू, सम्यग्दृष्टि हूं और फिर मान लिया कि जिसमे सम्यग्दर्शन है उसके आस्रव बन्ध होता नही और कर लिया स्वच्छद प्रवृत्ति तो उसकी वैसी ही दशा होती है। जैसे कि कहावत है कि कगालीमे गीला आटा, याने गरीबीमें आटा गीला होना। देखिये यह बात बड़े ध्यानसे सुनने और उसे अपने आपपर घटित करनेके लिए कही जा रही है। अगर कुछ आत्मकल्याण जगा है तो कभी भी अपनी गलतियोके खोजमे कृपणता न लाये। हममे क्या कमी है, अच्छाई है इस बातकी खोज करनेमे कभी सकोच न करना चाहिए। दुनियाका दिखावा—दुनियाके समान अच्छे कहलायें, लोगोके लिए भले जचे, यह स्थिति शरण नही है। यहाँ कोई किसीका मानता। गार नही होता। खुदको खुद ही मददगार है। प्रवचनसारमे बताया है कि अपनी समान है शोध-शोधकर ऐसा धुनना चाहिए जैसे धुनिया रुईके छोटे-छोटे अंगोको उठा-उठा मान है। वह कर धुनता है। कोई रुई, कोई फुवा बिना धुने तो नही रह गया, इस तरहसे ग हो। वह तो क्योकि हम गलत रहे और उसीमे सन्तोष मानकर रहे तो इसमे आत्मोत्थ खोदे, बिना प्रयोजन

मिल पाता। तो भला जिसको हम एक थोथा समझें, मामूली बात समझें, कियाकी बात समझे तो उस मामूली बातके करनेमे क्या हर्ज है ? क्यो कष्टका अनुभव होता ? वह तो मामूलीसी बात है, पर मामूलीसी बात जो बहुत कष्टदायक मालूम होती तो समझना चाहिए कि भीतरमे उठी इच्छावोके प्रति असयोगकी बात, मिथ्याभावोकी बात छिपी हुई है, वासना बनी हुई है अन्यथा छोटी-छोटी बातें पहाड जैसी क्यों दिखती ? बाहरमे हमारा एक श्रावकोचित आचार बने और भीतरमे हम इस अविकार अतस्तत्त्वकी साधना बनायें, यह तो है एक सही मार्ग, जैसा कि होता आया है और हमको श्रावकोचित आचार तो एक बडा झझट दिखे, जो कि सहज होना चाहिए तो उसे हम क्या कहेगे ? अब भी देखो जैन कुल वालोको अहिसानुकूल आचरण करना बडा सुगम लगता। अन्य लोग तो बडा आश्चर्य करते कि जैन लोग अपने ये नियम कैसे निभा लेते होगे ? जैसे रात्रि भोजन न करना, जल छानकर पीना, शुद्ध भोजन करना, बार-बार न खाना आदि···। ये सब बातें अन्य मतावलम्बियोको बडी कठिन लगती, जब कि जैन लोगोको बडी सुगम लगती है। तो यह श्रावकोचित आचार है बडा सुगम, पर कठिन समझ रखा है। हमारे आचारमे ये सब बातें सुगमतया होनी चाहिएँ। सो व्यवहारके समय यह सब करें और अपने अन्दरमे इस निष्क्रिय, निस्तरग, नीरग अविकारस्वभाव चैतन्यमात्र, उसकी आराधनामे रहे।

परभावमें आत्मबुद्धि न कर निज अन्तस्तत्त्वमे सयत रहनेकी श्रेयोरूपता—मै हू, स्वत हू, अपने स्वभावरूप हू वह चीज क्या है ? निरपेक्ष केवल चैतन्य, केवल प्रतिभास। दर्शनमे तो विकल्प नही है। ज्ञानमे जो विकल्प है, वह केवल ज्ञेयाकाररूप विकल्प है। इससे आगे न बढना। इससे आगे औदयिक विकल्पोमे चले गए तो बस यह ही एक बोझ बन गया और ज्ञानका जो स्वरूप है तन्मात्र विकल्प तो कभी मिटता ही नही है। ज्ञानविकल्प ज्ञेयाकार अर्थज्ञान वह तो एक ज्ञानका शृङ्गार है। केवली भगवान भी तीन लोक अलोक सबका परिज्ञान करते रहते हैं। वह भी तो एक विकल्प है, वह है ज्ञानविकल्प, वह है ज्ञानके स्वरूपकी आदत, पर उससे आगे जो एक औदयिक भाव होता है वह विकल्प जीवके अनर्थके लिए है। सके जाननरूप विकल्प न हो तो वह ज्ञान मरा हुआ समझिये, सो ज्ञानपरिणाम तो होगा की ओवह सामान्य प्रतिभासरूप याने रागद्वेषकी बाधासे रहित प्रतिभास स्वरूप होगा। इसका भीतरमे जो आत्मस्वरूप है उस स्वरूपमे ज्ञानका स्थिर हो जाना इसे कहते है सयम। ऐसे मामने चाटगे रुचिया है, अभिलापी है वह इन्द्रिय असयममे नही बढता। जैसे जिसको धनकी का सस्कार भोसके ज्यादह विकल्प नही उठते वह सहनशील बनता है। ऐसे ही इस स्वरूपमे रिवाज कुछ ऐसातनको रुचि है उनके भी विकल्पकी बहुलता नही रहती, क्योकि रुचि एक उस ओर है। यह न हो सके और बाह्यके प्रति आकर्षण रहे; वह कहलाता है

असयम और यह औदयिक भाव है, चारित्रमोहके उदयसे हुआ है, मेरा स्वरूप नही है। मैं तो अन्तः एक ज्ञायकस्वरूप मात्र हू। औदयिकपनेकी चर्चा सुनकर स्वभावदृष्टिकी प्रेरणा मिले, ऐसी एक अपनी दृष्टि होनी चाहिए।

स्थावराणा च पञ्चानां त्रसस्यापि च रक्षणात्।
असुसंरक्षणाख्यः स्याद् द्वितीयः प्राणसयम ॥११२०॥

प्राणसंयम नामका द्वितीय व्यवहार संयम—प्राणसयम किसे कहते है? सयमका जो दूसरा भेद है उसका स्वरूप बताया जा रहा है। ५ स्थावर जीवोका और त्रस -जीवोका रक्षण होनेसे यह अनुसंरक्षण नामका दूसरा सयम प्राणसयम है। ज्ञानी पुरुषको विदित है कि ऐसे-ऐसे देहोमे पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति, कीडा-मकोड़ा, पशु-पक्षी आदि इनमे जीव का सम्बन्ध है। यह चतुर्गतिरूप पर्याय अचेतन ही देहमात्र नही है। देह तो अचेतन ही है, जिसमें रूप, रस, गध, स्पर्श हो वे सब पुद्गल है और अचेतन है, किन्तु जरा खुदमे भी तो अनुभव करो, अभी आपके शरीरपर कोई चीटी चढ जाय, तो आप उसमे व्यग्रता क्यों मानते? बड़ी बडी डीग मारते कि आत्मा भिन्न शरीर भिन्न और जब एक चीटी चढ़ जाय तो वे सब बातें एक तरफ धरी रह जाती है। अरे यह हो क्या गया? देखो परिस्थिति ऐसी ही है कि यह शरीर सचित्त है, जीव सहित है, इसमे जीव है और इसमे रागद्वेष मोहादिक भाव पाये जा रहे है। तो शरीरमें एक क्षेत्रावगाह होनेसे सब विदित है कि यहाँ यह जीव है। "जीव जाति जाने बिना दया कहाँ ते होय?" जब तक जीवजातिका पता नहीं तब तक वह दया धर्म कैसे पाल सकेगा? इस ज्ञानी सम्यग्दृष्टिको यह विदित है कि यहाँ यहाँ ये जीव है। और जो जीव है वे मेरे ही स्वरूपके समान ज्ञान, दर्शन, आनन्द, शक्ति, चारित्र ये शक्तिया, इनके ये पुञ्ज है और जैसे इस समय मेरे शरीरको कोई बाधा आये तो उसमे हम कष्टका अनुभव करते ऐसे ही वे जीव भी कष्टका अनुभव करते। जो दूसरे जीवोको भी अपने समान समझ लेता है उसको दूसरेके कष्टको देखकर कष्ट होने लगता है। जैसे अपने घरमे जो बच्चा है उसे अपना मान रहे, बाकी बच्चोको गैर मानते, तो जिसके प्रति मोह है उसको तो बडा आदर देते और जिन्हे गैर मानते उन्हे घृणाकी दृष्टिसे देखते। तो अपने घरके बच्चे को जान रहे कि यह जीव है, क्योकि उसे मान लिया कि यह मेरा बच्चा है, मेरे ही समान है। तो जब कभी उसे कोई पीड़ा होती, कष्ट होता, तो उसके पीछे यह भी बडा कष्ट मानता। और जो ज्ञानी पुरुष है वह यह समझता कि विश्वके सभी जीव मेरे ही स्वरूपके समान है तो उसके लिए सारा विश्व बन्धु बन गया। समस्त जीव उसके लिए एक समान है। वह कोई ऐसा प्रयत्न नही करता कि जिससे दूसरे जीवोंको बाधा हो, उनको सक्लेश हो। वह तो इन सबका सरक्षण करता है। गृहस्थ हो तो बिना प्रयोजन पृथ्वी न खोदे, बिना प्रयोजन

जल न बखेरे। देख लो लोग ५-५, ७-७ बाल्टी पानीसे खूब शरीरको साबुनसे मल-मलकर नहाते है, बडा मौज मानते है वहाँ जलकायपर भी दृष्टि नही है। तो ज्ञानी गृहस्थ श्रावक ऐसी अप्रयोजक क्रिया नही करते, बिना प्रयोजन अग्नि नही जलाते, बिना प्रयोजन हवा नही चलाते, बिना प्रयोजन वनस्पतियोका छेदन-भेदन नही करते। ज्ञानी गृहस्थने जान लिया कि यहा भी जीवजाति है और जैसे हमको जरा जरासी बातमें कष्ट महसूस होता ऐसे ही इन जीवोको भी नष्ट महसूस होता है। यहाँ तो हम आप आत्माकी चर्चा करते, उसके बलसे कही आने वाले कष्टोको मेट भी लें, पर उन बेचारे जीवोको कहां इसकी गुंजाइश है? वे तो आत्माकी चर्चा भी नही जानते। उनको तो कुछ बाधा हुई तो कष्ट मानेंगे। तो उन जीवोके सरक्षणकी प्रवृत्ति है और जो शुद्ध भोजन बनानेकी प्रवृत्ति है वह इसी कारण तो है कि जीवोकी रक्षा हो। किसीने बाजारकी चक्कीमे आटा पिसाया तो कही उसमे सुरसुरी वगैरा जीव पिस जाये, तो उस आटेका भक्षण करनेमे भी हिंसाका दोष है। मर्यादासे बाहर की चीजें, उनमे जीवोका जन्म होता है और उनके भक्षणमे हिसाका दोष है। गृहस्थ श्रावक हिसासे बहुत दूर रहता है और इसका विकल्प ही न उठे कि हिंसा न करना चाहिए। ऐसा शुभ विकल्प ही जहाँ न उठे वहाँ तो मनकी स्वच्छदता है। ऐसे स्वच्छद मन वालेके स्वानुभव की पात्रता कहासे हो? त्रस जीवोकी रक्षा करना, घो को यो बडी सम्हालकर रखना, कोई इसमे जीव न पडे, जीव पड जायगा तो वह मर जायगा। अपनी ऐसी क्रिया बनाता कि हर एक चीजको सम्हालकर धरता उठाता। शुद्धिकरणके जितने सब प्रयोग है वे सब हिंसा टालने के लिए है। शुद्धिकरणमे हिसा टालनेकी बात प्रधान होती है। तो इन जीवोकी रक्षा करनेसे अनुसरक्षण नामका दूसरा प्राणसयम होना है।

ननु किं नु निरोधित्वकक्षाणा मनमस्तथा।
सरक्षण च किं नाम स्थावराणा त्रसस्य च ॥११२१॥

इन्द्रियसंयम और प्राणसयमके स्वरूपतथ्यकी जिज्ञासा—यहाँ कुछ जिज्ञासा की जा रही है। यह बताया गया कि सयम दो प्रकारका है—(१) इन्द्रियसयम, (२) प्राणिसयम। देखो यह प्रयोगकी चीज है, इस प्रकारका आचरण रहेगा तो बहुतसे गडबड कामोसे निवृत्ति रहेगी और ऐसी स्थितिमे यह ज्ञान अपने आपके अभिमुख होनेके लिए सुगमतया काम करेगा। तो उन सयमोके बारेमे पूछ रहे कि इन्द्रियका सयम, इसका अर्थ क्या? इन्द्रियका निरोध, मनका निरोध, इसका खुलासा स्पष्टीकरण करना। इसी प्रकार त्रस जीवोका और स्थावर जीवोका सरक्षण क्या? ऐसे दो सयमके लक्षणके बारेमे एक जिज्ञासा हुई है कि इसके मायने है क्या? यद्यपि शब्दोसे अर्थ एकदम आ गया है—इन्द्रियका निरोध करना मायने इन्द्रियके विषयोमे अपनेको न फसाना, दूसरे जीवोके प्राणोकी रक्षा करना, यह शब्दमे

अर्थ आ गया है, मगर इसका तथ्य क्या है ? और इसमे अपनेको स्वभावदृष्टिके लिए कैसे मदद मिलती है ? ये सब बाते भी जाननी आवश्यक है।

धर्मवचनोंका प्रयोजन स्वरूपदृष्टिके लिये पौरुषका उद्यमन—देखिये—प्रत्येक वाक्यका अर्थ इस तरह सोचना चाहिए कि जिस प्रकार स्वभावदृष्टि हो। बारह भावनाओंमें गाते तो है—"राजा, राणा, छत्रपति, हाथिनके असवार। मरना सबको एक दिन, अपनी-अपनी बार।।" ये राजा महाराजा आदि सब मरते है, यहाँ कोई सदा जीवित नही रहता, एक दिन हमको भी मरण करना होगा।···अरे इस प्रकारका मरना ही विचारनेसे इस आत्माको भला क्या हुआ ? उससे तो एक घबड़ाहट ही बनेगी। जैसे कोई किसीको मार रहा हो तो वहाँ देखकर डर लग जाता कि कही खुदको भी न मार दे, ऐसे ही दूसरोका मरना विचार-विचारकर तो खुदके मरनेका भय बना देगा। तो ऐसा दूसरोका मरना विचारनेसे लाभ क्या ? अरे वहाँ प्रयोजन है स्वभावदृष्टि करनेका। वहाँ विचार यह करना है कि ये राजा, राणा, छत्रपति, पशुपक्षी आदिककी सारी पर्यायें शाश्वत नही है, ये सब विनाशीक है, नष्ट हो जाने वाली हैं, जहाँ यह निरखा वहाँ यह दृष्टि भी जगेगी कि जो मै चेतन हू, अंतस्तत्त्व हू वह तो ध्रुव है सदा रहने वाला है, वह मरणहार नही है। तो जहाँ पर्यायमे विनाशकी दृष्टि किया तो साथ ही यह झलक न होगी क्या कि यह जो मैं अतस्तत्त्व हू तो यह सदा रहने वाला हूं, तो स्वरूप दृष्टि बनी इस भावनामे। अशरण भावनामे बोलते है—दल बल देवी देवता, माता पिता आदिक कोई भी मरते समय इस जीवकी रक्षा करने वाले नही है याने मरनेसे बचाने वाले नही है, तो ऐसा सोचनेमें इतना ही मात्र सोचनेमे आये तो उससे तो एक घबड़ाहट होगी—अरे कोई मेरी रक्षा करने वाला नही, हाय कोई बचाने वाला नही तो क्या इस तरह की रंज पैदा करनेके लिए अशरणभावना है ? स्वरूपदृष्टि जिससे जगे उस पद्धतिको भावना भावो। ये सब पर्यायें है जो मरणहार है। प्रत्येक जीव स्वतत्र है, कोई किसी को बचा सकता नही, जिला सकता नही। तो जब आयु कर्मका क्षय होता है तो यह जीव भव छोडता है। इसका निमित्तनैमित्तिक भावके परिचयमे प्रधान रूपसे वर्णन किया गया शास्त्रोमे। समयसारमें कितना विशिष्ट वर्णन है ? जो जीव मरता है वह अपनी आयुके क्षयसे मरता है। जो जीव सुखी दुखी होता वह अपने कर्मके उदयसे सुखी दुःखी होता है। हे जीव तू अध्यवसान मत कर। मैं इसको सुखी करूँ, इसको दुःखी करूँ। तो इसमे दो बाते आयी—एक तो आश्रयभूत पदार्थमे यह लिप्त न होवे। वह व्यर्थकी चीज है, निराधार बात है। एक तो उससे यह शिक्षा मिलती है। दूसरी शिक्षा यह मिलती है कि यह जीव जो सुखी दुःखी हो रहा वह भूलसे हो रहा, यह तो स्वभावसे आनन्दस्वरूप है, चैतन्यमात्र है, चैतन्यप्रकाशमात्र है, निरापद है स्वभावमे तो, मगर पहले बाँधे हुए कर्मोंके विपाकका उदय ऐसा है, उसका

प्रनिफलन ऐसा है कि ऐसी ऐसी बात इस जीवमे गुजर रही है।

वस्तुस्वातंत्र्य और विकारोकी औपाधिकताके निर्णयका प्रभाव—देखो सर्वत्र यह बात तो मूलमे ही रखना कि एक द्रव्य दूसरे पर्यायकी परिणति नही करता, यह तो सत्ताका स्वरूप है ऐसा। उसमे कोई बात नही। मगर जितनी उपचार भाषा है उसके बोलते समय कभी उपादान उपादेय बुद्धिके प्रकारका ख्याल न करना। कोई भी द्रव्य दूसरे द्रव्यकी परिणतिका कर्ता नही, यह तो ठीक है, पर विकार जितने होते है वे निमित्तके अभावमे नही होते इसके खिलाफ एक भी दृष्टान्त न मिलेगा। इसलिए वे नैमित्तिक है, परभाव है, थे तो निरपराध है। स्वरूपत ऐसी एक स्वरूपदृष्टि बनती है। तो ये सब पर्यायें है। भव छूटता है, कोई बचा सकता नही है। क्यो नही बचा सकता कि सब पदार्थ अपने आपमे अपनी परिणति करते है, मगर इस जीवका वास्तवमे शरण, परमार्थ शरण अपने आपकी स्वरूप दृष्टिका आलम्बन है। मैं सहज चैतन्यप्रकाश मात्र हू, इस ओर लगना क्यो नही बनता ज्यादह ? स्वरूप दृष्टिकी ओर ज्यादा आयें, उसमे समय दें, साहस बनायें कि किसी भी परिकरमे, वैभवमे, पक्षमे, पार्टीमे, मित्रोमे किसीमे भी लगाव तो न रहे। अपनेको सबसे निराला अकेला ज्ञानमात्र निरखें, ऐसा भीतरमे उपयोग तो बनायें तो फिर क्यों न सिद्धि होगी ? जब विभावोमे लगनेकी विधिसे ससार बढ रहा है तो स्वभावमे लगनेकी विधि बने तो मोक्ष क्यों न होगा ? होना पडेगा। पर वह विधि बनाता कौन है ? बडे मौजमे है। विभावोमे ऐसी आत्मबुद्धि लगी हुई है कि मना करते जा रहे कि विभाव मेरे स्वरूप नही और बहुत उछल उछलकर व्याख्यान भी देते जा रहे और भीतरमे यह रग चढा है कि मैं कैसा अच्छा बोल रहा हू, मै लोगोको किस तरहसे कह रहा हू, लो मिथ्यात्व तो बसा है रग-रगमे। उस आत्माकी एक लम्बी उचककर चर्चा करनेमें सिद्धि क्या मिलेगी ? अधीरतासे, भावुकतासे, स्वच्छदतासे काम न चलेगा। इसके लिए तो बडा विवेक चाहिए, धीरता चाहिए, समझ चाहिए, गुप्त ही गुप्त अपनेमे स्वरूपका विलास चाहिए।

स्वरूपदृष्टि बिना संसारकी दुःखरूपता और असंयमवृत्तिकता—ससारभावनामे बोलते—सब दु खी, यह दु खी, वह दुःखी, धनी दुःखी, निर्धन दु खी, ज्ञानी दु.खी, मूर्ख दुःखी, ऐसा दुःखी दुःखी देखना यह तो दु ख बढानेकी ही बात बनेगी। दु खियोंके बीच बैठो तो कुछ तो दु.खका कोई अपनेमे अपना असर तो बन ही जायगा। तो ऐसा सारे ससारको दु खी देखनेसे क्या प्रयोजन बनाया इस भावनामे ? स्वरूपदृष्टिको मदद मिले, इस ढगसे ससारको दु.खी देखना होगा। यह सारा ससार दु:खी है। क्यो दु खी है ? अपने स्वरूपकी इसे सुध नही है और परभावोमे, परपदार्थोंमे इन विकल्पोमे यह रंग गया। तो भला जो मछली अपने धामसे, पानीसे हटकर किसी भी प्रकार रेतीली जमीनपर चला जाय तो वह तो बेचैन होगी

ही, ऐसे ही जो जीव अपने घरसे, आनन्दधामसे, ज्ञानस्वरूपसे चिगकर इस औपाधिक भूमिमे अर्थात् विभावोमे, इन बाह्य पदार्थोंके आश्रयमे पहुंच जाय तो वह तो बेचैन ही होगा, शान्ति का वहाँ नाम नही हो सकता । यो दुःखी है ये सब । इनके पास धन नही है, इसलिए दुःखी, ऐसी दृष्टि करानेके लिए नही है यह भावना, किन्तु स्वरूपकी इसको सुध नही, और बाहरी पदार्थोंमे यह लग रहा है, विभावोमे लगाव बनाया है, इस कारण यह सारा संसार दुःखी है । इसके सोचते ही स्वरूपकी सुध तो हुई है उसे । यहाँ उपयोगको लगाया तो उसे कष्ट न होगा । ऐसे ही सभी भावनाओकी बात है । और सभी उपदेशोकी बात यही है कि उसमे स्वभावदृष्टि बने, उस प्रकारसे उसको निरखना होगा । शकाकार यहां यह शंका कर रहा है कि इन्द्रिय और मनके निरोधका मतलब क्या ? साधारण अर्थमे तथ्य न परिज्ञात होगा और त्रस और स्थावरके सरक्षणसे मतलब क्या ? उसके उत्तरमे कहते है—

सन्यमक्षार्थसंबंधाज्ज्ञान नासयमाय यत् ।
तत्र रागादिबुद्धिर्या सयमस्तन्निरोधनम् ॥११२२॥

इन्द्रियासंयमका स्वरूपतथ्य—इन्द्रियसयम जब न हो तो क्या परिस्थिति होती है कि इन्द्रिय और पदार्थका सम्बध होनेसे ज्ञान होता है । पहली बात तो यह होती ही है और उस समयमे इसके असंयम बनता है । तो यहाँ यह समझना विवेक करके कि इन्द्रिय और पदार्थका सम्बध होनेसे जो ज्ञान बनता है वह ज्ञान असयमके लिए नहीं, किन्तु उस ज्ञानमे जो रागादिक बुद्धियाँ बनती है, बाह्य वस्तुके आलम्बनसे जो रागद्वेषकी बुद्धि जगती है उसे असयम कहते है । घीका दूध मिल गया और जरासा ही पिया कि ऐसा गुस्सा आया कि गिलास दूर फेंक दिया या कुछ जरासा मीठा अधिक पड गया तो नाक-भौ सिकोडना, गुस्सा करना शुरू कर दिया, अरे इन्द्रिय और पदार्थका सम्बध होनेसे ज्ञान हुआ कि नहीं ?···हुआ । अगर हुआ नही तो फिर आगेका यह ऊधम कैसे किया गया, तो ज्ञान हुआ यह तो अपराध न था, मगर उस समय जो इष्ट अनिष्टका विकल्प होकर रागद्वेष बना वह असयम बन गया । तो इन विषयभूत पदार्थोमें रागद्वेषकी बुद्धि जगना यह कहलाता है असयम, और रागादिक बुद्धियोको रोक देना, बस ज्ञाता रहना यह कहलाता है संयम । देखा होगा कि किसी किसीको यह बाहरी सफाई बहुत तेज पसद होती है, जो एक सीमासे बाहर होती । हाँ, साधारण रूपसे सफाईका रखना, यह तो ठीक है, मगर इतना तेज सफाईका ध्यान देना कि कही जरासा तिनका या ककड भी रह जाय, कुछ कूडा रह जाय तो बडी ग्लानि करे, अरे इसको तो एक ऊधम माना है । विशेष करके जो अध्यात्मप्रेमी लोग है, जो कुछ घर-द्वारका भी त्याग करते है, अध्यात्मसाधनाका जिन्होंने विशेष लक्ष्य बनाया है, वे यदि सफाईके बारेमे विशेष विकल्प रखें—खूब साफ तख्त हो, चौकी हो, चटाई हो, वस्त्र भी खूब साफ स्वच्छ हो, सभी चीजें

देखनेमे बड़े अच्छी हो, जरा भी गदगी न हो··· अरे ये सब उसके लिए कोई शोभाकी चीज है क्या ? एक अध्यात्मप्रेमीको तो चाहिए कि वह सीधे-सादे ढंगसे रह ले, जब जो है सो ठीक है, चल रहा है, उसके कही इष्ट अनिष्टकी बुद्धि न जगे। जरा जरासी बातमे अपने विषय-साधनोमे कोई बाधा आये और वह उसमे खेद माने, अटके तो जरा विचारो तो सही कि उसकी भावना सही रूपमे अभी किस ओर लगी हुई है, जिसका कि यह सब प्रभाव बन रहा है। तो जहाँ इष्ट अनिष्टके विकल्प हो, रागादिककी बुद्धि हो, प्रीति हो, द्वेष हो, बस यह ही तो असयम है।

आत्मनिरीक्षणका अनुरोध—सम्यग्दृष्टिका अग है एक निर्विचिकित्सा अग। ग्ल.नि न करना, इसका बहुत बडा अर्थ है। प्रथम तो यह ही निरखो कि सम्यग्दर्शनके ८ अगोमे से हमारा किसी अगरूप पालन होता है या नही। नहीं होता है तो फिर उसकी डीग मारनेसे क्या लाभ ? जरा अपनी गल्ती तो सोचो और मार्ग निकालो, ढग निकालो, तो सही। केवल एक ऐसा ही कर लिया कि जैसे किसी बच्चेसे कह दिया—अरे तेरा कान कौवा ले गया तो अब वह बच्चा उस कौवाके पीछे दौड लगाता है, रोता है, उसे कोई समझाये कि अरे बच्चे पहले तू अपने कान टटोलकर देख तो सही, कौवा कान ले भी गया या यो ही भागता फिरता, रोता फिरता। जब उस बच्चेने अपने कान टटोला तो बस उसका दुःख खतम। ऐसे ही यह संसारी प्राणी अपने आत्मस्वरूपको भूलकर बाहर बाहर उपयोगको दौडा रहा, कितने ही ऊधम मचा रहा, फिर भी वह धर्मपालनकी डीग मारता फिरे तो उससे काम न बनेगा। उसे तो अपने आपके अन्तःस्वरूपको अपने ही अन्दर टटोलकर देखना होगा तब इसके उपयोगकी बाहरी भटकन खतम होगी।

सम्यक्त्वके अष्टाङ्ग व्यवहारके निरीक्षणका स्मरण—पहले ८ अङ्गोकी ही बात सोच लो। निशकता—जिनवाणीमे शंका न करना, आत्मस्वरूपमे सदेह न होना निशकता अङ्ग है। नि काक्षा—विषयसाधनोकी चाह न होना तथा धर्मसाधनाके एवजमे तो अन्य कुछ वाछा होना ही नही सो निःकाक्षित अग है। निर्विचिकित्सा—धर्मात्मा जनोसे ग्लानि न करना सो निर्वि-चिकित्सा अग है। मान लो कभी कोई धर्मात्मा पुरुष मल-मूत्रादि भी कर दे तो उससे ग्लानि न करना। जैसे कोई अपने बच्चेसे घृणा तो नही करता उसके मल-मूत्रादि कर देनेपर, ऐसे ही धर्मात्मा जनोसे भी ग्लानि न करना सो निर्विचिकित्सा अङ्ग है। दूसरी बात—जब कभी अपनेमे विभाव कष्टकर होते है तो उन विभावोको यह जानना कि ये नैमित्तिक भाव हैं, आये है, ये चले जायेगे। उनके आनेपर घबडायें नही, ग्लानि न करें, मनको दुःखी न बनायें—हाय अब क्या करूँ, मुझपर बड़ी विपत्ति आ गई···। अरे क्या विपत्ति आ गई ? ये तो औपाधिक भाव है, तेरे स्वरूपमे तो विपत्ति नही। तू अपने निरापद स्वरूपको तो देख। इसमे क्षुधा,

तृषा आदिक वेदनायें आयें तो उनमें ग्लानि न होना। मानो कोई सामायिक कर रहा या शास्त्र प्रवचन कर रहा आधा घटाको और उसीके बीचमें प्यास की सुध लग गई तो उसे छोडकर पानी या दूध वगैरह कुछ पी ले तो क्या यह उसके लिए कोई भली बात है ? अरे इन विभावोंसे तुम इतना भी ग्लानपनाको नही रोक सकते। यदि नही रोक सकते तो फिर यह डीग क्यो मारते कि ये विभाव है, परभाव है, ये मेरे स्वरूप नही है। तो कहाँ निर्विचिकित्सा अग है जरा ढूँढो तो सही। अच्छा यह भी एक उसका रूपक है। चले जा रहे है, कोई अशुद्ध पदार्थ मार्गमें पडा है तो उसे देखकर झट नाक भौ सिकोडने लगते। अरे जरा अपने उपयोगको तो देखो—तुमने परपदार्थकी ओर अपना उपयोग भटकाया। इसके तो ज्ञान है, वस्तुका स्वरूप है, दिख गया ठीक है, यह भी पदार्थ है। जरा सम्यग्दर्शनके अंगोकी बात तो देखो उनका पालन हो रहा कि नही हो रहा। अब कोई ऐसी चतुराई की बात करे कि ये तो सब बाहरी बातें है, इनसे मेरा क्या मतलब ? भीतर तो मेरे सब कुछ जग रहा, तो भाई ऐसा नही होता। जरा थोडा विवेक बनावें, ढंगसे चलें, लक्षरा देखें कि इन ८ अगोका पालन हो रहा कि नही हो रहा। यदि पालन नही हो रहा तो वहाँ सम्यग्दर्शन कहाँ ? देखिये—जैसे हाथ पैर बिना शरीर किसका नाम, ऐसे ही अष्टांग बिना सम्यग्दर्शन किसका नाम ? हाँ वहां यह बात रख सकते कि एक तो उन अंगोंको व्यावहारिक रूप दे सकते और एक पारमार्थिक। जहाँ खा पी रहे मनचाही चीजें, दुकान-धंधा भी है, लडाई झगड़े के अनेक प्रसग भी है और वहाँ यह कहे कि व्यावहारिक अंगका क्या मतलब ? सो बात ठीक नही है। थोड़ा विवेकपूर्वक देखो तो सही, यदि पारमार्थिकता आयी है तो व्यवहारमें क्या यह झूठ, चोरीकी ही बात आयगी, जैसा कि जीवनमे चल रहा है। अरे उसका व्यवहार भी तो इतने सही ढगसे चलता है जो कि परमार्थका अनुमापक बनता है। उपगूहन अग—धर्मात्माके दोषों का आच्छादन करना उपगूहन कहलाता है। अगर जनताके समक्ष दोष प्रकट करेंगे तो वहाँ धर्मकी अप्रभावना होगी। लोग यही कहने लगेंगे कि धम तो ढोग है, केवल इन भावोसे उपगूहन करना। फिर यह कर्तव्य है कि उनको समझाना, उनके दोषोको दूर करना यह उपगूहन अङ्ग है। स्थितिकरण—कोई धर्मात्मा कभी धर्मसे च्युत हो रहा हो तो तन, मन, धन, वचन सब प्रकारसे उसको धर्ममे स्थिर करना स्थितिकरण अग है। वात्सल्य—धर्मात्मासे निष्कपट प्रेम करना, देखते ही आल्हाद होना यह सम्यग्दर्शनका अनुमापक, और देखते ही जहां भीतरमे कष्ट हुआ—हाय यह व्रती क्यो आ गया, न जाने कब जायगा, न जाने क्या होगा· वहां वात्सल्य अग कहां पला ? थोड़ा अपनेमे दृष्टिपात करो कि हम अपनेमे कितना तो पतन की ओर चल रहे है और कितना हम अपना उत्थान कर रहे है। कल्पन ओसे हम अपनेको अच्छा मान रहे है उससे गुजारा तो न चलेगा। प्रभावना अङ्ग—ऐसे ही अपने आचरण द्वारा

प्रभावना अगका पालन करें। अपना आचरण, अपना व्यवहार इतना निर्मल हो कि दूसरे जीवोपर धर्मकी छाप पडे। तो यह बात अष्टाग रूप ह रमें होना चाहिए और भीतरमे आत्म-दृष्टिका पौरुप होना चाहिए।

त्रसस्थावरजीवानां न बधायोद्यत मन ।
न वचो न वपु क्वापि प्राणिसरक्षण स्मृतम ॥११२३॥

प्राणि संयम नामक द्वितीय व्यवहारसंयमका स्वरूपतथ्य—यह-प्रकरण चल रहा है औदयिक भावोका। पञ्चाध्यायीका यह अन्तिम प्रसंग है, औदयिक भावोमे गति, कषाय, लिङ्ग, मिथ्यादर्शन, ज्ञानका तो वर्णन हो चुका, अब यहाँ असयमका वर्णन चल रहा है। असयमका अर्थ है अपनेमें अपने इस अविकार स्वभावमे स्थिर न हो सके, उसका नाम है असयम। जिसके असंयम होता है उसके बाहरमे इन्द्रियासयम और प्राणिअसयम रूप प्रवृत्ति होती है। **यह असंयम औदयिक भाव है**। किसके उदयसे हुआ है यह ? तो यह उदय हुआ चारित्रमोह कर्मके उदयसे। चारित्रमोहका विपाक हुआ, वहा आत्मामे उसका प्रतिफलन हुआ और यह स्वभावसे चिगता हुआ उन कषायोंमें लीन हुआ यह अपने स्वरूपमे स्थिर नही हो पाता। उस असयमके दो भेद बताये गए थे—इन्द्रिय असयम और (२) प्राणि असंयम। यह-बात सयमके लक्षणमे कही जा रही है। त्रस और स्थावर जीवोके वधके लिए न मन उद्यमी हो, न वचन और न काय (शरीर) उद्यमी हो उसे कहते है प्राणिसंयम। ज्ञानी पुरुष ने जब आत्मस्वरूपका अपनेमे निर्णय बनाया और बाहरमे सब जीवोके प्रति ठीक उसी प्रकारसे स्वरूप दर्शन किया, उसकी यह भावना रहती है कि किसी भी जीवको सक्लेश न हो और मुझसे कोई प्रवृत्ति ऐसी न बने कि जो दूसरेके संक्लेशका कारण बने। वह प्राणिसंयमकी प्रवृत्ति करता है। एक बात और ध्यान देनेकी है कि जीवरक्षा, जीवकी दया, किसीका वध न हो, मेरे कारण मेरे निमित्तसे किसी जीवका प्राणघात न हो। इसमे लौकिक बात तो यह है कि उसको तुरन्त कष्ट हो रहा है, उसमे सक्लेश कर रहा है और उसको बडी वेदना हो रही है, तो उसकी वेदनाको कोई विवेकी पुरुष कैसे बरदाश्त करे ? जो सहृदय है वह दूसरेके दिलको दुःखी देखकर खुद दुःखी हो जाता है इसलिए वह दयापालन करता है। दूसरी बात यह है कि कोई जीव सक्लेशपूर्वक मरण करे तो यह निश्चित है कि जिस भवमे वह जीव था उस भवसे गिरा हुआ भव मिलेगा। संक्लेशमरणका ऐसा ही एक काम है कि जिस भवमे रहे उस भवसे और गया-बीता भव उसको मिलेगा। तो मैं जरासा प्रमाद करूँ, असावधानी बनूं और उस प्रसगमे कोई जीव सक्लेशसे मरण करे और वह गये-बीते भवमे जन्मे, जैसे मानो चारइन्द्रिय जीव था वह मरकर तीनइन्द्रिय, दो इन्द्रिय, एकेन्द्रियमे जन्मे तो वह तो और नीचे की ओर गया। जो उठा था, जिसका ज्ञान बढ रहा था वह और

पतनकी ओर गया तो वह तो मोक्षका मार्ग तो खैर रहा था ही नही, फिर भी देखो तो सही उसकी दशाकी ओरसे तो वह बहुत दूर नीचे पहुच गया। प्राणिरक्षा, जीवदया यह ही तो प्राणिसयम है।

इत्युक्तलक्षणो यत्र संयमो नापि लेशतः।
असंयतत्व तन्नाम भावोऽस्त्यौदयिकः स च ॥११२४॥

औदयिक असंयतभावके स्वरूप तथ्यका उपसंहार—इस प्रकार उक्त लक्षण वाले, सयम जहां लेशमात्र भी नही है उसको कहते है असंयमपना और ऐसा असयमभाव औदयिक है। चारित्रमोहनीय कर्मके उदयका निमित्त करके यह जीव असयमरूप जीवकी परिणतिमे प्रकट होता है। ज्ञानी पुरुष सयमकी ओर इतना झुका हुआ होता कि सयम कुछ नही पाल सकता तो भी उसकी सहजवृत्ति ऐसी बनती है कि वह लोकाचार या दूसरोके अनर्थके लिए नही रहती और इस अतःसयमकी ओर उसकी चटापटी रहती है। दौलतरामजी ने भी इस चटापटी शब्दका प्रयोग किया है—सयम धर न सके, पर संयमधारणकी चटापटी तो सम्यक्त्व धारण करनेके बाद तीव्र अभिलाषा रहती है आत्मस्वरूपमे स्थिर होनेकी और जो सयमकी ओर चले तो मन, वचन, कायकी प्रवृत्ति जब जब हो उसकी तब तब कैसी हो? यही तो व्यवहारसयममे कहा है। देखो किसीके कमरेको सजा हुआ देखकर आप झट यह ज्ञान कर लेंगे कि इसमे रहने वाला मालिक इस प्रकारके आचरण वाला है, ऐसी-ऐसी वासना भावना वाला है, वहाँके चित्रोंको देखकर, वहाँकी बाहरी बातोंको देखकर आप उसके बारेमे झट जान जायेंगे। देखो वह चित्र बिल्कुल अलग चीज है, न शरीर है, न मन है, न वचन है, पर उन चित्रोकी सजावट कलाकी अपेक्षा तो यह बहुत नजदीकको चीज है—शरीर, मन और वचन। जिसको जैसी भावना होती है उसके मन, वचन, कायकी उस प्रकारकी चेष्टा बनती है। उससे जाना जाता है कि इस जीवका कितना सयमकी ओर परिणाम है? तो ये दोनो प्रकारके संयम जहाँ लेश भी नही होते है उसे कहते है असयम।

ननु चाऽसयतत्वस्य कषायाणां परस्परम्।
को भेदः स्याच्च चारित्रमोहस्यैकस्य पर्ययात् ॥११२५॥

असंयम भाव व कषायमे अन्तर समझनेकी जिज्ञासाके प्रसगमे परभावके स्वरूपका विवरण—देखो यह भीतरके ऊधमकी चर्चा चल रही है। अन्दरमें क्या ऊधम मच रहा है और यह जीव किस तरह परेशान है, वह सब ज्ञान इसमे आप पाते जायेंगे। चारित्र मोहकर्मका विपाक है, उसकी बात उस कर्ममे है, पर चूंकि यह स्वच्छ है, जीव उपयोगस्वरूप है, ज्ञानस्वरूप है, प्रतिभासना इसका निरन्तरका काम है तो उस विपाक समयमे उस कर्मरसके प्रतिफलनके साथ ही यह जीव अपने से बाहरमे लगा, यह चल रहा है भीतरमे ऊधम। उस-

की ही चर्चा हो रही कि यह ऊधम औदयिक है। हमारे निजके स्वरूपकी चीज नही हैं। परभावका यह अर्थ नही है कि इन विषयसाधनोकी ओर जुटनेका भाव बना उसे परभाव कहते है। इसमे तो अनेकातिक दोष है, क्योकि ऐसे भी परभाव होते है कि बाहरी विषयसाधनोकी ओर नही जुट रहा कोई और परभाव चल रहे है, क्योकि ये परभाव बुद्धिपूर्वक और अबुद्धिपूर्वक दोनो तरहके होते है। बुद्धिपूर्वक रागद्वेषमे तो बाहरी विषयसाधनोमे उपयोग जुटता है, पर अबुद्धिपूर्वक रागद्वेषमे, विकारोमे, बाह्य विषयसाधनोमे उपयोग नही जुटता है, दोनो तरहके परभाव है। यदि यह कल्पना करे कोई कि विपयोमे उपयोग जुटता तो विकार हो तो फिर दूसरी बात यह है कि उपयोगका बाह्य साधनोमे जुटना कारण बना और विभावोका होना कार्य बना, यह विपरीत स्थिति आती है। तब वास्तविकता क्या है? यह है कि पर मायने कर्म। पौद्गलिक कर्मोका उन पौद्गलिक कर्मोका विपाक हुआ, उदय काल आया और उसमे वे कर्म जिस प्रकृति अनुभाग वाले थे उस ढगमे वैसा विकार बना और अनिवारित प्रतिफलन होता ही है, बस परभाव बना। अब उस प्रतिफलनमे उस कर्मरस की छायामे जो जीव जितना झुके उसको उतनी तीव्रताकी बात आती है। तो पौद्गलिक कर्मका उदय पाकर जो भाव होते है उसे कहते है परभाव। विषयसाधनोमे जुटनेका भाव बनता इस कारण परभाव नही, किन्तु पौद्गलिक कर्मका उदय होने पर जो विकार बनता है जीवमे उसे कहते है परभाव, परका निमित्त पाकर अपने आपमे होने वाले भाव। तो ये असंयमभाव परभाव है, क्योकि ये सब चारित्रमोहके विपाकसे हुए है।

जीवविकारके प्रसंगमे कारणोका विवेचन—देखिये—तीन बातें फिर याद कीजिए। जीवविकारके प्रसगमे तीन कारण होते है—(१) उपादान कारण, (२) निमित कारण और (३) आश्रयभूत कारण। उपादान कारण तो यह अशुद्ध जीव है रागद्वेष वाला और निमित्त कारण है कर्मोदय और आश्रयभूत कारण। कर्मके सिवाय बाकी जगतके वे सब पदार्थ जिनको जीव उपयोगमे लेता है और व्यक्त कषायमे आता है ये सारे साधन जितने दिखने वाले है वे सब आश्रयभूत कहलाते है। आश्रयभूत कारण उपचारित कारण है, झूठा कारण है, इसका नैमित्तिकके साथ अन्वयव्यतिरेक सम्बध नही है। न जुटे बाह्यमे उपयोग तो भी विकार होते है, क्योकि बुद्धिपूर्वक विकार इसीको ही कहा करते है। तो बाह्य पदार्थमे उपयोग जुटना यह निमित्त कारण नही कहलाता, जिससे कि यह बात समझी जाय कि देखो यह नौकर सामने था, फिर भी क्रोध नही आया। यह जीव भगवानके समवशरणमे गया, फिर भी सम्यग्दर्शन नही हुआ। तो समवशरण सम्यग्दर्शनका निमित्त कारण नही, नौकर-चाकर आदिक जिन-जिन बातोपर गुस्सा आती है वे वे क्रोधादिकके निमित्त कारण नही है, ये सब उपचरित कारण है, और ये बुद्धिपूर्वक कषाय जगनेके प्रसंगमे आश्रय हुआ करते है। निमित्त कारण तो

सम्यग्दर्शनके लिए ७ प्रकृतियोंका उपशम, क्षय, क्षयोपशम और क्रोधादिक विकारके लिए क्रोधप्रकृति आदिकका उदय ये निमित्त कारण है, क्योंकि इनका अन्वयव्यतिरेक सम्बध है नैमित्तिकके साथ अर्थात् क्रोधप्रकृतिका उदय न हो तो जीवमे क्रोधभाव हो नही सकता। यह व्यतिरेक सम्बध है, इस कारण नैमित्तिकताकी सही बात ध्यानमे लायें। लोग प्राय. इन बाहरी बातोमे जो देखा बस उनमे ही कारणकी कल्पना करते है। सो समझना चाहिए कि ये सब उपचरित कारण है, वास्तविक कारण नही है, एक बात। दूसरी बात—इसमें कारण की बात केवल एक जीव विकारके प्रसगमे ही आती है, बाकी सर्वत्र दो ही कारण होते है—(१) उपादान कारण और (२) निमित्त कारण। जैसे बाहरमे इतने अचेतन पदार्थ है उनमे अनेक परिणतियाँ हो रही है। आगका सन्निधान पाकर तिनका जल गया तो तिनका जला वह है उपादान कारण, आगका सन्निधान मिला वह निमित्त है। वहां आश्रयभूत कारण नही होता। आश्रयभूत कारण तो केवल जीवविकारके प्रसगमे है। जिसपर उपयोग दे, जिसको ज्ञानमें ले और यह उपयोग व्यक्त विकृत हो वह आश्रयभून कारण होता है। तो असंयम भावमे ये सब आश्रयभूत कारण हैं।

आश्रयभूत कारणके परिहारकी आवश्यकता—आश्रयभूत कारणके त्यागका समयसारमे उपदेश किया गया है। जहाँ कहा गया कि बाह्य पदार्थोंका आश्रय किए बिना अध्यवसान अपना स्वरूप नही रख पाता। तो वही प्रश्न किया गया तो फिर बधका कारण कौन है ? बाह्यवस्तु बंधका कारण है क्या ? नही नही, बंधका कारण तो अध्यवसान है और उस अध्यवसानका कारण बाह्यवस्तु है, जिसपर आश्रय करके अध्यवसान बना, सो इसी कारण बाह्य वस्तुका प्रतिषेध किया जा रहा है। यह ही कुञ्जी समस्त चरणानुयोगकी है कि अध्यवसानका कारणभूत, आश्रयभूत कारण नही हो तो यह बहुत सम्भव है कि अध्यवसान इसके न हो। कोई ऐसी वासना वाले भी पुरुष होते है कि बाह्यवस्तुका त्याग कर दिया, फिर भी वह उसकी चिन्ता, उसका शल्य, उसका विकल्प रखता है. तो हो कोई ऐसा हो जाय तो उत्सर्गके उपदेशमे तो यह ही विधि है कि बाह्य वस्तुका त्याग करे। जब अन्त.भाव उमडते हैं, अपने आपकी ओर भाव जगते है, बाह्यपदार्थोका त्याग आसानीसे हो जाता है, तो असयमभावमे बाह्यवस्तुका आश्रय भी आया यहाँ और चारित्रमोहनीयका उदय यह निमित्त है, वह भी आया यहाँ और स्वयं जो असंयमरूप परिणम रहा है जीव, वह है अशुद्ध उपादान।

असंयम भाव व कषायभावमे परस्पर अन्तर जाननेकी जिज्ञासा—यहाँ प्राणियोकी दया, प्राणियोकी रक्षाको बताया प्राणिसयम और इन्द्रियोसे विरक्त होनेको बताया इन्द्रियसयम। तो यहाँ एक प्रश्न किया जा रहा है कि असंयम और कषायमे परस्पर अतर है क्या ? चारित्रमोहके उदयमें कषाय हुई और चारित्रमोहके उदयमे ही असयम हुआ, अन्तर क्या रहा कषायमे और असयममे ? कषायमें भी कलुप परिणाम है, असयममे भी कलुप परिणाम है,

फिर दो बातें अलगसे जो कही गईं हैं, कषायको भी औपाधिक भाव बताया, असंयमको भी औपाधिक भाव बताया, और दोनोका निमित्त है चारित्रमोहका उदय, फिर इनमे अन्तर क्या रहा, एक ऐसा प्रश्न हो रहा है । यह सब भीतरमे एक बहुत तथ्यकी बात अभी बताई जावेगी इसी अन्तरके परिचयमें, उस अन्तरको बतलाते है ।

सत्य चारित्रमोहस्य कार्यं स्यादुभयात्मकम् ।
असंयमः कषायाश्च पाकादेकस्य कर्मणः ।।११२६।।

असंयमभाव और कषायभावमें परस्पर अन्तर बतानेके प्रसंगमें समाधानकी संक्षिप्त दिशाका दिग्दर्शन—कहते हैं कि बात तो सही है कि चारित्रमोहका कार्य असयम है और चारित्रमोहका कार्य कषाय है, एक ही कर्मके विपाकमे ये दोनों बातें हुईं, सो होओ, इसमे विरोधकी बात कुछ नही । आगे बतायेंगे कि एक ही कर्ममे दो प्रकारकी शक्तियाँ हैं । जैसे अनन्तानुबंधी कषायमे सम्यक्त्व घातनेकी शक्ति और चारित्र घातनेकी शक्ति—ये दोनो शक्तियाँ है तो चारित्रमोहमे कषाय और असंयम दोनोकी शक्ति है । भले ही एक ही कर्मके उदयमे ये दोनो भाव होते है । यहाँ एक बात और समझनी है अन्तर समझनेके लिए । कषाय मायने क्रोधरूप विकल्प । क्रोध, मान, माया, लोभ रूप विकल्प ये तो हुए कषाय और असंयम क्या कि आत्मस्वरूपमे न लग सकना, वहाँ भी अभिमुख न हो पाना, उसमे स्थिर न होना, उसकी ओर चलना भी नही, यह हुआ असयम । अब यहाँ अन्तर आप ताड गए होंगे कि बात एक ही है और एक ही समयमे हो रहे है और एक ही कर्मविपाकमे चल रहे है, मगर देखो क्या एक कारणसे दो प्रकारकी बात नही होती क्या ? अनेक वस्तुओमे ऐसी सामर्थ्य है, अग्नि है, प्रकाश भी करती, जला भी देती, ये दोनों काम एक साथ तो कर ही रही है—गर्मी बढाये और प्रकाश भी हो, तो एक ही परिणाम है वह, मगर उसकी दृष्टि देखिये—आत्मस्वभावमे स्थिर न होना यह तो हुआ असयम और क्रोध, मान, माया, लोभ रूप विकल्प चलना, यह हुआ कषाय और दोनो का निमित्त चारित्रमोहका उदय है ।

निमित्तनैमित्तिक भावके परिचयसे प्रयोग योग्य शिक्षण—एक शिक्षा इस निमित्त-नैमित्तिक भावके परिचयसे अवश्य लेनी कि जब यह परिचय होता है कि यह मलिनता, यह कलुषता इस जीवमे स्वय अपने आपके स्वभावसे नही आयी है, किन्तु पर-उपाधिका सन्निधान पाकर आयी है, जिसमे कि रञ्च भी विवाद नही । हाँ, कर्ता कर्मको बुद्धि कोई करे तो वह मिथ्या है । कोई भी पदार्थ किसी दूसरे पदार्थरूप कभी परिणम ही नही सकता । स्वरूपमे ही यह बात नही है । वस्तुस्वरूप ही नही कि परसे कुछ मिले । अगर कोई भी विकार, कोई भी विषमता चाहे छाया हो, प्रकाश हो, गर्मी हो, सर्दी हो, क्रोध हो, मान हो, कहीं भी हो अचेतनमें हो, चेतनमें हो, जितना विषम परिणाम है, जो एक समान नही रह सकता, चिर

काल तक, ऐसी जितनी भी स्थितियां है वे स्थितियाँ पर-उपाधिके अभावमें हो ही नही सकती। कोई भी उदाहरण न मिलेगा ऐसा, न चेतनमे, न अचेतनमें कि कोई भी विसम स्थिति पर-उपाधिके सन्निधान बिना हुई हो। बात यहाँ यह कही जा रही है कि निमित्तनैमित्तिक भाव के परिचयसे स्वभावदृष्टि पाना कितना सुगम है ? जहाँ यह बोध हुआ कि यह सब ऊधम, विपत्ति, यह कषाय, यह विकल्प, ये सब क्या है ? यह सब कर्मरसकी झलक है। मै तो अपनेमे सहज चैतन्यस्वरूप हूं, अपने आप अपने स्वभावसे तो मै एक चैतन्यप्रकाश मात्र हू। जैसे दर्पणको निरखकर यह ज्ञान हो जाता है सहसा कि इसमे यह प्रतिबिम्ब सम्मुख आया, हाथका फोटो आया, जो छाया आयी है सो ये परभाव है अर्थात् परनिमित्तका सन्निधान पाकर होने वाली परिस्थिति है। यह उस दर्पणकी, स्वयकी झिलमिलसे उत्पन्न नही हुआ है। यद्यपि यह बात है कि स्वयंकी झिलमिल न हो तो वहाँ फोटो नही आ सकती, मगर वह प्रतिबिम्बका आना, फोटोका आना, परसन्निधान पाकर हुआ है इसलिए परभाव है, और लोग प्रक्रिया करके हटा देते है। न चाहिए फोटो, खाली दर्पण चाहिए, तो उसकी प्रक्रिया कर लेते है, तो यहाँ तो प्रक्रिया इस तरह है, पर अपने आत्माकी विभाव हटानेकी प्रक्रिया स्वभावदर्शन है, स्वभावदृष्टि है। ये विभाव फेंके तो जा नही सकते, छुवे तो जा नही सकते कि इन कषायोंको, इन असंयमोको मुट्ठीमे बाधो और दूर फेंक दो। यह विभावनिवृत्ति तो स्व-भावदृष्टिसे सहज बन जाती है। स्वभावका उपयोग कीजिये, स्वभाव केवल ज्ञानप्रकाश मात्र है। अपने आपके सत्त्वके कारण, अपने ही अगुरुलघुत्व गुणके कारण, निरन्तर परिणमन-शीलताके स्वभावके कारण यहां निरन्तर जो अपना अनुरूप एक प्रकाश है, प्रतिभास है वह मेरी समृद्धि है, ऐसा निरखकर उसका सामर्थ्य, उसकी शक्तिको निरखते हुए वैसा ही अपने ज्ञानको स्थिर करना यह है विकार, विभावको फेंक देनेका उपाय। उन विभावोपर, उन विकारोपर दृष्टि रखकर ये नही हटा करते, बल्कि जैसे कोई अपनी छायाको पकडकर हटाना चाहे तो वह उसे यो हटा नही सकता, क्योकि ज्यो-ज्यो वह उसे पकडनेकी कोशिश करेगा त्यो त्यो वह छाया बनती ही चली जायगी और उस छायाको हटानेका विकल्प छोड दें, उससे मुख मोड लें, उसे देखें ही नही तो वह छाया आपके उपयोगसे दूर हो जायगी। तो इसी तरह हम इन विभावोको, इन विकारोंको दृष्टिमे रखकर हटाना चाहे तो ये इस तरहसे हट नही सकते, बल्कि उनको हटानेका विकल्प बनाया तो अपने ऊपर एक विकल्पका विकार और सवार कर लिया। हटानेकी बात तो दूर रही। इन विभावोको हटानेका उपाय केवल स्वभावाश्रय है, उनकी ओर दृष्टि करना उनके हटानेका उपाय नही है। तो यहां असंयमके प्रकरणमें बताया जा रहा है कि यह असयम औपाधिक भाव है। चारित्रमोहका उदय पाकर हुआ है। तो अब क्या करना ? अरे करना क्या ? जान ले सही कि ये औदयिक हैं, मेरे

स्वरूप नही है। मै परमे लगूँ क्यो ? मै औदयिकमे क्यो जाऊँ ? नही नही, मै तो अपने मे ही रहूंगा। मै तो अपने स्वरूपमे ही रहूगा, मै तो अपने स्वभावकी ओर ही रहूगा। तो भले ही ये असयमभाव एक चारित्रमोहके उदयमे हुए है, पर जो स्वभावमे न लगना यह बात चल रही है वह तो है असयम और विकल्प उखड रहे है, उछल रही है कषाये ये है कषायें यह इन दोनोमे अन्तर है।

पाकाच्चारित्रमोहस्य क्रोधाद्याः सति षोडश।
नव नोकषायनामानो न न्यूना नाधिकास्ततः ॥११२७॥

असंयम और कषायमे अन्तर बतानेके प्रसङ्गमे कषायके हेतु व भेदोंका कथन—चारित्रमोहके उदयसे क्रोधादिक आते है और वे १६ प्रकारके भेद है—अनन्तानुबधी क्रोध, मान, माया, लोभ, अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ, प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ संज्वलन क्रोध, मान, माया, लोभ। और ६ नोकषाय हुआ करते है—हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, और तीनो वेद ये सब १६ व ६ मिलकर २५ कषायें है। ये चारित्रमोहके उदयसे होते है, और साथ ही यह भी तो निरखना कि इन कषायोके समय, इन विकल्पोके समय यह जीव क्या अपने स्वरूपमें स्थिर है या अलग है ? उसके असयम बन रहा है। उस असयमकी जातियां अनेक है और तुलनामे सूक्ष्म दृष्टिसे स्वरूपमे स्थिर न होने तक किसी भी स्थितिमे हो, उस असयतताको देखा जा सकता है, फिर भी चूकि सयमासयम और संयमके भेद भी है। इस कारण लेशमात्र भी सयम नही होना, उसे असयम कहा गया है। इस तरह कषायमे और असयममे यह अन्तर स्पष्ट हुआ। तो इसका खुलासा आगे भी किया जायेगा। इस प्रकरणसे बस यह शिक्षा लें कि असयम मेरा स्वरूप नही, ये भोगने पड रहे है। मैं तो केवल चैतन्यप्रकाश मात्र हू। मै अपने ही स्वभावकी ओर जाऊँगा। इस कर्म-लीला और कर्मरसकी ओर मै न दौडूंगा।

पाकात्सम्यक्त्वहानिः स्यात् तत्रानन्तानुबन्धिनाम्।
पाकाच्चाप्रत्याख्यानस्य सयतासयतक्षतिः ॥११२८॥

अनन्तानुबन्धी कषायोके उदयसे सम्यक्त्वकी हानिका कथन—असयम भाव औदयिक है, इसी प्रसगमे असयमभावके कारणभूत कषायोकी चर्चा चल रही है। चारित्रमोहमे दो प्रकारकी शक्तिया है कि वह असयमका भी कारण हो और कषायोका भी कारण हो। तो १६ कषायोमे कौनसी कषाय किस कार्यका निमित्त है ? यह बात इस श्लोकमे कही जा रही है। अनन्तानुबधी कषायके उदयसे सम्यक्त्वकी हानि होती है। अनन्तानुबंधी कहते है मिथ्यात्वका अनुबधन करने वाली कषायको। उस कषायप्रकृतिके उदयमे सम्यक्त्वकी हानि है। देखिये—इन सब घटनाओसे निश्चयनय और व्यवहारनय—इन दोनोसे क्या ज्ञात होता है कि जीवमे जो कुछ होता है वह जीवकी परिणतिसे होता है, यह निश्चयनय बतायगा। निश्चय-

नय दूसरे द्रव्यपर दृष्टि नहीं देता। उसका एक ही द्रव्यसे काम रहता है—स्वाश्रितो निश्चय, केवल एक ही स्व, जिसकी चर्चा हो उसमे ही जो अभिप्राय बनता है उसे निश्चयनय कहते है। तो निश्चयनयसे देखते जाओ तो एक ही चीज दिखेगी। तो वहाँ जीवमे यह मिथ्यात्व परिणति है, सम्यक्त्व परिणति है। ये परिणतियाँ होती जा रही है, उसका कारण वही है। शुद्ध हो वह भी अपनी परिणतिसे परिणमता, अशुद्ध हो तो भी अपनी परिणतिसे ही परिणमता है, यह दिखेगा। व्यवहारनयसे देखेंगे तो निमित्तनैमित्तिक भाव दिखेगा कि वस्तु तो अपने आप अपने स्वरूपमे अपने ही स्वरूपमात्र है, उसमे जो कार्य होना चाहिए वह तो शुद्ध परिणमन ही होना चाहिए। मगर यह ऊधम कैसे आया? यह तो व्यवहारनय निर्णय बतायगा कि पर-उपाधिका सन्निधान पाकर यह बात बनी है। व्यवहार और निश्चयनयसे हुए जो ज्ञान है उन दोनोंको बहुत संक्षिप्त भाषामे जानें तो कहियेगा—घटित ज्ञान और फलित ज्ञान। निश्चयनयमे जो वर्णन हुआ वह फलित ज्ञान है और व्यवहारनयने जो वर्णन किया वह घटित ज्ञान है। कैसे घटा, क्या बात हुई, यह निर्णय व्यवहारनयने बनाया और घटना के फलस्वरूप क्या बात गुजरी? वहाँ तो घटनापर दृष्टि न देकर केवल एक उस गुजरे गुजरे पर ही ध्यान दिया जाय तो वह फलित कार्यका ज्ञान कहलाता है।

द्रव्य या पर्यायविषयक किसी भी बोधका प्रतिपक्षका विरोध कर एकान्त करनेमें अश्रेय—द्रव्य व पर्याय—इनमे अगर कोई एकांत बने, जैसे फलित कार्यका एकांत बनता, वह तो पदार्थमे उसकी योग्यतासे ऐसा होता ही चला जा रहा, इसमें परकी क्या बात? निमित्त सन्निधान हो न हो, अपेक्षा हुई तो हुई, न हुई तो न हुई। इस प्रकारका अभिप्राय बनाकर जो एक फलित अर्थका ही एकान्त किया जाय तो वह मिथ्या इस कारण हो जाता कि जब एक अपने आपसे ही यह सब कुछ हुआ, वहाँ पर-उपाधिके सन्निधानकी बात ही नही है तब यह विकार तो नित्य हो जायगा। सदा विकार होते रहेंगे, और विषमता क्यों हो रही है? यह भी एक समस्या सामने आयगी। और निमित्तनैमित्तिक भावका आशय बदलकर एकान्त कर दिया जाय तो क्या दोष? यह भी देखिये यहा एकान्तका अर्थ क्या है कि प्रतिपक्षनयकी बात न मानकर विवक्षितनयको ही मानने को एकान्त कहते है। एकान्तका अर्थ ही यह है कि जब वस्तु द्रव्यपर्यायात्मक है तो आत्मामें पर्यायकी बातका विरोध करके द्रव्यकी ही बात मानना एकान्त है तथा द्रव्यकी बातका विरोध करके पर्यायकी ही बात मानना एकान्त है। जैसे द्रव्य और पर्याय दृष्टिसे दो एकान्त ज्यादह प्रसिद्ध है—(१) सांख्य (२) बौद्ध। सांख्यने किया द्रव्यका एकान्त, बौद्धने किया पर्यायका एकान्त। तो सांख्यने द्रव्यका एकान्त किया तो वहाँ उन्होंने यह घोषणा की कि ब्रह्म है, एक है, अद्वैत है, अपरिणामी है, उसमे कुछ बदल ही नहीं है, यह एकान्त बनता और बौद्धने पर्यायका एकान्त किया तो एक क्षणको जो पर्याय

है उसे ही पूरा सर्वस्व पदार्थ मान लिया तब ही तो वह एकान्त बना। तब जब पर्यायको पूरा एक द्रव्य मान लिया तब वहा ये निर्णय चले, जैसे कि बौद्ध शास्त्रोंमे बहुत भरे हुए है कि बस एक वही क्षण, उसका नाम है क्षण। पर्याय शब्दमे वे नही बोलते, द्रव्य शब्दसे भी नही बोलते, किन्तु उसका नाम रखा है क्षण। मायने वह पूरा पदार्थ एक समयका क्षणिकवाद मे एक समयका ही पदार्थ होता है, दूसरे समय ठहरता ही नही पदार्थ। आप पर्याय शब्द बोलते जावो ताकि उसके साथ समन्वय हो सके कि पर्यायके एकान्तमें और बौद्धमतका कैसा समन्वय चलता है? क्षणिकवादका सिद्धान्त है कि वह अपने समयमे होता है। उसका कोई हेतु नही है। क्षणकी (पर्याय की) उत्पत्ति अहेतुक है। हाँ थोडा सा उनको यह कहना पडा कि विनाश सहेतुक है। क्यो कहना पडा, क्या बात थी? विनाशको भी अहेतुक कह देते तो उस क्षणका नाम आप पर्याय लेते जाइये, उस क्षणका कोई कारण नही, उस क्षणका कोई कार्य नही। वह स्वतत्र है, उसका किसी भी पूर्वसे, परसे कोई सतान नही। एक पर्यायको ही पूरा द्रव्य माना और सूक्ष्म ऋजुसूत्रनयकी दृष्टिसे जो जैनसिद्धान्त कह सकता है उसीको ही सर्वथा कह डाला, यह पर्याय एकान्तकी बात है। मगर वस्तु तो द्रव्यपर्यायात्मक है। एक बार तो यह कहा जा सकता कि वस्तुमे जो गुणकी चर्चा है वह काल्पनिक है। यद्यपि वह कल्पना कोरी नही है, क्योकि वस्तुस्वभावके अनुरूप उतरी है, फिर भी भेद करके ही तो कहा। तो एक बार गुणकी कल्पनाओको गौण कर दो, अथवा दृष्टि ही न दो, काम चल जायगा एक बार, क्योकि गुणोका जो एक पुञ्ज है वह स्वभाव अखण्ड है वह तो माना ही जा रहा है। मगर पर्यायका प्रतिषेध करके काम बिल्कुल नही चलता, क्योकि वस्तु मूलतः द्रव्य-पर्यायात्मक है। केवल द्रव्य द्रव्य नही, केवल पर्याय पर्यायरूप नहीं। पर्यायशून्य द्रव्य साख्य का है। द्रव्यशून्य पर्याय बौद्धोका क्षण है। तो जब हम एक निश्चयनयसे निरखते है तो उस ही वस्तुमे उस ही की पर्याये सब दृष्टगत होती जाती है। मगर घटितका निषेध करके फलित का ज्ञान करना उतरेगा नही। अब घटित ज्ञान जानमे भी याने क्या घटना हुई, किस उपाधि का सन्निधान हुआ, उपादान किस रूप परिणम गया, इस चीजको अगर उपादान और उसकी परिणति ये न कबूल करें तो उसका भी एकान्त बने। वहाँ कर्ता कर्म बुद्धि बन जाती है।

स्याद्वाद शासनके उल्लंघनमे अहित—भैया! स्याद्वादकी ऐसी हितमयी कला है कि इसमे बडा संतुलन करना होता है। जैसे किसीको कोई गर्मीका रोग है तो उसको तेज ठडी बढाने वाली दवा न दी जायगी। कुशल वैद्य क्या करता है कि गर्मी और सर्दी इन दोनोका मिश्रण उत्पन्न करने वाली दवा देगा। न अधिक गर्मी बढाये और न अधिक सर्दी, गर्मी भी रहे और सर्दी भी ऐसी सयुक्त औषधि देता है। अगर गर्मीके रोगने रोज सर्द चीज दे दी जायगी तो भी मर्ज काबूमे न रहेगा और अगर सर्दीके रोगमे तेज गर्म चीज दे दी जायगी तो

भी रोग काबूमे न रहेगा। तो जैसे गर्मीके रोग वालेको गर्म दवा अधिक और शीतदवा कम, ऐसी संयुक्त बात होती है वह असर करती है, ऐसे ही दो नय है—(१) व्यवहारनय और (२) निश्चयनय। व्यवहारनयने तो निमित्तनैमित्तिक बतलाया और निश्चयनयने एक फलित बात बतलायी। अब इनमे किसीको मान लो, किसीको निश्चयएकान्तका रोग हो गया तो अब उसे यदि तेज दवा दी जाय, मायने कर्ता कर्मत्व बुद्धिकी बात सुना करे, लो कर्मने ही तो किया यह, ऐसी तेज दवा दी जाय और वह उस दवाको अंगीकार कर ले तो वह वहाँ से भ्रष्ट हुआ तो यहाँ भी उसका रोग बढ़ गया। इसी तरह जो व्यवहारका रोगी है उसको निश्चय एकान्तकी तेज दवा दी जाय, अजी वहाँ निमित्त कुछ नही है, वह तो कहने मात्रको है। यह सब उसकी योग्यतासे चल रहा मानो इस भाषामे कि हो तो क्या, न हो तो क्या, वह तो हो ही रहा, तो ऐसी तेज दवा देनेसे इसका भी रोग काबूमे न रहेगा याने रोग काबूमे रहनेके मायने यह है कि यह जीव स्वभावदृष्टिका पात्र बने। स्वभावदृष्टिका पात्र बनना है तो प्रतिपक्ष नयको अगीकार करके विवक्षित नयकी मुख्यता लेकर स्वभावदृष्टिके लिए उद्यम करे, बस यह है एक सही उपाय।

स्वभावदृष्टिके पौरुषका लक्ष्य करके नयोंका विषय जाननेकी उपयोगिता— देखिये— जब अनुभव जगता है तो अनुभवसे पहले शुद्ध नय होता है। शुद्ध नयका विषयभूत जो एक अवक्तव्य अखण्ड अभेदस्वरूप है उस तक आये कोई तो अनुभवमे उतरेगा, मगर उससे पहले निश्चयनय, व्यवहारनय ये सब उसके प्रयोगमे आते है। जैसे यहाँ वर्णन औदयिक भावोका चल रहा और यह निरखा जा रहा है कि कषाय प्रकृतिका, उदयका सन्निधान पाकर ये विभाव मच रहे है, ये आत्माके स्वभावकी वस्तु नही। आत्मा इनसे निराला अपने स्वरूप मात्र है। ऐसा ध्यान यहाँ आये और उस अखण्ड स्वरूपमे इसका ज्ञान बने तो वह स्वानुभव के निकट वाला ज्ञान है। इसी तरह निश्चयनय द्वारा यह पदार्थ है, इसपर यह परिणति हुई है, इसकी यह परिणति है, इस तरह ध्यान दे तो किसकी परिणति है, यह मुख्य विषय बन जायगा। तो एक उसपर दृष्टि रहनेसे शुद्ध नयके विषयभूत अखण्ड तत्त्वका ज्ञान बनता है और उससे फिर स्वानुभव होता है। तो जिससे काम निकले उस दृष्टिको अपना मुख्य बनावे, मगर उसके प्रतिपक्ष बातका विरोध न करें, अन्यथा एकान्त हो जाता है। तो औदयिक भाव के इस प्रकरणमे इसी तरहसे सब निरखने वाली बातें है। अनन्तानुबंधी कषायोके उदयसे सम्यग्दर्शनको हानि होता है और अप्रत्याख्यानावरण कषायके उदयसे संयमासयमकी क्षति होती है। देखो कर्म क्या वस्तु है, उसका भी तो पूरा निर्णय होना चाहिए। कर्मके बारेमे कर्मसिद्धान्त की बातको हम कुछ भी न जानना चाहे तो भी बात स्पष्ट न बनेगी। उसका भी विषय उतना है कि जितना आत्मतत्त्वके विषयने वर्णन हो सकता है, चलता है और ग्रन्थोमे

लिखा है उससे तिगुना चौगुना वर्णन कर्मके सिद्धान्तस्वरूप और उसकी स्थितियोके जाननेके लिए शास्त्र है और वर्णन है। याने आत्मतत्त्वके वर्णनमे जितने ग्रन्थ है, जितना विषय है, जितनी बात है उससे कई गुनी बात कर्मसिद्धान्तके विषयमे ग्रन्थ है, वर्णन है। हमे जब कर्म की बात भली प्रकार ज्ञानमे होती है तो बहुत जल्दी निर्णय हो जाता कि यह सब कर्मरस है, कर्मविपाक है, कर्मछाया है, इससे मेरा मतलब नही। जब उसका पूरी तरहसे ज्ञान हो कर्म सिद्धान्तका तो यह निर्णय दृढ होता है और फिर यह अपने सहजस्वरूपके लक्ष्यमे निःशंक पहुचता है।

प्रत्याख्यानकषायाणामुदयात् सयमक्षतिः।
सज्वलननोकषायैर्न यथाख्यातसयम ॥११२६॥

संयम और यथाख्यातसंयमके घातक कर्मके विवरणके प्रसंगमें कर्मास्रव विधानका दिग्दर्शन—प्रत्याख्यानावरण कषाय नामक चारित्रमोहकर्मके उदयसे सयमकी क्षति होती है और सज्वलन नोकषाय नामक चारित्रमोहके उदयसे यथाख्यात सयम नही होता। देखिये कर्म क्या चीज है ? जैसे यहाँ दिखने वाले ये बाहरी पदार्थ हैं ना ? ये अजीव हैं, अचेतन है, ऐसे ही न दिखने वाले बहुत सूक्ष्म एक कार्माण जातिके पुद्गलस्कध है। सो जैसे हैं सो है वे, जिस समय जीवमे रागादिभाव हुआ, विकार हुआ तो उसका सन्निधान पाकर जो कर्म उदयमे आये है वे नवीन कर्मबन्धके कारण बन जाते है। अभी आस्रवके बारेमे भी यह चर्चा बहुत कम है और यह समयसारके आस्रवाधिकारकी प्रथम दो गाथाओमे बताया है कि नवीन कर्म का जो आस्रव होता है उसका कारण रागद्वेषभाव नही, नवीन कर्मके आस्रवका कारण उदयमे आये हुए कर्म है। यह चर्चा जरा कम है और एकदम सब जानते है कि नवीन कर्मके आस्रव का कारण जीवके विकार भाव है याने जीव विकार परन्तु सूक्ष्म दृष्टिसे वर्णन करें तो यह समझमे आयगा कि नवीन कर्मके आस्रवका कारण वर्तमान कर्मोदय है। द्रव्यप्रत्यय बोलते हैं उसे और द्रव्य प्रत्ययमे नवीन कर्मके आस्रवका निमित्तपना आ जाय उसका निमित्त है रागादिक भाव। तो अब देखना, डोर किसके हाथ है ? हिलाया तो पतग चली, वह है रागादिक विकारके हाथ। जैसे एक दृष्टान्त लो—जलते दोपहरके समय कोई बालक घरके बाहर धूपमे दर्पणको इस तरहसे ले कि दर्पणका वह प्रकाश घरमे चला जाय, करते ही है ऐसा, तो अब यह बतलावो कि उस घरमे जो वह तेज प्रकाश पहुचा तो प्रकाश मायने उस घरमे रहने वाली चीजें प्रकाशित हुईं, उसका निमित्त कारण क्या है ? मोटी दृष्टिसे तो कहेगे कि सूर्य है, मगर सूक्ष्म दृष्टिसे विचारे तो घरमे जो प्रकाश पहुचा है उसका निमित्त दर्पण है, सूर्य नही है, पर दर्पणमें उस घरमे पहुचे हुए प्रकाशका निमित्तपना आ जाय उसका निमित्त सूर्य है। तो अब डोर किसके हाथ है ? मूल बात कौन है ? मूल बात यह सूर्य। बहुत साध शब्दोमे कहा

जायगा कि घरमे जो प्रकाश पहुचा उसका भी निमित्त सूर्य है । कहनेमे कुछ हर्ज नही । ग्रथों में भी सीधा इसी तरह लिखा है, उसमे कोई विरोध नही, मगर बहुत उसकी सूक्ष्मतासे चिन्तन चले तो घटना इस तरह होती है । तो जब रागादिक विकार हुए, कर्मका आस्रव हुआ । कहां ? यहाँ ही एक क्षेत्रावगाहमें । जितने कर्मरूप परमाणु है उनसे अनतगुणे उम्मीदवार कर्म परमाणु रहते है जीवके साथ जो कर्मरूप नही बने, मगर कर्मरूप बन सकेंगे । ऐसी वर्गणाये इसके साथ उतनी है जितनी कि कर्मरूप वर्गणायें है उनसे भी अनंत । तो वे कार्माणवर्गणाके परमाणु कर्मरूप बन गए, मायने उनमे प्रकृति आ गई कि ये कर्म इस प्रकारके फल वाले होगे, उसमे स्थिति आ गई कि ये कर्म इस जीवके साथ इतने दिन तक रहेगे, उनमे प्रदेश आ गए कि ये कर्म इतने परमाणुओमे है, उनमें अनुभाग आ गया कि ये कर्म इतनी डिग्री तकका तीव्रता व मंदताका फल बनायेंगे । ये चारो बातें उसी समय बन गई ।

असंयतभावके औदयिकत्वकी संसिद्धि—अब यह ध्यानमे दीजिए कि जब प्रकृति प्रदेश स्थिति अनुभाग चारो बातें करोडो भव पहले बँध गईं । उन कार्माणवर्गणाओंमे तो अब सहसा यों कहना कि जब जीवमे राग आया सो निमित्त हाजिर हो गया, यह मनमानी बात अब न बनेगी । ऐसा कहनेमें तो यह सिद्ध हो जाता है कि राग होना निमित्त है और कर्मोदय होना नैमित्तिक है, पर ऐसी परिभाषा तो आगममे है ही नही और न हम विकारोसे हटनेका रास्ता पा सकते हैं । बात बहुत सीधी है । एक द्रव्य दूसरे द्रव्यका कर्ता नही है । यह वस्तुमे एक त्रैकालिक स्वरूप पडा हुआ है । उसमे कभी रंचमात्र भी गडबडी न हो सकेगी । निमित्त उपादानकी परिणति कभी भी नही करता । अगर करने लगे तो जगत शून्य हो जायगा, क्यो कि निमित्तने उपादानकी परिणति कर दी । सब चीज तो एक रहनी चाहिएँ ना, दो द्रव्य न रह सकेंगे । अब कौन रहे तो वस्तुका उच्छेद हो जायगा । पर यह भी जानें कि जो भी विकार होता है वह निमित्तकी अनुपस्थितिमे हो ही नही सकता । चाहे चेतनका देखो चाहे अचेतनका । जो भी वस्तु होती है वह निमित्तकी अनुपस्थितिमें नही होती । तब ये दोनो बातें सामने है कि निमित्त बिना जीवविकार होता नही, निमित्त जीवविकारको करता नही । जब ये दोनो बातें है तब उसके एक सही अवबोधको अपनी प्रज्ञामे तो ले लीजिए कि तत्त्व ऐसा है ।

हां तो जो प्रकृति बँधी, अनुभाग बँधा, वर्गणाओंका उदय आया तो उदयकालमें उन कर्मोंमे ही फुटाव हुआ, बिगाड हुआ, विस्फोट हुआ, पर एक क्षेत्रावगाहमे है, बंधनमे है तो उसका ज्ञान झलका, प्रतिफलन हो रहा अबुद्धिपूर्वक याने आश्रय लेकर नहीं हो रहा, अनिवार्य हो रहा । आश्रयमें तो यह है कि आश्रय करे तो हो, न करे तो न हो, मगर यहा जो [illegible] होता है तो प्रतिफलित [illegible] है । वह चाहे गृहस्थ हो, चाहे मुनि हो, चाहे श्रेणि-

गत साधक हो। जहाँ-जहाँ उदय है वहाँ-वहाँ उसका प्रतिफलन है। अब यह अपने-अपने सामर्थ्यकी बात है, अपने ज्ञानबल और निर्मलताकी बात है कि वह प्रतिफलन प्रतिफलनमात्र रहकर खिर जाय और वह प्रतिफलन उपयोगमे गडकर भर दे, यह जीवकी एक अपनी-अपनी योग्यता वाली बात है। मगर होता यह ढग है। तो जब इन कषायोका उदय होता है तो यहाँ जीवमे प्रतिफलनके कारण यह अपनी-अपनी योग्यतासे उस-उस रूप ज्ञानविकल्पमे आता है, तो देखते जाना। वस्तुस्वातत्र्य और निमित्तनैमित्तिक भाव इन दोनोका परस्पर विरोध नही है। जो वस्तुस्वातत्र्यके मिटनेके भयसे यहाँ निमित्तनैमित्तिक भावोका प्रतिषेध किया जाय या निमित्तनैमित्तिक भावोके मिटनेके भयसे परिणति स्वातत्र्यका प्रतिषेध किया जाय, दोनो अविरुद्ध है, एक साथ चल रहे है। वही बात इस प्रकरणमे सब देखते हुए जानना है कि किस कषायके उदयमे जीवमें किस प्रकारका विकार बना, जो वह औदयिक है।

इत्येव सर्ववृत्तान्त' कारणकार्ययोर्द्वयोः।
कषायनोकषायाणा सयतस्येतरस्य च ॥११३०॥

कषाय नोकषाय नामक चारित्रमोहका व असंयमादिक परस्पर कारणकार्यभावकी सूचनाका प्रासंगिक उपसंहार—यह सारा वृत्तान्त कारण कार्यका बताया है। कषाय, नोकषायका बताया है और यह हो वृत्तान्त संयम और असयमका है। अनन्तानुबधी कषायके उदयमे असयम भाव होता है, क्रोध, मान, माया, लोभ भी होता है। जैसे कि कल कहा था कि कषाय क्या है? उस जातिके ज्ञान विकल्प। और असयम क्या है? अपने आपके स्वरूपमे स्थिर न हो पाना, अपने स्वरूपमे न लग पाना तो ये दोनो बातें क्या विरुद्ध है? ज्ञानविकल्प है उसी कालमे असयम है। तो वह ही कषाय चारित्रमोह उनका ही उदय कषायका भी कारण है और असयमभावका भी कारण है। यहा प्रयोजन वह होना है कि यह जो मालिन्य है, असंयम है, कषाय है यह औदयिक है, यह मेरा स्वरूप नही है, औपाधिक है। है तो मेरा परिणमन, मगर यह मेरे स्वरूपसे नही, कर्मविपाकका प्रतिफल न होकर मेरेमे विभाव बना है। कर्मका परिणमन कर्ममे होता है, जीवका परिणमन जीवमे होता है। अगर जीवके परिणमन न माने और सब कर्मोंके ही परिणमन माने जायें तो फिर एकदम कह दो कि मुझे क्या गरज पडी धर्म करनेकी? कर्मने किया तो कर्म रहे, कर्म भोगे। तब तो यहाँ ये कर्म वर्चस्वी हुए ना, सो ऐसा नही है। कर्म विपाक है, कर्ममे हुआ है और उस कालमे उस सान्निध्यका निमित्त पाकर जीवने अपनेमे उस पकारका ज्ञानविकल्प किया है। तो ऐसा ज्ञानविकल्प यह तो है जीवविकार और कर्ममे जो बँधनेके समयमे अनुभाग वगैरह पड गया था वह फूट गया अपनी स्थितिपर, वह सब है कर्ममे। दोनो बातें देखते जाइये। क्या यहाँ देखते नही कि दर्पणके आगे लाल कपडा किया तो लाल पीला रंग कपडेमे, और लाल पीला ही रग दर्पणमे

भी है, वह झलक रूप है, तो जैसे-जैसे रग दो जगह आया है ऐसे ही उपयोग दो जगह आया है। कपडेका रग कपडेमें ही है और दर्पणके प्रतिबिम्बका रग दर्पणमे ही है, मगर वह परस्पर निमित्तनैमित्तिक सम्बध है। निमित्तकी अनुपस्थितिमें वह फोटो वाला रग नही आ सकता। तो यह नैमितिक है, दर्पणकी चीज है, ऐसे ही निरखिये कि असयम नैमित्तिक है, औदयिक है, मेरे स्वरूपकी चीज नही है।

किन्तु तच्छक्तिभेदाद् वा नासिद्धं भेदसाधनम्।
एक स्याद्वाप्यनेक च विष हालाहल यथा ॥११३१॥

असंयमभावकी औदयिकताके विवेचनका प्रसंग एवं औदयिकताके प्रतिपादनका प्रयोजन स्वभावदृष्टिका लाभ—यह पचाध्यायीका अन्तिम प्रकरण है। इसमे औदयिक भावों का वर्णन किया गया है। औदयिक भावोके मायने कर्मोके उदयका निमित्त पाकर होने वाले परिणाम। तो उन औदयिक भावोमे अनेक भावोका वर्णन हुआ। यह असयमभावका प्रसग चल रहा है जैसा कि तत्त्वार्थसूत्रमे बताया—गति, कषाय, लिङ्ग, मिथ्यादर्शन, अज्ञान, असयम असिद्ध और लेश्या। इनके भेद मिलाकर २१ औदयिक भाव है। उनमे यह औदयिक असयम भावका प्रकरण है। असंयमभाव औदयिक है, किसका उदय पाकर हुआ? कपाय प्रकृतियो का उदय पाकर हुआ। सामान्य रीतिसे यह वर्णन है। देखिये जितने भी विकारभाव होते है वे परउपाधिका निमित्त पाकर होते है। परिणमता तो उपादान है मगर उस परिणामके लिए एक उस अनुकुल वातावरण होता है और उस अनुकूल वातावरणमे यह अशुद्ध उपादान अपने विभावपरिणमनको करता है। यह भाव औदयिक है ऐसा निमित्तनैमित्तिक भावका परिचय स्वभावदृष्टि करानेके लिए होता है, कर्ताकर्मबुद्धि बतानेके लिए नही। जहाँ निमित्त-नैमित्तिक शब्द बोला तो तुरन्त ही यह अर्थ हुआ कि कर्ताकर्मभाव नही है। शब्दके साथ ही यह बात ज्ञात हो जाती है। एक पदार्थका दूसरे पदार्थमे कुछ भी कर्तृत्व नही है। इस लिए ज्ञानी कुछ करना ही नही चाहता। निमित्तनैमित्तिक भावके परिचयसे यह उमंग बनी कि मुझमे जो ये असयम, विकार, बिगाड़ ये जो परिणमन हो रहे है सो वे परका सन्निधान पाकर हुए है, ये मेरे स्वरूपके गाँठकी चीज नही है। स्वभाव दृष्टि करानेके लिए इस परिचय को कराते हुए समयसारमे तो एकदम पौद्गलिक कह दिया, याने रागादिक विकल्प विभाव और इतना ही नही, ये गुणस्थान, जीवसमास, संयमस्थान, लब्धिस्थान, अध्यात्मस्थान—ये सब पौद्गलिक है। इसका अर्थ क्या है? कुछ तो ऐसा भाव है कि जिसका उपादान वह पुद्गल है। जैसे वर्ण, रस, गध, स्पर्श इनका तो उपादान ही पुद्गल है, पर जैसे सक्लेश, अध्यवसान आदिक ये पुद्गलकर्मका निमित्त पाकर उत्पन्न हुए है इसलिए पौद्गलिक है। निश्चित एक देश शुद्ध निश्चयनय अर्थात् आत्माके स्वरूपको सब सही सुरक्षित स्वभावरूपसे

निरखनेके लिए चर्चा चलती है याने अन्तःदृष्टि रखकर जब विभावोंकी चर्चा चलती है तो यह ही कहने है कि ये पौद्गलिक है, मेरी चीज नही है। तो यह निमित्तनैमित्तिक परिचय स्वभाव दृष्टि करानेके लिए होता है।

चारित्रमोहमें असंयम और कषाय उत्पन्न करनेका शक्तिद्वैविध्य—यहाँ यह बतला रहे कि यह असंयम भाव कषायके उदयसे होता है इसलिए औदयिक है। तो इस प्रसगमें एक शका हुई कि कषायप्रकृतिके उदयसे तो, चारित्रमोहके उदयसे तो क्रोध, मान, लोभ आदि कार्य उत्पन्न हुआ करते है। असंयमका निमित्त तो कोई अन्य कर्म होना चाहिये। उसके उत्तरमे बोल रहे है कि चारित्रमोहमे दो शक्तियाँ पडी हुई हैं कि असयमको करे और कषाय को करे। जैसे कि पहले जब अज्ञानभावका प्रकरण चल रहा था तो यह बताया था कि अज्ञान औदयिक है। कुमति, कुश्रुत, कुअवधि को नही कह रहे, किन्तु ज्ञानकी कमी होना जो औदयिक भावमे है वह अज्ञान औदयिक है तो पूछा कि किस कर्मके उदयसे ये अज्ञान औदयिक भाव है? तो उत्तर दिया कि यह जो औदयिक अज्ञान है सो यह ज्ञानावरणके उदयसे हुआ। अच्छा और यह अज्ञान क्लेशरूप है। अब देखना कैसा-कैसा फुमामे फुंसा फूटता है? अच्छा तो यह अज्ञान बधका कारण है क्या? नही। यह ज्ञानकी कमीरूप अज्ञान भाव औदयिक होकर भी, क्लेशरूप होकर भी बधका कारण नही, क्योकि बधका कारण क्लेश नही, किन्तु सक्लेश है। फिर पूछा गया कि यह क्लेशरूपता इस अज्ञानभावमें किस कारणसे आयी है? क्लेश होता कैसे है? कहते है कि आनन्दगुणका घात होनेसे क्लेश होता है। तो इसका घात करता कौन है? तो कहते है—आठो कर्म। अच्छा अब देखिये—तो फिर चर्चा हुई कि सुना तो हमने यह है, ग्रन्थोमे लिखा है कि ज्ञानावरणकर्म ज्ञानगुणका घात करता। निमित्तनैमित्तिक परिभाषामे समझना—दर्शनावरण दर्शनगुणका घात करता। कोई कर्म इन आठोमे नही है कि किसको कहे कि यह कर्म आनन्दका घात करता? निर्णय की बात निरखते जाना। कहते कि वेदनीय कर्म तो वह है जो आनन्दगुणका घात करे। तो उत्तर दिया कि वेदनीय कर्म आनन्दगुणका घात नही करता, किन्तु क्या करता कि दु:खके साधन और इष्ट अनिष्टके समागम उत्पन्न करता। आनन्दगुणका घात करने वाले तो आठों ही कर्म है। भले ही फिर उसमें छाँट बनेगी कि देखो जहां मोहनीय कर्म नष्ट हो गया वहाँ क्लेश नही है, चारो घातिया कर्म जहां नष्ट हो गए, क्लेशका बनना नही रहा, पर सूक्ष्मतासे देखे तो आनन्द होता है, आत्मामे चारो ओरसे समृद्धि होती है और चूकि ये चारों अघातिया कर्म उन घातिया कर्मोके दोस्त तो बहुत रहे आये, उनका सहभावी रहकर वे क्लेशके साधन बने थे। उन अघातिया कर्मोमे तो वह ऐब अब भी है। भले ही वे पूर्णतया असमर्थ है। यो आठो कर्मके उदयसे आनन्द गुणका घात होता है। सो यहाँ जब आठो कर्मोके उदय

बताया। आनन्दका घात, तो वहाँ भी प्रश्न था कि कर्मोंमें तो ज्ञानघात आदि भिन्न-भिन्न कार्य करनेकी शक्ति बतायी ? तो कहा—नही । कर्ममें दो प्रकारकी शक्तिया है–(१) सामान्य-शक्ति और (२) विशेषशक्ति । सामान्यशक्तिसे तो आनन्दका घात है और विशेषशक्तिसे जो आठो कर्मोको जो जुदी-जुदी बात कही है सो है । तो ऐसे ही इन कषायोमे, प्रकृतियोमे, चारित्रमोहमें जो सामान्य शक्ति है वह तो असंयमको उत्पन्न करती है और जो विशेषशक्ति है वह क्रोध, मान, माया, लोभको उत्पन्न करती है । तो चारित्रमोहमें दो प्रकारकी शक्तियाँ है—(१) असंयम करें और कषाये करें । देखो जिस कालमें कषाय है, क्रोध, मान, माया, लोभ, उस कालमे यह जीव अपनेमें नियंत्रित है क्या, अपने स्वरूपमे मग्न है क्या ? उससे हटा हुआ है जीव तथा यह लगा कहाँ है ? यह लगा है ज्ञानविकल्पमें । यह स्वभावसे हटा, यह तो है असंयम और विकल्प लगा है यह है कषाय । तो दोनो एक साथ हुए और किस का निमित्त पाकर हुए ? चारित्रमोहके विपाकका ।

निमित्तनैमित्तिक भाव और एकत्वके प्रतिपादक नयोंका दिग्दर्शन—देखिये—यह परस्परका निमित्तनैमित्तिक भावका प्रतिपादन व्यवहारनय करता है और अध्यात्मदृष्टि या निश्चयदृष्टि एक ही वस्तुको निरखकर प्रतिपादन करता है । भले ही एक वस्तुके प्रतिपादन वाले निश्चयनयमें जब अंतरग और बहिरग दो तरहकी तुलनात्मक बात सामने आती है तो अंतरंग निश्चय बहिरंग व्यवहार हो जाता है । जैसे अशुद्ध निश्चयनयने बताया कि जीव रागी है, शुद्ध निश्चयनयने बताया कि जीव केवलज्ञानी है । अब इन दो का मुकाबला करते है तो शुद्ध निश्चयनयका विषय अतरंग विषय रहा और अशुद्ध निश्चयनयका विषय बहिरग रहा । विकार तो लिया ना, तो यह व्यवहार बन गया, किन्तु जब एक दृष्टि और सामने आती है कि जीवका तो चैतन्यस्वभाव है तो उसकी तुलनामें जीव केवलज्ञानी है । यह व्यवहारका विषय बनता है । साधारण लक्षण की अपेक्षा एक ही वस्तुमे प्रतिपादन जो किया जाय वह निश्चयनय है, अध्यात्मदृष्टि है और जो सम्पर्क, घटना, भेद सभी प्रकारके जो सही वर्णन हैं उन्हे व्यवहारनय करता है । जैसे कर्मोदयका निमित्त पाकर जीवने अपनेमे ज्ञान-विकल्प किया—यह घटना सच है कि झूठ ? सच है । चाहे वह हमारा इष्ट नही है और ऐसा हमको चाहिए नही, उससे हमें हटकर स्वरूपमे मग्न होना है, मगर हटना तो सही है । जैसे यहाँ प्रकाशमे हाथ किया तो नीचे जमीनमे छाया आयी, तो हाथका सामना पाकर यह जमीन छायारूप परिणम गई । यह बात सच है या झूठ ? है तो सच बात, मगर जब एक निश्चयदृष्टि ही करेंगे तो वहाँ हम देखेंगे कि जमीन है, वह अभी तो अधकाररूप था, प्रकाश रूप था, छायारूप था, बस जल्दी जल्दी आया गया । यह दृष्टिसे देखनेके तरीके है । जैसे सामने हम दर्पण लिए है और पाछे दो चार लड़के उछल कूद रहे है तो उनकी छाया उस

दर्पणमे प्रतिबिम्बित हो रहे, अब हम वहाँ दर्पणको देख रहे और उसके सम्बन्धका विकल्प कुछ न चले तो यह क्या केवल दर्पणकी बात जानी नहीं जा सकती ? हम दर्पणको देख रहे और उसके सम्बन्धमे सब कुछ बता रहे। अब ऐसा चित्रण हुआ दर्पणमें, दर्पणसे हुआ, दर्पणमे ही चलता, क्योंकि वह एक दृष्टिमे दिखता है ना, इसलिए यह ही यह दिखेगा। जब हम घटनाके मूडमे होंगे तो यह देखेंगे कि वे चार पाँच लड़के, उनका सम्बन्ध पाकर दर्पणमे ये प्रतिबिम्ब चल रहे है। बात सब सत्य है, किस मूडमे देखो तो क्या निरख होती है, किस मे देखें तो क्या निरख होती है ?

प्रतिपक्षनयका विरोध न करके प्रयोजनवश विवक्षित नयकी प्रधानता करनेमे स्याद्वादशासनकी सम्मति—आत्महितैषी मुमुक्षु जनोका यह तरीका होता है कि उसके प्रतिपक्षी विषयोका प्रतिषेध नही करते, है ऐसा, फिर प्रयोजनके वशसे जिस नयकी प्रधानतामे इसको स्वभाव दृष्टिकी सुगमता होती है उस नयको यह प्रधान करता है और प्रतिपक्ष नयका विरोध करके एक नयकी प्रधानता रहे, किसी एक नयका ही आग्रह करे तो वह स्याद्वाद शासन से बहिर्भूत है, बस यह ही कुञ्जी है। तभी तो आग्रहवश सांख्य वैशेषिक मीमासक बौद्ध आदिक अनेक दर्शन प्रकट हो गए है। जैसे यह वर्णन है ब्रह्माद्वैत। एक ब्रह्म है, सर्वव्यापक है, अपरिणामी है। अब देखिये जब हम दृष्टि ऐसी ले जायेंगे और इस तरह जायेंगे तो यद्यपि कुछ अद्भुत लगे ऐसी जगह दृष्टि गई कि जिससे कुछ अच्छा तो लगता है, क्योंकि बाहरके बहुत विकल्प छूटे, बाहरकी बात बहुत दूर हुई तो अच्छा तो लगा, मगर वह वस्तुस्वरूप नही है। द्रव्यार्थिक नयका विरोध करके पर्यायको ही पूर्ण वस्तु मानकर क्षणिकवाद हुआ है उसमे भी उमगें है किन्तु वास्तविकता नही। वस्तुस्वरूप पूर्ण न होकर भी अच्छा लगनका दशायें हुआ करती है, मगर स्याद्वाद शासनने तो यह बताया कि तुम निर्णय पूरा रखो हर प्रकार से और फिर आगे बढ़नेके लिए विवक्षित नयको मुख्य करके चलो तो कही धोखा नही है, कही भी अपने को आपत्ति नही है और वास्तविक जा बातें हैं वे सब सहज इसके बन जाया करती है।

असंयमकी औदयिकताके कथनमे शैक्ष्य लक्ष्य—यहाँ चल रहा है घटनाका प्रकरण। ये औदयिक भाव असयम भाव किस प्रकार हुए ? तो चारित्रमोहके उदयसे दु:खोकी शक्तिया है। अब उसमे यह बात दूसरी है कि कही असयम उतना ही है कि जिसे हम सयमासयम कहते, कही असयम उतना ही है कि जिसे हम यथाख्यात चारित्र नही कहते, महाव्रत कहते, वहाँ पर भी तो अनियन्त्रित हैं। तो ये सब भेद क्यो पडे ? तो पड गए भेद। अनेक प्रकार की प्रकृतिया होती हैं, जैसे—विष और हालाहल। अब इनमे मदता और तीव्रता तो है ही। इस प्रकार यह असंयमभावकी उत्पत्ति होती है। यह बात सुनकर क्या सोचना है कि यह

असयम मेरे लिए दुःखदायी है, यह मेरा स्वरूप नहीं यह हटाये हट जायगा। क्यो मै परकी ओर लगू, क्यो मै परको सुहावना मानू, क्यो असुहावना मानूँ ? कौन मेरे लिए बुरा, कौन भला ? जगतकी ये सब बातें जहां जैसी है वैसी है। मेरेमे तो मेरा सहज चैतन्यस्वरूप है, वही मेरा सर्वस्व है। ऐसा निरखनेकी उमग इस औदयिक भावकी चर्चामे होती है।

अस्ति चारित्रमोहेऽपि शक्तिद्वैतं निसर्गतः।
एकं चासंयतत्वं स्यात् कषायत्वमथापरम् ॥११३०॥

चारित्रमोहकी शक्तिद्वयसे असंयतपने व कषायका प्रादुर्भाव—चारित्रमोहमे जैसे कि अनन्तानुबंधी कषायमे दो शक्तियाँ है—सम्यक्त्वकी घातिनी व चारित्रकी घातिनी, इसी प्रकार चारित्रमोहमे दो शक्तिया निसर्गसे (स्वभावतः) हैं कि कषाय बनना और असंयमभाव होना। तो ये दोनो बातें है ही। (१) स्वभावमें न लग पाना और (२) विकल्पमें लगना। सो यह बात स्वाभाविक ही है। जो बाहरी विकल्पोमे लगेगा वह स्वभावमें लगा हुआ कहाँ है ? तो ऐसे ही दो बातें वहाँ हैं ? जैसे अग्निमे कई करामात है—प्रकाश कर दे, जला दे··· उसका रूप ही ऐसा है। ऐसे ही चारित्रमोहमें ये दो बातें निरूपित हैं कि इसके उदयमें यह जीव अपने स्वरूपसे हट गया और परविकल्पमे लग गया। देखो निमित्तभूत पदार्थ कोई एक अस्तित्व लिए हुए है हौवा आदिक जैसा तो कल्पना मात्र नहीं है। पर वहाँ यह बात समझनी है कि कर्ममें परका कर्तृत्व नही, वहाँ दो पदार्थोंमे परस्पर कर्तृकर्मत्वपना नही है। खास बात यह जाननेकी है, क्योंकि दोनो एकान्तोंमे ही इसकी असुविधा है। कैसे ? जहाँ हम यह जानें कि कर्मने जीवको रागी कर दिया तो अब जीव विवश है, करे क्या ? वह खुद परिणमा नही, यह खुद बनता नही, जबरदस्ती कर्मने जीवको रागी किया। जहाँ कर्तृ-कर्मत्वबुद्धि है उसमे यह उमंग कहाँसे आये कि मै ऐसे स्वभावरूप हू और वह जो परिणाम बन गया है वह निमित्तमात्र है, निमित्त पाकर बनता है। कही दूसरेने हमारा परिणाम नही किया। अगर मेरा परिणमन कोई दूसरा कर दे तो हम अपना परिणमन बदल कैसे सकेंगे ? तो कर्ता कर्मत्वकी बुद्धिसे अपने उपयोगको हटानेकी उमग नही आयी। इसी प्रकार अपने स्वरूपसे ही विकार आया, मेरी सामर्थ्यसे आया, मेरी योग्यतासे आया, निमित्तकी उपस्थिति की क्या आवश्यकता ? मेरेमे ये चलते ही रहते है—इस तरहका अगर एकान्त हो और वहा इस प्रतिपक्षीको यह पडी हो कि यह नैमित्तिक है उस प्रकारके कर्मोदयका निमित्त पाकर हुआ है, उस वातावरणमे बनता है ऐसा कषायभाव उसको बिल्कुल मिटा दें तो वहां यह ही असुविधा है कि जैसे एक दार्शनिक है जिसका यह सिद्धान्त है कि यह जीव अगर मुक्त भी हो जाय तो भी रागद्वेष मोहका अभाव नहीं होता. वहाँ कम हो गया, उसीको कहते है यह मुक्त हो गया, क्योंकि रागद्वेष तो इसका स्वरूप है। रागद्वेष बिना जीव रहेगा कैसे ? ऐसा

मानकर उनकी मुक्ति इस प्रकार की है कि बस हो गई मुक्ति, ऐसा एक दार्शनिकका सिद्धान्त है। जैसे अपने यहाँ बैकुण्ठमे उत्पन्न होना मानते, ग्रैवेयकमे उत्पन्न हो गए, मद कषाय है और उसकी वजहसे खूब आनन्द है, प्रसन्नता है, प्रवीचार नही है, खूब मौजमें रहते है ३१ सागर तक। पर वह मूलसे भीतरका विकार कहाँ मिटा तो उनको उतने वर्ष बाद फिर ससारमे आना पडता है ऐसे ही एक सिद्धान्त है, दार्शनिक है, जिसका यह कथन है कि जीवका स्वरूप ही है रागद्वेप। स्वरूपसे ही उठता है रागद्वेष। वह रागद्वेप कभी मिटेगा नही। भले ही उसकी मुक्ति हो गई, मगर कुछ काल बाद ही उसे ससारमे आना पडेगा। उस तरहका विकार हमे स्वभावजन्य जंच जायगा। हम उसको हटानेकी उमग कहाँसे लायेंगे? तो यह निमित्तनैमित्तिक भावका परिचय कहता है कि यह तो कर्मविपाककी झलक है, छाया मात्र है, प्रतिफलन है, तेरा स्वरूप नही है। तू अपने स्वरूपमे एक विशुद्ध चैतन्यमात्र है। हा तो बात यह चल रही है कि यह असंयमभाव यह हुआ है चारित्रमोहके उदयमे, जिसमे दो शक्तियाँ है। एक शक्तिसे तो यह असयतपना आया और एक शक्तिसे कषाय आया। इस बातको सुनकर एक शंका होती है, उसे कह रहे है।

> ननु चैव सति न्यायात् तत्सख्या चाभिवर्द्धनम्।
> यथा चारित्रमोहस्य भेदा. पड्विशति· स्फुटम् ॥११३३॥

संयमावरण मानकर चारित्रमोहकी संख्या बढ़ानेकी एक आशङ्का—शका यह उत्पन्न हुई कि चारित्रमोहके भेद बताये २५, मगर काम जब ये दो देखे जा रहे है कि कषाय भी हुए और असयम भाव भी हुए तो फिर औदयिक भावोकी गणना बतानेमे थोडी सख्या रखनेकी कंजूसी क्यो की, असयम भी कह देते और झगडासा मिट जाता। इतना दिमाग पच्चो न करते याने चारित्रमोहके २५ भेद क्यो रखे? एक असयमका घात करने वाली भी प्रकृति भी मानकर २६ सख्या कर देते। जब यह देखा गया है तब फिर उस चारित्रमोह की एक सख्या और बढा दो, याने २५ की जगह २६ कर दो। हाँ तो एक रख दीजिए संयमावरण। कुछ भी नाम रख दो। जब मान ही लिया कि चारित्रमोहमे दो प्रकारकी शक्तियां है और उन शक्तियोसे आत्मामे दो असर हो रहे है—एक तो असयम होना और एक कषायभाव हाना। तव फिर चारित्रमोहके २६ भेद क्या न किए गए? इसके उत्तरमे कहते है—

> सत्य यज्जातिभिन्नास्ता यत्र कार्माणवर्गणा.।
> आलापापेक्षया सख्या तत्रैवान्यत्र न क्वचित् ॥११३४॥

असंयम और कषायके निमित्तभूत चारित्रमोहमें जातिभिन्नताका अभाव—कहते है कि तुम्हारी बात ठीक है थोडी, जब तक कि विचार न किया जाय, लेकिन कार्माणवर्गणाओ

की जाति तो दूसरी नही है । जाति अगर होती तो भेद बढा दिए जाते, पर जाति तो एक है, उसमें शक्तिया दो प्रकारकी है—जैसे कि अनन्तानुबधी कषाय । जाति तो एक है उसमे शक्तिया दो है, जैसे कि विष, महाविष, हालाहल । तो विष एक है, मगर उसमे शक्तियोके प्रकार बहुत है । प्राणघात करे और दु:खी करे, जैसे इसमें यहां दो बातें पायी जाती है, चीज तो वह एक है, विष तो वह एक ही है । कैसे दो बात कही जाय कि इसको दु ख भी होता है ? यह जीव दु:खी भी हुआ और प्राण भी गए इसके । तो क्या वे दो विष है, विष तो दो नही है, वह तो एक ही है, मगर शक्तियाँ उसमे ऐसी दो हैं कि इसमे कार्य यहा बना । इसी प्रकार चारित्रमोहमें जो कार्माणवर्गणा है वह तो उसी जातिकी है, उनमे ये दो शक्तिया है कि चारित्रमोहके उदय होनेपर असंयमभाव भी बने, कषायभाव भी बने । देखिये—यह सब परभावोका वर्णन चल रहा है । परभाव मायने क्या ? परपदार्थका निमित्त पाकर होने वाले भावको कहते है परभाव । इसका नाम परभाव नही कि परपदार्थमे उपयोग जुटानेसे होने वाला भाव । यद्यपि वह भी परभाव है, मगर वह अव्याप्ति अतिव्याप्ति दोषसे रहित लक्षण नही है, क्योकि ऐसा भी उपयोग होता है कि जिसमे उपयोग परकी ओर नहीं जुटता और विकार होता है, उन विकारोको कहते हैं अबुद्धिपूर्वक विकार । कही कर्ममे जुटनेसे विभाव नही होता, किन्तु विषयसाधनोमे जुटनेसे बुद्धिपूर्वक विकार होता है । जुटनेकी बात आश्रयभूत पदार्थमे है । कर्मविपाकको तो एकेन्द्रियसे लेकर असज्ञी जीव तक तो जानते नही । यहां कुछ जैन लोग जानते कि इतने प्रकारके कर्म हैं, पर कर्मविकारके निमित्तसे विकार तो सबमे हो रहा है अर्थात् होता क्या है वहां ? वह अबुद्धिपूर्वक ही ज्ञेय होता । झलक हो गई, उपयोग उनसे छूटा नही, किन्तु जब एक विचित्रता आयी है और ऐसा निमित्तनैमित्तिक बधनके प्रसग मे है तो ये सब चीजें चलती हैं, इसलिए परभावका अर्थ ऐसा भी है जैसे कि समयसारमें कहते कि—एये सव्वे भावा पुग्गलदव्वपरिणामणिप्पण्णा अर्थात् ये समस्त रागादिक भाव पुद्गल कर्मसे निष्पन्न भाव है अर्थात् पुद्गल कर्मके उदयका निमित्त पाकर हुए भाव है, इसलिए ये परभाव हैं, मेरे स्वभाव भाव नही है ।

समस्त धर्मवचनोंका प्रयोजन स्वभावदृष्टि—देखिये हर एक दृष्टि, हर कथन इस आत्माका स्वभावाश्रय करानेके लिए हुआ करती है अन्यथा प्रयोजन क्या ? इस जीवका स्वभावाश्रय बिना जगतमें कुछ भी दूसरा शरण नही है । कहा उपयोग दें, किसमे प्रेम बनावें कि मोक्षसुख मिले ? बहुत आज्ञाकारी पुत्र हो, बहुत ही आपके सुखके निमित्तभूत हो, आपकी बडी इज्जत सेवा करते हो, तिसपर भी उसकी दृष्टि, उसमे उपयोगका फंसना, उससे अपनेको बडा भला मानना, सुखी समझना, यह तो प्रवृत्ति है यह कष्टके लिए बनेगी । कभी तो वियोग होगा । उस समय क्या होगा कि सारे जीवनमे जितना सुख भोगा है, जिस इष्टका आश्रय

कर करके बड़ा मौज माना था, उससे भी ज्यादा दुःख उसके एक-दो मिनटके विछोहके समय में होगा। उस समय इतनी विह्वलता मानेंगे कि विकट कर्मबन्ध होता और किसी किसीका तो हार्ट फेल भी हो जाता। तो आज जगतमे ऐसा कौनसा पदार्थ है कि जिसका सहारा लें, जिसके प्रति हम कुछ लगाव बनायें और हमको सुख मिल जायगा ? कोई पदार्थ ऐसा नहीं है। केवल अपने आप अन्तःप्रकाशमान जो सहजभाव है वस उसमे जो एक प्रतीति बनी या आस्था हुई कि मै यह हू, बस यह ही ठीक है, दूसरा कोई भी विकल्प, दूसरी कोई भी स्थिति हमारे लिए मददगार न बनेगी। इसलिए प्रत्येक धर्मवचनका प्रयोजन है हर तरहसे जीवकी स्वभावदृष्टि कराना, स्वभावाश्रय कराना। समयसारमे ही आस्रवाधिकार पहले कहा, संवर अधिकार बादमे कहा। एक आचार्यकी दृष्टिसे, दूसरी टीकाकी दृष्टिसे वह आस्रवाधिकार भी सम्वर हो गया। अच्छे वर्णनकी दृष्टि क्या रही ? आप स्वभावका वर्णन करते जाइये—वर्णन करके और एक लटक लीजिए कि वह जहाँ नही है वह भाव इस जीवको मिलता है। सारा वर्णन करके आप सम्वरके प्रसगमे आयेंगे। हाँ तो कह रहे थे कि प्रत्येक धर्म वचन एक अपने स्वभावका, मार्गका, सन्मार्गका दर्शन करनेके लिए होता है। मान लो एक पापके ही स्वरूप का वर्णन है, आप उसे खूब सुनते जाइये। वस जरासा यह हेय है, जहाँ पाप नही है वहाँ ही कल्याण है, इतनी शिक्षा और जोड़ दीजिये। वर्णन तो आप खूब करते जाइये पापका, कुछ बात नही है। बस जरासा सुनने भरकी बात है। अज्ञानका वर्णन, दुःखका वर्णन, जाल का वर्णन, मायाका वर्णन और फिर अन्तमे जैसे राजा भोज अपनी कविता बना रहे थे उसमे अपने वैभवका वर्णन कर रहे थे। उसमे तीन चरण तो बन गए थे, पर चौथा चरण नहीं बन पा रहा था। मेरे ऐसी स्त्री है, ऐसे भाई बन्धु है, ऐसे नौकर है, ऐसी सेना है, ऐसे-ऐसे ठाठ हैं, सब कुछ दुहरा रहे थे। तब एक कवि जो कि चोरी करनेके लिए गया हुआ था, और राजा भोजके पलगके नीचे छिपा हुआ था, वह झट चौथा चरण बोल उठा—सम्मीलने नयनयोर्न हि किंचिदस्ति। याने नेत्र बन्द हो जानेपर अर्थात् मरण कर जानेपर ये सब वैभव फिर कुछ नही रहते। लोग शका करते कि प्रथमानुयोगने तो रानियोका ऐसा वर्णन, वैभवका ऐसा वर्णन, एक बड़ा भारी वर्णन हुआ, इतना-इतना ज्यादा वर्णन करनेकी क्या जरूरत थी ? अरे जरूरत यह थी कि इतना-इतना वर्णन पढ लेनेके बाद जब अन्तमे यह बात पढते कि ज्ञान और वैराग्य जगनेपर फिर इस सब वैभवको ठुकरा दिया, उसे त्यागकर चले गए। तो उस सब वर्णनसे त्यागका महत्त्व वहाँ बढ जाता है। तो ये धर्मके वचन कोई भी व्यर्थ नही है। उनसे दृष्टि अपनी ऐसी बनावें कि जिससे स्वभावदृष्टि बने।

नात्र तज्जातिभिन्नास्ता यत्र कार्माणवर्गणा।
किन्तु शक्ति विशेषोऽस्ति सोऽपि जात्यन्तरात्मकः ॥११३५॥

कर्मविपाकका निमित्त पाकर उठी हुई स्वयंमें विपत्तिका निर्देशन—अपने आपपर क्या बीत रही है, इसको अन्दरमे देखो। बाहरमें आत्मा नही है, न बाहरमे कुछ बीतती है, न बाहरके पदार्थसे आत्मामें कोई बात व्यतीत होती है। आत्मा अन्दर है, अपने प्रदेशमें है, अपने प्रदेशसे बाहर इसका कोई कार्य नहीं होता। तो अन्दरमे ही स्वभाव है कि मेरे पर क्या बात बीत रही है ? शरीर तो यह रखा है। अष्ट कर्मोके उदय है, आक्रमण है, कर्मों से घिरे है, यह भी बात ठीक है। है जरूर कर्म है। उनसे घिरे है, बंधनमे है। पर खुदकी बात तो देखो—खुदमें क्या बीत रही है ? यह तो एक ऊपरकी बात है। खुदमे बीत रहे है रागद्वेष मोहभाव याने ज्ञानको इस ढंगसे छुपा देना, ज्ञानका इस तरहसे परिणमन बना देना, विकल्प बना देना कि जिसमें यह जीव परमें आपा मानता, परको अपना मानता। ऐसा ज्ञान विकल्प बनता कि परपदार्थको अपना मानता। मेरे बच्चे बडे सुहावने लगते, मेरा घर कई खण्डका है, बडे विस्तारका है, बडा सुहावना लगता है। मेरे परिजन बडे सुन्दर है, आज्ञाकारी है, ऐसी बातें सोचना यह ही तो राग कहलाता। और द्वेष क्या ? किसी परके बारेमे अपना विचार यो बनाना कि अमुक मेरा विरोधी है, मेरे काममें बाधक है, यह कब टले, कब हटे, इस तरहकी बात सोचना, ख्याल बनाना इसीका नाम तो विरोध है। तो ख्याल ही तो बनाया गया। वास्तविकता तो कुछ भी नही है। मकानको यह सोचना कि यह मेरा है, तो इस सोचनेसे मकान आपका हो जायगा क्या ? आपके मकानकी रजिस्ट्री तो होगी या जिस जमीनपर आपका मकान बना है उसकी तहसीलमें रजिस्ट्री होगी न ? हाँ है। मकानकी भी रजिस्ट्री है, नक्शा भी पास है म्युनिसपल्टीमे, इतनी तो खास बात है, फिर मकान मेरा, कैसे नही ? ऐसा सोचा जा सकता। आप ही ऐसा सोच रहे। अगर यह बात भगवानके ज्ञानमे आ जाय कि मकान इसका है तो वह पक्की रजिस्ट्री कहलायगी। नगरपालिका और तहसीलकी रजिस्ट्रीसे मकान आपका न बनेगा ? कैसे न बनेगा ? प्रथम तो यही का यही ले लो। सरकारको जरूरत पडे तो किसीके भी मकानको खाली करा सकती है। कानून है ऐसा। चाहे वह कैन्टकी जगह हो, चाहे सिटी मे हो, मूलमे बात है। अच्छा इसे भी जाने दो, मरण हो गया तो छूट गया कि नहीं ? रजिस्ट्री कहां आपके साथ जाती ? शरीर जल गया, आत्मा भाग गया, अब कुछ भी न रहा। रजिस्ट्री आपके क्या काम आयी ? तो यह सब माया है, इसमें जो लगाव है, प्रीति है ऐसा जो ज्ञानविकल्प है यही एक विपत्ति है।

विभावविपदारहित आत्माको पूजनेका आदर्श और उसका हेतु—भैया ! आप सब पञ्चपरमेष्ठियोंको क्यो पूजते कि उनपर विपत्ति नहीं है। वे अमीर है अरहंत भगवान ! ये अमीर हैं, क्योकि इनके विकल्प नही रहा, इनके आकुलता नही है, अज्ञान नही है।

अपने परमात्मस्वरूपसे ही इनका सम्बन्ध है। इनको वास्तविक आत्मवैभव प्राप्त हुआ है। ये अमीर है। लोकमे भी तो गरीब अमीरका सहारा तकते है तो धर्मकार्यमे भी तो अमीर का सहारा तको। संसारी जीव गरीब है, प्रभु अमीर है, यह अतर बंधनके होने न होनेका है। तो उन अमीरोकी (भगवान अरहतकी) हम उपासना करे। तो हम आपपर जो विपत्ति लगी है, उसकी यह चर्चा चल रही है इस श्लोकमे कि यह विपत्ति बनी कैसे? तो आप लोग जानते होगे, पढते भी है कि "अष्टकर्म रिपु जोर, एक न काम करें–ये कर्म जो एक जोरदार है, जो ये शत्रु है, ये मेरी बरबादीके हेतुभूत है, तो उन अष्टकर्मोमे एक मोहनीय कर्म है। ज्ञानावरण–जो आत्माका ज्ञानगुण प्रकट न होने दे, दर्शनावरण–जो आत्मामे दर्शनगुण प्रकट न होने दे, वेदनीय—जो अलूलजलूल बातोमे लगाकर आपके अनन्त आनन्दको मिटा दे। वेदनीयका काम–जो जीवमे मोह पैदा करा दे, विपरीत दृष्टि करा दे और आयु–शरीरमे जीव को रोके रहे। नामकर्म—जो शरीरकी नाना रचनायें बना दे, गोत्र कर्म—जो जीवको उच्च नीच कुलमे उत्पन्न करा दे, अन्तराय—जो, दान लाभ, भोग, उपभोग वीर्य आदिकमे आपको विघ्न पैदा करा दे, ये सब अष्टकर्मकी बातें है।

दर्शनमोहके उदयमे महती विपत्ति—आठ कर्मोमे जो मोहनीय कर्म है, जिसके दो भेद है—(१) दर्शनमोहनीय, (२) चारित्रमोहनीय। दृष्टि विपरीत बन गई, यह दर्शन मोहके उदयसे। कोई समझे तो समझमे थोडे ही आता। जब खूब हैरान हो लेंगे तब समझ मे आयगा, ओह यह भूल हुई। यो ही समझमे नही आता। एक गावके किनारे एक बढई रहता था। वह बडा मसखरा था। वहासे एक मुसाफिर निकला। उसे जाना था दूसरे गावको, तो उस गावसे उसका रास्ता था। तो शुरू शुरूमे उस बढईका घर मिला, उसने उसने पूछा—क्यो भाई अमुक गावका रास्ता किधरसे गया? तो रास्ता तो मानो था पश्चिममे और बता दिया दक्षिणमे और साथ ही यह भी कह दिया कि देखो इस गांवमे मसखरे बहुत है, सब उल्टी बात कहेंगे, तुम किसीकी मानना नही। उस बढईकी बातपर वह मुसाफिर विश्वास कर गया। जब दक्षिणकी गलीसे जा रहा था तो कई लोगोसे उसने रास्ता पूछा तो सभीने उस रास्तेको गलत बताया, पर मानी उसने किसीकी नही। समझ लिया कि वास्तवमें यहाके सब लोग मसखरे है, बढई ठीक ही बताता था। खैर वह काफी दूर निकल गया। जब आगे दूसरा गाव मिला, वहा उसने रास्ता पूछा तो लोगोने बताया कि तुम रास्ता भूल गये, उस गावका रास्ता तो उस पिछले गावसे पश्चिमकी ओरको जाता है। तो फिर उस मुसाफिरको वापिस लौटकर आना पडा तब सही रास्ता पाया। तो मत-लब यह है कि जब दृष्टिमे यह बात आ जाती झूट बातके प्रति कि यह सच्ची बात है तो उस पर कितनी बडी भारी विपत्ति है सो समझिये। यह ही तो यहा हो रहा है जीवोको। क्रोध

करने वाला क्रोध कर रहा है दूसरोंपर और बीचमें कोई समझाने आता है कि भाई क्या बात है, क्यों इस पर नाराज होते ? तो वह सोचता कि यह तो बडा अज्ञानी है, इसको कुछ पता नही, मै जो कर रहा सो ठीक हैं। उसके ध्यानमें कभी नहीं आता कि मेरेमे गल्ती चल रही है। उल्टी बात करे, कषाय करे और सोचे कि मै बिल्कुल ठीक कर रहा। अच्छा बतलावो, रोज रोज धन बढ़ता है, धन पैदा करते है, हाथो गिनते है, मौज मानते है, ऐसा करते हुए कभी यह विचार चला क्या कि यह मेरी बड़ी गलती हो रही है। मै इस धनमे इतनी ममता कर रहा हू, इतनी उमंग रख रहा हू, इतनी तृष्णा कर रहा हूं, यह तो मै गल्ती कर रहा हू। तृष्णाका मुझमे स्वभाव नही है। मै तो अपने विशुद्ध ज्ञानस्वरूपमे ही दृष्टि लगाऊँ, यही काम मेरे करनेको पडा है, ऐसा किसी दिन मनमें आता है क्या ? सभी लोग अपने-अपने हृदयसे समझ लो। यह बात जान ले कि हम भूलको सही समझ रहे है तो उसे कहते है महाभूल, और वह सुधारके मार्गमे न आ पायगा याने भूलको जो सही समझना उसके सुधारका मार्ग आना कठिन है। तो यह क्या है ? यह दर्शनमोहनीय कर्मका उदय है और वहाँ यह आत्मा ऐसा बेहोश है।

विभावविचारोंमें अनर्थकारिता—अच्छा किसी के दर्शनमोह न हो तो भी कषाय जगती है, और दर्शनमोह वालेको भी कषाय जगती है। तो क्रोध, मान, माया, लोभ ये क्यों होते ? चारित्रमोहका उदय है, उस निमित्तको पाकर जीवमें ऐसा ज्ञानविकल्प जगा करता है। यहाँ जरा अपनेपर दया करना और एक बातको अपना लेना कि जो कुछ मुझपर गुजर रहा है कोई विकल्प ख्यालात विचार यह सब एक छाया माया नैमित्तिक व्यर्थ की बात है, मेरा स्वभाव नही है। वहाँ कभी अहकार न लेना चाहिए कि मै बड़ा विचारक हू, मेरेको बड़ी ऋद्धि है। मै बहुत सोच विचारकर सब काम करता हूं। अरे उन सोच विचारोका क्या करें वे गलत है सोच विचार। एक सेठ था, सो देहातकी बात है। वह प्रति दिन सवेरे अपने द्वारके चबूतरे पर बैठकर दातून किया करता था। पहले रिवाज इसी तरह का था। आजकलकी जैसी मंजन करनेकी पद्धति न थी। नीमकी डाल तोड़कर उसको दातूनसे मंजन किया करते थे। उसमे एक प्राकृतिक गुण भी था, स्वास्थ्यकी दृष्टिसे भी वह पद्धति ठीक थी। तो वह सेठ प्रतिदिन प्रातःकाल अपने द्वारके चबूतरेपर बैठकर दातून किया करता था और उसी समय वहाँसे कोई पंजाबीने हरियाणा जैसी नश्लकी भैंस रोज रोज निकला करती थी। उस भैंसकी सीगें बडी सुहावनी लगती थी। वह सेठ उस भैंसकी सीगें देखकर अति प्रसन्न होता था और चाहता था कि यदि ऐसी ही सीगें मेरे सिरपर लगी होतीं तो मैं भी कितना सुन्दर लगता ? इस तरहसे देखते और विचारते हुए करीब ६ माह बीत गए। एक दिन उससे न रहा गया, सोचा कि अब तो सीग लगा ही लेना चाहिए। सो जब

भैस सामनेसे निकली, उस सेठने उठकर भैसकी सीगोमे अपना मस्तक भिडा दिया, भैसके गले से लिपट गया। वह भैस डरकर भागी। सेठ मजबूतीसे गर्दन पकडे तथा सिरसे सिर भिडाये था। वह बडा लहू-लोहान हो गया। करीब आधा फर्लांग दूरपर जाकर वह भैंससे अलग हो पाया। काफी चोट भी आ गई। बडा शिथिल सा हो गया। वहा लोग जुडे, पूछ बैठे कि सेठजी क्या बात हो गई ? तुमने बिना विचारे यह काम क्यो कर डाला ? तो सेठने कहा—भाई हमने यह काम बिना विचारे नहीं किया। हमने पहले ६ माह तक विचार किया तब यह काम किया। अरे वहा तो ६ माह ही विचार किया, पर इस जीवने तो परपदार्थोंके बारेमे अनादिकालसे अब तक खूब विचार किया। पर विचार किया मोहका ? कोई हितकारी विचार नही किया, जिससे यह जीव अनादिकालसे अब तक परेशान हो रहा है।

पारतन्त्र्यके रहस्यके परिचयमें सन्मार्गकी उपलब्धि—यहाँ परेशानी जो हो रही है यह क्या है ? इसको सही जान जावे तो परेशानी दूर हो जायगी। लोग तो अपनी सुख शान्तिके लिए बडे-बडे कष्ट सहते है। देश विदेशमे भ्रमण करते, अनेक प्रकारके कष्ट उठाते, पर सुख शान्ति नही पाते। अरे अब जरा एक बार ऐसा भी तो पौरुष करे, जाने तो सही कि परके बारेमे जितने ख्यालात होते है, यह सब कर्मकी छाया है, मेरा स्वरूप नही है। मैं दूसरेकी छायामे क्यो रमूँ, क्या जरूरत पडी ? जीवम कर्मजालकी मायाजालकी जड़ तो काटो। आपको अपनेमे बसा हुआ यह ज्ञानदर्शन स्वरूप, सहज आनन्दमयी यह परमात्मस्वरूप आपके अनुभवमे आयगा और आप आनन्द पायेंगे। जो पुरुष यहाँकी मायासे, छायासे, कर्मरससे बढ रहा और अपनेको मान रहा तो वह पुरुष तीर्थकर प्रभुके गुण भी गा रहा, फिर भी यह बात बैठती नही कि यह परिग्रह, यह परका लगाव, इस ओरका ख्याल, यह सारी विपत्ति है, इन सबको त्यागकर निर्भार होओ। कहते ना—जैसे नाक छिनक दिया। नाटक समयसारमे एक दृष्टान्त आया, जो नाक छिनक दो तो उस छिनकी हुई नाकको कोई लौटकर देखता है क्या कि कहाँ पड़ी, कैसे पडी ? कोई उसकी ओर दृष्टि भी करता है क्या ? नाक छिनक दी, दूर कर दी, उससे हट गए, उससे मुख मोड लिया, भीतरमे नाक साफ हो गई, ऐसा अनुभव करते और अपनेमे एक अच्छासा महसूस करते। तो जिन तीर्थंकरोने, जिन्होने इस परिग्रहका त्याग किया सो नाक छिनकनेकी तरह त्याग दिया, उनकी ओर फिर मुडे भी नही। अकेले रहे, जगलमे रहे। अपने प्रभुसे बात की, अपने स्वरूपसे बात की, पर भोगे हुए भोगोका स्मरण तक नही किया। तो इस विभूतिको त्यागकर वे प्रभु बने और अनन्तआनन्दका स्वाद जिसके ध्यानमे आ गया उसको यह परिग्रह और यह सब जाल लिपटाव ये सब उसे भार लगेंगे कि मै गलतीपर हू। देखो करनेकी बात और श्रद्धाकी बात और याने श्रद्धाके अनुरूप हम पूरे नही चल पाते, फिर भी ज्ञानीकी श्रद्धा अडिग है, परिस्थितिमे

कर रहे। ज्ञान यदि इस श्रद्धासे भर गया कि मेरा स्वरूप तो समस्त परपदार्थोंसे विविक्त केवल चैतन्यस्वरूप है तो उस पुरुषकी बात वह सही है। क्या करें, दूकान करनी पडती है, घरमें रहते है तो घरके सब काम करने पड़ते है, मगर उसकी श्रद्धामे यह बात रहती कि यह सब मेरी गल्ती है। ये सब काम करना मेरा कर्तव्य न था। अपने आत्माका स्वरूप क्या है, उसपर दृष्टि रखकर यह बात कही कि अपने स्वरूपकी सुध छोडकर जो जो भी काम जो-जो भी ख्यालात करते है वे सब हमारी गल्तियाँ है। गल्तियोको करना पड रहा है। करना न चाहिए। ऐसा होता है क्या ? हाँ होता है। देखो एक कैदीको जेलके अन्दर चक्की पीसनी पडती है। सिपाहियोके हटरके डरसे सारे काम करने पडते है, फिर भी उसके चित्तमे सदा यह बात बसी रहा करती कि यह मेरे करनेका काम न था। यह तो मुझे करना पड रहा है। बस यही बात ज्ञानी गृहस्थकी है। उसके सम्यग्ज्ञानका उदय हुआ, अपने अन्तः बसे हुए सहज परमात्मतत्त्वका उदय हुआ, अब वह यही चाहता है कि मुझे तो स्वभावमग्नता ही चाहिये। अन्य तो यह सब कुछ परिस्थितिनिवश करना पड रहा है। मेरा कर्तव्य यह न था। मेरा कर्तव्य था सहजस्वभावका आश्रय करना और कुछ करने लायक मेरा काम नही है।

जीवनमें शीघ्र शिवोपाय बनानेमें बुद्धिमानी—देखो काम कर रहे काम, चल-फिर रहे है, पर अचानक किसीकी मृत्यु हो जाय तो लोग तो पीछे कहते कि देखो अभी तो वह छोटी ही उम्रका था, वह कैसा असमयमें मर गया। अरे उसका क्या सोचते, यही हालत हम सबकी है। क्या एक-दो दिन भी जीवित रहनेकी बात कोई दृढ़तापूर्वक कह सकता ? प्रायः सभी लोग यह सोचते है कि अभी तो हमें बीसो वर्ष तक जिन्दा रहना है, पर उनका यह सोचना क्या सही है ? अरे मृत्युका कोई भरोसा नही ? अचानक ही किसी भी समय मृत्यु हो सकती है। तो यो समझिये कि मानो यह काल यम मृत्यु हमारे सिरपर मडरा रही है। न जाने किस दिन यह दबोच दे ? "जगत चबेना कालका, कुछ मुखमे कुछ गोद। विषयभोग के साधनहि, मूरख माने मोद ॥" यह सारा ससारी प्राणी कालका चबेना बन रहा है। जैसे गोदकी झोलीमे चबेना लेकर चबाते तो कुछ चने झोलीमे रहते, कुछ मुखमे। थोड़ी ही देरमे झोलीमे रखा हुआ चबेना भी मुखमे जाने वाला है, ठीक ऐसे ही ये ससारी प्राणी भी काल के सम्मुख खडे है। कुछ जीव कालके द्वारा ग्रस लिए गए है और कुछ कुछ ही समय बाद ग्रसे जाने वाले है। तो यो मानो कि ये संसारी प्राणी कालकी गोदमें बैठे हुए है, इनकी कुछ खैर नही है। ऐसी हालत है इस ससारी मोही प्राणीकी। फिर भी आश्चर्य है कि यह इन विषयभोगके साधनोमे मौज मानता है। अपने आपको विषयकषायोमे लगा करके अशुभोपयो‌ग मे फसा करके यह प्राणी बड़ा हर्ष मान रहा है। हिसाब सबके होते है। जैसे यहाँ ऐसा है ना कि कोई सस्ती चीज ले आये तो थोड़े ही दिनोमे वह टूट-फूट जाती, बिगड जाती और

जरा कुछ अच्छी कीमती चीज ले लिया तो वह बहुत दिनो तक चलती है। तो यहाँ सुख दुखका भी हिसाब बराबर है। कोई एक वर्ष तक भोग विषयोंका खूब सुख पावे। पा लो बच्चू, जैसे मानो कोई कहता हो नैपथ्यमे, कर लो खूब मौज, पर कुछ ही समय बाद वह उससे कई गुना दुःख देकर जायगा। तो जितना यहाँ सुख माना उससे भी ज्यादा दुख भोगा। तो ससारके इन बाह्य पदार्थोंको निरखकर खुश मत हो कि मैं तो बडा अच्छा हू, मुझे बडा सुख है, बडा मौज है ?' 'अरे यह सुख, यह मौज तो बडा दुःख देकर जायगा, इससे प्रीति मत करो। प्रीति करो उस अरहंत सिद्ध प्रभु जैसे आनन्दसे। वही आनन्द मुझमे प्रकट हो। इन बाहरी पदार्थोंसे अपना महत्त्व न समझें। ऐसी बात दृष्टिमे बिताये रहे तो भला होगा, शान्ति मिलेगी, सन्मार्ग मिलेगा। और जो बेहोशी रहेगी तो इस तरह कष्ट होगा, विपत्ति मिलती रहेगी। यह किस कारणसे है ? चारित्रमोहसे। अच्छा तो चारित्रमोह के दो काम है—एक तो कषाय करना और दूसरा—संयम न पालना याने असयम होना। तो वह चारित्रमोह तो एक ही है, मगर शक्तियाँ भिन्न है। वे जातिमे दो नही है कि इससे तो असयम बना और इससे कषाय बनी। एक ही मोहप्रकृतिमे ये शक्तियाँ हैं कि एक शक्तिसे असंयम बने और एक शक्तिसे कषाय बने। चीज एक है। वहाँ दो प्रकारकी कार्माणवर्गणायें नही है, किन्तु उनमे शक्ति इस प्रकारकी है और वे शक्तियाँ एक अलग प्रकारकी जात्यंतर मायने एक ऐसी दोमुखी शक्ति है कि दोनो काम हो रहे कषायमोहके उदयमे। कषाय चल रही है और स्वरूपसे हट भी रहे है, स्वरूपमे लग नही पा रहे, यह विपत्ति है हम आप पर। यह कैसे मिटे, इसका उपाय तो बनाओ। बस सत्सग, स्वाध्याय, आत्मचिन्तन, आत्ममनन यह ही एक इस विपत्तिको मिटायेगा, दूसरा कोई विपत्तिको नही मिटा सकता।

तत्र यन्नाम कालुष्यं कषाया. स्यु· स्वलक्षणम्।
व्रताभावात्मको भावो जीवस्यासयमो मतः ॥११३६॥

कषाय और असंयमका स्वरूप—प्रकरण यह चल रहा है कि असयमभाव और कषायभाव—ये दोनो चारित्रमोहनीय कर्मके उदयसे होते है। तो चारित्रमोहमे ऐसी शक्ति है दो प्रकारकी कि एक शक्तिसे तो जीवमें असयम बने और एक शक्तिसे जीवमे कषाय बने। वे असंयम और कषाय क्या चीज है ? जो परिणामोमे कलुषता है वह तो कहलाती है कषाय—क्रोध, मान, माया, लोभ। ऐसा जो कोई कलुष परिणाम है उसका नाम है कषाय, और जो व्रतका अभाव है, व्रत नही कर पाता है, ऐसे व्रतके अभावका नाम है असंयम। एक दृष्टान्त ले लो, जैसे आपका हाथ घुटनेपर रखा है और उठाकर चौकी पर मारा तो दो काम हुए कि नही ? क्या कि हाथका अलग होना। जहाँ रखा था हाथ वहाँसे अलग हुआ और चौकीपर लग गया तो जब यह जीव परिणाममे कलुषता करता है तो दो बाते हुई कि नही ?

अपने स्वभावसे चिग गया और कलुषतामे लग गया। तो जो कलुषता है वह तो है कषाय और जो स्वभावसे हट गया है वह है संयम। अब ये दोनो भाव इस जीवका कल्याण करने वाले है, क्योंकि कषाय हो गई, कलुषता हो गई; क्रोध, मान, माया, लोभ जग गया तो यह जीव चैनमे रहता है या बेचैन ? सभीको अनुभव है ? जिस समय गुस्सा होता उस समय यह बेचैन हो जाता, इसकी आंखे लाल हो जाती है, मुख फडफडाने लगता है, बोल साफ नही निकलता तो यह क्या कोई शान्तिका ढंग है ? ऐसी ही हर एक कषायकी बात है। जिस समय जीव मान कषाय कर रहा है, अपनेमें ऐंठ रहा है, शरीर तन रहा है, आँख भी और तरहके हो रहे है, दूसरोके प्रति तुच्छताका भाव बन रहा है तो उसमे इसे शान्ति मिल रही या अशान्ति ? अशान्ति मिल रही। जो कोई मायाचार करता है उसका दिल ठिकाने नही रहता। थोडी ही देरमे यह शल्य फिर वह शल्य। इसकी चिन्तामे, इसकी उधेड़-बुनमे रहता है। तो जो छल करता है उसको शान्ति रहती या अशान्ति ? जो तृष्णाके रगमे रंग रहा, लोभ कषायमे पड़ा, उसे शान्ति है कि अशान्ति ? तो झट कह देगे कि अशान्ति, पर दिलमे ऐसा नही लेते कि फिर क्यों ऐसी कषाय करना ? घरमे रहते, धंधा करते, यह तो घरमे रहनेके कारण कर्तव्य है, मगर परिणाममे भीतरमे यह समझते कि मेरा सर्वस्व तो यह धन है, यह ही मेरा प्राण है, इस तरहका भीतरमे भाव बनना—यह कहलाता है लोभकषायका रंग। तो कषायमें यह जीव बेचैन होता है। अच्छा और जहां असंयम है वहां भी बेचैनी है, अपने स्वरूपसे हटे हुए है। तो जैसे पानीसे हटकर मछली जमीनपर पड़ जाय तो वह तड़फती है, ऐसे ही यह जीव, यह उपयोग अपने स्वभावसे हटकर कलुषतामे पड गया, कषाय-भूमिपर आ गया वह उपयोग बेचैन होता है, तड़फता है। तो असयमभाव भी जीवके लिए कष्ट है और कषाय जीवके लिए कष्ट है। ये दो बाते होती है दुःखदायी और ये सब हो रही हैं चारित्रमोहनीय कर्मके उदयसे।

एतद्द्वैतस्य हेतुत्वं स्याच्छक्तिद्वैतैककर्मणः।
चारित्रमोहनीयस्य नेतरस्य मनागपि ॥११३७॥

असंयम और कषाय दोनोंका निमित्त शक्तिद्वयोपेत चारित्रमोहका उदय—ये दो बातें हुई ना जो ऊपर कहा—असंयम और कषाय। तो इन दोनो बातोके होनेका कारण यह है कि इस चारित्रमोहनीय कर्ममे दो शक्तियाँ है—एक सामान्यशक्ति और एक विशेषशक्ति। सामान्यशक्तिसे तो असयम बन रहा और विशेषशक्तिसे कषाय जग रही। यह काम और दूसरेका नही, चारित्रमोहकी ही बात है। देखो आठो कर्मोमे सरदार कौनसा कर्म है ? मोहनीय कर्म। और मोहनीय कर्ममे भी परिवार बहुत है। जैसे कहते है ना कि हमारे गांवमे यह आदमी मुख्य है, हमारे घरमे यह आदमी मुख्य है। अच्छा, और इस घरमें आदमी बहुत

है तो कहते है कि इस घरमे अमुक आदमी मुख्य है। तो आठो कर्मोंमें मोहनीयकर्म सरदार है। सरदार कहा तो कोई अच्छी बात नही समझना। सरदार प्रजा, पार्टी, डाकुओ, बेईमानो का भी होता, तो सरदार तो सबमे होता है। तो आठ कर्मोमें जो सरदार मोहनीय है उसका अर्थ यह है कि जब तक मोहनीय कर्म ज्वलंत रहता है, जीवित रहता है तब तक उसके साथ सातो कर्म पनपते है, हरे होते है और जहाँ मोहनीय कर्म नष्ट हो जाता है तो बस इन सब कर्मोंका विनाश होना शुरू होने लगता है, इसलिए यह सरदार है। जैसे सेनापतिके मरनेपर सेनाके हौंसले नष्ट होते है ऐसे ही मोहनीय कर्मके नष्ट होनेपर पूरी कर्म गुत्थियाँ उखड जाती है। और मोहनीयकर्ममें भी सरदार कौन है? दर्शनमोहनीय, जो सम्यक्त्वका घात करता और दर्शनमोहनीयमे भी सरदार कौन है? मिथ्यात्वप्रकृति। मिथ्यात्वके नष्ट होनेपर फिर सभी नष्ट हो जाते है। तो ये जो दो बाते हुई—असयम और कषाय, तो ये दोनो चारित्रमोह के उदयसे होते है। ऐसा जानकर क्या सोचना कि मुझपर जो गडबड़ी आयी है, असयम, कषाय, कलुषता, ये सब कर्मके उदयसे है। मेरे स्वरूपसे नही उठे। मुझपर तो यह बोझ आ गया। है मेरा ही परिणमन ज्ञानविकल्प, मगर यह औदयिक है, इसमे प्रीति न करना, और जो निजस्वरूप है उसमे प्रीति करना।

यौगपद्य द्वयोरेव कषायासयतत्वयोः।
सम शक्तिद्वयस्योच्चैः कर्मणोऽस्य तथोदयात् ॥११३८॥

शक्तिद्वयोपेत चारित्रमोहके विपाक समय भी ज्ञानबलसे विभावको पछाड़ दिये जाने की संभवता—कषाय और असंयम, ये दोनो एक साथ है। स्वभावसे हटे हुए रहना और कलुष परिणाम रहना, ये दोनो एक साथ है। सो एक साथ ही उस चारित्रमोहनीयमे दो शक्तियाँ है। ऐसा नही है कि जब असंयमकी शक्ति काम कर रही हो तो कषायकी शक्ति खाली बैठे। दोनो शक्तियाँ एक साथ है और दोनोका एक साथ काम हो रहा है। चारित्रमोह का उदय ऐसा बलिष्ट है। देखो यद्यपि प्रत्येक द्रव्य स्वतंत्र है, किसीकी परिणति किसीमे नही जाती। सब अपने-अपनेमे परिणम रहे है। एक द्रव्य दूसरे द्रव्यकी परिणति नही कर पाता, लेकिन जो विकार होने है, विषम परिणाम होते है वे किसी न किसी पर-उपाधिका जो निमित्त हो उसके सान्निध्यमे ही होता हैं। तो ये विकार सब इस कर्मके सान्निध्यमे हो रहे। बाते दोनो माननी होगी। करता यह जीव ही अपना काम। विकार करे, कुछ करे। करना हो पाता है कर्मके उदयमे। इन दोनो बातोमे एकको मना करके तो देखो—कितना दोष आता है? मगर कोई कहे कि कषायादि जीवके परिणाम नही है कर्म ही करता है अपने आप सब कुछ, तो फिर जीवको कुछ मौका न मिला, क्योकि खुद तो कर नही पाता। कर्म ही सब कर रहा तो विकार कैसे मिटेंगे? और यह माना जाय कि जीवमे अपने आप हो रहे हैं

कषाय, कर्मके उदयकी क्या जरूरत ? उसका नाम मत लो। अच्छा तो जब केवल जीवके स्वरूपसे ही हो रहे विकार तो वे स्वभाव बन जायेंगे, क्योंकि अपने स्वरूपसे हुए, अपने आप हुए, परके सम्बध बिना हुए तो वे स्वभाव बन गए। जब विकार जीवके स्वभाव बन गए तो मिटेंगे कैसे ? तो असली बात यह ही है। कर्मके उदयका सन्निधान पाकर जीव अपनेमे विकार-परिणमन करता है। इसको कहते है निमित्तनैमित्तिक योग। ऐसा माननेमे दो बातें आयी। अरे मैने अपनी कायरतासे विकार किया। अब मै विकारको न होने दूगा। यह तो औदयिक है। मैं तो अपने स्वभावमें ही रहूगा। जब स्वभावकी सुध होती है तो यह बल प्रकट हो जाता है। एक ऐसी कहावत है कि कोई क्षत्रियका लडका था और कोई बनियाका लडका। दोनो लड़ रहे थे तो बनियाका लडका था मोटा-ताजा बलवानसा तो उसने उस लडकेको पटक दिया और छातीपर बैठ गया। सो वह लडका बैठ तो गया, नीचे तो पडा, पर थोडी देरमे पूछता है कि भाई तुम किसके लड़के हो ? तो वह बोला कि मै बनियेका लडका हू। तो इतनी बात सुनकर भीतरसे ऐसी तेज उमग उठी कि अरे मै तो क्षत्रियका बेटा तो ऐसी ताकत लगाया कि उसे नीचे कर दिया। तो ऐसे ही ये कर्मोके उदय, भावकर्म, इन्होने दाब रखा इस आत्माको। पर कभी यह आत्मा पूछ तो देवे कि तुम किसके हो ? तो उत्तर मिलेगा कि ये जड़कर्मके है, पुद्गलकर्मके हैं, और मै परमात्माकी जातिका स्वभावका हू। जहाँ यह ध्यानमें आया कि आत्मासे ऐसा बल प्रकट होता कि मैं परमात्मस्वरूप भगवान आत्मा और मुझपर ये कर्म लद जाये, विकार लद जायें, फल देगे। जो एक भीतरसे ऐसा सोचा गया तो बस विभावोकी पछाड हो गई, स्वभावकी उमग जगी।

कायरता तजकर आत्मशौर्यमें उमंग लानेका अनुरोध—भाई अभी यह ही कमी है कि स्वभावकी उमंग नही बन रही जो ढग चला आया है घरमें मोहका, ममताका। बूढे हो गए, नाती-पोते वगैरा हो गए, उनको देखकर खुश हो रहे, भीतरसे बड़ी मौज मान रहे कि मै बडा हरा-भरा हो गया। हमे कुछ चिन्ता नही "। अरे कहते कि चिन्ता नही और काम कर रहे चिन्ताका ही। अरे जो ममता है, लगाव है वही तो दुःख है। पहले ऐसा रिवाज था कि जब कोई घरका बुजुर्ग मर जाता था तो उसके साथमे चितापर एक सोनेकी नसैनी बनाकर रखते थे। चाहे तोला भरकी या दो-चार आनेकी ही सही। क्यो रखते थे ? तो यों रखते थे कि यह बूढा बडा भाग्यवान निकला, इसने नाती-पोता, बड़पोता, सडपोता आदि सब देखे तो यह इस सोनेकी नसैनीपर चढकर स्वर्ग पहुच जायगा, पर उन्हे यह नही मालूम कि यह नसैनी चढनेके भी काममें आती है और उतरनेके भी। सो आप समझ लो कि जिस बूढेने लडका, नाता-पाता, बडपोता, सडपाता आदि सभीमे मोह बसाया तो उसके लिए वह

नसैनी ऊपर चढ़नेका काम करेगी या नीचे उतरनेका। यह तो नीचे उतरनेका ही काम करेगी। यहाँ नीचे उतरनेका अर्थ नरकोंमे जानेसे है। उसमे तो इस आत्माकी बरबादी होती है। इस आत्माकी रक्षा करनेकी उमग विरले ही ज्ञानी पुरुषको होती है। नहीं तो जैसी बरबादी अभी तक करते आये वैसी ही बरबादी आगे करते चले जावेगे। जरा भी नही चेतते कि भाई जगतमे जो कुछ दिख रहा है यह सब कोरा मायाजाल है। यहाँका एक जरासा कण भी आपका साथी न होगा। आप तो अपना काम करो, अपने आत्माकी सुध लो। आत्मामे अपने अनन्तआनन्द स्वभावको देखो और धीरज धरो, प्रसन्न होवो। हम तो सुखी है, शान्त है, कोई कष्ट नही। जो हमारा आत्मा है वह पूराका पूरा हमारे पास है, इसमे बाहरसे ढेला पत्थर नही आते, ऐसा अपने आपको देखे सो जीवन सफल होगा, कर्म कटेंगे, भविष्य सुधरेगा, और न किया जाय यह काम, मोह मोहमे ही रहा जाय तो बस उसके लिए तो नसैनी नीचे उतारनेके लिए साथ रहेगी।

अस्ति तत्रापि दृष्टान्त कर्मानन्तानुबन्धि यत्।
घातिशक्तिद्वयोपेत मोहन दृक्चरित्रयो ॥११३६॥

बात यह चल रही थी कि जीवमे असंयम और कषाय, ये दोनो भाव चल रहे है। उसका कारण है चारित्रमोहका उदय। तो एक कर्ममे दो तरहकी शक्तियाँ होती है—क्या? तो इस गाथामे दृष्टान्त देकर समर्थन किया है कि देखो जैसे अनन्तानुबंधी कषाय प्रकृति है ना? उसमे दो शक्तियाँ पडी है—कैसी दो शक्तियाँ कि एक शक्तिसे तो सम्यक्त्वका घात होता और एक शक्तिसे चारित्रका घात होता। तो जैसे अनन्तानुबधी प्रकृतिमे दो शक्तियाँ है—(१) सम्यक्त्वका घात करे, (२) चारित्रका घात करे। मायने स्वरूपाचरण रच भी स्वरूपाचरण वाला नही हो सकता, तो ऐसे ही चारित्रमोहमे दो शक्तियाँ है—(१) असयमको उत्पन्न करे और (२) कषायभावको उत्पन्न करे। जैसे अग्निमे कई शक्तिया है—प्रकाश कर देवे, जला देवे···तो पदार्थोंमें होती है भिन्न-भिन्न शक्तिया। तो यो चारित्रमोहके उदयमे जीव को दो प्रकारकी विपत्ति होती है। यह विपत्ति है ना खुदमे। निरीक्षण तो करो। ये आत्मा के शत्रु पडे है ना आत्माके घरमे—असंयम और कषाय। जो आपके अनन्त आनन्दस्वभावको लूट रहे है। तो इनको मिटाओ। देखो घरमे सब आप, आपकी पत्नी, आपके बच्चे सभीकी यह चाह बन जायगी कि यह जगत मायारूप है, इसमे क्या लवलीन होना? धर्म करो, सत्सग करो, ज्ञान सीखो, ज्ञानके लिए उमग बनाओ। तो फिर आपको आसान हो जायगा, क्योंकि घरमे एक तो मोह कर रहा, अज्ञान है उसके और एक ज्ञानी बन रहा। तो वह जो अज्ञान का, मोहका जो रात-दिनका सग है तो उसमें यह सम्भव है कि उसका वह ज्ञान आलेमे धरा रहे। तो जब घरके सभी सदस्य धर्मभावनाको लिए हुए हो तो कितनी सुगमता मिलती है

धर्ममार्गमें बढ़नेको ? तो धर्म क्या है ? सच्चा ज्ञान करें, निर्मल परिणाम रखें, असंयममे मत पड़ें। यह ही अपनी प्रगतिका एक उपाय है।

ननु चाप्रत्याख्यानादिकर्मणामुदयात् क्रमात्।
देशकृत्स्नव्रतादीनां क्षतिः स्यात्तत्कथ स्मृतौ ॥११४०॥

अब यहां एक शंका और बन रही है, जिसने थोडा भी स्वाध्याय किया हो कर्मसिद्धांत का, वह जानता है कि अप्रत्याख्यानावरण प्रकृतिके देशचारित्र नही होने देती। प्रत्याख्यान प्रकृति महाव्रत नही होने देती। ऐसा जब ग्रन्थोमे वर्णन है और यहां यह कह रहे कि चारित्र-मोह असयम करता तो यहां ये भेद क्यो पड़ गए कि यह प्रकृति तो देशसंयम न होने दे और यह प्रकृति सकलसंयम न होने दे। एक ही बात रहनी चाहिए। सब सयमका घात करते है। तो इस शकाका समाधान करते है।

सत्यं तत्र:विनाभावो बन्धसत्त्वोदयं प्रति।
द्वयोरन्यतरस्यातो विवक्षाया न दूषणम् ॥११४१॥

देशसंयम व सकलसंयमके जुदे-जुदे गुणस्थानोंमें निरूपणका कारण—ये जो अलग-अलग बात बतायी कि अप्रत्याख्यानावरण देशसंयमका घात करता, प्रत्याख्यानावरण सकल-संयमका, मुनिव्रतका घात करता तो यह कहा गया इस कारण कि अप्रत्याख्यानावरणका बंध-विच्छेद और उदयविच्छेद, एक ही साथ चौथे गुणस्थानमे हुआ। इसमे यह बात लगाना कि पांचवें गुणस्थानमे सयम तो बना, मगर ५वें गुणस्थानमें प्रत्याख्यानावरण कषायकी बधवि-च्छुत्ति नही, उदयविच्छुत्ति नही। सो यहाँ सकलसंयम नही होता ५वें गुणस्थानमे, पर हाँ देशसयम हो गया, और छठेमें सकलसयम हो गया। तो एक सामान्यरूपसे कह तो देते हैं देशसयमको भी असंयम, पर साथ ही कुछ सयम है, इसी कारण इसका दूसरा नाम है सय-मासयम। तो यह असंयम भाव यह चारित्रमोहके उदयसे हुआ। यह जानकर आपको क्या उमंग लाना है कि हम अपने स्वरूपसे चिग रहे है सो वह हटाव औपाधिक है, सदा रहे ऐसी बात नही। जब हमने अपने स्वरूपकी सम्हाल की कि स्वरूपमे लग गया।

ज्ञानके विपरिणमनसे सुख दुःखका हिसाब—देखो जितने सुख दु ख हैं वे आपके विचारसे है या बाहरी चीजके हिसाबसे है, यह ही पहले निर्णय बनालो। अगर कहो कि बाहरी चीजके हिसाबसे सुख दु.ख है तो देखो—अगर अभी किसीके पास एक लाख रुपयेका धन है तो वह अपनेको सुखी मानता और अगर एक हजारका ही धन मिट गया, नुकसान हो गया तो वह अपनेको दुःखी मानता और कोई दूसरा जिसके पास कुछ धन नही है, १००-५० रुपयेका खोम्चा फेरकर २-४ रुपये कमाकर ही अपना गुजारा करता है, वह यदि किसी तरहसे एक हजार रुपया पा जाय तो वह तो अपनेको बड़ा सुखी अनुभव

करता है। अब भला बतलाओ जिसके पास अभी ९९ गुणा रु० धरे है वह तो दु:खी है और जिसके पास मात्र एक हजार रुपया है वह सुखी है। जिसके पास एक लाख रुपये थे उसकी दृष्टि उस टोटे वाले एक हजारपर ही रहती है, ९९ हजारपर नहीं रहती। यही कारण है कि वह अपनेको दुःखी अनुभव करता। तो बाहरी चीजके हिसाबसे सुख दुःखकी बात बन सकी क्या ? नही बनी। तो फिर मनके विचारसे, ज्ञानके उस प्रकारके विकल्पसे सुख दुःखका हिसाब है। तो जब ज्ञानके विकल्पसे विचारसे सुख दु खका हिसाब है तो यह नफेका काम करो ना, टोटेका काम क्यो करते ? ऐसा ही विकल्प, ऐसा ही ज्ञान जगाओ ना जिसमें कष्ट न हो, आनन्द ही आनन्द बने। ऐसा अज्ञान क्यो बने कि जिसमे कष्ट होता है ? सब सोचनेकी ही तो बात है। तो अपना ज्ञान बनाये मायने अपने आत्माके स्वरूपका बोध करे—मैं क्या हू ? जितने क्षण आपकी दृष्टिमे अपना स्वरूप रहेगा उसकी प्रीति हो, मै यह हू, यह ज्ञानमात्र परभावसे निराला ज्ञानसे ठसाठस भरा हुआ आनन्दका घर यह मैं हू, आत्मद्रव्य हू—जब यह दृष्टिमें होगा तब आपको कोई कष्ट नही और इससे चिगे और बाहरमे सोचा कि यह मेरा घर, ये मेरे लोग, यह मेरा अमुक उनकी शक्ल-सूरत देख-देखकर सुहावना लग रहा तो क्या हो रहा ? तत्काल भी दु.खी हो रहे है और ऐसा कर्मका बन्ध चल रहा कि जिसके उदयमे आगामी कालमें भी बड़ा कष्ट होगा। इससे भाई अपने ज्ञानको संभाले तो सब संभल गया। अपने आत्माकी भक्ति करे तो सारे कष्ट मिट गए। अपनेको पहिचान लें कि मै कषाय-रूप नहीं हू, केवल एक ज्ञानज्योतिस्वरूप हू ?

असिद्धत्व भवेद्भावो नूनमौदयिको यत ।
व्यस्ताद्वा स्यात्समस्ताद्वा जातः कर्माष्टकोदयात् ॥११४-॥

असिद्धत्वभावकी औदयिकता—तत्त्वार्थसूत्रमे आप पढ़ते होगे, औदयिक भाव इक्कीस होते है। सूत्र आया है—"गतिकषायलिङ्गमिथ्यादर्शनाज्ञानासयतत्वासिद्धलेश्याश्चतुश्चतुस्त्र्येकैकैकैकषड्भेदा: ॥ औदयिक भावोके ये २१ भेद है। उन २१ भेदोमे से यह असिद्धत्व नामक औदयिक भाव अब चल रहा है। सिद्ध न होना इसे कहते है असिद्धत्वभाव। यह भाव कब तक रहता है जब तक अरहत भगवान है। १४वाँ गुणस्थान है तब तक भी असिद्ध है वे। जब मुक्त हो गए अष्ट कर्मोसे तब सिद्धत्व उनमे प्रकट होता। तो यह असिद्धत्व नामक भाव औदयिक है, कर्मके उदयका निमित्त पाकर हुआ है। तो कौनसे कर्मके उदयसे हुई है तो भेद बनायेंगे तो अलग-अलग कर्मसे भी अलग-अलग गुणोका असिद्धत्व कह सकते है, और सूक्ष्मके सूक्ष्म बात लेंगे तो अष्टकर्मोके उदयसे असिद्धत्व भाव है। सिद्धत्वमे क्या होता है ? सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्रकी परमपूर्णता होना। यह सिद्धत्व अरहतमे नहीं है,

क्योकि उनके ध्ये है और १४वें गुणस्थानमे है कि नही ? हां नही है, क्योंकि अघातिया-कर्मका उदय अभी चल रहा है। उसकी और बातें तो चल रही है ना ? शरीर होना और और बातें। तो जब आठो कर्म नष्ट हो जाते हैं तो सिद्धस्वभाव प्रकट होता है। वैसे सम्यग्दर्शनका असिद्धत्व मोहनीयके उदयसे होता, सम्यग्ज्ञानका असिद्धत्व ज्ञानावरणके उदयसे होता। जुदा-जुदा लगावो तो भी औदयिक विदित होगा, मगर पूर्णतया जब तक सिद्धत्व नही है तब तक असिद्ध है।

सिद्धत्वके प्रोग्राममें श्रेयःसर्वस्व—अपना-अपना प्रोग्राम बना लो अबसे कि अपनेको करना क्या है ? क्या प्रोग्राम बनाना है ? मुझे सिद्ध बनना है। बस एक ही प्रोग्राम है, दूसरी बात चित्तमे नही, क्योकि थोडे दिनकी कल्पनारूप लौकिक बडप्पनका क्या करना ? उससे कोई सिद्धि तो नही। इस संसारमे देव बन गए, राजा बन गए, करोडपति हो गए, उससे कोई पार पड़ेगा क्या ? कोई प्रोग्राम न बनावें ससारका। कुछ नही बनना। यह हिम्मत उसके बनेगी जिसने आत्माके स्वरूपका अनुभव किया। नही तो जैसे—एक कोई सेठ था, वह रोज-रोज भगवानसे बड़ी प्रार्थना किया करता था—भगवान मुझे कुछ न चाहिए, सिर्फ मुक्ति चाहिए। सो एक देवने जाना कि यह तो भगवानका बडा भक्त है और उनसे कुछ नही चाहता, सिर्फ मोक्ष चाहता। रोज-रोज कई सालोसे यही बात कहता है, सो वह देव उस सेठके पास एक अच्छा रूप बनाकर आया और कहा—सेठ जी, चलो हम तुम्हे मोक्ष ले जायेंगे, क्योकि तुम रोज-रोज भगवानसे यही विनती किया करते। सेठने पूछा' कैसा है वह मोक्ष ? वहाँ क्या-क्या मिलेगा ? अरे वहाँ न तो यह देह रहेगा, न परिवार रहेगा, न मकान रहेगा, न धन-दोलत रहेगी, न चाय, पानी वगैराके कुछ साधन रहेगे, न अन्य कोई सासारिक चीज रहेगी, वहाँ तो बस आत्मा ही आत्मा रह जायगा, ऐसा है मोक्ष। तो वह सेठ बोला — तब फिर नही चाहिए हमें ऐसा मोक्ष। हम तो ऐसा मोक्ष चाहते कि जहाँ इन सांसारिक सुखोसे भी बढ-चढकर सुख हो।

मोक्षका प्रोग्राम बनते ही सन्मार्गकी अभिमुखता—लगनसे जिसको मनमे आ जाय कि मुझको तो संसारके समस्त सकट बधनोंसे मुक्ति चाहिए, तो उसके लिए काम बनेगा सारा। सिद्ध होना, यह प्रोग्राममे है, और कोई प्रोग्राम नही। बीचम कोई झगडा-फसाद आये तो उसकी उपेक्षा कर दो। दूसरा कोई विराधक प्रकरण हो तो उसे अलग भगा दो। क्या है, हजार-पाँच सौ गये तो गए। झझट तो मिटा। कोई प्रसग आया, किसासे झगडा हुआ, कुछ हुआ तो अपनी शान्ति और अपनी निर्मलता, इनका महत्त्व मनमें रखो। बाकी दुनियावी संगमका महत्त्व चित्तमे न रखो। तो अपनेमे यह प्रीति बनाओ कि मुझको तो सिद्धपद ही अभीष्ट है, ससारका कोई भी पद अभीष्ट नही। बडप्पन तो इसमे है कि लोग

मनावें कि आप एम. पी. हो जावें, अमुक हो जावो और आप मना करें मुझे जरूरत नही। लोग हाथ जोडकर विनती करें और तब बने तो यह है एक बडप्पनकी चीज। और मुझे बनना है एम. पी., मुझे वोट दो, देखो लोग तो वोट दो को कहते हैं चोट दो। व मे जरासी चोच ही तो लगाना है। तो संसारकी बातें चाह-चाहकर उनसे महत्त्व पानेकी आशा व्यर्थ है। उनसे उपेक्षा करना और धुन लगाना अपने अंतःस्वरूपकी कि मुझे बस यही अंत. रमना है।

सिद्धत्वं कृत्स्नकर्मभ्यः पुंसोऽवस्थान्तर पृथक्।
ज्ञानदर्शनसम्यक्त्ववीर्याद्यष्टगुणात्मकम् ॥११४३॥

सिद्धत्वका स्वरूप—सिद्धपना किसे कहते है? समस्त कर्मोसे जुदा होकर इस जीव की जो एक अलौकिक अवस्था होती है उसका नाम है सिद्धत्व। केवल आत्मा ही आत्मा रह गया। इसके साथ विभाव नही, कर्म नही, शरीर नही, फिर और-और चीजोकी बात क्या? केवल ज्ञानज्योति ही रह गई, यह है सिद्धपना और यही है आत्माका उत्कृष्ट विकास तथा आखिरी मजिल, जिसके बाद फिर कुछ यात्रा नही। प्रगतिका अन्तिम रूप ऐसा होता है ना। यदि अपने विविक्त स्वरूपकी व्यक्ति चाहिये तो इस वक्त भी तो खुद विचार करो कि मै सबसे निराला मात्र ज्ञानज्योति हू। यह भावना बनावें। एक बात तो पकड़ लो कोई, जो आपके मनमे अच्छी लगे। हमको तो यह अच्छी लगती कि अपनेको ऐसा निहारें, ऐसा प्रयत्न करें कि मै सबसे निराला, शरीरसे भी निराला, ख्यालातोसे भी दूर एक परमपावन ज्ञानज्योति रूप हूं—ऐसी भावना बनायें और ऐसा अपनेको ढालें, इसमे बडप्पन है, और-और बातोमे बडप्पन नही।

दुर्गतिसे बचनेके लिये धर्ममें प्रीति करनेका कर्तव्य—जो जैसा करेगा सो वैसा फल पावेगा, और जो उल्टा ही चलेगा सो दुःखी होगा। एक कोई किसान खेत जोत रहा था तो जोतते हुएमे बैलके पैरके नीचे आये हुए एक सांपने किसानको डस लिया, उसके विष चढ गया, हवास उड गया, बेहोशी छा गई। उसको यह ध्यानमे बना रहा कि इस बैलने मेरे पैर पर अपना पैर रख दिया, अब उस किसानने बेहोशीमें उस बैलको पीटना शुरू किया। बडी देर तक पीटता रहा। यह दृश्य देखकर कई लोग पास आये—बोले, भाई क्यो इस बैलको इतना पीट रहे?…अरे इसने मेरे पैरपर अपना पैर रख दिया। तब एक चतुर व्यक्तिने धीरे से समझाया—अरे बच्चू, यदि यह मर गया तो क्या होगा? कैसे जोतोगे, कैसे अनाज पैदा करोगे, कैसे परिवारका पालन-पोषण करोगे, कैसे क्या होगा, तुम्हारी सारी जिन्दगी खराब हो जायगी। किसानकी समझमे आ गया, उसकी बुद्धि ठिकाने लग गई, पीटना बद कर दिया। तो ऐसे ही अपने आत्माको समझा लो बच्चू कहकर कि देख आत्मन्, देख बच्चू, तू इतना उद्दण्ड बन रहा, विषयकषायोमें लग रहा, इन परका चीजोको ही सब कुछ मान रहा

श्रीर उस विकल्पमें ऊधम मचा रहा । देख, इसका फल है दुर्गति । सो यदि अपना भविष्य अच्छा बनाना चाहते हो तो धर्ममे प्रीति बढाओ, कषायोकी रति छोडो ।

सिद्धत्वकी पात्रता—जो पुरुष इसी समय सबसे निराला केवल अपने ज्ञानज्योतिस्वरूपको निहार सकता है वही मोक्ष पा सकता है । मोक्षमे हम क्या बनेंगे, उस चीजका भान हम यहा कर ले तो उसकी साधनासे मुक्ति मिलेगी । तो वह मोक्ष अवस्था, सिद्ध अवस्था समस्त कर्मोसे निराली है, अलौकिक है और वहा आत्माके सभी अनुजीवी गुण परिपूर्ण है तथा प्रतिजीवी गुण भी प्रकट हो गये है । ज्ञान पूरा, जिससे लोक अलोकको निरन्तर जानते रहते है । दर्शन पूरा याने इतने बड़े ज्ञानसे जो जान रहे है, ऐसे इस समग्र आत्माका प्रतिभास कर सकें, सम्यक्त्व निर्दोष और अनन्त आनन्द । सिद्ध प्रभुके शरीर नही रहा, सब ज्ञानज्योति रह गई । सिद्धक्षेत्र मात्र ढाई द्वीपके विस्तार बराबर है ४५ लाख योजन है, और है वहां अनत सिद्ध, एक ज्योतिमे अनेक ज्योति समा गई । इसे लोग कहते हैं ज्योतिमे समा जाना, सो मोक्ष है, पर भेद क्या पड गया अन्य लोगोके कहनेमे और स्वयमे ? वे तो एक अलग ज्योति मानते और उस ज्योतिमे यह जीव समा जाय मोक्ष हो गया । अरे यह खुद ज्योति है और कर्मसे मुक्त होनेपर वही ज्योति पहुच जाती जहा अनन्तज्योति पहलेसे मौजूद है । यों ज्योतिमें ज्योतिका समा जाना यह अन्य अन्यकी नही, आत्माका ज्ञानस्वभाव स्वय गुण है । शरीर न होनेसे यह अवगाहन गुण प्रकट हुआ है, यहा आयुकर्म है हो नही । एक सिद्धके क्षेत्रमे अनन्त सिद्ध समा गये । सूक्ष्मत्व गुण अब सर्वथा प्रकट है । ये अनन्तशक्ति वाले है उनको कोई कुछ बाधा नहीं, वहा न कोई उच्च नीचकी तुलना है, ऐसे ८ गुणमय यह सिद्धपद है । यह है सिद्धत्वका स्वरूप । और अब बतलाते है कि ऐसा सिद्धत्व जहा नही है वहाँ है असिद्धत्व ।

नेदं सिद्धत्वमत्रेति स्यादसिद्धत्वमर्थत. ।
यावत्संसारसर्वस्व महानर्थास्पद परम् ॥११४४॥

असिद्धत्व दशाकी अनर्थास्पदता—सिद्धत्व बता दिया ना, ऐसा सिद्धपना जहाँ नहीं है उसे कहते हैं असिद्धत्व । सो अनादिकालसे यह असिद्धपना ही इस जीवपर रहा, जो महा अनर्थोका स्थान है । जैसे कोई बावला हो तो वह कभी हँसता, कभी रोता । तो मोहके बावले भी ऐसा ही कर रहे है । कुछ दिन हँसते है, मौज मानते है, कुछ दिन बाद रोते है, फिर कुछ दिन हँसने लगते है । मायने कल्पनाये कर ली कि मुझे मौज है, हँसने लगे, और यह हँसी कब तक रहेगी ? या तो शरीरका रोग हुआ, इष्टका वियोग हो गया, कोई गड़बडी हो गई, दुःख आ गया । तो मोहके बावले ये प्राणी कभी सुख मानते, कभी दुःख । सो महान अनर्थ का स्थान है ससार । ये सब विभाव परिणाम, ऐसी असिद्ध अवस्था अपने आपकी चल रही है,

इसमे कुछ सार नही । यह औदयिक है । कर्मोंके उदयका निमित्त पाकर ये दशायें होती है । इनसे अपना भला नही । अपनी भलाई तो इसमे है कि खुदमे डूब जावो, मग्न हो जावो । कुछ अन्यका ध्यान न रहे, ज्ञानसुधारसका ही पान चले । "प्रियतम ज्ञानसुधारस पीजो ।" ऐसा गुणगान करो अपने आत्माका । प्रभुका गुणगान भी आत्मज्ञान ही तो है । उसका ही गान—"रसना क्यो न ज्ञानरस पीती" हे जिह्वा तू ज्ञानरसका स्वाद क्यो नही लेती ? अरे अभी तक अनेक प्रकारके रसास्वादन किये, पर रीतीकी रीती रही, तू अब उसके स्वादके लिए क्यो भटकती ? यह जिह्वा एकेन्द्रियके तो अनन्तकाल तक मिली नही । उसकी तो बात ही क्या ? दोइन्द्रियसे लेकर पशुओ तकको मिली, ये वेचारे कीडे-मकोडे क्या बोलें ? पशु-पक्षी भी क्या बोले ? बाँय बाँय, मैं मैं, मै मै, टें टें करते रहते है । कुछ फायदा मिलता है क्या उनकी रसनासे ? एक मनुष्यभवमे मौका मिला है, अच्छी जीभ मिली है तो प्रभुके गुणगान कर लो, आत्माके गुणगान कर लो । दूसरोसे बुरे वचन न बोलें, कपटभरे वचन न बोले । इनका दुरुपयोग न करे, ज्ञानरसका पान करें । मन मिला है श्रेष्ठ तो ज्ञानरसका पान करें, सोचें, चिन्तन करें बस अपने स्वरूपका । यह बात मिलना बहुत दुर्लभ है । तीन लोककी सम्पदाका कुछ भी मूल्य नही, कुछ भी नही । वह तो कीचड है, थोडा लिपटे तो, बहुत लिपटे तो । आत्मज्ञान, सम्यग्दर्शन यह जिसे मिला उसने ही अपना सार पद पाया । "दु खमें सब सुमिरन करें, सुखमे करें न कोय । जो सुखमें सुमिरन करें, तो दुःख काहेको होय ।।" जब दु ख आता है तो जल्दी समझमे आती उपदेशकी बात । कुछ नही रखा है ससारमे । और जब मौज चल रहा है हर प्रकारका तो वहाँ समझमे आना कठिन बैठता है । सुन लिया, कैसे नही सार ? सब कुछ नजर आ रहा । यही सार है । अरे यहां सार नही है कुछ भी । एक अपनी उस परमज्योतिको, ज्ञानज्योतिको सम्हाल लें, उसमे अनुभव करें कि मै यह हू तो सारमिलन हो जायगा ।

सत्य स्वरूपके विपरीत भावमें अनर्थ—भैया, जब झूठी बातमे मै का अनुभव करते और उसे भी एक सच सी बात मान बैठते तो सचको सच अनुभव करनेसे कौनसी कठिनाई होती है ? कोई एक ब्राह्मण कहींसे खरीदकर बडी अच्छी बकरी लिए जा रहा था । उसको चार ठगोने देखा तो उनके मनमें आया कि यह बकरी तो बहुत अच्छी है, इसे किसी तरह इससे ले लेना चाहिए । ठीक है । उपाय भी बन गया । चारो ठगोने आपसमे सलाह किया और आगे कोई मील-मीलभरकी दूरीमे जाकर खडे हो गए । जब एक ठगके पास वह ब्राह्मण पहुंचा तो ठगने कहा—भाई यह कुत्ता कहाँसे लाये ? तो उसने कुछ उत्तर न दिया । सोचा कि यह तो हँसनेके लिए यो ही कुत्ता कहता होगा । कुछ और आगे बढ़ा तो दूसरा ठग मिला । उसने कहा—भाई तुमको यह कुत्ता कहाँसे मिल गया, यह तो बडा अच्छा है । अब

कुछ थोड़ा शक हुआ सोचा कि क्या यह कुत्ता तो नही है। वह और आगे बढ़ा तो तीसरा ठग मिला। उसने कहा—अजी क्यों कुत्ता लिए फिरते हो ? अब तो उसे बड़ी भारी शंका हो गई कि हो न हो यह कुत्ता ही न हो, क्योंकि सभी लोग इसे कुत्ता कहते। कुछ और दूर बढ़ा तो चौथा ठग मिला, उसने कहा—वाह-वाह, पडित जी को देख लो, यह तो कुत्ता लिए फिर रहे। अब उस ब्राह्मणके मनमें यह बात अच्छी तरह बस गई कि यह तो कुत्ता ही है, क्योकि सभी लोगोने यही बात कही। आखिर वह उसे वहीं छोड़कर चला गया। बस उन ठगोने ले लिया उस बकरीको। वे तो चाहते ही थे। अभी यही देख लो—कोई नया आदमी आपके यहाँ आ जाय और आपमे से कोई उससे कह दे कि पंडित जी आप इतने कमजोर क्यों हो गए, तबियत ठीक नही रहती क्या ? दूसरा कोई कह दे—अरे पडित जी का चेहरा तो बहुत गिर गया है, मालूम होता है कि इनको कोई मर्ज है। तीसरा कोई इसी तरहसे कुछ कह दे तो वह तो न बीमार हो तो भी बीमार हो जायगा। आखिर एक दृष्टिकी ही तो बात है। उसने अपनेको उस रूप अनुभव किया, इसलिए बीमार हो गया। ऐसे ही झूठी नाना कल्पना करके जीवने स्वयं अपनी दुर्दशा की है, यही तो असिद्ध दशा है। तो यहां जो असिद्ध दशा है, वह रत्नत्रयरहित अवस्था है वह अनर्थका स्थान है।

लेश्याः षडवे विख्याता भावा औदयिकाः स्मृताः।
यस्माद्योगकषायाभ्यां द्वाभ्यामेवोदयोद्भवः ॥११४५॥

औदयिक भावोंमे लेश्याका वर्णन—अब औदयिक भावोमे अन्तिम भेद है लेश्या। ये ६ प्रकारकी लेश्यायें बहुत विख्यात है, ये सब औदयिक हैं क्योकि ये योग और कषायके उदय से ही होती हैं। कषायोसे अनुरंजित योगप्रवृत्तिको लेश्या कहते हैं और लेश्याका स्वरूप जानते हैं लोग। दृष्टान्त दिया है एक वृक्षका चित्र खीचकर। उसमे बताया है कि कोई ६ मुसाफिर किसी दूसरे गावको जा रहे थे। उन्हे रास्तेमे लगी तेज भूख। एक बहुत बड़ा आमका वृक्ष पके हुए फलोसे लदा हुआ दीखा। उनमे से एक मुसाफिरके मनमे आया कि इस आमके पेड़को कुल्हाडी द्वारा जड़से ही काट दें, यह गिर जायगा, फिर मनमाने फल खायेंगे। दूसरेने सोचा—अरे जडसे पेड़को गिरानेसे क्या फायदा, ऊपरकी शाखायें काट दें फिर नीचे मनमाने फल खाये। तीसरेने सोचा—अरे शाखायें भी क्या काटना, मात्र एक शाखा तोड़ लें, फिर खावें। चौथेने सोचा—अरे एक शाखाको भी क्या तोडना, जिनमे आम लगे है वे छोटी पतली टहनियां तोड़ लेंगे, फिर मनमाने फल खायेंगे। ५वें ने सोचा—उन छोटी-छोटी टहनियोको भी तोड़ने से क्या फायदा, ऊपर चढकर आम तोड़ लेगे, फिर आरामसे बैठकर खायेंगे। छठेने सोचा कि ऊपर चढ़कर आम तोडनेकी जरूरत क्या, ये बहुतसे आम नीचे जमीनपर पड़े है उनको ही खा लेंगे। यों सोचकर सभी मुसाफिर अपना-अपना काम करनेमे जुट गए। तो यह परिणामोंकी बात बतायी है। पहले यह बताओ कि सबसे जल्दी आम कौन खायेगा ? वह छठा, जो नीचेसे

उठा-उठाकर खाये। उसे तो न चढना, न कुछ करना और तुरन्त खाना। देखो फल भी औरोको बडी देरसे मिलेगा। ५वें को तनिक देरमे मिलेगा, चौथेको और देरमे, तीसरेको उससे अधिक देरमें, और दूसरेको पहले सब शाखायें काटे तब मिलेगा और पहलेको जब वह जडको काटे, गिराये तब मिलेगा।

लेश्यामें परिणामोका तारतम्य—अच्छा, अब लेश्याके परिणामोको विचारो जिससे विदित हो कि कौन कितनी खराब लेश्या है, कृष्णलेश्या खोटी है। उसके ऐसे परिणाम थे कि इस पेडको जडसे काट गिरावें, फिर पके-पके आम खावें। उससे कुछ कम कठोर परिणाम है शाखायें काटनेका परिणाम बनाने वालेके। उससे कम कठोर परिणाम है एक शाखा काटनेका परिणाम बनाने वालेके। यो चौथे, ५वें और छठे मुसाफिरके परिणामोमे उत्तरोत्तर सरलता आती गई, कठोरता कम होती गई। यो ये ६ प्रकारकी लेश्यायें है—कृष्ण, नील, कापोत, पीत, पद्म और शुक्ल। कृष्णलेश्यामें तो बडा क्रूर परिणाम होता, बैर नही छोडता, बैर बांधता, दुःखी होता, बुरे वचन बोलता। उससे कम नीललेश्या है। मगर उसमे भी विषयोंसे प्रवृत्ति करने आदिकके बहुत ऐब होते है। कापोत लेश्यामे यह अपनी प्रशसा सुनकर बडा कुप्पा होता। प्रशसा करके तो किसीसे कितना ही दान करा लो चढाचढीमे। देखा होगा कि पचकल्याणक वगैराके कामोमे बोली बोलनेकी प्रथा चल रही है। वहां बोलीकी चढा-चढीमें कितने ही दाम बुलवा लो। मगर अपनी युक्तिसे सोचकर कि चलो यहाँ चार पैसेका दान दे दें, ऐसा सोचकर गुप्त किसने दिया? और उस बोलीकी चढाचढीमे कहो कितने ही कर दे। तो ऐसी लेश्या होती है कापोत लेश्या। अपनी प्रशंसा सुहाये, निन्दा न सुहाये, ये सब बातें कापोत लेश्यामे है। पीत लेश्यामे कुछ धर्मकी ओर परिणाम चलते है, मदकषाय होती है। पद्मलेश्यामे तो बहुत उदार परिणाम होते है जिसमे तृष्णाका रग नही होता और शुक्ललेश्यामे सर्व समभाव होते है। ये ६ प्रकारकी लेश्यायें हैं जो कि उस-उस प्रकारके तीव्र मद अनुभाग वाले कर्मके उदय होनेसे होती है। कर्ममे जरा हल्की शक्तिके कर्मका उदय हो तो अच्छी लेश्या होती। योग और कषायसे इन लेश्यावोकी उत्पत्ति होती है इस कारण औदयिक भाव है। लेश्याके अश १८-तो गतिबधके हेतु है, मध्यम ८ अश आयुबधके कारण है इत्यादि विस्तार करणानुयोगसे जानना। आज यह पञ्चाध्यायी ग्रन्थ पूर्ण हो रहा है। आषाढ कृष्ण चतुर्दशीको अवसर मिला इसके पूर्ण होनेका। इस औदयिककी शिक्षासे हम क्या ग्रहण करें कि जो भी विपत्ति, कषाय, ममता, तृष्णा आदि हो रहे है वे मेरे स्वरूपकी चीज नहीं, कर्मोदयसे हो रहे है। सो वे कहीं जावो, मैं तो अपने स्वरूपमें रहूगा, ऐसी उमग लायें और अपने स्वरूपमे रमे।

॥ पञ्चाध्यायी प्रवचन पंचदश भाग समाप्त ॥

ब्रह्मचर्य-विंशतिका

ब्रह्मचर्य परं दानम्, ब्रह्मचर्य पर तपः ।
ब्रह्मचर्य परं ज्ञानम्, ब्रह्मचर्यं परं महः ॥१॥

ब्रह्मचर्यं परं यानम्, ब्रह्मचर्य परं हितम् ।
ब्रह्मचर्यं परं ध्यानम्, ब्रह्मचर्य पर सुखम् ॥२॥

ब्रह्मचर्य पर तेजः, ब्रह्मचर्यं पर बलम् ।
ब्रह्मचर्य पर श्रेयः, ब्रह्मचर्यं पर फलम् ॥३॥

ब्रह्मचर्यं पर सत्यम्, ब्रह्मचर्यं परो यमः ।
ब्रह्मचर्यं पर तत्त्वम्, ब्रह्मचर्यं परो वृषः ॥४॥

ब्रह्मचर्य परा क्रान्तिः, ब्रह्मचर्यं पर व्रतम् ।
ब्रह्मचर्यं परा कीर्तिः, ब्रह्मचर्य पर ऋतम् ॥५॥

ब्रह्मचर्यं परा भक्तिः, ब्रह्मचर्यं परो गुरुः ।
ब्रह्मचर्यं परा शक्तिः, ब्रह्मचर्यं परो गुणः ॥६॥

बह्मचर्यं पर ज्योतिः, ब्रह्मचर्यं परा छविः ।
ब्रह्मचर्यं परं वृत्तम्, ब्रह्मचर्यं पर हविः ॥७॥

ब्रह्मचर्यं पर ब्रह्म, ब्रह्मचर्य पर श्रुतम् ।
ब्रह्मचर्यं पर धाम, ब्रह्मचर्यं पर श्रितम् ॥८॥

ब्रह्मचर्य परं रत्नम्, ब्रह्मचर्यं परो लयः ।
ब्रह्मचर्यं परं भद्रम्, ब्रह्मचर्यं परो जयः ॥९॥

ब्रह्मचर्यं परा शान्तिः, ब्रह्मचर्य परा निधिः ।
ब्रह्मचर्य परा क्षान्तिः, ब्रह्मचर्यं परा विधिः ॥१०॥

ब्रह्मचर्यं पर मन्त्रम्, ब्रह्मचर्यं परो जयः ।
ब्रह्मचर्य पर तन्त्रम्, ब्रह्मचर्यं परं वपुः ॥११॥

ब्रह्मचर्यं परा सिद्धिः, ब्रह्मचर्यं परा गतिः ।
ब्रह्मचर्यं परा ऋद्धिः, ब्रह्मचर्यं परा नतिः ॥१२॥

ब्रह्मचर्यं परो योगः, ब्रह्मचर्यं परो दमः ।
ब्रह्मचर्यं परो भोगः, ब्रह्मचर्यं परः शम ॥१३॥

ब्रह्मचर्यं पर शीलम्, ब्रह्मचर्यं परं क्रतु ।
ब्रह्मचर्यं परं सत्त्वम्, ब्रह्मचर्यं परं सुहृत् ॥१४॥

ब्रह्मचर्यं परं स्वास्थ्यम्, ब्रह्मचर्यं परं पदम् ।
ब्रह्मचर्यं पर क्षेमम्, ब्रह्मचर्यं पर वरम् ॥१५॥

ब्रह्मचर्यं परं यज्ञम्, ब्रह्मचर्यं परं शिवम् ।
ब्रह्मचर्यं परं दुर्गम्, ब्रह्मचर्यं पर धनम् ॥१६॥

ब्रह्मचर्यं पर सारम्, ब्रह्मचर्यं परा शुचिः ।
ब्रह्मचर्यं परं साम्यम्, ब्रह्मचर्यं परा रुचिः ॥१७॥

ब्रह्मचर्यं परं कृत्यम्, ब्रह्मचर्यं परो रसः ।
ब्रह्मचर्यं परं साध्यम्, ब्रह्मचर्यं पर वच ॥१८॥

ब्रह्मचर्यं पर स्थानम्, ब्रह्मचर्यं परा धृति ।
ब्रह्मचर्यं परं मौनम्, ब्रह्मचर्यं परा रतिः ॥१९॥

ब्रह्मचर्यं पर वीर्यम्, ब्रह्मचर्यं पर रहः ।
ब्रह्मचर्यं पर वित्तम्, ब्रह्मचर्यं पर यशः ॥२०॥

। आर्या

आचरति ब्रह्मचर्यं मनसा कायेन यो नरः सततम् ।
भजते युग्मं स्वास्थ्य सहजानन्दात्मक पदं नियमात् ॥२१॥

॥ इति श्री ब्रह्मचर्यविंशतिका ॥

हर्षपूर्ण विज्ञप्ति

आध्यात्मिक संत न्यायाचार्य पूज्य श्री १०५ क्षु० गणेशप्रसाद जी वर्णीके पट्टशिष्य अ०आत्मयोगी सिद्धान्तन्यायसाहित्यशास्त्री न्यायतीर्थ पूज्य श्री १०५ क्षु० मनोहर जी वर्णी सहजानन्द जी महाराजने १६४२ ई० से समाजमे उपदेश, अध्यापन, चर्चा, शिक्षासंस्थान-स्थापन आदि द्वारा जो समाजका उपकार किया है, उससे समाज सुपरिचित है। इसी बीच आपने अनेक आध्यात्मिक, दार्शनिक व धार्मिक विज्ञान सम्बन्धित ग्रन्थोका सरल रीतिसे निर्माण किया है तथा विशिष्ट ग्रन्थोंपर आपके जो प्रवचन होते रहे है, उनको नोट कराया जाता रहा था, सो उनका भी सकलन हुआ है। कठिनसे कठिन ग्रन्थोपर जो सरल रीतिसे प्रवचन हुए है, उनको पढकर कल्याणका मार्गदर्शन व सत्य आनन्द प्राप्त हो जाता है। इसी कारण समाजने साहित्य-सस्थायें स्थापित की, और उन सस्थाओ द्वारा महाराज श्री के ३४८ ग्रन्थोमे से करीब २०० ग्रन्थ प्रकाशित हो गये।

अब समाजने ज्ञानप्रभावनाके लिये भारतवर्षीय वर्णी जैन साहित्यमन्दिरकी स्थापना की है, जिसका उद्देश्य स्वाध्यायार्थी बन्धुवो, मन्दिर एव लाइब्रेरियोंके लिये उक्त साहित्यको सदैव अर्धमूल्यमे वितरित करके ज्ञानप्रसार करना है। यदि किसी वर्ष शास्त्रदानमें अधिक रकम प्राप्त हो जाती है तो यह उक्त साहित्य तिहाई, चौथाई मूल्य तकमे भी वितरित किया जाता है। हमारी कामना है कि आत्महितैषी बन्धु इस साहित्यका अवश्य अध्ययन करके इस दुर्लभ मानवजीवनमे वास्तविक मायनेमें जीवनकी सफलता प्राप्त करे, जिससे कि सदाके लिये जन्म-मरणका संकट छूटे और सहज ज्ञान एवं सहज आनन्दका निर्बाध पूर्ण अनन्त लाभ बना रहे। जो ग्रन्थ अभी छपे नही है उनकी प्रकाशन-व्यवस्था अब 'भारतवर्षीय वर्णी जैन-साहित्य मन्दिर' व 'श्री सहजानन्द शास्त्रमाला' कर रही है। दोनो सस्थाओमे किसीके भी सदस्य ५००) से लेकर ५०००) तक शुल्क वाले आजीवन सदस्य होते है। इन सदस्योंको 'वर्णी प्रवचन प्रकाशिनी सस्था' मुजफ्फरनगरसे प्रकाशित मासिक पत्र 'वर्णी प्रवचन' भी भेंट-स्वरूप प्रति माह भेजा जाता है। कमसे कम ५००) शुल्क वाला आजीवन सदस्य बनने वाले को अब तकके प्रकाशित उपलब्ध ग्रन्थ भेंटमे दिये जाते है तथा भविष्यमे प्रकाशित सभी ग्रन्थ भेंटमे दिये जायेगे। इस ही कोषमे ग्रन्थ प्रकाशित होते रहते है।

पुस्तकें मंगानेके पते—

मुमेरचन्द जैन, मंत्री	खेमचन्द जैन, मंत्री
भारतवर्षीय वर्णी जैनसाहित्य मंदिर,	श्री सहजानद शास्त्रमाला
मंत्री निवास, १५, प्रेमपुरी, मुजफ्फरनगर	१८५ ए, रणजीतपुरी, सदर मेरठ (उ० प्र०)

मुद्रकः—मैनेजर, जैन साहित्य प्रेस, १८५ ए, रणजीतपुरी, सदर मेरठ।